अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त

की

रिपोर्ट

NIEPA
G1915

उनतीसवीं रिपोर्ट

1987-89

Sub. National Systems Unit,
National Institute of Educational
Planning and Administration
17-B Sri Aurbindo Marg, New Delhi-110016
DOC. No.....
Date.....

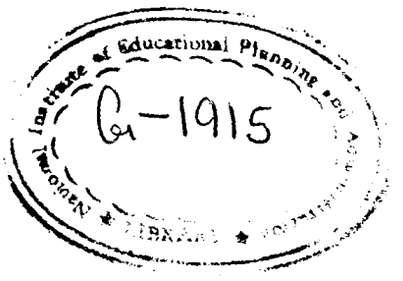

अर्धशा· पत्र संख्या - 1/सामा·/90- अनु· एकक - 3

डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा
Dr. B. D. Sharma
Tel. : 600617

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त
Commissioner for Sch. Castes and Sch. Tribes
पश्चिमी खण्ड 1, कक्ष 7, प्रथम मंजिल,
रामाकृष्णपुरम नई दिल्ली - 110066
West Block 1, Wing 7, Floor,
R. K. Puram, New Delhi-110066

दिनांक/Date 28-5-1990

भारत के राष्ट्रपति
नई दिल्ली

(संघ के/कल्याण मंत्री के माध्यम से)

मैं संविधान के अनुच्छेद 338 के अंतर्गत अनुसूचित जातियों और जनजातियों की हालत के बारे में वर्ष 1987-89 के लिये उनतीसवीं रपट पेश कर रहा हूं· पिछली रपट में, जो मेरी पहली रपट थी, मैंने अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की हालत की व्यापक समीक्षा की थी· उस रपट में एक अहम बात यह सामने आई थी कि हमारे देश में आम तौर पर दोहरी व्यवस्था पनप रही है· एक ओर आधुनिक संगठित क्षेत्र का उभरता हिस्सा है और दूसरी ओर परंपरागत असंगठित क्षेत्र का पिचला हिस्सा· ठीक उसी तरह अनुसूचित जातियों और जनजातियों में भी धीरे-धीरे दो अलग संदर्भ उभरते नजर आ रहे हैं· आधुनिक संगठित क्षेत्र हमारी विकसनशील अर्थ-व्यवस्था का अगुवा माना जाता है· इसलिए सभी की निगाहें और सभी की आशायें उसी पर अटकी हुई हैं· इस संदर्भ में मैंने अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों को दोनों ही क्षेत्रों की पूरी व्यवस्था, खास तौर पर आधुनिक संगठित क्षेत्र में समान अवसर और सम्मानपूर्ण स्थान मिल सके इसके लिए व्यापक सिफारिशें की थीं· विकास की शोभायात्रा में सही हिस्सेदारी सरकारी नौकरियों में आरक्षण तक सीमित न रहकर राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में होना लाजमी है· ऐसी व्यवस्था ही संविधान में दिए गए संरक्षण और बराबरी के अधिकार का सही रूप हो सकती है·

2· परन्तु विडम्बना यह है कि बुनियादी तौर पर यह दोहरी व्यवस्था खुद अन्यायी है· इसलिये समता और न्याय की इस पेशकश को यदि हम राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के व्यापक संदर्भ में देखें तो वह सार रूप में अन्यायी व्यवस्था के गैर-वाजिब लाभों में हिस्सेदारी ही साबित होगी· दूसरे, अगर इसमें पूरी जिम्मेदारी और ईमानदारी से नीति का पालन हो भी जाय तो भी उससे कमजोर वर्गों के छोटे से हिस्से को ही लाभ मिल सकेगा· परन्तु इसका एक खेदजनक पहलू भी है· अगर व्यवस्था ऐसी ही अन्यायी बनी रहती है तो इस प्रक्रिया के दूसरे छोर पर उन्हीं वर्गों के अधिसंख्य सदस्यों पर, जो उस व्यवस्था में सबसे नीचे के स्तरों पर अवस्थित हैं, वंचना और शोषण का भार और भी बढ़ता जाएगा· इस तरह एक बड़ी अनमेल हालत बन जाती है· इसमें एक ओर न्याय के नाम पर अन्याय में साझेदारी सही लगने लगती है· दूसरी और उस माहौल में व्यापक हितों की अनदेखी ही नहीं वरन् उनका विरोध तक जायज बन जाता है· इसलिए समता और न्याय के सवाल को, जब तक समाज की आखिरी सीढ़ी से, जिसमें अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के उस छोटे से अंश को छोड़कर जो संगठित क्षेत्र में शामिल हो गए हैं बाकी सभी हैं, नहीं शुरू किया जाता है, तब तक संविधानिक व्यवस्था में दिये गए संरक्षण बेमानी हैं·

3· इन अधिसंख्य लोगों की जिंदगी तीन बातों से जुड़ी हुई है - संसाधनों पर अधिकार, उत्पादन के साधनों पर अधिकार और मेहनत की हकदारी· बड़े खेद की बात है कि इन सवालों पर या तो बहस ही नहीं हुई है· और हुई भी है तो बहुत सतही· उसको छूते ही आधुनिकता, प्रगति और विकास के नाम पर पनपने वाले निहित स्वार्थ वर्गों का आधार ही डगमगा जाएगा· ये सवाल अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के हितों के लिये तो निर्णायक हैं ही· परन्तु उसके साथ-साथ वे हमारे राष्ट्रीय जीवन की गुणवत्ता, उसके बुनियादी उसूलों और मानवीय मूल्यों के लिये भी निर्णायक हैं· इसी संदर्भ में मैंने इन तीनों बिन्दुओं के बारे में राष्ट्रीय स्थिति की खास तौर पर जाँच करने का फैसला किया था· इन मामलों पर यह रपट और पिछली रपट दोनों को मिलाकर एक पूरा ढ़ाँचा बनता है· यह ढ़ांचा अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सभी सदस्यों के लिये इज्जत की जिंदगी के लिये आधार बन सकता है· यही नहीं, उसके साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर पर वही ढांचा सही अर्थों में समता और न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिये भी आधार बन सकता है·

राष्ट्रीय जीवन में तिहरी व्यवस्था

4· परन्तु इस इज्जत की जिंदगी के लिए वाजिब व्यवस्था और उपयुक्त वातावरण के मामले में हमारे देश में आज की हालत बड़ी ही चिंताजनक है· हमारी व्यवस्था में ध्रुवीकरण बड़ी तेजी से बढ़ रहा है· एक ओर आधुनिक संगठित क्षेत्र में निश्चिंतता का माहौल है जिसमें कोई भी आदमी पैर रखते ही रोजी-रोटी के सवाल से हमेशा के लिये फारिग हो जाता है· इस बेफिक्र जिंदगी में फिक्र रह जाती हैं अपनी जगह बनाए रखने की, आशाइशों और विलास-वस्तुओं में हिस्सेदारी की और विकास के रेले में आगे बढ़ते जाने की· दूसरी ओर परंपरागत असंगठित क्षेत्र में साधारण आदमी के लिये सवाल है दो जून रोटी का· इस क्षेत्र में भी जो साधन सम्पन्न और समझदार लोग हैं वे यही चाहते हैं कि किसी तरह आधुनिक क्षेत्र में पहुँच जांय या जहां हैं वहीं उनको वे सुख सुविधाएँ मिल जाय· इस हालत में इस क्षेत्र में पूरा आलम छीनाझपटी का है, जिंदगी के लिये दुर्दान्त संघर्ष का है·

5· इस माहौल में हमारी अर्थ-व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति आग में घी का काम कर रही है· साधारण लोगों के पास जो कुछ बचा-खुचा है वह भी कानून, ताकत और पैसे के बल पर छिनता जा रहा है· जो इधर से छिन रहा है वह दूसरी ओर पहुँचकर जमा हो रहा है· इस तरह हमारे देश में दोहरी ही नहीं तिहरी व्यवस्था कायम होती जा रही है - इंडिया, भारत और "हिन्दुस्तनवा"· अधिकतर अनुसूचित जाति और जनजाति के सदस्य इसी "हिन्दुस्तनवा" की आखिरी मंजिल में शामिल हैं·

6· जाहिर है कि राष्ट्रीय जीवन की यह दिशा हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है, हमारे ऐलानी उसूलों के भी खिलाफ है· तब फिर यह हो कैसे रहा है ? इसी सवाल को मैंने कुछ गहराई से जांचने की कोशिश की है जिससे कुछ रास्ता निकल सके· इसमें दो बुनियादी बातें हैं - हमारे कानूनी ढाँचे की बुनावट और विकास की हमारी अवधारणा· विकास की अवधारणा में एक तो हमने पश्चिमी देशों के विकास का रास्ता आदर्श मान लिया है और फिर विकास की हड़बड़ी में "विकास पहले" की पेशकश मानकर सामाजिक न्याय को कुछ पीछे जगह दे दी है· इस सोच में इस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया कि पहली और दूसरी दुनिया के विकास के लिये "तीसरी दुनिया" का "कूड़ादान" बनाना जरूरी था· उसी सिलसिले में तीसरी दुनिया के लिये "चौथी दुनिया" का "कूड़ादान" चाहिये· आज हमारे देश में "हिन्दुस्तनवा" वही कूड़ादान बन गया है·

कानून और संविधान की असंगतता

7· यह व्यवस्था सरासर अन्यायी है परन्तु दुर्भाग्य से हमारा कानूनी ढांचा भी उसी का हमजोली निकला· हमारी व्यवस्था का कानूनी ताना-बाना मोटे तौर पर अंग्रेजी राज के दौरान तैयार किया गया था· इस व्यवस्था की बुनियादी मान्यताएँ पश्चिमी समाज की मान्यताएँ थीं और उसका उद्देश्य साम्राज्य के पाये को मजबूत बनाना था· इसमें लोग प्रजा थे व्यवस्था राज का प्रतीक थी· आजादी के बाद हमने अपनी परंपरा और मानवीय मूल्यों के आधार पर समाजवादी समाज की संरचना के लिए संविधान बनाया और अंगीकार किया· परंतु जिस व्यवस्था पर संविधान का यह ताज रखा गया वह उसकी मूल चेतना से बिलकुल अनमेल थी· आगे चल कर भी यह अनमेल हालत बनी ही नहीं रही और भी ज्यादा खराब होती गई· एक तो पुरानी व्यवस्था नये शासक वर्ग को रास आ गई· दूसरे विकास की हड़बड़ी में पहले तो बेमेल बातों को अनदेखा कर दिया गया और फिर उन्हें नई व्यवस्था के रख-रखाव और तरक्की के लिये जरूरी तक मान लिया गया· इसका एक और कारण भी था· कानून और नियम तो ठोस और कामकाजी होते हैं परन्तु मूल्य निराकार होने से विचार और विवेचन के विषय होते हैं· इसलिए इन कानूनी तिनकों की ओट में संविधान और मानवीय अधिकारों के उल्लंघन के पहाड़ के पहाड़ ओझल बने रहते हैं·

जीवन का अधिकार ···

8· इन मानवीय अधिकारों में सबसे पवित्र और अहम् है जीने का अधिकार· परन्तु जीने के अधिकार का मतलब सिर्फ प्राणी के रूप में जीते रहने का ही नहीं है वरन् मानवीय प्रतिष्ठा के साथ जिंदगी बसर करने का है· और प्रतिष्ठित जिंदगी के लिये जरूरी है इन्सान की निजी आजादी और जीविका के उपयुक्त साधन· इन दोनों ही तत्वों का व्यवहार रूप आर्थिक और सामाजिक स्थिति के अनुसार बिल्कुल अलग-अलग हो जाता है· आधुनिक क्षेत्र में इनका जाना माना औपचारिक रूप है जिन्हें बुनियादी अधिकारों की संज्ञा दी गई है· परन्तु परंपरागत व्यवस्था के दूसरे सिरे पर आदिवासी समाज के लिये आज की हालत में ये औपचारिक व्यवस्थाएँ बेमानी हैं· उनकी स्थिति में उनकी अपनी समझ और परंपरा के मुताबिक स्वशासी व्यवस्था इन अधिकारों को व्यवहार रूप देने के लिये अनिवार्य है·

9· जीविका के लिये उपयुक्त साधनों के बारे में हालत बहुत पेचीदी है और उसमें कुछ विसंगतियों ने भी घर कर लिया है· संगठित क्षेत्र के संदर्भ में तो जीविका के लिये उपयुक्त साधनों का औपचारिक रूप प्रबल है, उसके हरएक सदस्य का स्थान सुनिश्चित है और वह जो भी भूमिका निभाए जिंदगी के लिये उसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता का कोई ख्याल किए बिना संगठित क्षेत्र के सदस्य होने के नाते ही वाजिब हकदारी ही नहीं गैर-वाजिब हकदारियां तक खुलेआम मिल जाती हैं· परन्तु असंगठित क्षेत्र में किसको क्या मिल पाए इसका कोई ठिकाना नहीं है, और फिर हर जगह की हालत अलग-अलग है· फिर भी मोटे तौर पर संसाधनों पर अधिकार, उत्पादन के साधनों पर अधिकार और मेहनत की वाजिब हकदारी ऐसे तत्व हैं जिनसे किसी व्यक्ति या समाज के लिये जीविका के उपयुक्त साधनों की स्थिति का निर्धारण होता है·

10· इस तरह इज्जत की जिंदगी के लिए बुनियादी तौर पर पांच तत्व जरूरी हैं - समाज की अपनी व्यवस्था, अपने संसाधन, उत्पादन के अपने साधन, अपनी मेहनत की सही हकदारी और निजी आजादी· **मानव समाज में यही अधिकार बुनियादी है· ये ही प्रजातांत्रिक व्यवस्था की भी आत्मा हैं· इन मूल्यों को हमारे संविधान में असंदिग्ध रूप से प्रस्थापित किया गया है·**

...और उसकी अवमानना

11. संविधान में जिंदगी के अधिकार के बारे में असंदिग्ध व्यवस्था होते हुए भी व्यवहार रूप में आम आदमी के जीवन के अधिकार की अनदेखी ही नहीं वरन् भारी अवमानना हो रही है. इसका मुख्य कारण ससाधनों के जीवन के आधार रूप की बजाय संपत्ति रूप को अंग्रेजी राज के दौरान दी गई कानूनी मान्यता है. यह विडम्बना है कि संविधान से संपत्ति के मौलिक अधिकार के रूप में हट जाने के बाद और उसमें प्रस्थापित जिंदगी के अधिकार के सही रूप के बारे में स्पष्टता होने के बावजूद व्यवहार में कानून का वही उपनिवेशवादी रूप बना रहा. **इसीलिए पूरे राष्ट्रीय जीवन में कदम-कदम पर आम आदमी के जिंदगी के संवैधानिक और मानवीय अधिकार और ताकतवर लोगों के संपत्ति के कानून अधिकार के बीच टकराव है.** मोटेतौर पर यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजों के जमाने के संसाधनों के अनैतिक बटवारे में स्वयं राज्य और उसके साथ कुछ लोग तो अधिकतर जमीन सहित प्राकृतिक संसाधनों के मालिक बन बैठे. परन्तु दूसरी ओर आम आदमी जो इन संसाधनों का उपयोग करके युगों से जिंदगी बसर करता आ रहा था वह उनसे जिंदगी बसर करने के नैसर्गिक अधिकार से भी वंचित हो गया. दुर्भाग्य से यह प्रवृत्ति आजादी के बाद और भी तेज होती गई है.

12. जीवन के बुनियादी अधिकार की इस अवमानना को देखते हुए राज्य के दायित्व के बारे में एक बड़ा सवाल आ जाता है. आखिर हमारे संविधान में सामाजिक न्याय के मामले में राज्य को खासतौर पर जिम्मेदारी दी गई है. फिर यह सब हो कैसे रहा है ? इसके लिये हमें आज की पेचीदी हालत में राज्य की विभिन्न भूमिकाओं और उनके बारे में अपनाई गई प्राथमिकताओं की ओर नजर डालनी होगी. मोटे तौर पर राज्य की तीन प्रमुख भूमिकाएँ हैं - व्यवस्था, संरक्षण और विकास. **व्यवस्था को बनाये रखने की चिंता और विकास की हड़बड़ी और उसकी चकाचौंध में गरीबों, खास तौर से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के संरक्षण की जिम्मेदारी के अँधियारे गलियारे, अक्सर भुला दिये जाते हैं. इतना ही नहीं, नीति, सिद्धांत और कानून के साये में पुरानी और नई दोनों ही व्यवस्थाओं के निहित स्वार्थों का साथ देने और उन पर घातक प्रहार करने तक में भी संकोच नहीं होता है. कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है मानो कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के दायित्व का वुजूद ही न हो.** यही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है जिसका खुलासा मैंने इस रपट में किया है.

13. वैसे तो यह सब कुछ वंचना और शोषण की अमानवीय प्रक्रिया का ही एक अंग है जो बहुत कुछ युगों से चली आ रही है. परन्तु अंग्रेजों के जमाने में इसका आयाम बहुत व्यापक हो गया था और उसकी गहराई भी बढ़ती गई. आज के हालात को नजदीक से देखने पर बुनियादी तौर पर वंचना के पांच स्तर साफ दिखाई देते हैं - §1§ संसाधनों पर अधिकार की अवमानना और उनके उपयोग की मनाही, §2§ उत्पादन के साधनों का अलगाव, §3§ मेहनत की हकदारी का नकारना, §4§व्यक्तिगत आजादी का विनिमय और आखिर में §5§ वंचना और शोषण की स्थिति को जायज और सही स्वीकारने की मनःस्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठित और आत्मगौरव का अवसाद. खेद है कि आजादी के बाद संगठित क्षेत्र के अलावा पूरे समाज में सभी दूर इन पांचों ही स्तरों पर वंचना की प्रक्रिया न केवल बनी रही है परन्तु कहीं-कहीं तो और भी तीखी होती गई है. इस प्रक्रिया की समीक्षा आखिरी सीढ़ी से ही करना उचित होगा.

सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मगौरव

14. आदमी की इज्जत और प्रतिष्ठा बनती है उसके काम से, उसके काम की मान्यता से, उत्पादन के

साधनों पर अधिकार से और अपनी व्यवस्था खुद चलाने के अधिकार से· इन सभी मामलों में अनुसूचित जातियों की हालत पहले से ही बहुत खराब थी· मेहनत उनके हिस्से में आई थी और संसाधन दूसरों के· परन्तु आजादी के बाद की स्थिति में व्यवस्था और ताकतवर लोगों के गठजोड़ के सामने वे लोग और भी ज्यादा मजबूर हो गए हैं· एक तो उनके पास बचे-खुचे उत्पादन के साधन उनके हाथ से निकलते जा रहे हैं· दूसरे आज गांवों में लगभग अराजकता की हालत है· इस माहौल में गांव समाज के शेष संसाधनों पर लोगों के गुजारे की असलियत और अधिकारों को नकारते हुए कहीं गांव के बड़े लोग, कहीं बाहर की छोटी-बड़ी कम्पनियां और कहीं सरकार खुद कब्जा करती जा रही है, ये लोग कहाँ जाँय, कौन जाने ? जिंदगी के ऐसे कठोर संघर्ष में प्रतिष्ठा और आत्म गौरव सपने की ही बातें हैं·

15· यह एक भारी विडम्बना है कि प्रतिष्ठा के मामले में हमारे देश के सबसे स्वाभिमानी समाज, आदिवासी समाज की हालत सबसे गयी गुजरी हो जाय· आदिवासी इलाकों में समूचे समाजों का अपराधीकरण, संसाधनों पर अधिकार की अवमानना, उनकी परंपरागत स्वशासी व्यवस्था के नकारने से ये समाज सर्वशक्ति सम्पन्न व्यवस्था के सामने एकदम बेसहारा हो गए हैं· वन राज्य की सम्पत्ति हैं इसलिए वनवासी के लिये जो युगों से उन्हीं वनों से अपनी जिंदगी बसर करते रहे हैं, वहाँ जीवन बसर करना अपराध हो गया, उनका उन वनों में बने रहना भी कानून के खिलाफ हो गया· अगर आदिवासी हाथ में धनुष-बाण लेकर वन में चला जाय तो अपराधी हो जाता है, उसके जानवर खुलकर जंगल में चरने निकल जाय तो काजी हाऊस पहुँच जाते हैं· उसकी जमीन पर अपना नाम नहीं है· अगर वह अपनी परंपरा के मुताबिक अपने देव की पूजा में और अपने उत्सव में कहीं मद का सेवन कर ले तो अपराधी बन जाता है· जिंदगी के हर मामले में उसे सिर्फ इसलिए अपराधी करार दिया जा रहा है क्योंकि कानून उसके खिलाफ है· आदिवासी इलाकों में पूरे समाज का ही अपराधीकरण हमारे देश की उदार परंपरा पर सबसे बड़ा धब्बा है·

16· और सबसे बड़े अफसोस की बात तो यह है कि यह सब हुआ और हो रहा है सिद्धांतों के नाम पर, संविधान और कानून की दुहाई देकर· यही नहीं, यह सब किया जा रहा है एक ऐसी व्यवस्था के द्वारा जो अपने को न्याय, युक्ति और आधुनिकता का प्रतीक मानती है· संविधान में इस विसंगत स्थिति को ठीक करने लिए जिनको दायित्व दिया गया उनको उस दायित्व के बारे में कोई बोध तक नहीं· आमतौर पर व्यवस्था की पहली कोशिश अपने को सही और उनको गलत साबित करने की होती है· उम्मीद यह की जाती है कि आदिवासी समाज अपने को बदले, नई व्यवस्था के अनुरूप अपने को ढ़ाले· और यही विकास है, यह उसे समझाने की कोशिश होती रहती है·

17· इस तरह पहले तो इस बुनियादी विसंगति को सुधारने के लिए कोई कार्रवाई ही नहीं होती है और अगर कहीं कोई कार्रवाई शुरू की जाती है तो न जाने कहां जाकर किस तरह अटक जाय इसका कोई भरोसा नहीं· इसके फलस्वरूप आज पूरे आदिवासी क्षेत्र में टकराव की स्थिति पैदा हो गई है· इस संबंध में मैंने इस रपट में आदिवासी इलाकों में आबकारी नीति की समीक्षा की है· इस विषय पर केन्द्र सरकार के द्वारा स्पष्ट नीति निर्देश जारी होने के सोलह साल बाद तक यह नीति किसी भी राज्य में पूरी तरह से लागू नहीं हो पाई है· जहां लागू की भी गई है वहाँ उसके क्रियान्वयन में कहीं न कहीं कोई ऐसा पेंच डाल दिया जाता है कि उसकी मूल भावना ही खतम हो जाती है· यही नहीं, जब लोग उसी सरकार की नीति को लागू करने की मांग करते हैं तो उन्हें व्यवस्था के कोप का भाजन होना पड़ता है·

18· आबकारी नीति का मामला मैंने तफसील से इसलिए बयान किया है क्योंकि यह मुद्दा हर आदिवासी की निजी और सामाजिक जिंदगी को छूता है· अगर कोई आदिवासी अपनी व्यक्तिगत जिंदगी में भी अपने समाज की परंपरा के मुताबिक चलता है तो वह कानून तोड़ता है, कानून के सामने अपराधी है, और

उसके खिलाफ कार्रवाई की जा सकती है· क्या इससे भी अधिक खेदजनक कोई और स्थिति हो सकती है ? **आदिवासी इलाकों में ऐसा कोई भी कानून जो आदिवासी की अपनी सामाजिक परंपरा को अपराध बना दे संविधान की भावना के खिलाफ है·** सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्म गौरव के लिये यह जरूरी है कि ये सभी कानूनी विसंगतियां तत्काल समाप्त की जाय·

आम आदमी की हकदारी

19· जिंदगी के अधिकार के मामले में सबसे बड़ा सवाल है आम आदमी की अपनी मेहनत के लिये हकदारी का· जिस आदमी को दो जून रोटी भी न नसीब हो उसका कैसा मान और कैसा सम्मान ? इस संबंध में आज की स्थिति अत्यन्त अन्यायी है· इस समय संगठित क्षेत्र देश के सकल उत्पादन में से पहले अपने लिये मनमानी हकदारी के आधार पर अधिक से अधिक हिस्सा निकाल लेता है· असंगठित क्षेत्र के सदस्यों को उसके बाद जो बच रहे उसी से संतोष कर लेना पड़ रहा है· सच तो यह है कि संगठित क्षेत्र के बाहर आम मेहनतकश लोगों की, जिनमें हाथ से काम करने वाला किसान भी शामिल है, मेहनत का सही तौर पर मूल्यांकन तक नहीं हुआ है· कैसी विडम्बना है कि हमारे कृषि-प्रधान देश में उसके सबसे कुशल, सबसे कठिन, और सबसे खराब स्थितियों में काम करने वाले खेतिहर मजदूर को अकुशल कामगार का दर्जा दिया गया है· यही बात कमोवेश असंगठित क्षेत्र के सभी परंपरागत व्यवसायों के कामगारों की भी है· इन सब के कौशल को अकौशल और ज्ञान को अज्ञान मान लिया गया है· और हमारे कुशल कारीगर धीरे-धीरे अकुशल मजदूरों की भीड़ मात्र होते जा रहे है·

20· मैंने अपनी पिछली रपट में **संगठित और असंगठित क्षेत्रों में मजदूरी और वेतन की दोहरी व्यवस्था की असंवैधानिकता का उल्लेख किया था· परन्तु इस पर आज तक कहीं कोई चर्चा ही नहीं हुई·** यह दोहरी व्यवस्था ही हमारे देश में अन्याय की जड़ है· अगर आम आदमी के लिये सही माने में इन्साफ की बात की जाती है तो सबसे पहले खेतिहर मजदूर के लिये सही मजदूरी तय करना होगा, उससे किसान की फसल के दाम ऊँचे होंगे, और आखिर में असंगठित क्षेत्र के सभी मेहनतकशों की हकदारी भी बढ़ेगी· इस तरह से संगठित और असंगठित क्षेत्र के बीच एक नया रिश्ता कायम करना होगा· इसमें स्वाभाविक है कि संगठित क्षेत्र के लोगों की हकदारी आज की तुलना में बहुत कम हो जाएगी· इसे वे लोग हाल हाल मंजूर नहीं करेंगे - परन्तु यह तर्क, अन्याय की इस वास्तविकता को उनके गले उतारना ही होगा· अन्यथा, इन अन्यायी रिश्तों को बदले बिना आम आदमी को न्याय मिल कैसे सकता है ?

21· यही हमारी व्यवस्था की बुनियादी हकीकत है· इसको नजरअंदाज कर देने से समस्याओं का सही विश्लेषण तक नहीं हो पा रहा है और जब बीमारी की सही पहचान ही नहीं तो उसका इलाज कैसा ? उदाहरण के लिए प्रस्तुत विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि हमारे देश में बेरोजगारी है ही नहीं· असलियत यह है कि तथाकथित बेरोजगारी एक बड़ी साजिश का हिस्सा है जिसका एक ही उद्देश्य है - मेहनतकश को जब तक उसके हाथ-पैर काम कर सके उसके शरीर धारण मात्र के लिए कम से कम देकर अधिक से अधिक काम करवा लिया जाय और आखिर में यह अपना "एडजीदार" देकर मंच से चला जाय· यहीं पर वंचना **जैविक शोषण के घृणित स्तर तक पहुंच जाती है.**

22· असंगठित क्षेत्र के तमाम मजदूरों में अनुसूचित जातियों के लोग ही बड़ी तादाद में हैं· **आज की हालत में, जब अनुसूचित जातियों के सदस्यों के पास अपनी मेहनत और अपने कौशल के अलावा और कुछ है ही नहीं, उनकी मेहनत की हकदारी की लड़ाई ही इंसाफ की लड़ाई है· यही उनके जिंदगी के अधिकार**

की लड़ाई है· सामाजिक न्याय की पहली सीढ़ी है खेतिहर मजदूर के कौशल को स्वीकार कर उसको कुशल मजदूर का दर्जा देना· इसके अलावा संगठित क्षेत्र में जो सिद्धांत मजदूरी के लिये मान्य हैं, उसके अनुसार खेतिहर मजदूर की मजदूरी की दर इतनी तो हो जिससे कि उसकी औरत और बच्चों को काम करने के लिये मजबूरन घर के बाहर न जाना पड़े· वह भी एक प्रतिष्ठित नागरिक की तरह अपनी कमाई से पूरे परिवार का भरण-पोषण कर सके·

उत्पादन के साधनों पर अधिकार

23· अधिकतर आदिवासी और अनुसूचित जातियों के सदस्य किसी न किसी रूप में खेती पर निर्भर हैं· परन्तु जमीन पर अधिकार के मामले में हालत सभी दूर बहुत ही चिंताजनक है· इस मामले में सबसे ज्यादा गड़बड़ी आदिवासी इलाकों में हुई है, हो रही है· पहले तो कई इलाकों में अभी तक कोई कागजात ही नहीं हैं, इसलिए गांव में किसकी जमीन कहां पर है यह कागज पर नहीं है· दूसरे कानून के ऐसे बहुत से दांव पेंच हैं जो लोगों की समझ के बाहर हैं· आज के कानून में जिस जमीन पर किसी का नाम दर्ज नहीं है, वह सरकारी मान ली जाती है· इसलिये सरकार जो चाहे कर सकती है· उधर कागज पर नाम चढ़वाने से ही जमीन पर मिल्कियत हो जाती है· इस बात का बाहरी लोगों ने बुरी तरह से फायदा उठाया· आज कागज ही लोगों के खिलाफ नहीं हैं, पूरी व्यवस्था ही उनके खिलाफ है· जमीन की जोत और मिल्कियत की जानकारी तो गांव में ही मिल सकती है, परन्तु जमीन के झगड़ों का फैसला अदालत में होता है· वहाँ उस नासमझ को इंसाफ मिलने की कोई उम्मीद नहीं रहती· पर वह कुछ कर भी तो नहीं सकता इसलिये लाचार है·

24· कई इलाकों में खास तौर से जहाँ औद्योगिक प्रतिष्ठान बन रहे हैं, अराजकता की स्थिति हो गई है· उत्तर प्रदेश में सोनभद्र का मामला बड़ा ही खेदजनक है जहाँ सेटलमेंट के नाम पर लूट मची हुई है· यहाँ राज्य के आदेश और न्यायालयों के फैसले भी आदिवासी की जमीन बचाने में असमर्थ हैं· जब तक इस व्यवस्था में बुनियादी बदलाव नहीं किया जाता है जिससे जमीन पर अधिकार के सभी फैसले गांव में ही गांव के लोगों के बीच हो जाय, तब तक आदिवासी को इंसाफ नहीं मिलेगा· **पूरे आदिवासी समाज को उसकी जिंदगी के आधार जमीन के मामले बाहरी औपचारिक व्यवस्था की दया-भिक्षा पर छोड़ देना सरासर अन्याय है और संवैधानिक व्यवस्था का उल्लंघन है**·इस समय सोनभद्र में उसी मुद्दे पर जन आंदोलन उभर रहा है·उनकी बात तो मानी ही जानी चाहिये उसके साथ ही समूचे आदिवासी इलाके के लिये उसी के मुताबिक व्यवस्था लागू की जानी चाहिये·

25· जमीन के बारे में सबसे बुनियादी सवाल है जमीन जोतने वाले की हकदारी का· इस मामले में हमारे देश के कानून में जोतने वाले का जमीन पर अधिकार मान लिये जाने के बावजूद असलियत में उसी की हालत सबसे कमजोर है· पिछली रपट में मैंने "जमीन जोतने वाले की" इस उसूल को अमल में लाने के लिये व्यापक सिफारिशें की थी· उनके संदर्भ में अधिकार दिलाने की बात तो दूर, अभी तो इसका भी कोई भरोसा नहीं कि जमीन जोतने वाला उस जमीन को जोतता रह सकता है· कई राज्यों में जमीन की जोत के तथ्य को सरकारी कागजात में दर्ज कराना तक लगभग नामुमकिन है· इस मामले में मैंने बिहार (सोले, डाल्टनगंज) और आंध्र प्रदेश (पुलिमामिडी) के दो उदाहरण दिये हैं· दोनों ही राज्यों में लोग, जिनमें अधिकतर अनुसूचित जाति के हैं, जमीन पर खेती कर रहे है उनके नाम रिकार्ड पर दर्ज नहीं हैं, उन्होंने सरकार से संरक्षण की मांग की है जिस पर अभी तक सरकार की ओर से कोई स्पष्ट भूमिका नहीं ली गई· इसलिये

उन्होंने अपने हकों की खुद रक्षा करने के लिये संकल्प लिया है·

26· इन मामलों में रिकार्ड और जोत के मुद्दे बड़े सीधे-सादे लगते हैं· परन्तु उनमें कुछ बड़े ही बुनियादी सवाल हैं· अगर कोई आदमी किसी खेत को जोत रहा है तो क्या इस हकीकत को सरकारी कागज में नहीं उतारा जाना चाहिए ? जो बात मौके पर है उसका जिक्र कहीं न कहीं तो होना चाहिए· अगर हमारी व्यवस्था में ऐसा भी नहीं होता है तो उसका एक ही मतलब है कि उस व्यवस्था में गरीब आदमी के जायज अधिकार को अनदेखा करने के लिये एक आसान रास्ता बना लिया गया है· **यह रास्ता कानूनी हो सकता है· परन्तु उसे न तो न्यायपूर्ण कहा जा सकता है और न हमारे संविधान की भावना के अनुकूल ही माना जा सकता है· यहाँ कानून, न्याय और संविधान में तालमेल की कमी साफ नजर आती है·** और यह कहानी सोले या पुलिमामिड़ी की ही नहीं है· देश में सब दूर अधिकतर जमीन हाजिर या गैरहाजिर जमींदारों के चंगुल में फँसी हुई है, कानून की निगाह में उस पर गुजर करने वाले का उससे कोई नाता ही नहीं है·

27· जोत की जमीन के मामले में सभी संघर्ष बुनियादी तौर पर **दो अधिकारों के बीच टकराव है - एक ओर जीवन का अधिकार और दूसरी ओर संपत्ति का अधिकार· जीवन का अधिकार सम्पत्ति के अधिकर से बहुत ऊँचा है·** जहाँ कोई आदमी जमीन जोतकर अपनी जिंदगी बसर कर रहा है तो अगर सरकार उसे जमीन की मिल्कियत नहीं दिला सकती तो कम से कम उस पर काबिज रह कर जिंदगी बसर करने के अधिकार की तो रक्षा की ही जा सकती है·

28· जमीन से जुड़े जीवन के अधिकार की हिफाजत के लिए सबसे पहला कदम तो यही होग कि कानून कुछ भी हो या कानून में इस बारे में कोई जिक्र न भी हो तो भी जो आदमी जिस जमीन को जोत रहा है, वह उस पर काबिज रहे यह सुनिश्चित किया जाय·इस उसूल का खुला ऐलान किया जाय और उनके कब्जे का सरकारी कागजातों में इन्दराज हो·**इसके अलावा अगर कोई जमीनदार इस अधिकार को नजरअंदाज कर जमीन जोतने वाले को बेदखल करता है तो उसकी हिफाजत सरकार की जिम्मेदारी है· और अगर कोई सरकार उसके इस मूलभूत अधिकार की रक्षा नहीं कर सकती है तो उसके आत्मरक्षा के अधिकार को तो छीना नहीं जा सकता· यही संविधान का संदेश है·**

बंधुआ मजदूरी

29· जिंदगी के अधिकार की सबसे बड़ी अवमानना तो बंधुआ मजदूरों के मामले में ही है· सरकारी आंकड़ों और व्यापक योजनाओं के बावजूद कई इलाकों में स्थिति बड़ी शोचनीय है·तमिलनाडु के कॉफी बागन मालिकों के लिये सोने की खानें हैं, परन्तु उन्हें खून पसीने से सींचने वाला आदिवासी उनमें "कैद" है· डाल्टनगंज और चंपारन में बड़े-बड़े फार्मों में पांच कट्ठा जमीन से बांध दिये जोते हैं मजदूरों के हाथ-पैर· उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश के सीमान्त पर कई इलाकों में खदानों में काम करना लोगों की नियति बन गई है, काम पर जाने से मना करने की जुर्रत करें तो जान भी जा सकती है, हाथ-पैर तुड़वाये जा सकते हैं, पिटाई तो मामूली बात है· बंधुआ मुक्ति कानून के 14 साल बाद ऐसा उत्पीड़न और ऐसा शोषण, जिसे प्रशासन जानता है, जिसके बारे में संवेदनशील सामाजिक कार्यकर्ता भी बेबसी में "क्या करें" कह कर मुँह फेर लेने के अलावा कुछ नहीं कर पाते हैं· **मानव अधिकारों की यह खुली अवहेलना खेद की नहीं, शर्म की बात है पूरे देश के लिये·**

30· यह साफ है कि बंधुआ मुक्ति की नीति में ही एक बड़ी बुनियादी कमी है· इसमें बंधुआ की मुक्ति

की योजना उसकी गुलामी की जंजीरों को काटने के बजाय उसको अपनी जिंदगी के सहारे से काट देती है· होना यह चाहिये कि बंधुआ मजदूर की गुलामी की जंजीरे काटी जाय और उसके साथ यह ध्यान रखा जाय कि कहीं वह अपनी जिंदगी के सहारे से न कट जाय· उसके जिंदगी के सहारे पर अर्थात् जिस काम में वह लगा है उस कारोबार में उसका हक हैं· उसके इन बुनियादी हक की रक्षा की जाय और उसके अमानवीय संबंधो को काटा जाय· यही नहीं, इस जघन्य अपराध के लिये दोषी उसके मालिक को उस कारोबार से बेदखल कर उस पर मजदूर को मालिकाना हक दिया जाय· सही अर्थ में यही बंधुआ मुक्ति होगी·

संसाधनों पर अधिकार

31· खेती की जमीन के अलावा परंपरागत व्यवस्था में प्रमुख संसाधन वन, चरागाह (पड़ती भूमि), और पानी है जिन पर आम लोग अपनी जिंदगी के लिये निर्भर है· सभी तरह के संसाधनों पर गलत हकदारी अंग्रेजों के जमाने में ही शुरू हुई थी· उसी जमाने में स्थानीय समाज और व्यक्ति का उन संसाधनों से मां-बेटे का रिश्ता खतम कर दिया गया और राज्य का उन पर एकाधिकार हो गया· केन्द्रीकरण की यह उपनिवेशवादी प्रवृत्ति आजादी के बाद विकास की नई अवधारणा के साये में और भी मजबूत होती गई· इस उपनिवेशवादी-विकासवादी प्रवृत्ति के पूरे परिणाम आज ही सामने आ रहे हैं· इस समय सब दूर स्थानीय समाज और आम आदमी के हाथ से उनकी जिंदगी का सहारा अमूर्त राज्य और संस्थाएं तथा बड़े लोग बेधड़क छीनते जा रहे हैं· इस हालत में लोग अपनी जिंदगी के अधिकार की लड़ाई लड़ रहे हैं परन्तु व्यवस्था उनके संसाधनों के उपयोग को गैर-कानूनी करार देकर अपनी ताकत का नाजायज फायदा उठाकर उन्हें वहाँ से हकाले दे रही है·

32· वनों पर अधिकार के मामले में पहला बुनियादी बदलाव तो यही हुआ कि वन और वनवासियों के बीच के सह-जीवी रिश्ते को नकार दिया गया और वन राज्य की संपत्ति बन गए· राज्य के एकाधिकार में आने के बाद वनों के प्रबंध के लिये औपचारिक व्यवस्था कायम हुई जो धीरे-धीरे व्यापक और मजबूत होती गई· इस बदलाव में सबसे बड़ी विडम्बना यही रही है कि वनों से जिन वनवासियों का जीवन का संबंध है, जिनके लिये वे उनके घर हैं, उनका धर्म है, उनकी संस्कृति हैं, उनका सब कुछ हैं उनका कहीं कोई वुजूद ही नहीं है· इस औपचारिक व्यवस्था, जो सिर्फ बाजार और सत्ता के संबंधों को पहचानती है, की हर चंद कोशिश यही है कि जीवन या मां-बेटे के इन रिश्तों को बजारू रिश्तों में बदल दिया जाय· कैसे हो सकता है यह ? इस बुनियादी नासमझी के कारण इन इलाकों में टकराव और विनाश की लीला चारो ओर हो रही है और आदिवासी समाज के साथ भारी अन्याय हो रहा है·

33· वनों पर कब्जा जमाने के लिये अंग्रेजों ने भारतीय वन अधिनियम बनाया· वनों का आरक्षण हुआ,उसमें कानूनी औपचारिकता जरूर निभाई गई, परन्तु उसमें लोगों को न्याय मिलने का सवाल ही नहीं था· अधिकतर आदिवासी लोग अपने घरों से जबरदस्ती बेदखल कर दिये गये थे· उस बेदखली की याद अब उनकी लोक-कथाओं में ही बची है· जिन लोगों से बन पड़ा वनों के बाहर खेती कर ली· परन्तु फिर भी वनों से जिंदगी का रिश्ता तो बना ही रहा· वे जनजातियां, जो पूरी तरह से वनों पर आश्रित हैं, इस हादसे से अभी तक नहीं उबर पाई हैं· आदिम जनजातियां और झूमिया अपनी जिंदगी और मौत की लड़ाई आज भी लड़ रहे हैं· इसी तरह घुमन्तू जातियों के लोगों का जिंदगी का अधिकार छिनता जा रहा है· इन लोगों की समस्याएं अनदेखी ही रह गई हैं·

34· **यह जाहिर है कि भारतीय वन अधिनियम में व्यक्ति के स्तर पर जिंदगी के अधिकार और समाज के**

स्तर पर आदिवासी समाज की अस्मिता को बनाये रखने के मानवीय अधिकार की अनदेखी हुई है· इसलिये यह कानून हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है·परन्तु इसमें चूँकि स्वयं राज्य ही एक पक्षधर था, इसमें बदलाव नहीं आए और हालत वैसी ही बनी हुई है· **इस तरह वनों के संबंध में हमारे देश की व्यवस्था में संवैधानिक संरक्षण और मानवीय अधिकारों की अनदेखी होती रही है· यही आदिवासी समाज की सबसे अधिक दुखती रग है और उनके मामले में एक बड़ी ही करुण गाथा है·**

35· आजादी के बाद सभी आदिवासी इलाके बड़े-बड़े राज्यों में शामिल हो गए· इस दौर में उनकी पुरानी व्यवस्थाओं की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया और सभी दूर धीरे-धीरे एक समान नयी व्यवस्था लागू हो गई· जहां वन आरक्षित नहीं थे, वहाँ आरक्षण की कार्रवाई शुरू हुई, निजी वन सरकारी हो गए· इस तरह पुरानी प्रबंध व्यवस्था में स्थानीय परंपराओं के लिये जो कुछ गुंजाइशें थीं वे नई व्यवस्था में खतम हो गई· परन्तु नई व्यवस्था लागू होने से लोगों की जिंदगी तो एकाएक नहीं बदल जाती है· इसलिये मौके पर कई तरह की विसंगतियां पैदा हो गई और नई व्यवस्था को लोग मन से स्वीकार नहीं कर पाये हैं, कई जगह टकराव है·

36· आजादी के बाद वनों के आरक्षण की कार्रवाई अधिकतर नेमी हुई है· कहीं-कहीं तो किसी तरह मात्र औपचारिकता निभाई गई और यह भी ख्याल नहीं रखा गया कि शायद कुछ लोग वहां भी रहते हैं·**इस तरह खुद कानून की भावना का भी उल्लंघन हुआहै·**कहीं जागीरदारी जंगलों के सरकारी होते ही बिना जांच-पड़ताल के ही वहां के मूल निवासी अतिक्रामक बन गए· कहीं आरक्षण करते समय लाइनें न खींचने से लोगों को यहीं यहीं मालूम हो पाया कि किस जमीन का आरक्षण हो रहा है· कहीं कोई अफसर गया ही नहीं और आरक्षण की सिफारिश हो गई· इसी तरह हर इलाके के अपने-अपने रिवाज थे जैसे थाणे की वरकस, रायगढ़ की दली, कर्नाटक में हरी खाद के लिये पट्टे इत्यादि,इनकी ओर किसी ने देखा तक नहीं· इस कारण बहुत से इलाकों में पुरानी वैध व्यवस्थाएं बिना कुछ सोचे और बिना कुछ समझे अवैध हो गई· आदिवासी अपराधी बन गया·

37· दुर्भाग्य से वनों के आरक्षण से वनों का बचाव नहीं हुआ· कुछ तो आबादी और लोगों की जरूरतें बढ़ने से वनों पर अन्दरूनी दबाव बढ़ता रहा है· परन्तु सबसे बड़ा हादसा बाहरी दबाव से हुआ है· वैज्ञानिक प्रबंध के नाम पर प्राकृतिक वनों को काटकर एक-जातीय पेड़ों का प्लांटेशन और चाय, काफी, इलायची, इत्यादि के बागानों को लगाना, उद्योगों के नाम पर कौड़ी मोल वनोपज की लीजों का देना और अंत में विकास के नाम पर उद्योगों और खनिज परिसरों की स्थापना, राज-मार्गों का निर्माण, बाहरी लोगों की भीड़, आदिवासी की बेदखली, नई नागरी जरूरतों की पूर्ति, सभी कुछ आखिर में वनों पर ही भार साबित हुआ· इस तरह वनों का भारी विनाश हुआ है· इस विनाश का सबसे बुरा प्रभाव आदिवासियों की जिंदगी पर पड़ रहा है, उसकी जिंदगी का आधार टूटता जा रहा है· परन्तु दुर्भाग्य से उस टूटन की ओर किसी का ध्यान नहीं है· देश के खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ा परन्तु वनों के विनाश से आदिवासी की खाने की चीजों का कितना घाटा हुआ, उसका कहीं हिसाब नहीं· वनों की हिफाजत के अभियान में असली अपराधी, जिसने तुरंत लाभ के लिये उसका सफाया किया, कर रहा है बच जाता है और पूरा कहर आदिवासी पर जो वैसे ही पिस रहा है, पड़ जाता है·

38· वनों के प्रबंध के मामले में आदिवासियों की जिंदगी के साथ-साथ पर्यावरण और राष्ट्रीय विकास के पहलुओं को नहीं भुलाया जा सकता है· परन्तु समाज की अस्मिता को न मान कर उसके साथ उसकी

सहमति के अनुसार काम न करने से वनों की हालत आज एक ऐसी सार्वजनिक संपत्ति की तरह हो गई है जिसका कोई देखने-सुनने वाला नहीं है, और है भी तो बहुत दूर, जिसकी उसके बारे में कोई खास भूमिका नहीं· यह ठीक है कि वनों पर आंतरिक दबाव बढ़ा है· परन्तु आदिवासी तो आखिर झोपड़ी बनाने के लिए एक बल्ली, हल बनाने के लिए एक लकड़ी, रात में कीड़े-मकोड़ों, जंगली जानवरों और ठंड से बचने के लिये सूखी लकड़ी ही जंगल से लाता है· उसने सागौन के शीशमहल तो नहीं बनवाए· अगर आदिवासी जंगल काटता है, वन में खेती करता है यह उसकी मजबूरी है· अगर उसे कोई दूसरा विकल्प दिया जाय तो वह उसे खुशी से स्वीकार करेगा·

39· हमारे संसाधनों के खत्म होने का मुख्य कारण है बढ़ती असमानता और उपभोगवाद· परन्तु दुर्भाग्य से उसका कहीं जिक्र ही नहीं है· इसलिए सबसे बड़ी जरूरत उपभोगवादी व्यवस्था पर अंकुश लगाने और प्राकृतिक संसाधनों पर हकदारी के इंसाफ की है· इसके लिये एक ओर तो यह जरूरी होगा कि जितने निहित स्वार्थ तुरत लाभ और बड़ी जागीरें बनाने के चक्कर में वनों में घुस आये हैं उनका कड़ाई से दमन किया जाय· छोटे-बड़े वैध और अवैध बागान, जिनकी कर्नाटक में भरमार है, उनके मालिकों से लेकर मजदूरों को दे दिये जाय· अगर गरीब को प्राकृतिक संसाधनों में हकदारी मिल जाती है तो वह आज की समस्या से छुट्टी पाकर कल की चिंता करेगा और पर्यावरण का सबसे बड़ा संरक्षक बन जाएगा· वनों के बचाव-सुधार में लोगों की साझेदारी के कुछ अच्छे प्रयोग पश्चिम बंगाल में हुए हैं जो अनुकरणीय हैं· कई जगह लोग भी अपनी ओर से पहल कर रहे हैं जिनको समर्थन देना उचित होगा·

लघु वनोपज

40· लोगों की भागीदारी के संबंध में लघुवनोपज का महत्वपूर्ण स्थान है· इस संबंध में मैंने पिछली रपट में भी सिफारिश की थी कि कम से कम लघुवनोपज पर तो लोगों को पूरा हक दे ही दिया जाय· अगर हम भारतीय वन अधिनियम की औपचारिक व्यवस्था के अनुसार भी देखें तो लघु वनोपज पर सरकारी अधिकार गैर-कानूनी है, उस पर रायल्टी लगाना अनैतिक है·वनोपज के मामले में पिछली साल मध्यप्रदेश में और बिहार में भी आदिवासियों को "मजदूर की जगह मालिक" का दर्जा देने की घोषणा से उनके प्रति घोर ऐतिहासिक अन्याय को समाप्त करने का पहला महत्वपूर्ण कदम उठाया गया था· परन्तु मुझे खेद है कि मध्य प्रदेश में इस घोषणा के तत्काल बाद से ही कई तरह के प्रतिगामी बल क्रियाशील हो गए और आज हालत यह हो गई है कि उस मूल निर्णय को भी नकारा जा रहा है· यह प्रतिगामी कदम हमारी उस पूरी संवैधानिक व्यवस्था का मखौल है जिसमें राज्य पर विश्वास के साथ आदिवासी के हितों के संरक्षण का भार सौंपा गया है·क्या राज्यपाल और राष्ट्रपति औपचारिकता को एक ओर रख कर यह सुनिश्चित करने की व्यवस्था करेंगे जिससे यह न्यायपूर्ण निर्णय नकारा न जा सके और यह प्रतिगामी निर्णय हमारे सामाजिक न्याय के इतिहास में कलंक बन कर न रह जाय ?

वन्य प्राणी

41· वन्य प्राणियों के प्रबंध के मामले में भी ये तथ्य कि आदिवासी और वन्यप्राणियों का सदा से सहअस्तित्व है, धनुष और बाण से वन्य प्राणी नहीं समाप्त हुए हैं, उनके संहार का असली अपराधी बाहर का आदमी है, नजर अंदाज करने से बड़ी विसंगत स्थिति पैदा हो गई है· लोगो पर अनावश्यक प्रतिबंध

लगाए जा रहे हैं और उन्हें इन इलाकों से हटने के लिये मजबूर किया जा रहा है· उसकी यह फरियाद कि शेर के साथ तो वे हमेशा से रहते आये हैं, अब भी रह लेंगे, कोई सुन ही नहीं रहा है· कई इलाकों में उसकी आर्थिक व्यवस्था चौपट हो गई है जिसका कोई कानूनी आधार तक नहीं है· **सचमुच ही उसके जिंदगी के अधिकार की मर्दी खुली अवमानना हो रही है जो संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है·** इस स्थिति पर कानून और व्यवहार दोनों ही स्तरों पर पुनर्विचार की जरूरत है·

स्थायी समाधान की अनिवार्यता

42· दुर्भाग्य से वनों के प्रबंध में लोगों से सहभागिता की बजाय पूरी-पूरी औपचारिकता निभाई जा रही है· नई वन नीति में सहभागिता का जिक्र जरूर है परन्तु उसके अमल के लिये बाजारू और औपचारिक संबंधों को ही आधार माना गया है इस कारण उस निर्णय का व्यवहार में कोई मतलब ही नहीं रह जाता है· इस हालत में सरकार और लोगों के बीच तनाजा बढ़ गया है, बढ़ता जा रहा है· मध्य क्षेत्र में लगभग सभी दूर सरकार और लोगों के बीच टकराव की स्थिति है और कई इलाके वन विभाग की अधिकार-सीमा के बाहर हो गए हैं· सभी तरफ हालत सिर्फ इसीलिए बिगड़ती गई है कि लोगों की जायज बातों की ओर ध्यान नहीं दिया गया, इकतरफा ढंग से कानून थोपने की कोशिश की जाती रही है और विभागीय कर्मचारियों का व्यवहार दमनकारी रहा है· आखिर में या तो लोग अपने आप इसके विरोध में उठे या अतिवादी ताकतों ने उनकी ओर से लड़ाई शुरू की· लोगों का यह सवाल कि वन हमारे हैं, हमारी जिंदगी है, का समाधानकारक उत्तर होना जरूरी है· खेद है कि इस टकराव को खतम करने के लिए जो बुनियादी सवाल हैं उनकी ओर ध्यान नहीं दिया जाकर वहां की हालत को केवल अतिवादी गतिविधियां मानकर ताकत का इस्तेमाल कर उनसे पार पाने कोशिश होती रही है· इस तरह वनों की पूरी व्यवस्था पर ही नये सिरे से विचार करने की जरूरत है बिना उसके न जंगल बचेंगे और न ही आदिवासियों की समस्या का ही हल होगा·

तत्काल कार्रवाई

43· आदिवासी और व्यवस्था के बीच के तत्काल टकराव को दूर करने के लिए जमीन के मामले की तुरंत सफाई होनी चाहिये· इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि आज की आरक्षित वन की सीमा शुद्ध सत्य है और उसके भीतर पाया जाने वाला आदिवासी गलती पर है, यह मान्यता समाप्त होनी चाहिये· अनेक आदिवासी समाजों की रिहाईश या खेती आरक्षण के पहले की है, या आरक्षण की प्रक्रिया ही गलत है इसलिये उन्हें अतिक्रामक नहीं कहा जा सकता है· **इसके साथ ही आज जो जैसे भी जंगल में गुजर-बसर कर रहा है उसे हकाला नहीं जा सकता है जब तक सरकार उसे कोई विकल्प नहीं बताती है जो उसकी समझ में आ जाय, तब तक वह जो उसकी समझ में आ रहा है उसके मुताबिक करता रहेगा·यह उसका बुनियादी संवैधानिक अधिकार है·**

44· इस विवाद को मिटाने का एक ही रास्ता है - आज के औपचारिक कानून और व्यवस्था वाले रास्ते का त्याग और सरकार और गांव समाज के बीच आपसी समझ, सद्भाव और दूर-दृष्टि के आधार पर एक स्पष्ट कार्यनीति· इसके लिए शुरुआत आज जो जहाँ है उसकी स्थिति को स्वीकार करते हुए लोगों और सरकार के बीच एक तरह के अनौपचारिक करार से की जा सकती है· एक ओर सरकार वायदा करे कि आगे

के लिये आपसी समझ के आधार पर कार्यनीति के तय होने तक वह लोगों की आज की खेती के बारे में उनके खिलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं करेगी· दूसरी ओर गांव समाज यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी ले कि जंगल में आगे खेती न बढ़ेगी· सद्भावनापूर्ण वातावरण बनाने के लिये आदिवासी के खिलाफ़ जितने भी मामले हैं वे खतम कर दिये जाँय और एक-एक व्यक्ति की स्थिति को देखते हुए उसकी जमीन का फ़ैसला किया जाय· इस कार्रवाई से जमीन को लेकर सरकार और लोगों के बीच आज का टकराव खतम हो जायेगा· इस तात्कालिक शांति को स्थायी बनाने के लिये एक ऐसी योजना बनाई जाय, जिसमें तत्काल लोगों को काम मिले, पर्यावरण का बचाव-सुधार हो और उसके साथ ही लोगों की जिंदगी के लिये मजबूत और स्थायी आधार बन सके·

पड़ती भूमि और बिगड़े वन

45· संसाधनों पर अधिकार के संदर्भ में पड़ती भूमि और बिगड़े वनों की ओर खास तौर से ध्यान देना जरूरी है· अभी तक ये संसाधन या तो अनुपजाऊ थे या दूर-दराज के इलाकों में थे· इसलिए अगर गरीब उनसे जुड़ा हुआ था, अपनी जिंदगी बसर कर रहा था तो किसी को कोई एतराज नहीं था· परन्तु अब उनसे भारी मुनाफ़े की संभावना से सभी की आंखें उन पर लग गई हैं· ये संसाधन गरीबों के लिये जिंदगी गुजारने का सहारा है· परन्तु दुर्भाग्य से उनका कोई औपचारिक अधिकार नहीं है· इसलिए सरकार उनके मामले में जैसा चाहे कर सकती है· इस स्थिति का फ़ायदा उठाकर आसूदा लोग विकास के बहाने और कानून की आड़ लेकर अपना हक जमाने की कोशिश कर रहे हैं· **लोगों के जिंदगी के अधिकार को अनदेखा करके उनका वैकल्पिक उपयोग संविधान की भावना के खिलाफ़ है, इसलिए असंवैधानिक है·**

46· पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के कार्यक्रमों में औद्योगिक प्रतिष्ठानों और आसूदा लोगों को शामिल करने की पेशकश न केवल जनविरोधी हैं परन्तु पर्यावरण सुधार के राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए भी घातक है· उद्योगपति और आसूदा लोगों का संसाधनों के उपयोग के बारे में नजरिया शुद्ध व्यापारिक लाभ-हानि का होता है· इन कार्यक्रमों में बुनियादी तौर पर प्रकृति से खिलाफ़त और आम लोगों से टकराव होने से लागत बहुत अधिक हो जाती है· यही नहीं, इन कार्यक्रमों को जानबूझकर और भी खर्चीला बना दिया जाता है जिससे गरीब उनमें शामिल ही न हो पाए· एक तरह से राष्ट्रीय स्तर पर इन संसाधनों को आसूदा वर्ग द्वारा हथियाने की यह एक बड़ी साजिश है· इसके विपरीत व्यक्ति के श्रम और प्रकृति की शक्ति के भरपूर उपयोग पर आधारित गरीबों के कार्यक्रम बिना किसी खास लागत के बहुत बड़े पैमाने पर लिये जा सकते हैं जो गरीब और पर्यावरण दोनों के लिये ही हितकर होंगे·

47· इस तरह हमारे आर्थिक इतिहास में एक ऐसी मौका आया है जब गरीब जिन संसाधनों पर आज तक, मुफ़्लिसी की हालत में ही सही, गुजर-बसर कर रहा था, परन्तु जिन पर उसका कोई अधिकार मान्य नहीं था, उनका ऐसा नया उपयोग संभव है जिनसे वह अच्छी जिंदगी बिता सके· अगर उनका इन संसाधनों से जिंदगी चलाते रहने का हक मान लिया जाता है तो उनके पास भी कुछ अपना कहने को हो सकता है· **इसके लिये जरूरी यह होगा कि पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के कार्यक्रमों में उद्योगपतियों और आसूदा लोगों को बिलकुल बाहर रखा जाए·** इस तरह के अब तक के सभी करार, जैसे कि उड़ीसा और कर्नाटक की बड़ी-बड़ी लीजें, खतम किये जाँय· नये करारों में सामाजिक न्याय को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाय, **इन कार्यक्रमों में वे ही लोग शामिल हों जो अपने हाथ से मेहनत करने को तैयार हों·** इसी नीति

के सहारे पर्यावरण भी संभलेगा और आर्थिक विकास की बुनियाद भी मजबूत होगी·

48· पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के से सीमांत संसाधन ही गरीब की अंतिम आशा है और उसके लिए एकमात्र अवसर भी· अगर समय रहते चंद लोगों द्वारा तकनीक और धन के बल पर संसाधनों की खुली लूट नहीं रोकी गई तो गरीब के लिये आशा का यह दीप भी बुझ जाएगा और स्वाभिमान के साथ जिंदगी बिताने का अंतिम अवसर उसके हाथ से हमेशा-हमेशा के लिए निकल जाएगा· इस गंभीर संकट में भी एक आशा की किरण है, शायद गरीब आदमी इस अन्याय को स्वीकार न कर सके·

पानी

49· **पानी के संसाधन के रूप में उपयोग में भी पूंजी का प्रवेश और केन्द्रीकरण से लोगों के जिंदगी के अधिकार की अनदेखी हो रही है**· साधारण आदमी, जो अब तक अपनी मेहनत और अपने तकनीक का उपयोग करके, पानी का उपयोग कर लेता था, वह उसकी पहुँच के बाहर हो गया है· पानी पर पूँजी और तकनीक के सहारे एकाधिकार करके ताकतवर लोग उसका निजी फायदे के लिए मनमाना उपयोग कर रहे हैं· उधर नदी-तालाबों में पानी के सहारे गुजर करने वाले लोगों के अधिकारों की भी अनदेखी हो गई है और राज्य और संस्थाओं ने उन पर अधिकार कर लिया है· इस मुद्दे को लेकर नदी के किनारे मछुवारों और केवटों में भारी असंतोष है, कई आंदोलन भी हो रहे हैं·

50· इसी तरह आदिवासी क्षेत्रों में नदी-तालाबों से स्थानीय समाज के परंपरागत अधिकारों की अवमानना को अनदेखा करके नई औपचारिक संस्थाओं और उनके साथ ठेकेदारों का हित उभर आ गया है· इस स्थिति से लोग समझौता करने के लिए तैयार नहीं है· **दूसरे संसाधनों की तरह पानी के संसाधनों पर भी लोगों के जिंदगी के अधिकार को केंद्र में रख कर ही कोई नई व्यवस्था बनाई जानी चाहिए**· सामाजिक न्याय की दृष्टि से संसाधनों पर अधिकार में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना जरूरी है· **अन्यथा जिंदगी के अधिकार की अनदेखी और संविधान की अवहेलना होती रहेगी**·

विस्थापन

51· विकास के लिए संसाधनों के वैकल्पिक उपयोग के संदर्भ में संसाधनों पर अधिकार का दूसरा पहलू विस्थापन है· इस समस्या की व्यापक समीक्षा से स्पष्ट है कि विकास के रास्ते में हम एक ऐसे नाजुक मोड़ पर पहुँच चुके हैं जिसे खास तौर पर आदिवासी इलाकों मे अब अनदेखा नहीं रखा जा सकता है· विकास के दौर में सबसे बड़ा नुकसान आदिवासियों और साधनहीन लोगों को हुआ जिनमें अधिकतर अनुसूचित जातियों के लोग हैं· सभी संसाधनों को सम्पत्ति रूप मान लिए जाने से उनके अधिकार या तो अनदेखे रह गये या आधे-अधूरे माने गये· सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि विकास की महान यात्रा के लिये भूमि अधिग्रहण अधिनियम जैसे 19वीं शताब्दी के उपनिवेशिक कानून का बेलाग उपयोग किया जा रहा है, जिसमें लोगों के जिंदगी के अधिकार की कल्पना नहीं है और राज की इच्छा को जनहित का दर्जा दिया गया है·

52· भूमि अधिग्रहण कानून एक तरह से हमारे देश की कृषि-आधारित परंपरागत व्यवस्था को आधुनिक व्यवस्था में रूपांतरण के लिये एक ऐसे संज्ञाहीन दुर्दम यंत्र के रूप में काम कर रहा है जो अधिसंख्य गरीबों

से उनकी जिंदगी के आधार रूप प्राकृतिक संसाधनों को यंत्र की निस्संग यंत्रणा से छीन कर विधिवत नई व्यवस्था के उपयोग के लिये कच्चा माल बना देता है· इस कानून में इन संसाधनों के तथाकथित मालिकों के अलावा बटाईदार, खेतिहर मजदूर, चरवाहा, बहेलिया, केवट इत्यादि का कहीं बुजुद ही नहीं है· यही नहीं, जमीन के मालिक को मुआवजा उसके मालिकाना हक का मिलता है चाहे बाजार भाव का सिद्धांत हो या शुद्ध आय का· किसान के लिये उसका खेत मेहनत मजदूरी करके गुजर बसर करने का आधार है इसका अहसास ही नहीं· अपनी जमीन से जुड़ा स्वाभिमानी किसान कहीं फिरेगा अपनी मेहनत लेकर बेचने के लिये झल्ली लगाकर, इस कठोर यथार्थ और मर्मान्तिक वेदना का कहीं जिक्र तक नहीं - बेमानी जो ठहरे नई दुनिया के संदर्भ में उसकी प्रतिष्ठा, उसकी भावना और उसका भविष्य·

53. **कानून चाहे कुछ भी हो, मेरे मत में किसी भी नागरिक से उसकी जीविका का साधन या जिंदगी का आधार नहीं छीना जा सकता है· भूमि अधिग्रहण कानून में संपत्ति का विनिमय है, जीविका के आधार की कल्पना ही नहीं है· इसलिये यह कानून हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है, असंवैधानिक है· यही नहीं, मौके पर जमीन लेने के लिए जो प्रक्रिया अपनाई जा रही है वह अनैतिक और जनविरोधी है· परियोजना बनाने के निर्णय के बाद भूमि अधिग्रहण एक नियति बन जाता है· इसके बाद उस कानून के तहत आपत्तियों के लिये आमंत्रण पूरी व्यवस्था का ही परिहास है· इस तरह कानून के प्रावधानों का नेमी पालन भले ही हो रहा है, उसकी मंशा की अनदेखी हो रही है इसलिए वह पूरी प्रक्रिया ही गैर कानूनी है·**

54. विस्थापन के मामले में आदिवासी इलाको की हालत खास तौर से चिंताजनक है·वहाँ के समृद्ध प्राकृतिक संसाधन विकास के लिए जरूरी है· उन पर पूरी तरह से निर्भर लोगों के युगों के परंपरागत अधिकार सिर्फ इसलिये अमान्य हैं कि कुछ लिखा नहीं है· सबसे बड़ी विसंगति तो यह है कि किसी भी कानून में समाज की अस्मिता और उसका उसके पूरे परिवेश से नाते का कहीं जिक्र भी नहीं है· यही नहीं, उसकी जिंदगी के उन सभी पहलुओं का जो संपत्ति के औपचारिक अधिकारों और साधारण बाजार के मान में आ ही नहीं सकते हैं, कहीं कोई बुजूद ही नहीं है· उसका भावना का संसार उतना ही वास्तविक है जितनी कंक्रीट के जंगलों की दुनिया, उससे कहीं अधिक उदात्त है· इसीलिये उसका संरक्षण अंतर्राष्ट्रीय मानवीय अधिकार के रूप में स्थापित है· इस संदर्भ में **भूमि अधिग्रहण में आदिवासी समाज के संवैधानिक अधिकारों का ही नहीं, वरन् बुनियादी मानवीय अधिकारों का भी उल्लंघन होता है** और सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि राज्य इन सरल समाजों के सुरक्षा के संवैधानिक दायित्व तक को नकारने में कोई हिचक महसूस नहीं करता है क्योंकि उसमें तथाकथित विकास की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लाद रखी है·

55. यहां एक सवाल आता है कि क्या आदिवासी लोगों को विकास के लाभों में सहभागी होने का मौका नहीं मिलना चाहिए· मुझे बडी खुशी होती यदि इसके लिये कुछ व्यवस्था होती· आज तो पुनर्वास भी राज्य की दया पर मुनस्सिर है· उसे पात्रता सिर्फ मुआवजे की है वह भी उस संपत्ति की जो उसके नाम पर है· पर उस पैसे का वह क्या करेगा ? यही कारण है कि विकास के बढ़ते चरणों के साथ आदिवासी इलाकों में खुशहाली तो आ जाती है मगर उसके चारो ओर बिखराव और मुफ्लिसी का आलम बन जाता है· आदिवासी बेसहारा होकर जब जंगल की ओर भागता है तो उसको वहां ठिकाना नहीं मिलता· और फिर उसे आखिर में दूसरे इलाकों में भूमिहीन मजदूर और शहरों की फुटपाथ और गंदी बस्तियों में ही जगह मिल पाती है· यही त्रासदी है आदिवासी इलाकों के विकास की·

56. सच तो यह है कि हमारी विकास की अवधारणा और उसकी सहचरी जीवन शैली ही हमारे देश की स्थिति से असंगत है जिसके चलते "चौथी दुनिया" की स्थापना और "हिन्दुस्तनवा" का जैविक शोषण अनिवार्य

है· इस तरह नए निर्माण की बुनियाद ही गलत है· आम आदमी के अधिकारों को नकार कर और उसकी अर्थ-व्यवस्था के खंडहरों पर तामीर होने वाली विकास की मीनार स्थायी नहीं हो सकती है· जिनके खिलाफ़ यह अन्याय हो रहा है, वे उसको अस्वीकार कर रहे हैं· **साधारण आदिवासी के लिये भूमि अधिग्रहण उसका औपचारिक रूप चाहे कुछ भी हो, उसके हाथ से उसकी जमीन का जोर जबरदस्ती छिन जाना है** - जो अक्सर होता आया है वही अब भी हो रहा है पहले औरों ने छीना, अब सरकार छीन रही है, कहां जाय वह, और यहीं पर उसका मन विद्रोह कर बैठता है पूरी व्यवस्था के खिलाफ़·

57· प्राकृतिक संसाधनों के नये उपयोग करने की एक अनिवार्य पूर्व-शर्त यह होनी चाहिये कि न केवल संबंधित संस्था या सरकार उनसे जिंदगी चलाने वालों के लिए आगे जिंदगी चलाने के लए दूसरी व्यवस्था करे, जो पहली से अच्छी हो, परन्तु इस बारे में सरकार ईमानदारी बरते और पूरी तरह से इत्मीनान कर ले कि जो कहा जा रहा है वह सही है· इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि प्रभावित लोग खुद यह महसूस करे कि उनके लिये नया विकल्प ज्यादा अच्छा होगा और उसके लिए वे पूरी तरह से अपनी मर्जी से तैयार हों· **अगर इन उसूलों की अनदेखी होती है तो इस बारे में कोई भी कार्रवाई हमारे देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था के मूल्यों के खिलाफ़ होगी, हमारे संविधान की भावना के खिलाफ़ होगी· और उस अन्यायी विकास, जो गैर-कानूनी है, असंविधानिक है और मानव अधिकार विरोधी है, के विरोध में अपने जीने के अधिकार के लिये लड़ने वाले लोगों के खिलाफ़ कानून और व्यवस्था के नाम पर बल प्रयोग करना हमारे देश की सांस्कृतिक चेतना पर मर्मान्तिक प्रहार है· और फिर इनमें अधिकतर वे सरल आदिवासी और युगों से प्रताड़ित अनुसूचित जाति के और दूसरे साधनहीन लोग हैं, जिनकी रक्षा का भार राज्य को सौंपा गया है·**

नर्मदा घाटी का संघर्ष

58· विस्थापन, पुनर्वास और विकास की अवधारणा में नर्मदा घाटी परियोजना का एक खास महत्व है· यह परियोजना न केवल दुनिया की सबसे बड़ी परियोजना-श्रृंखला है वरन् उसमें असरग्रसतों की तादाद भी दुनिया में सबसे अधिक होगी· सरदार सरोवर से विस्थापित होने वालों में लगभग 70 प्रतिशत आदिवासी हैं· इस परियोजना में पुनर्वास को सिद्धांततः परियोजना का अंग माना गया है· परन्तु विडम्बना यह है कि इसी घाटी में लोगों का संघर्ष भी सबसे तीखा है·

59· सरदार सरोवर परियोजना से असरग्रस्त लोगों का आंदोलन पुनर्वास की समस्या को लेकर ही शुरू हुआ था· आंदोलन के फलस्वरूप राज्य सरकारों ने अपनी पुनर्वास की नीति और उसके क्रियान्वयन में भी काफ़ी कुछ सुधार किया· पिछले तीन साल से मैं स्वयं इस संवाद में हिस्सेदार रहा हूँ· परन्तु धीरे-धीरे असरग्रस्तों और सरकार के बीच दूरी बढ़ती गई और अंत में लोगों ने पुनर्वास की बात छोड़कर अपने घर न छोड़ने का फ़ैसला करके परियोजना का ही विरोध करने का निर्णय किया·

60· बात असल में यह हुई है कि विस्थापितों के साथ मानवीय संवेदना के स्तर पर व्यवहार नहीं हुआ, उन्हें सभी तरह के मामलों को औपचारिकता के दायरे में निपटाने की कोशिश होती रही है· सौभाग्य से नर्मदा जल विवाद प्राधिकरण के पंच फ़ैसले और विश्व बैंक के इकरारनामों से उन्हें दूसरे मामलों की तरह केवल राज्य की दया-भिक्षा पर निर्भर रहने की बजाय अपने बल बूते पर खड़े होने की कुछ जगह मिल गई· परन्तु राज्य की ओर से शालीनता न बरते जाने से हर बिन्दु पर विवाद, संघर्ष, चिंता भरी लम्बी प्रतीक्षा और फिर उसके बाद औपचारिकता पूरी करने के लिये कम से कम रियायत का क्रम सालों चलता रहा है· इसमें एक ओर तो राज्य के द्वारा प्रस्तुत तथ्यों और उसके वायदों की विश्वसनीयता कम होती गई और

दूसरी ओर लोगों को अपनी स्थिति, अधिकार और व्यापक संदर्भ का अधिकाधिक अहसास होता गया· और इस लम्बी प्रक्रिया में लोगों को धीरे-धीरे इस कटु सत्य का अहसास भी हुआ कि आज की स्थिति में उनका पुनर्वास संभव नहीं है·

61. इस मामले में स्थिति की गंभीरता और व्यापक संदर्भ में उसके महत्व को देखते हुए मैंने भी केन्द्र तथा राज्य सरकारों का ध्यान पुनर्वास संबंधी नीति, आयोजन और क्रियान्वयन तथा खास तौर से आदिवासियो की स्थिति के बारे में आकर्षित किया· परन्तु खेद है कि किसी स्तर पर भी अपनी-अपनी सीमाओं को पार कर पुरानी लीक से हट कर सोचने के लिये तैयारी नहीं मिली· उसके फलस्वरूप एक ओर अभी तक समान नीति तक नहीं कर पाई है· विस्थापित की परिभाषा, उनकी पात्रता, मौके की हालत और सरकारी रिकार्ड में अंतर, बदलते मानदण्डों की असंगतता, बदलाव के दौर की समस्याओं की अनदेखी, पुनर्वास के लिये आवश्यक जमीन के अनुमान, वित्तीय व्यवस्था इत्यादि, के बारे में अभी भी भारी अनिश्चितता है, **जमीन के बदले जमीन के वायदे के बावजूद यह स्पष्ट है कि पुनर्वास के लिए जमीन उपलब्ध नहीं है और न लोगों को समाज के रूप में पुनर्वास किया जाना ही संभव है· तीनों राज्यों में पुनर्वास के लिये सुविधाओं में भारी असमानता है जिसके रहते लोगों का अपने बसने के लिये स्वेच्छा से स्थान-चयन के अधिकार की भावना का खुला उल्लंघन होता रहेगा·** इस तरह लोगों की सहमति के आधार पर समाज के रूप में व्यवस्थित पुनर्वसन के लिये व्यापक योजना बनना तो दूर सामान्य पुनर्वास की संभावना तक नहीं दिखाई देती· यही नहीं, अब नया सोच यह हैं कि असरग्रस्त खुद निजी जमीन खरीदकर अपने लिये पुनर्वास की व्यवस्था कर लें· इससे पुनर्वास की संकल्पना में ही बुनियादी बदलाव आ जाएगा जिससे अधिसंख्य गरीबों को आखिर में कुछ हाथ नहीं आएगा· यह नई कल्पना असरग्रस्तों को मंजूर होने की बात तो दूर अभी दूसरी सरकारों को भी मंजूर नहीं है· इसके साथ ही विस्थापन और पुनर्वास के कुछ और सवालों जैसे सरदार सरोवर परियोजना के ही पहले से विस्थापित, उसकी अनुषंगित गतिविधियों से प्रभावित और निजी जमीन की खरीदी की नीति से "दूसरे विस्थापन" की विभीषिका झेलने वाले लोगों की समस्या, को भी बहुत समय तक टाला नहीं जा सकता है· **इस सब को देखते हुए सरकारों की घोषित नीतियों और सभी तरह के वायदों के बावजूद मेरे मत में आज की हालत में नर्मदा घाटी के असरग्रस्तों का पुनर्वास संभव नहीं है·**

62. विस्थापन के मामले में नर्मदा घाटी के संघर्ष से हमारे राष्ट्रीय विकास के इतिहास में एक बिलकुल अभिनव और अनपेक्षित स्थिति पैदा हो गई है· अभी तक विस्थापन के खिलाफ लोगों के संघर्ष बहुत कुछ अलग-थलग थे· दूसरे आम तौर पर विस्थापन को अनिवार्य मानकर व्यवस्था से राहत की ही याचना की जाती थी· परन्तु नर्मदा के संघर्ष में देश के विभिन्न इलाकों में विकास के उलट-प्रहारों से जूझने वाले लोगों ने एकजुट होकर संभवतः पहली बार बुनियादी संवैधानिक अधिकारों की बात उठाई है· और वह भी केवल तर्क के स्तर पर नहीं है वरन् लोगों की अपनी समझ और अपने संकल्प भी इसके पीछे हैं· यही नहीं, इन प्रश्नों के साथ विकास की अवधारणा पर भी प्रश्नवाचक चिन्ह लगाए जा रहे हैं·

63. सच तो यह है कि हम राष्ट्रीय जीवन में ऐसे मोड पर पहुँच गए हैं जहां विकास की अवधारणा और इसमें लोगों की हिस्सेदारी के बुनियादी सवालों पर एक नये सिरे से बहस होनी ही चाहिए· अन्यायी परंपरा, असंगत विकास और अवांछनीय केन्द्रीकरण देश के अधिसंख्य लोगों को साधनहीन बनाता जा रहा है, उनका सब कुछ छिनता रहा है· **मेगा परियोजनाए मानवीय और पर्यावरण की दृष्टि से तो विनाशकारी हैं ही, परन्तु शुद्ध आर्थिक दृष्टि से भी वे हमारी स्थिति में अनिष्टकारी हैं·** मेरी इस पूरी रपट में सभी संदर्भो की बात आखिर में एक ही बिन्दु पर पहुंचती रही है और वह है केंद्रीयकरण और आम आदमी के जिंदगी के अधिकार की अवहेलना· सब दूर चर्चा भी वही है, वही सबसे बुनियादी सवाल है· आदिवासी इलाकों के लिये यह सवाल अब निर्णायक हो गया है· आज उनके पूरे समाज की अस्मिता का सवाल है· लगभग 15 प्रतिशत आदिवासी किसी न किसी तरह विस्थापित हो चुके हैं· उनके पास कुछ नहीं बचा है· परन्तु राष्ट्रीय

विकास के हित में उन्होंने क्या गवाया इसका कोई अहसास तक नहीं है· यदि यही क्रम बना रहा तो वह दिन दूर नहीं जब उनको अपने घर में ही खड़े होने का ठौर नहीं रहेगा· कई इलाकों में यह हो चुका है, हो रहा है·

64. विस्थापन के मामले में दुर्भाग्य से विकास के उलट-प्रहारों से पीड़ित आदिवासी लोगों और कुछ दूसरे संवेदनशील लोगों के अलावा और सभी ने या तो सुविधाजनक चुप्पी साध रखी है अथवा कुछ नीति वाक्यों जैसे "किसी को तो विकास की कीमत चुकानी ही पड़ेगी" "कानूनी प्रक्रिया का समर्थन तो व्यवस्था को करना ही होगा" इत्यादि, को सार्वभौम सत्य मान कर उसे नियति मान लिया है· परन्तु संविधानिक व्यवस्था, प्रजातांत्रिक मूल्यों और मानवीय अधिकारों का खुलकर कहीं जिक्र भी नहीं आता है, उनके बारे में स्थिति क्या होगी, इस पर कोई बहस नहीं, कोई विचार नहीं·

65. नर्मदा घाटी के आंदोलन में वैसे तो बहुत से पहलू उभरे हैं· परन्तु इसमें सबसे गंभीर मोड़ अभी हाल ही में आया है· इस समय लाभ मिलने वालों की ओर से संख्या के गणित के आधार पर राज्यहित के दावे और सर्वदलीय सहमति को जनहित के समर्थन में अकाट्य तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है·ये बातें जब एक परियोजना के बारे में कही जाती हैं तो बड़ी सीधी-सादी लगती है· परन्तु अगर हम सभी परियोजनाओं का जोड़ लगाए तो नुकसान तो सब दूर आदिवासी का हो रहा है और विकास का लाभ दूसरों को मिल रहा है· इसलिये सवाल यह है कि क्या इस तरह के तर्क बुनियादी उसूलों, मानवीय मूल्यों या संविधानिक अधिकारों के मामले में मान्य हो सकते हैं ? **मैंने पिछली रपट में आदिवासियों की जमीन की रक्षा के मामले में आंध्रप्रदेश में संविधानिक व्यवस्था की अवहेलना का उल्लेख किया था· इस मामले में राज्य सरकार ने आदिवासियों के अधिकारों की खुली अवहेलना को सर्वदलीय सहमति के आवरण में जायज बनाने का प्रयास किया था· अभी भी संविधानिक अधिकारों के उल्लंघन के आंध्रप्रदेश के इस मामले में स्थिति साफ नहीं हो पाई है·**

66. ये तर्क किसी एक परियोजना के लिये खास नहीं हैं· परन्तु नर्मदा घाटी के संघर्ष में उनका पूरा उभार आया है· मेरा स्पष्ट मत है कि **आदिवासी इलाकों की सभी विकास परियोजनाओं की तरह सरदार सरोवर के मामले में भी कानून, संविधान और मानवीय अधिकारों की अवहेलना हो रही है और राज्य आदिवासी समाज को संरक्षण देने के अपने संविधानिक दायित्व की अनदेखी कर रहा है·** सरदार सरोवर के विस्थापितों के लिये प्रस्तावित पुनर्वास कार्यक्रमों से इस बुनियादी स्थिति में तब तक कोई अंतर नहीं होगा जब तक कि असरग्रस्त किसी विकल्प को स्वेच्छा से न स्वीकार करे· इसी तरह से यह तर्क कि अभी तक घोर अन्याय होता रहा है या दूसरी जगह घोर अन्याय हो रहा है, अपेक्षाकृत कम अन्याय को किसी भी तरह जायज नहीं बना सकता· अन्याय अन्याय है और जहां भी लोग अन्याय के खिलाफ लड़ रहे हैं वह उनकी जायज लड़ाई है· यह भी ठीक है कि कानून, संविधान और मानवीय अधिकारों के ये सवाल सरदार सरोवर के पहले संभवतः नहीं उठाए गए· परन्तु व्यवस्था के बुनियादी परिवर्तन की हालत में पहली बार बुनियादी सवाल उठाने की स्थिति सभी मामलों में कभी न कभी तो आती ही है· आखिर ठाकुर भी तो वही तर्क अपने "बंधुआ" हलवाहे के लिये भी तो देता है· लोगों में अन्याय का अहसास होने के बाद स्थिति वही नहीं बनी रहती है· विस्थापन और उसके जुड़े हुए विकास की अवधारणा के मामले में भी हम इसी स्थिति में पहुंच गए हैं· नर्मदा का आंदोलन विस्थापन के मामले में गुणात्मक बदलाव का प्रतीक है·

67. बहरहाल नर्मदा घाटी परियोजना के मामले में एक ऐसी स्थिति आ पहुँची है जहां एक ओर कानून के मुताबिक कार्रवाई की बाध्यता और दूसरी ओर संविधानिक और मानवीय मूल्यों की स्थापना के बीच टकराव है· विस्थापन और उसके प्रतीक स्वरूप नर्मदा घाटी के लोगों का संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर हमारे मानवीय मूल्यों में आस्था के लिये एक कसौटी बन गए हैं· क्या लोगों को उनकी सहमति के बिना अपने घर से बेदखल किया जा सकता है ? क्या सामाजिक अस्मिता का सौदा हो सकता है ? क्या आदिवासी समाज को यह जानते हुए

किया जा सकता है ? क्या न्याय की व्याख्या संख्या के गणित के आधार पर हो सकती है ? क्या कुछ लोगों की जिंदगी का मोल बहुत लोगों की सुविधाओं और आशाइशों से किया जा सकता है? परन्तु लगता है कि विकास की हड़बड़ी में इन सवालों पर किसी को सोचने का समय ही नहीं है.

68. इस अत्यन्त सोचनीय स्थिति से निकलने के लिये एक ही रास्ता है - लोगों का विश्वास अर्जित करके उनकी सहमति के आधार पर आगे की कार्रवाई करना. इसकी पूर्व शर्त होगी लोगों का विश्वास जीतना. और यह तब तक नहीं हो सकता है जब तक लोगों के सामने एक विशाल बांध का निर्माण हो रहा हो जो उनके लिये अभिशाप और अन्याय का प्रतीक है. ऐसी परियोजना की गहरी साया में किसी भी समाधानकारक योजना के लिये बेबसी की हूं-हां को उनकी सहमति नहीं कहा जा सकता है. और फिर आज तो एक और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा हो गई है. कई जगह विस्थापितों के खिलाफ खुले रूप में बल का प्रयोग किया जा रहा है. इसके साथ ही लोगों की "जल समाधि" के संकल्प का परिहास और पानी भरने की अनिवार्यता को परोक्ष संत्रास भी उनसे विवश स्वीकृति पाने के लिए उपयोग किया जा रहा है. यह तंत्र की निस्संगता और सत्ताधारियों की मदान्धता का प्रतीक है, यह हमारे देश की संवेदना नहीं है. मुझे विश्वास है कि हमारे देश की संवेदना इस रसातल तक नहीं पहुंच गई है जहां किसी बांध की आखिरी ईंट यह देखते हुए भी रख दी जाय कि कोई एक व्यक्ति भी, जो अपने जीवन के अधिकार की स्थापना के लिए लड़ रहा है, वहाँ से नहीं हटेगा और डूब जाएगा. बहरहाल **जिंदगी के अधिकार के लिए संघर्ष करने वाले उन सरल लोगों के खिलाफ प्रत्यक्ष या परोक्ष बल का प्रयोग, जिनका संरक्षण राज्य के हाथ में संविधान ने सौंपा है, सांविधानिक व्यवस्था का परिहास है, उसके लिये राज्य की ओर से कोई तर्क स्वीकार नहीं हो सकता.**

69. मुझे उम्मीद है कि राज्यों ने अभी असंविधानात्मक और मानवीय अधिकार के इन पहलुओं पर बिना विचार किए ही साधारण रूप में अनजाने में कदम उठाये होंगे, वे इनके लिये खेद व्यक्त करते हुए लोगों से सम्मान के साथ संवाद स्थापित करेंगे. आखिर यदि सभी पक्ष पुनर्वास सहित पूरी परियोजना के सभी पहलुओं के बारे में इतने आश्वस्त हैं कि असरग्रस्त लोगों के पूरे प्रतिरोध के बावजूद उसे आगे बढ़ाने का दुर्दम संकल्प ले सकते हैं तो उसके मामले में उठाए गए लोगों के सवालों का जवाब क्यों नहीं दे सकते हैं ? मेरा आग्रह होगा कि नर्मदा के आंदोलन के साथ जिंदगी के अधिकार के बारे में जो नई जन चेतना जाग्रत हुई है उसे पहचान कर संसाधनों के प्रयोग के बारे में एक नया अध्याय शुरू किया जाय. इस संवाद में लाभ-क्षेत्र के लोग भी शामिल हों. सरदार सरोवर सहित सभी परियोजनाओं का अभी तक का गणित यही रहा है - एक समूह के लिये बरबादी ही बरबादी, दूसरे समूह के लिये लाभ और अधिक लाभ, दायित्व और खर्च पूरे का पूरा सरकार का. क्या लाभ क्षेत्र के लोग भी अपने संभावित लाभ में असरग्रस्तों को सहभागी बना कर उनके लिये नई व्यवस्था में सम्मानपूर्ण स्थान सुनिश्चित कर सकेंगे ? क्या इस परियोजना को अपनी जीवन डोरी मानने वाले उन लोगों से जिनकी जीवन डोर टूट रही है **संवाद स्थापित कर उन्हें यह भरोसा दिला पायेंगे कि उनकी जीवन डोर नहीं टूटेगी और उनकी सामाजिक अस्मिता बनी रहेगी.**

70. यदि ऐसा होता है तो **यह** सचमुच में एक नया अध्याय शुरू हो सकता है. परन्तु अब सिर्फ नीतियों, घोषणाओं और वायदों से काम नहीं चलेगा. उनके अलावा आज की हालत में यह भी साफ होना जरूरी है कि लोगों की सहमति के आधार पर ही समस्याओं के सभी पहलुओं पर विचार करके उनका समुचित समाधान निकालने के बाद ही इस परियोजना को आगे बढ़ने दिया जायगा. उस समय तक के लिये इस परियोजना पर पूरा काम बंद रखा जायगा. **जब तक यह काम चालू है कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के अपने दायित्व की अनदेखी होती रहेगी. इस कारण बढ़ते टकराव के दुखद परिणामों के लिये स्वयं राज्य ही जिम्मेदार होगा.**

राष्ट्रीय नीति और तत्काल कार्रवाई

71. राष्ट्रीय स्तर पर विकास और विस्थापन के लिये नीति बनाने में बहुत देर हो चुकी है. इस नीति को बनाने के लिये तो तत्काल कार्रवाई होनी ही चाहिये, परन्तु नीति बनाने के निर्णय से आज की समस्याओं का निदान कल के लिये टालना उचित नहीं होगा. विकास की परियोजनाओं के संबंध में पहला निर्णायक कदम तो यही होगाकि बिना किसी और औपचारिकता के राष्ट्रीय, स्तर से यह घोषणा की जाय कि कम से कम आदिवासी अंचलों के अब तक के सभी विस्थापितों के लिए उपयुक्त व्यवस्था की जाएगी. इसी तरह से अभी जितनी परियोजनाएं चल रही हैं उनकी समीक्षा की जाय और उन सब में लोगों की सहमति से उनकी सहभागिता की व्यवस्था और जब तक यह संभव न हो जाय परियोजना का काम बंद कर दिया जाय. आगे से ऐसी कोई भी परियोजना जिसमें जमीन सहित ऐसे प्राकृतिक संसाधनों का कोई वैकल्पिक उपयोग प्रस्तावित हो, जिससे लोग पहले से जिंदगी गुजार रहे हों, उन लोगों की पूर्ण सहमति के बिना उनका वैकल्पिक प्रयोग किसी भी हालत में मंजूर न किया जाय. **तभी संविधान की भावना का पालन हो सकेगा.**

स्वशासी व्यवस्था

72. हमारे राष्ट्रीय जीवन में गलत दिशा और विसंगतियों की भरमार का एक ही कारण है - आजादी के बाद भी गांव की स्वशासी व्यवस्था की अनदेखी ही नहीं वरन् जीवन के हर क्षेत्र में भारी केन्द्रीकरण. स्वशासी व्यवस्था के नाम पर लोगों को मिली औपचारिक प्रतिनिधि व्यवस्था लोगों की अपनी नहीं बन पायी, आज की हालत में वह उनकी अपनी बन नहीं सकती हैं, और इसी व्यवस्था को आदिवासी इलाकों पर भी जैसा का तैसा थोप दिया गया जिसके बड़े घातक परिणाम हुए हैं.

73. आदिवासी समाज में अभी भी स्वशासी व्यवस्था की जीवन्त परंपरा है. असंगत कानून और जटिल प्रशासनिक व्यवस्था के कारण समूचे समाज के अपराधीकरण और संसाधनों पर अधिकारों की घोर अवमानना की समस्याओं से तो आदिवासी लोग अंग्रेजों के जमाने से ही जूझते आ रहे थे. परन्तु आजादी के बाद आदिवासी इलाकों में भी औपचारिक प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू कर दिये जाने से सामाजिक स्तर पर दो अलग-थलग संरचनाएं बन गईं. इस कारण एक अजीब विसंगति की स्थिति पैदा हो गई. एक ओर परंपरागत पंचायतों में नई रोशनी के प्रवेश की संभावना ही न रहने से उन पर रूढ़िवादिता की जकड़ कहीं-कहीं काफी मजबूत हो गई है. आज के जमाने में भी जादू-टोने के आवरण में आर्थिक लाभ के लिए नृशंस हत्यायें कई इलाकों में आम घटनाएं हैं जिनके बारे में सामाजिक कार्यकर्ता भी लाचारी का अहसास करते हैं. दूसरी ओर औपचारिक संस्थाओं की अपनी अलग पहचान बन जाती है जिसके कारण समाज के हितों की अनदेखी आम बात हो गई है. यह व्यवस्था वोट की राजनीति के कारण समाज में विग्रह का कारण भी बन गई है. उधर जीवन की असली समस्याओं से उनका कोई लेनादेना नहीं होने से समाज के साथ स्वस्थ संवाद का कोई अवसर ही नहीं है. यह सब आदिवासी स्थिति के बारे में गैर-समझी और आदिवासी समाज की मर्जी के खिलाफ हो रहा है. **यह कार्यनीति हमारी संविधान की व्यवस्था का खुला उल्लंघन है.**

74. आदिवासी इलाकों में इसी विसंगति के कारण एक ओर लोग दिग्भ्रमित हैं. वे लोग देश की आजादी और लोकतंत्र का अर्थ अपनी जिंदगी के परिवेश में ढूंढ़ रहे हैं. जंगल, जमीन, सरकारी कारकुन - कुछ भी तो नहीं बदला, हालत और भी बिगड़ गई, हाथ आती है सिर्फ निराशा, नहीं समझ में आता है स्वराज का अर्थ. दूसरी ओर जब वे अपनी ओर से अपनी व्यवस्था स्वयं चलाते रहने की सीधी सी बात उठाते हैं, उस पर अमल करते हैं तो उसको लेकर टकराव और देशद्रोह तक के मामले लग गए हैं. **उत्तर-पूर्व में आदिवासी-बहुल राज्य तो बन गए परन्तु वहां का असली अनकहा टकराव गांव समाज की सत्ता और राज्य की औपचारिक सत्ता के बीच है जो और भी तीखा होता का रहा है.**

75. **ये सभी विसंगतियां और टकराव आदिवासी इलाकों के लिये हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हैं, ये तत्काल खतम किए जांए.** सभी आदिवासी इलाकों में उनकी परंपरा के अनुरूप लघु समाज (पल्लिया/मजरा) और गांव समूह (परगना) के स्तर पर व्यवस्थाओं को मान्यता देकर जीवन की नई पुरानी सभी विधाओं के संचालन का अवसर दिया जाय जिससे वे अपनी पुरानी परंपरा को नये संदर्भ में ढाल सकें, नई स्थिति को समझ कर नई परंपराएं कायम कर सकें और सबसे महत्वपूर्ण अपनी गलतियों से सीख सकें और जीवन्त समाज के रूप में अपनी अस्मिता बनाए रखकर अपनी परंपरा के उत्तम तत्वों को संजोए हुए, मानव समाज की नई उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए राष्ट्रीय जीवन धारा में प्रतिष्ठा और आत्म सम्मान के साथ सहभागी हो सकें. **यही आदिवासी समाज के लिए संवैधानिक व्यवस्था का सार है. यही हमारा राष्ट्रीय दायित्व ही नहीं वरन् समूचे मानव समाज के प्रति महान दायित्व भी है - यही अंतिम आशा है मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज की पुनर्स्थापना की.**

संघर्ष, बुनियादी विसंगति और प्रतिक्रिया

76. अंत में इस रपट में एक बात साफ तौर पर उभर कर आई है. पूरे देश में जिंदगी के अधिकार को लेकर संघर्ष चल रहे हैं. इनके रूप अलग-अलग हैं पर बुनियादी तौर पर वे सभी समता और न्याय पर आधारित व्यवस्था के लिए पेशकश हैं. वे सभी संविधान की भावना के अनुरूप भी है. परन्तु इसके बावजूद ये सभी आंदोलन किसी न किसी मोड़ पर व्यवस्था से टकराव में बदल जाते हैं. इसका मूल कारण यही है कि हमारी कानूनी व्यवस्था हमारे प्रजातांत्रिक संविधान की भावनाओं के अनुरूप नहीं हैं. **इसलिए एक ओर सब कुछ कानून के अनुसार हो रहा है परन्तु दूसरी ओर संविधान और मानवीय अधिकारों की खुली अवहेलना हो रही है. आज इस खुली अवहेलना का बुजूद भी स्वीकार करने की जहमत उठाना व्यवस्था को गवारा नहीं.**

77. इस माहौल में लोगों की प्रतिक्रियाएं एक नया रूप ले रही हैं. वे लोग जगह-जगह इस असंगत व्यवस्था को स्वतंत्र भारत के नागरिक की हैसियत से अस्वीकार कर रहे हैं. सोनभद्र के आदिवासी अपनी जमीन पर अधिकार साबित करने के लिये गांव के बाहर जाने को तैयार नहीं है, उन्होंने जमीन के व्यवस्थापन की व्यवस्था को अमान्य कर "हमारे गांव में हमारी व्यवस्था" का संकल्प लिया है, सोले और पुलिमामिडी के भूमिहीन खेती जोतने का अधिकार छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं, कर्नाटक में अपने गांव की जमीन लोग उद्योगों को देने के लिये तैयार नहीं हैं, शंकरगढ़ के खदानों में काम करने वाले अपनी जीविका के बारे में अदालत के फैसले की प्रतीक्षा करने के लिए तैयार नहीं है, संथाल परगना में गांव समाज तालाब पर अपने अधिकार की रक्षा जान की बाजी लगाकर भी कर रहा है, गंगा के केवट पानी पर जमींदार के हक को नकार कर अपने अधिकार की रक्षा कर रहे हैं, कोल्हान में लोग अपनी परंपरागत व्यवस्था पर कायम है

उससे हटने के लिये नहीं तैयार है, अभयारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों से लोग अपना घर छोड़कर जाने के लिये नहीं तैयार हैं, आदिलाबाद में रायसभाएं समाज की पूरी प्रबंध-व्यवस्था अपने आप चला रहीं हैं, बस्तर और गढ़ीचरोली में लोग सामाजिक मामलों में वन और दूसरे संसाधनों के प्रबंध में समाज की वरीयता और **माया माटे मादी सरकार**{हमारे गांव में हमारी सरकार} का संकल्प ले रहे हैं, नर्मदा घाटी और दूसरी परियोजनाओं के विस्थापित पूरी प्रक्रिया को गैर-कानूनी और असंविधानिक होने के नाते अमान्य कर अपने जिंदगी के अधिकार की स्थापना के लिये कृत-संकल्प हैं, और अंत में, लोग असंविधानिक कानूनों को अमान्य करने का संकल्प ले रहे हैं और इन कानूनों में सबसे आगे हैं भूमि अधिग्रहण अधिनियम.

78. इन संकल्पों में कहीं-कहीं हो सकता है लोग कानून की खिलाफ्त कर रहे हों, परन्तु एक अंतर के साथ. वे कानून तोड़ जरूर रहे हैं, परन्तु न वे महज कानून तोड़ने के लिए कानून तोड़ रहे हैं और न व्यवस्था तोड़ने के लिये पहले कदम के रूप में. उनका संविधान में विश्वास है - परन्तु उनकी शिकायत यह है कि व्यवस्था ने चालीस साल के लम्बे अन्तराल में भी संविधान के अनुरूप अपने को ढ़ाला नहीं इसलिए वे इस कानून को तोड़ने के लिये बाध्य हैं अपने बुनियादी अधिकारों की रक्षा के लिये, संविधान की भावना के सम्मान के लिए और मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिये. इन जन-संकल्पों की मोटे तौर पर तीन स्थितियां हैं - संसाधनों से जिंदगी बसर करते रहने का अधिकार, मेहनतकशों का उत्पादन के साधनों से जुड़े रहने का अधिकार और असंविधानिक तथा मानव अधिकार विरोधी कानूनों की अस्वीकृति.

79. यहां पर भ्रम और उलझन भरी स्थिति पैदा हो जाती है. मौके पर इन कार्रवाईयों को कानून की खिलाफ्त ही माना जा रहा है और इसी रूप में उनको हल करने का प्रयास भी किया जा रहा है. अगर यही स्थिति रही तो लोगों के संकल्पों को विद्रोह का रूप दिया जाता रहेगा, लोग और भी अधिक गुमराह होते रहेंगे और टकराव बढ़ेगा. अंत में व्यवस्था को लोगों के सामने झुकना पड़ेगा परन्तु बड़ी मानवीय त्रासदी के बाद. इससे बड़ी विसंगत स्थिति क्या हो सकती है कि अतिवादी गतिविधियों के बारे में आम आदिवासी मन से दुआ देता हुआ अनायास यह कह जाय कि "और कुछ नहीं तो दादा लोगों के आने से सरकारी जुल्म-ज्यादती तो खतम हुई." क्या कहा जाय इस व्यवस्था के लिये जिसके अंतर्गत आदिवासी की रक्षा के लिये स्वयं संविधान ने असीम शक्तियों से लैस किया राष्ट्रपति और राज्यपाल को पर वे आज तक उसे अपने ही कारिन्दों के शोषण और उत्पीड़न से नहीं बचा पाए ? और यह ऐतिहासिक काम किया नक्सलियों ने. कैसी है यह व्यवस्था जिसमें कानून ही आम आदमी के लिये सबसे बड़ा त्रास बन गया है उसका स्तेमाल करके उसका सब कुछ छिन रहा है जिंदगी का अधिकार, अस्मत और आजादी तक? और — स्तेमाल किया जा रहा है उसके शोषण, उत्पीड़न यहां तक कि उसकी सामाजिक अस्मिता तक को मिटाने क लिये. शोषण, आतंक और यंत्रणा आम आदमी, खास तौर से अनुसूचित जनजातियों और जातियों के लिये, जीवन का साधारण भोगा हुआ सत्य है.

80. हमारे राष्ट्रीय जीवन की यही त्रासदी है. व्यवस्था के कर्णधार व्यवस्था के सामने मजबूर हैं, वे उसके तर्क से बंधे हुए हैं, शायद वे गरीब के प्रति व्यवस्था के वायदों से कुछ कदर आश्वस्त भी हैं. परन्तु आम आदमी को उसमें विश्वास नहीं, जो रहा सहा है वह भी ढ़हता जा रहा है. इस त्रासदी से उबरने का एक ही रास्ता है - राष्ट्रीय जीवन की बुनियादी विसंगति - कानून की लीक न्याय का गला घोंट सकती है - की स्वीकार करना और लोगों के विवेक का आदर और उसका अनुगमन. इस संदर्भ में लोगों के संकल्पों को संकुचित कानूनी नजरिये से न देखकर व्यापक मानवीय अधिकारों और प्रजातांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में देखना होगा. और फिर "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" और "अन्याय को बरदाश्त करना पाप है" ये उद्घोषणाएँ तो स्वयं तिलक और गांधी ने की थी. अगर सरकार इन विसंगतियों को, इन अन्यायी

स्थितियों को खतम करने के लिए खुद लाचार है तो कम से कम न्याय के लिये संघर्ष करने वालों को अपराधी तो न करार दे· स्वशासी व्यवस्था प्रजातंत्र का प्राण है, उसके लिए संघर्ष करने वालों का समर्थन करना सब का फर्ज हैं· मुझे उम्मीद हैं कि आम तौर पर जिंदगी के अधिकार के लिए और आदिवासी इलाकों में अपनी परंपरा के मुताबिक अपनी व्यवस्था की कामयाबी के लिए लोगों के संकल्प को सरकार समर्थन देगी और देश की औपचारिक व्यवस्था को भी लोगों की भावनाओं के अनुरूप ढाल कर संविधान की व्यवस्था को, देर से ही सही, मूर्त रूप देगी·

पांच काम···

81 इस रपट में मैंने आपके माध्यम से साधारण आदमी जो सभी कारणों, सभी प्रक्रियाओं और आखिर में सभी उद्देश्यों का मूल आधार है, से संवाद स्थापित करने की कोशिश की है - इसलिए कोई औपचारिक सिफारिशें नहीं हैं **सिफारिश करता भी क्या जब बुनियाद ही गलत है?कानून और व्यवस्था ही संविधान और न्याय के खिलाफ है और कदम कदम पर जिंदगी के बुनियादी अधिकार की अवमानना हो रही है· मेरी पूरी रपट ही एक बड़ी सिफारिश है·**

82 जब तक संविधान की मूल चेतना के मुताबिक बदलाव की प्रक्रिया चालू नहीं होती, इक्का-दुक्का कार्रवाईयां पैबंद का काम करेंगी, घाव पर पट्टी लग जाएगी पर बीमारी की जड़ वैसी की वैसी ही बनी रहेगी· फिर भी कुछ सूत्र ऐसे हैं जिनके बारे में यदि आम सहमति हो जाती है तो सभी स्तरों पर सभी संबंधित अपनी स्थिति के अनुसार योगदान कर सकते हैं और समाजिक न्याय का राष्ट्रीय उद्देश्य और दायित्व कुछ हद तक ही सही, पूरा हो सकेगा·

पहला - हमारे पूरे कानूनी ढांचे में आम आदमी के जीने के अधिकार को केंद्रीय मान कर जरूरी फेर-बदल किया जाय जिससे कानून और संविधान की घोर विसंगति खतम हो सके· संसाधनों और उत्पादन के साधनों पर अधिकार और मेहनत की हकदारी से संबंधित सभी कानूनों में असंविधानिक तत्व निकाल कर न्यायसंगत रूप दिया जाय·

दूसरा - आम आदमी आज जिस तरह भी जिंदगी चला रहा है उसको जीने के अधिकार के रूप में मान्यता दी जाय· इसमें तरह-तरह के कामों में लगे बंधुआ मजदूर, बटाईदार और खेतिहर मजदूर, वनों में रहने वाले वनवासी और गांव की सीमांत भूमि से गुजारा करने वाले सभी शामिल हैं·

तीसरा - कम से कम आदिवासी इलाकों में पूरी तरह स्वशासी व्यवस्था कायम की जाय जिसमें स्थानीय समाज की असंदिग्ध रूप से अपना जीवन चलाने और पूरे संसाधनों के रख-रखाव और उपयोग का पूरा अधिकार हो·

चौथा - जब तक राज्य अपने इन संविधानिक दायित्वों को निभाने में असमर्थ हैं, लोगों के उन बुनियादी मूल्यों के आधार पर व्यवस्था की पुनर्स्थापना के संकल्प और उसके लिये शांतिमय संघर्षों का आदर किया जाय और **जिंदगी के अधिकार के लिये संघर्षों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष बल का प्रयोग वर्जित किया जाय·**

पांचवा - जीने के अधिकार, विकास की अवधारणा और जीवन शैली को लेकर कानून, संविधान, मानवीय अधिकार और राज्य के दायित्व के संदर्भ में जो सवाल खास तौर से आदिवासी इलाकों में उठे हैं और नर्मदा घाटी का आंदोलन जिनका प्रतीक बन गया है, उन पर तत्कालीन हितों की टकराहट के स्तर से उठ कर हमारे सांस्कृतिक आभार और मानवीय

मूल्यों के व्यापक दायरे में समाधान खोजन जाय· विकास की अवधारणा और जीवन कीशैली हमारी परंपरा,हमारे देश की अपनी स्थिति और हमारे अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों से संगत हो·

···और एक संकल्प भी

83· और जरूरत है एक राष्ट्रीय संकल्प की भी - आदिवासी इलाकों में खास तौर से सद्भावना का वातावरण बनाने की· इन बेजुबान इन्सानों पर विकास की इकतरफा प्रक्रिया नहीं थोपी जाय, उंचे आदर्शों और राष्ट्रीय विकास के नाम पर इनकी जिंदगी को ही दाव पर न लगा दिया जाय· आज उन्हें विकास के नाम पर उसके उलट-प्रहार, सामाजिक बिखराव और निजी तौर पर मुफ्लिसी ही हाथ आई है· सभी जगह यह गुहार कर रहा है, हाथ जोड़ता है मेरी झोपड़ी मत जलाओ·· कोई बचाओ·· कहा जाऊँगा मैं, मेरी मैया छूट जायेगी···नहीं तो गोला बरसा दो··पर कोई सुनने वाला नहीं - उसकी करुण आवाज उन्हीं जंगल पहाड़ों में गूंजती रहती है···गूंजती रहेगी···सदा सदा के लिये अमानवीय व्यवस्था के सामने मानव की बेवसी का रोमांच लिये···

84· सद्भावना का वातावरण बनाने के लिये यह जरूरी है कि विकास के नाम पर आदिवासी समाज के खिलाफ़ छेड़ा गया युद्ध तुरंत बंद हो और उन्हें विकास की महायात्रा में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया जाय· यह कठिन काम है· यह तभी हो सकता है जब हम यह तय करें कि विकास के नाम पर हमारे यहां "चौथी दुनिया" नहीं बनने दी जायेगी· इसके लिये हमें अपने विकास की अवधारणा और जीवन शैली पर नये सिरे से विचार करना होगा· **आदिवासीइलाकों में सद्भावनाका वातावरण तभी तैयार हो सकता है जब कि नई व्यवस्था और विकास की चपेट में आये जो लोग कराह रहे हैं, उनकी ओर पहले ध्यान दिया जाय· आगे बढ़ने की जल्दबाजी करने की बजाय पहले उनको अपनी व्यवस्था चलाने का जिम्मा दिया जाय और पूरे विकास में सहभागी बनाया जाय· हो सकता है कि इसमें बदलाव और विकास की गति थोड़ी सी मंद करनी पड़ जाय, कुछ समय के लिए हमें वहां रुक भी जाना पड़े· परन्तु यह जरूरी है, वांछनीय भी है अन्यथा अगर सावधानी नहीं बरती गई तो आदिवासी इलाकों में उफनते असंतोष और भड़कते विद्रहों के सामने कहीं विकास का पहिया चरमरा कर पूरी तरह से बैठ ही न जाय·**

अधिकार और दायित्व

85· मेरी इस रपट के प्रति व्यवस्था की प्रतिक्रिया क्या होगी मैं नहीं कह सकता· परन्तु जब देश के एक-चौथाई लोगों की अस्मिता का सवाल है, उनकी जिंदगी के बुनियादी अधिकारों का सवाल है और जब वे खुद अपनी जिंदगी के अधिकार की लड़ाई लड़ रहे हैं तो उनके बारे में स्पष्ट रूप से स्थिति को प्रस्तुत नहीं करना ही सबसे बड़ा अपराध होता, दायित्व की अवहेलना होती· पिछली रपट में मैंने आग्रह किया था इस पूरी स्थिति पर राष्ट्रीय विकास परिषद अलग से खास तौर से विचार करे· मैंने न्यायपालिका से भी आग्रह किया था कि वह इस स्थिति को व्यापक व्यवस्था के चालन के संदर्भ में देखें कि क्या लोगों के अधिकारों की इस कारण अवमानना उचित है कि संविधान में बताए गए दायित्व का राज्य निर्वाह नहीं करे और उसका फल आदिवासी भुगते· मैं फिर से ये आग्रह दुहराना चाहूंगा·

86· परन्तु इसके साथ ही मैं उन तमाम लोगों से भी, जो कि व्यवस्था के अंग हैं, से आग्रह करना चाहूंगा कि आखिर व्यक्ति के रूप में उनका भी तो कुछ फर्ज बन जाता है· वे अपने-अपने स्तर पर लोगों के बुनियादी हकों और उसूलों के संघर्ष में अपने फर्ज को निभाने के लिए जो कुछ हो सकता है करे· यदि वे

लोगों की जिंदगी के अधिकार के संघर्ष में उनका साथ नहीं दे सकते हैं तो कम से कम उनकी खिलाफ्त तो न करें· इसी तरह से मैं राजनीतिक दलों से भी अपील करूंगा कि बुनियादी उसूलों के मामले में वोट की राजनीति को अलग कर दे· संगठित क्षेत्र और उसके साथ साधन सम्पन्न तथाकथित "भारत" भी देश के अधिसंख्य साधनहीन "हिन्दुस्तनवा" की ओर से भी इस व्यवस्था में तर्क को देख ले· मुझे आशा है कि विद्वत् समाज इस बेबाक विश्लेषण पर गौर करेगा और देश को विकास के मोह जाल से निकाल कर एक ऐसा रास्ता खोजने के लिए प्रेरित करेगा जिससे हम सही अर्थों में समाजवादी समाज की स्थापना करने में सफल होंगे· और इस पूरी व्यवस्था में निर्णायक बदलाव एक ही ताकत ला सकती है वह है युवा वर्ग की· मुझे उम्मीद ही नहीं पूरा विश्वास है कि हमारा युवा वर्ग राष्ट्र ही नहीं मानव सभ्यता के इतिहास के इस अनन्य दौर में समर्पण, त्याग, बलिदान और अपने सपनों के समाज के निर्माण की ललक से प्रेरित होकर इस महान चुनौती को स्वीकार करने के लिए आगे आयेगा.

87· अंत में, समाज की आज की हालत में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त के नाते मेरा भी यह फर्ज है कि संविधान की सही व्यवस्था जिन लोगों के लिए बनी है जिन लोगों के हितों की समीक्षा का दायित्व मेरे उम्र है, इस पूरे संदर्भ को उन लोगों तक पहुंचाऊं· परन्तु आम आदमी सिद्धांत की भाषा जानता नहीं है, वह तो आज की समस्या में उलझा हुआ है· सभी सिद्धांतों का अंतिम निचोड़ उसकी आज की समस्या के संदर्भ में रखे बिना उसके लिये कोई अर्थ नहीं, उसकी कोई सार्थकता भी नहीं· इस रपट की प्रतिध्वनि तो सिर्फ कुछ सभागारों में कुछ समय के लिए गूंज कर उनके अवकाश में विलीन हो जाएगी· जीवन के संघर्ष का संवाद ही उसकी सही और स्थायी अभिव्यक्ति हो सकती है·

88· आज जब धरती पर उसे जोत कर जिंदगी बसर करने वाले हलवाहे का कोई अधिकार ही नहीं, जब आदिवासी अपने ही घर में बेगाना है, जब कई इलाकों में मेहनतकश और आदिवासी पूरी तरह से अकेले पड़ गए हैं, जब उनके जिंदगी के अधिकार की खुली अवमानना ही रही है, जब राज्य जिंदगी के अधिकार के संघर्ष में लगे उन लोगों के खिलाफ, जिनका न केवल रक्षा का पूरा भार उसके उम्र है वरन् जिनकी अस्मिता ही उसकी सदिच्छा पर निर्भर है, बल प्रयोग में भी कोई संकोच नहीं महसूस करता है· एक भारी विडम्बना की स्थिति बन गई है· आज इन लोगों को थोड़ी ही सही पर कुछ राहत सिर्फ अतिवादियों से ही मिल पाती हे और फिर वे उनके बीच गोलाबारी की भीषण विभीषिका में अनजाने फंस जाते हैं· इस हालत में उनसे संवाद के लिए, उनके संवैधानिक अधिकारों और व्यवस्था के उसके प्रति दायित्व के प्रतीक ही सही, उनके जीवन संघर्ष में सीधा जुड़ने के अलावा कोई और रास्ता ही नहीं है· संवेदना और दायित्व के इसी संदर्भ में आम आदमी, खास तौर से अनुसूचित जातियों और आदिवासियों के जिंदगी के अधिकार की स्थापना के लिए उनके संघर्ष से सीधे जुड़ना अनिवार्य है· मैं यह रपट इसी संकल्प के साथ आपको प्रेषित कर रहा हूँ· इसके साथ एक आशा भी है कि इस रपट में उठाए गए मानवीय अधिकारों, प्रजातांत्रिक मूल्यों और संवैधानिक व्यवस्था के बुनियादी सवालों पर राष्ट्रीय स्तर पर गहरे सोच के साथ एक निर्णायक मोड़ आयेगा जिससे हमारे संविधान के निर्माताओं के सपनों का भारत साकार हो सकेगा·

सादर,

भवदीय,

ब्रह्मदेव शर्मा

{ब्रह्मदेव शर्मा}

विषय-सूची

अध्याय सं॰	अध्याय		पृष्ठ संख्या
	डॉ॰ ब्रह्मदेव शर्मा, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त की ओर से भारत के राष्ट्रपति को पत्र		(i)--(xxv)
1	पृष्ठभूमि		1
2	असमानता, वंचना और सामाजिक न्याय		6
3	सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्मगौरव		13
4	आम आदमी की हकदारी		21
	उत्पादन के साधनों पर अधिकार		31
5	§1§ कानून, बदोबस्त और दखल	31	
6	§2§ जमीन, जोत और हकदारी	40	
7	§3§ सवाल बंधक मजदूरों का	52	
	संसाधनों पर अधिकार		62
8	§1§ सिद्धांत और कानून	62	
9	§2§ स्थानीय समाज और वन	70	
10	§3§ वनों का आरक्षण	79	
11	§4§ वन्य प्राणी और आदिवासी	92	
12	§5§ संसाधनों का बिगाड़-विनाश	99	
13	§6§ वनों के मामले में इंसाफ का रास्ता	119	
14	§7§ बिगड़े जंगल, पड़ती और अनुपजाऊ भूमि	142	
15	§8§ पानी	159	
	विस्थापन		169
16	§1§ सामान्य व्यवस्था	169	
17	§2§ आदिवासी इलाकों में विस्थापन	189	
18	§3§ नर्मदा घाटी के बांध	205	
19	विकास में सहभागिता		234
20	आदिवासी समाज की स्वशासी व्यवस्था		254
21	व्यवस्था, संविधान और आम आदमी		277
22	अधिकार और दायित्व		289

अनुलग्नक

1 से 7	नर्मदा परियोजना के बारे में पत्राचार	§संदर्भ पैरा - 19·59§
8	भारत में अनुसूचित जातियों की वर्तमान स्थितिः मध्यप्रदेश में आयुक्त का भाषण	§संदर्भ पैरा - 21·9 §
9	संकल्प और घोषणा	§संदर्भ पैरा - 21·41§

1

पृष्ठभूमि

संविधान की कुछ बुनियादी बातों की चर्चा अट्ठाइसवीं रिपोर्ट में की गई थी। उसका सारांश यह था कि हमारे संविधान में एक ऐसे समाज की कल्पना की गई है जिसमें समानता, न्याय और भाईचारे के आदर्शों का सहज व्यवहार हो। उसकी स्थापना के लिये सभी जरूरी बातें हमारे संविधान में या तो सीधे-सीधे अथवा परोक्ष रूप में मौजूद है।

1.2 इस मंज़िल तक पहुँचने के लिये संविधान की परिकल्पना साफ है। सबसे पहले तो सभी तरह की अमानवीय परंपराओं अथवा संबंधों को जैसे कि छुआछूत और बंधक मजदूरी खत्म करने का प्रावधान किया गया। इसके आगे दूसरा कदम था परंपरागत अर्थव्यवस्था के अन्यायी संबंधों को खत्म करना जिसके अनुसार राजे महाराजे खत्म हुए, जागीर और जमीनदारियाँ समाप्त की गईं और सभी तरह के बिचौलियों को भी खत्म करके, जोतने वाले को जमीन के सिद्धांत को अमल में लाने का फैसला किया गया। इसके बाद सबसे बड़ा सवाल था एक ऐसी अर्थव्यवस्था कायम करने का जिसमें आम आदमी को गरीबी से छुटकारा मिले और वह खुशहाल हो सके। इसके दो पहलू थे। पहला यह कि अंग्रेजों ने अपनी घरेलू व्यवस्था की खुशहाली और तरक्की के लिये हमारे देश के उद्योग धंधों को चौपट कर दिया था। इसलिए आजादी के बाद पहला काम था गाँव के घरेलू उद्योग धंधों की रक्षा करना, उनमें लगे हुए लोगों को राहत देना और आगे बढ़ने के लिए अवसर बनाना। इसके साथ-साथ देश की तरक्की के लिए नई अर्थव्यवस्था भी कायम करनी थी· इस नई व्यवस्था के भी कई रूप हो सकते थे। परन्तु संविधान में एक ऐसी आधुनिक व्यवस्था की कल्पना की गई जिसमें सभी नागरिकों को बराबरी से हिस्सा लेने का मौका मिले। इस के लिये दो बातें जरूरी थीं। पहले तो सभी नागरिकों को उसमें हिस्सेदारी के लिये काबिलियत हासिल करने का मौका बराबर मिलना जरूरी माना गया। इसी उद्देश्य से संविधान में 14 वर्ष तक के सभी बच्चों के लिये 10 साल के भीतर अनिवार्य शिक्षा के लिए इन्तजाम करना जरूरी माना गया। दूसरे इस तैयारी के बाद भी उस व्यवस्था में सबको बराबर मौका तभी मिल सकता था जब कि उत्पादन के नये साधनों पर समाज का अधिकार हो। इसीलिए नई अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र और सहकारी व्यवस्था को सबसे ऊँची जगह दी गई और निजी क्षेत्र को गौण माना गया।

1.3 इस तरह मोटेतौर पर देश की नई अर्थ-व्यवस्था में हर व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समानता के आधार पर अपने लिये जगह बनाने की उम्मीद कर सकता था। परन्तु फिर भी विकास के लिये प्रतिस्पर्धा में कहीं आदिम प्रवृत्तियां हावी न हो जाय इसीलिये संविधान में जाति, धर्म, क्षेत्र, लिंग इत्यादि के आधार पर किसी तरह के पक्षपात की खास तौर पर मनाही है। साधारण रूप से ये बातें समता और न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिये काफी होनी चाहिये, परन्तु हमारे देश की सामाजिक हालत को देखते हुए वे नाकाफी थीं। इसलिये पिछड़े वर्गों की ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत महसूस की गई। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लोगों के हित में कुछ विभेद करना वाजिब माना गया और संविधान में सकारात्मक विभेद की नीति को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

1.4 संविधान की इन व्यवस्थाओं के सही रूप में अमल हो जाने पर उम्मीद यह थी कि असमानता के परंपरागत गढ़ों के टूटने के बाद हमारे देश में धीरे-धीरे समानता बढ़ती जायेगी। खयाल यह था कि कुछ समय के बाद पिछड़ी जातियों के लिये सकारात्मक विभेद की भी जरूरत नहीं रह जायेगी। इसीलिए अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिये राजनीतिक आरक्षण शुरू में केवल 10 साल के लिए रखा गया था। आर्थिक अवसरों में आरक्षण के लिये अलबत्ता कोई समय-सीमा नहीं रखी गई, उस पर वक्त की जरूरत के मुताबिक फैसला किया जा सकता था। इसके अलावा आदिवासी क्षेत्रों और आदिवासी लोगों की हालत का जायजा लेने के लिए भी 10 साल के बाद ही एक आयोग बिठाने की बात संविधान में शामिल की गई थी जिससे उनके पूरे हालात पर फिर से एक बार गौर किया जा सके।

1.5 आजादी के बाद अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये कई तरह के कार्यक्रम लिये गए। उनसे कुछ लाभ तो हुआ, खास तौर पर शिक्षा के मामले में। सरकारी नौकरियों में भी बहुत लोगों को जगह मिली। परन्तु अधिकतर लोगों की हालत में सुधार नही हुआ। कई मामलों में तो उनकी हालत और भी गिर गई।। इसका खास कारण यह था कि हमारे देश की पूरी अर्थव्यवस्था कुछ इस तरह से चल रही है जिससे कि असमानता घटने की बजाय बढ़ती गई और अभी बढ़ती ही जा रही है। देश में एक तरह से दोहरी या तिहरी अर्थव्यवस्था कायम होती जा रही है। एक ओर आधुनिक व्यवस्था में आसूदा लोगों की दुनिया है। दूसरी ओर परंपरागत व्यवस्था में विभाजन गहराता जा रहा है जिसमें एक ओर वे लोग हैं जिनका संसाधनों पर अधिकार है और दूसरी ओर साधनहीन सर्वहारा गरीबों की दुनिया।

1,6 जब देश में असमानता बढ़ रही है तो सभी वर्गों के लोग नई दौलत और नये अवसरों में अधिक से अधिक उन्हें हिस्सा मिल जाय, इसकी कोशिश कर रहे हैं। जाहिर है कि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का भी उसमें हक बनता है। इसका नतीजा यह हुआ कि संविधान की मूल समाजवादी चेतना को देखते हुए सकारात्मक विभेद की नीति को जिसकी थोड़े समय के बाद कोई जरूरत ही नहीं रहती, न केवल जारी रखना जरूरी हो गया वरन् उसके दायरे को भी बढ़ाना लाजमी हो गया। इसी जरूरत को देखते हुए मैंने पिछली रिपोर्ट में उससे जुड़े हुए बुनियादी मुद्दे उठाए थे और उनके बारे में व्यापक सिफारिशें की गई हैं। इस सब के बावजूद यह एक विडम्बना ही है कि सामाजिक न्याय के लिये अन्यायी व्यवस्था के लाभों में कमजोर वर्गों की हिस्सेदारी का दावा किया जाय जो कि उनमें से कुछ लोगों को जो हिस्सा मिलेगा वह भी तो आखिरकार उन्हीं वर्गों के दूसरे गरीबों के शोषण का फल होगा।

1.7 यह जाहिर है कि सकारात्मक विभेद की नीति, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के विकास में जिस पर अभी तक सबसे अधिक जोर दिया जाता रहा है, पूरी तरह से सफल हो भी जाय तब भी उससे इन जातियों में से केवल एक छोटे से हिस्से को ही लाभ मिल सकेगा। दूसरी ओर अगर देश में असमानता बढ़ती जाती है या आज के स्तर पर भी बरकरार रहती है तो उसका सबसे अधिक नुकसान तो इन्हीं वर्गों के लोगों को उठाना पड़ेगा क्योंकि वे ही अभी या तो सबसे खराब हालत में हैं या आदिवासियों की तरह उन्हीं पर विकास के कार्यक्रमों की उलटी-मार पड़ रही है। इसीलिए आज के हालत को देखते हुए पिछली रिपोर्ट में सकारात्मक

विभेद की नीति के दायरे को बढ़ाने की सिफारिश जरूर की गई थी, परन्तु उसके साथ बुनियादी बदलाव पर अधिक जोर दिया गया था जिसमें मजदूरी, जमीन पर अधिकार, परम्परागत व्यवस्थायों के लिए संरक्षण के अलावा आम तौर पर न्याय और समतावादी नीतियों को बनाने और उनके कड़ाई से अमल करने की पेशकश की गई थी.

1.8 पिछली रिपोर्ट के पेश होने के बाद हालात में कोई खास बदलाव नहीं आया है. केन्द्रीय सरकार ने अलबत्ता नौकरियों में आरक्षित पदों को अनारक्षित न करने का और उनमें से अब तक जो भी खाली जगह हों उनको भरने के लिए विशेष भर्ती का अभियान चलाया है. परन्तु इसका दायरा अत्यन्त ही सीमित है. इसके अलावा राष्ट्रीय स्तर पर **भारतीय जनजाति विपणन विकास संघ** और **राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम** की भी स्थापना की गई है. इन संस्थाओं ने अभी अपना काम शुरू ही किया है. इसके अलावा रिपोर्ट में जिक्र किये गए या दूसरे किसी भी मुद्दे पर अभी तक कोई बात आगे नहीं बढ़ी है.

1.9 यहाँ पर यह कहना जरूरी है कि पिछली रिपोर्ट में सात सालों के हालात की समीक्षा की गई थी. इस दौरान कुछ उल्लेखनीय सफलतायें मिलीं, जिनका विवरण दिया गया था. परन्तु इसके साथ ही बहुत से कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में न केवल भारी कमियाँ पाई गई थीं, वरन् कई मामलों में आयोजन ही ठीक नहीं था. आठवीं योजना में इनके लिये कोई खास कदम लिये जा रहे हों इसका कोई संकेत नहीं है. उस रिपोर्ट में सबसे गंभीर मामले तो संविधान की व्यवस्था को लेकर उठाए गए थे. बहुत से अहम मामलों में संविधान के लागू होने के 40 साल के बाद भी उसके अनुसार कार्रवाई शुरू तक नहीं की गई है. इसके अलावा खुद राज्य के द्वारा संवैधानिक व्यवस्था के खुल्लमखुल्ला उल्लंघन के भी कई उदाहरण हैं. इन गंभीर संविधानिक मामलों के रिपोर्ट में आने के बाद भी उन पर कार्रवाई न करना संविधान की घोर अवहेलना के अलावा क्या कहा जा सकता है ? यह भी खेद की बात है कि अभी तक इस रिपोर्ट पर न संसद में और न ही राज्य की विधानसभाओं में ही चर्चा हुई है. इस संदर्भ में इसके अलावा और क्या उम्मीद की जा सकती है कि अगर कहीं हालात अधिक बिगड़े न हो, जैसा कि उत्पीड़न के बारे में साफ है, तो सात साल से जैसा कुछ चला आ रहा था वही इस दौरान भी चलता रहा होगा.

1.10 पिछली समीक्षा में एक और बात भी सामने आई थी. बहुत से महत्वपूर्ण मामलों में कोई जानकारी ही नहीं इकट्ठी की जा रही है. संवैधानिक व्यवस्था की सही मायने में समीक्षा हो सके, इसके लिए मैंने राज्य सरकारों को नए प्रपत्र भेजे हैं. उनसे यह भी आग्रह किया गया है कि संबंधित जानकारी इकट्ठा करके उसके आंकड़े वैसे ही न भेज दिये जाय. उन पर राज्य स्तर पर विचार किया जाय. इस समीक्षा में जो महत्वपूर्ण मुद्दे उठे उन पर सरकार की राय और जो समस्याएँ सामने आये उनका हल करने के लिये क्या कार्रवाई की गई या की जानी है, इस सब जानकारी के साथ पूरा विवरण मेरे पास भिजवाने की कृपा करें. इस तरह से उम्मीद है कि यह रिपोर्ट केवल आंकड़ों, विचारों और सद्भावनाओं का जखीरा न रहकर सामाजिक न्याय की प्रक्रिया का अभिन्न अंग बन सकेगी और तुरंत कार्रवाई और दीर्घकालीन नीतियों को बनाने का आधार भी. इस नई समीक्षा का सिलसिला अगली रिपोर्ट से शुरू होगा जिसके बारे मे अभी बहुत ही कम राज्यों से और वह भी बहुत ही थोड़े आंकड़े आये हैं. जो विवरण आये है उनसे लगता है कि राज्य स्तर पर समीक्षा की बात की अहमियत अभी ध्यान में नहीं आई है. इस जानकारी के मिलने पर संवैधानिक व्यवस्था के अनुपालन की गहराई से समीक्षा की जा सकेगी जिसे आशा है अगली रिपोर्ट में प्रस्तुत कर सकूँगा .

1.11 पिछली रिपोर्ट की समीक्षा में सबसे अहम सवाल प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार और उनके उपयोग के बारे में आया था। उसके कुछ पहलुओं का विवेचन भी किया गया था परन्तु उसके महत्व को देखते हुए उस पर एक विशेष रिपोर्ट की जरूरत महसूस हुई थी। इस बीच इस मामले में स्थिति और भी बिगड़ती नजर आ रही है। सच तो यह है कि प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार और उनका उपयोग और देश के उत्पादन में हकदारी इन सब बातों से न केवल आम आदमी की आजीविका वरन् उसके जीने का अधिकार जुड़ा हुआ है। इसी जरूरत को देखते हुए इस साल की रिपोर्ट में प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार की ही विस्तार से समीक्षा की गई है। इस समीक्षा का अर्थ है आम आदमी के जिंदगी के आधार और उसके जीवन के अधिकार की समीक्षा।

1.12 यह रिपोर्ट आम आदमी के जिंदगी के अधिकार से जुड़ी हुई है। इसलिये मैंने यह रिपोर्ट आम आदमी को संबोधित करने की कोशिश की है जिससे कि वह स्वयं यह समझ सके कि आखिर सामाजिक न्याय के लिये इतने बड़े-बड़े उसूलों और लगातार आशा भरे वायदों के बावजूद उसकी हालत बिगड़ती क्यों जा रही है। आमतौर पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट प्रस्तुत होने के बाद उसे संसद के सामने पेश किया जाता है, उस पर बहस होती है और अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिये संसदीय समिति उसकी सिफारिशों को लागू करवाने की कोशिश करती है। जाहिर है कि इस पूरी औपचारिक प्रक्रिया के बावजूद हालात सुधरने की बजाय बिगड़ते ही जा रहे हैं जिसका खास कारण यही है कि पूरी व्यवस्था की गति का उलटा असर हो रहा है। उम्मर के स्तरों पर जो कुछ भी होता है उसका आम लोगों को, जिनके बारे में संविधानिक व्यवस्थाएँ हैं और यह रिपोर्ट लिखी जाती है, इस सब का कोई अहसास तक नहीं है।

1.13 इस रिपोर्ट में मैंने और एक खास बात पर भी विचार करना जरूरी समझा है। आखिर यदि वे लोग जिन्हें संविधान ने स्पष्ट जिम्मेदारी दी हैं, उन जिम्मेदारियों को नहीं निभाते हैं तो लोगों के सामने क्या रास्ता है। पिछली रिपोर्ट में मैंने इस गंभीर मामले को विस्तार से साफ किया था। उदाहरण के लिए आदिवासी इलाकों के मामले में राज्यपालों ने अपनी जिम्मेदारियाँ नहीं निभाईं, केन्द्रीय सरकार ने संविधान के प्रावधानों की अवहेलना के बावजूद निर्देश जारी नहीं किये, न्यायालय लाचार है क्योंकि या तो कानून ही नहीं बने या उनका ध्यान आकर्षित नहीं किया गया, राष्ट्रीय विकास परिषद ने इस पूरे मामले को उसकी सम्पूर्णता और गहराई में विचार करने की जरूरत ही नहीं समझी। उसी तरह से अनुसूचित जातियों के सदस्यों का हित जमीन और मजदूरी से जुड़ा हुआ है जिनके बारे में व्यवस्था में लाचारी नहीं तो सही संवेदना का तो अभाव है ही। ऐसी हालत में लोगों के सामने क्या रास्ता है, इस पर गहराई से विचार करना जरूरी हो गया है।

1.14 यह सवाल केवल उन लोगों के लिये नहीं है जो व्यवस्था के उत्पीड़न या उसकी गैर-जिम्मेदारी से प्रभावित हैं वरन् उन सब लोगों के लिये भी है जो व्यवस्था के चलाने के लिये जिम्मेदार हैं और जो आधुनिक व्यवस्था के लाभों में हिस्सेदार हैं। इस रिपोर्ट में मैंने कई इलाकों में लोगों की ओर से व्यवस्था की अन्यायी प्रक्रियाओं के खिलाफ जो प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं उनका खासतौर पर उल्लेख किया है और दूसरे लोग ऐसी हालत में क्या कर सकते हैं और क्या करना चाहिये इस बारे में भी चर्चा की है। मुझे उम्मीद है कि यह रिपोर्ट जिसमें लोगों के संविधानिक अधिकारों, उनके मामले में व्यवस्था के रवैये और लोगों की ओर से क्या किया जा रहा है और क्या किया जा सकता है, संविधानिक व्यवस्था के संदर्भ में चर्चा की गई है, संबंधित लोगों तक उनकी अपनी बोलचाल की भाषा में पहुँचे इसकी व्यवस्था सरकार करेगी।

1.15 इस रिपोर्ट में मैंने औपचारिक सिफारिशें नहीं की है। अब तक की रिपोर्टों में खासतौर से अट्ठाइसवीं रिपोर्ट में की गई सिफारिशें व्यापक हैं और अगर उन पर अमल हो जाता है तो अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की हालत में सुधार की उम्मीद की जा सकती है। परन्तु इस रिपोर्ट में संसाधनों पर अधिकार का परीक्षण करने से यह साफ है कि कमजोर वर्गों खासतौर से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों को संविधान की भावना के अनुरूप तब तक न्याय नहीं मिल सकता जब तक कि हमारे सोच, हमारी पूरी कानूनी और औपचारिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव नहीं किया जाता। यह ठीक है कि यह बदलाव एक दिन में नहीं हो सकता। परन्तु महत्व बदलाव की प्रक्रिया का है-आज की व्यवस्था की प्रकृति ही उनके हितों के खिलाफ है, हमारी समूची कानूनी व्यवस्था औपनिवेशिक ढाँचे से मुक्त नहीं हो पाई है लोगों के जिंदगी के अधिकार की अनदेखी ही नहीं वरन् उसकी ओर खास ध्यान भी नही दिया जा रहा है। इसमें तुरंत बदलाव की जरूरत है और उन बिन्दुओं को पहचानने की जरूरत है जहाँ इस बदलाव की शुरूआत की जा सकती है। जाहिर है कि जहाँ संविधान की भावना और मानवीय अधिकारों की अवहेलना हो रही है, वहाँ तुरंत शुरूआत की जानी है। इसलिये पूरी रिपोर्ट पर ही गंभीर चर्चा जरूरी है और उसके निष्कर्षों के मुताबिक कार्रवाई की जरूरत है, जिससे संविधान की भावना का समुचित आदर हो सके और लोगों को सभी क्षेत्रों में न्याय मिल सके।

2

असमानता, वंचना और सामाजिक न्याय

हमारे देश में असमानता बड़ी तेजी से बढ़ रही है। इस माहौल में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की हालत और भी तेजी से बिगड़ना लाजमी है। इसलिये सबसे पहले तो हमें इसी पर विचार करना होगा कि संविधान में सभी तरह के भले प्रावधान होने के बावजूद हम उलटी दिशा में कैसे चलते जा रहे हैं ? यह अन्यायी व्यवस्था पनप कैसे रही है और असमानता बढ़ क्यों रही है ? कुछ बातें तो बिल्कुल साफ हैं। संविधान में जिन अमानवीय परंपराओं और अन्यायी व्यवस्थाओं को समाप्त करने के निर्देश हैं उनका पालन नहीं हुआ। इसीतरह संविधान के लागू होने के बाद भी अनेक रूपों में शोषण बना ही नहीं रहा, गहराता भी गया है। दूसरी और देश में नये विकास से जो फायदा हुआ वह बहुत कुछ शहरी-संगठित और शिक्षित वर्ग के लोगों ने हथिया लिया। इस नये आसूदा वर्ग में धीरे-धीरे कई तरह के दीगर अवांछनीय तत्व भी शामिल होते गए हैं। अब ये सब मिल कर एक बड़े स्वार्थ गुट के रूप में स्थापित होते गये हैं और ऐसा लगता है गानों पूरी अर्थ-व्यवस्था ही उनके चंगुल में हो।

2.2 हमारे देश का संगठित वर्ग विकास के लाभों को अपने लिये हथिया कर ही संतुष्ट नहीं रहा है। उसने अपनी ताकत का नाजायज फायदा उठाकर एक ओर खेती सहित समूचे असंगठित क्षेत्र को नये विकास का लाभ नहीं मिलने दिया है। दूसरी ओर अनेक तरीकों से असंगठित क्षेत्र के शोषण की पहले से चली आ रही प्रक्रिया को और भी अधिक गहराया है। इसके अलावा यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि संगठित क्षेत्र में केवल वे ही लोग घुस पाये हैं जो या तो पहले से ही अच्छी हालत में थे या जिन्हें पढ़ने लिखने का अवसर मिला। इस तरह इस क्षेत्र पर बहुत करके ऊँची जातियों के लोगों का ही वर्चस्व कायम हो गया और उसमें अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लोगों की भागीदारी आरक्षित स्थानों तक ही सिमिटी रही, अन्य जगह उनकी पहुँच न के बराबर ही है। इसलिए अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों में से अधिकांश लोगों को असंगठित क्षेत्र के दूसरे लोगों के साथ, या उनसे भी अधिक, वंचना और शोषण का सामना करना पड़ा है, और कर रहे हैं।

वंचना के कई रूप

2.3 आज की व्यवस्था में वंचना और शोषण का कई रूपों में इजहार होता है। पहला रूप तो सीधी लूट और ठगी का ही है। आधुनिक व्यवस्था में लूट और ठगी के लिये वैसे तो कोई जगह नहीं है परन्तु फिर भी गरीबों, खासतौर पर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों के लिये वह एक भोगा सत्य है जिसका उन्हें लगातार सामना करना पड़ रहा है। इसके कारण उनकी तबाही बढ़ रही है। परन्तु आज की व्यवस्था का सबसे भयानक पहलू है अप्रत्यक्ष वंचना और शोषण। ये प्रक्रियायें इतनी गहरी होती हैं कि आमतौर पर उनका एहसास तक नहीं हो पाता है। इनके कई रूप हैं। सबसे पहले तो आम आदमी जो भी काम करता है और उसके लिये चाहे कैसे भी कौशल की जरूरत क्यों न हो, उसके उस कौशल को ही नकार दिया जाता है जिससे उत्पादन में उसकी हकदारी कम से कम हो जाय। इसका सबसे अन्यायी और खेदजनक उदाहरण खेती के काम का है। खेत मजदूरी को अकुशल माना जाता है और उसके लिये मजदूरी की दर सबसे कम रखी जाती

है। परन्तु इसके उलटे नई व्यवस्था के लोग अपने कौशल का मनमाना मोल लगा लेते हैं। उदाहरण के लिये लिफ्ट का बटन दबाने वाला कुशल मजदूर है और लिखने पढ़ने वाला बुद्धिजीवी तो सबसे ही उँचा माना जाता है। यही नहीं, जिन कामों का कोई मतलब ही नहीं होता उदाहरण के लिए विज्ञापक और बिचौलिये उनको जरूरी करार दे दिया जाता है और उनके लिए भारी कीमत भी वसूल लेते हैं,

2.4 वंचना का दूसरा खास तरीका है - उत्पादन के साधनों पर अन्यायपूर्ण अधिकार और आम लोगों के संसाधनों पर अधिकारों की अनदेखी करना या उसको न मानना। तकनीक तथा पूँजी के मामले में भारी असमानता वंचना को और भी गहरा देती है। विकास के लिये लोगों से जंगल और जमीन सहित प्राकृतिक संसाधन जो उनके जीवन के आधार हैं, छीन लेना वंचना का सबसे घृणित रूप है। अंत में वंचना जैविक शोषण का रूप ले लेती है जिसका कहीं जिक्र तक नहीं होता है। आमतौर पर गरीब, जीवन के संघर्ष में, जवान होने से पहले ही चुक जाते हैं। एक तरह से राष्ट्रीय व्यवस्था में उनकी एक ही भूमिका रह गई है - सस्ता श्रम उपलब्ध करवाना। दूसरी ओर चंद लोग किसी न किसी बहाने उनकी मेहनत से पैदा की गई वस्तुओं और धन के हकदार बन जाते हैं। और फिर उसके मनमाने उपभोग को विकास की संज्ञा देकर घोर अभाव के बीच भी ऐश की जिंदगी बिताना अपना अधिकार मानते हैं।

2.5 वंचना की प्रक्रिया वैसे तो राज्य की स्थापना से ही शुरू हो जाती है। राजकाज चलाने के लिये आखिर साधन आते कहाँ से हैं ? उसके लिए राजा भी कमाने वाली प्रजा से ही वसूली करता था। दूसरे शब्दों में राज्य की स्थापना के बाद से ही आम आदमी को अपनी मेहनत के फल का एक हिस्सा राजा को देना होता था। परन्तु पहले जमाने में सही मायने में राजा की सत्ता का दायरा पूरी जिंदगी या बहुत बड़ा नहीं था। उस समय छोटे-छोटे समाज अपने-अपने इलाके के मालिक ही थे और वे राजा को अपनी पैदावार का एक निश्चित हिस्सा देकर छुट्टी पा जाते थे। परन्तु आज की हालत बिल्कुल अलग है। राजा की जगह अब राज्य-सत्ता है और नये राज्य की सत्ता के फैलाव की कोई सीमा नहीं रही है। आम आदमी की जिंदगी के हर पहलू में उसकी दखलन्दाजी है। इसके अलावा राज्य ने अपने जिम्मे काम भी बहुत से ले लिये हैं। इससे उसका डीलडौल भारी भरकम हो गया है।

2.6 एक और मामले में भी आज के हालात पहले से बहुत अलग हैं। पहले सभी तरह का उत्पादन बहुत करके गाँव में ही हुआ करता था। कस्बा, शहर अक्सर मंडी या प्रशासन के केन्द्र के रूप में काम करते थे। परन्तु नई व्यवस्था में शहर भी उत्पादन और तरह-तरह की सेवाओं के केन्द्र हो गये हैं। शहरी व्यवस्था की एक खासियत यह है कि वह संगठित है। राज्य सत्ता भी एक तरह से उसी संगठित क्षेत्र का एक अंग है। दूसरी ओर गांव की व्यवस्था मोटेतौर पर असंगठित है और इसलिये कमजोर भी है। उसकी तुलना में संगठित क्षेत्र बहुत ताकतवर हो गया और भी अधिक ताकतवर होता जा रहा है। संगठित क्षेत्र में आर्थिक और राजनीतिक दोनों तरह की सत्ता का भारी जमाव हो गया है जिसका वह भरपूर फायदा उठा रहा है।

2.7 हमारे देश में विकास और उसके साथ ही रहन-सहन, आचार-व्यवहार या यों कहें कि पूरी जिंदगी के नजरिये में भी पश्चिम की नकल चल रही है। इसके कारण जो कुछ संगठित क्षेत्र में

हो रहा हो या तो उसके काम की बातें हों, उन्हीं का महत्व हो जाता है। इसमें यह एहसास तक नहीं रहता है कि संगठित क्षेत्र में तो थोड़े से लोग ही हैं और आम आदमी तो उस व्यवस्था के बाहर हैं. इसलिए उसकी जिंदगी और उसकी समस्याओं की सही तस्वीर ही कहीं सामने नहीं आती है। हाँ, उसकी बातों का जिक्र तो जोर से होता है पर उन्हें सही मायने में अहमियत नहीं मिलती है, कुछ तो अनदेखी ही रह जाती है।

2.8 हमारी अर्थव्यवस्था में निर्माण की पूरी प्रक्रिया ही उम्र से चलाई जा रही है। इस कारण लोगों के कौशल, उनके ज्ञान और उनके अधिकार सब कुछ अनदेखे ही रह गए हैं। जैसे कि हम आगे देखेंगे, हमारी अर्थ-व्यवस्था के सबसे कुशल व्यक्ति को अकुशल मान लिया गया है और आम आदमी के ज्ञान को अज्ञान। उदाहरण के लिए जितने भी परंपरागत कारीगर हैं उनकी कोई अहमियत नहीं और अपने गाँव के हर खेत की पूरी जानकारी और उसके अच्छे से अच्छे उपयोग करने वाले किसान या वनों की हर वनस्पति को पहचान कर उपयोग करने वाले आदिवासी की कोई पूछ नहीं है। व्यवस्था इस अज्ञानी और अकिंचन व्यक्ति को कुछ कौशल सिखाने, कुछ ज्ञान की बातें बताने के लिये, जिनका उसकी निजी हालात में कोई खास संबंध या खास अर्थ नहीं है, आतुर रहती है। इस तरह लोगों के कौशल और उनके ज्ञान को जो कि किसी भी देश की असली ताकत और सही अर्थों में उसका अनमोल धन होते हैं, अमान्य करके समृद्ध राष्ट्रीय विरासत को अकिंचन बना दिया गया है। यहीं हमारे देश की सबसे बड़ी विडम्बना है। यही आम आदमी के मन में हीनता की भावना और उसकी गरीबी का मूल कारण भी है।

बंचना और संगठित क्षेत्र

2.9 इस तरह संगठित और असंगठित क्षेत्र के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है। धन-दौलत का भी व्यवस्था के एक ही कोने मे अटूट जमाव होता जा रहा है। इस माहौल में, विकास के लिए हर कोशिश और सफलता के लिये हर रास्ते की एक ही दिशा है - किसी तरह के संगठित क्षेत्र में शामिल होना। और अगर वह नहीं हो सके तो कम से कम उससे किसी तरह से जुड़ जाना या कुछ नहीं तो उसे छू भर लेना जिससे यह एहसास हो कि आदमी उसके आसपास कहीं तो है। थोड़े से लोग इसमें सफल भी होते हैं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कुछ सदस्य सकारात्मक विभेद की नीति के सहारे इस क्षेत्र में सरकारी नौकरियों वाले हिस्से में कुछ जगह पा लिये हैं। इन थोड़ी सी सफलताओं को देखकर हर किसी को आशा है, चाहे वह कितनी ही धुँधली क्यों न हो, कि देर सवेर वह नहीं तो उसके बच्चे तो वहाँ पहुँच ही जाएँगे। यही सफलता और आशा आज की व्यवस्था के अन्यायी होते हुए भी उसको स्थिर बने रहने में सहायक हैं।

2.10 परन्तु सफलता और आशा का माहौल अब तेजी से बदल रहा है। एक तो संगठित क्षेत्र में नये अवसर तेजी से बढ़ नहीं रहे हैं। दूसरे जो लोग उस क्षेत्र में पहले से पहुँच गए हैं वे उसे अपने लिये सुरक्षित सा बना लिये हैं। उधर उनकी लड़कियाँ भी अब पढ़ लिखकर हर क्षेत्र में बराबरी का दावा करके रोजगार के बाजार में घुस रही है जिससे दीगर लोगों के लिये जगह ही नहीं बच पाती है। इस तरह कई मामलों में, खास करके अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों और पिछड़े वर्गों में, यह आशा दुराशा बनती जा रही है।

2.11 सफल न होने की निराशा और तरह-तरह के शोषणों का शिकार होते रहने से लोगों में प्रतिक्रिया और आक्रोश स्वाभाविक है। यह प्रतिक्रिया कहीं-कहीं विस्फोटक हो गई है और हिंसा का रूप भी लेती जा रही है। परन्तु एक ओर राज्य की शक्ति के सामने वे बहुत कमजोर हैं इसलिए उनकी कुछ चलती नहीं है। दूसरे इस असंतोष से निपटने के लिये बहुत करके व्यवस्था भी उनसे समझौते का रास्ता अपनाती है। विकास के राष्ट्रीय कार्य में उनके नेतृत्व से उनकी साझेदारी और साथ आकर काम करने की पेशकश होती है। इनका नेतृत्व और समझदार लोग भी बहुधा भुलावे में आकर संगठित क्षेत्र के सहयोगी बन जाते हैं और धीरे-धीरे उसी के रंग में रंग जाते हैं। इस तरह असंगठित क्षेत्र में से कुछ असंतुष्टों को अपने में मिलाकर आज की समस्या हल हो जाती है। उनको देखकर और लोगों को कुछ आशा बंधती है। परन्तु व्यवस्था का रूप जैसा का तैसा बना रहा है। आम आदमी की हालत में कोई अंतर नहीं आता, वरन् उसकी हालत बिगड़ती ही जाती है।

2.12 संगठित क्षेत्र की ताकत के दो महत्वपूर्ण आधार हैं। पहले तो राज्य सत्ता स्वयं संगठित क्षेत्र का ही एक अभिन्न अंग है। राज्य की सत्ता संविधान, कानून और राजकाज के लिये तरह-तरह की संस्थाओं के रूप में दिखाई देती है। संगठित क्षेत्र के काम करने का तौर तरीका भी सत्ता पक्ष जैसा ही है। राजकाज की पूरी व्यवस्था उनको जानी पहचानी लगती है। इसलिए राज्य की व्यवस्था और शेष संगठित क्षेत्र के बीच किसी प्रकार का अनमेल या विरोध नहीं होता है। वे बहुत करके एक रूप में होकर ही काम करते हैं।

2.13 संगठित क्षेत्र की ताकत का दूसरा स्तम्भ है, नये विकास में उसकी भूमिका। हमारे देश में पश्चिमी देशों के रहन-सहन को ही आदर्श मान लेने से उसकी विकास की रीति को जैसे का तैसा ही अपने देश के लिये ठीक मानकर अपना लिया गया है। नये विकास में तथाकथित आधुनिक क्षेत्र को अगुवा माना गया है। पूरे देश की आशा इसी क्षेत्र की तरक्की पर टिकी हुई है। इसलिए उसकी तरक्की के लिये, उसके आगे बढ़ने के लिए जो भी जरूरी हो, उसे बिना किसी सोच विचार के जरूरी ही नहीं, सही भी मान लिया जाता है। अगर उस पर कोई सवाल करने की धृष्टता करे तो उसे विकास का विरोधी, प्रतिक्रियावादी या कठमुल्ला कह कर चुप करा दिया जाता है।

2.14 असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोग इस नई व्यवस्था में एकदम लाचार है। पूरी व्यवस्था की तो बात दूर उनकी अपने क्षेत्र के काम-काजऔर उसकी लाभ-हानि के बारे में नीति बनाने में और न ही उसके अमल करने में किसी भी स्तर पर किसी तरह की कोई हिस्सेदारी नहीं होती है। सच तो यह है कि उन्हें व्यवस्था की नई रीतिनीति की कोई जानकारी ही नहीं होती है। राज्य और संगठित क्षेत्र की ओर से आने वाली हर बात उनके लिए सही होती है, वांछनीय होती है। उनके लिये वह एक तरह से हुकुमनामा होता है जिसे उलटा नहीं जा सकता, जिसे मानने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। कहते हैं "लिखा जो हुआ है।" इस तरह से संगठित क्षेत्र की आधुनिक व्यवस्था की पूरे देश की अर्थव्यवस्था पर हुकूमत सी कायम हो गई है।

2.15 हालांकि राज्य-सत्ता के लोगों और शेष संगठित क्षेत्र के लोगों के बीच मोटे तौर पर पूरा तालमेल है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उनके हितों में कभी टकराहट होती ही नहीं। आपसी हितों में टकराव की स्थिति में एक ही व्यवस्था के दो अंग होने के कारण विरोध अधिक नहीं बढ़ पाता है। अक्सर ऐसे मामलों में आपसी समझौता हो जाता है जिसमें दोनों में से किसी को नुकसान न हो। इसके अलावा संगठित क्षेत्र के लोगों ने राज्य की व्यवस्था के बुरे प्रभाव से

बचाव के लिए कई तरह की जुगतें भी कर ली हैं। पहले तो वे स्वयं संगठित हैं इसलिए वे राज्य सत्ता के दुरुपयोग का मुकाबला करने के लिए एकजुट हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, एक मामूली से बाबू को भी पुलिस वाले परेशान नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन्हें डर रहता है कि ऐसी हालत में वे सब मिल कर उनको घेर लेंगे। इसी तरह से अगर व्यवस्था ठीक तरह से काम नहीं करती हैं तो वे अपने लिए कुछ विशेष व्यवस्था कायम करवा लेते हैं। जैसे कि रेलों की भीड़ से बचने के लिये आरक्षण और राशन की लम्बी कतारों में न लगना पड़े इसके लिए सहकारी भंडार या विशेष दूकानों का प्रबंध। बाकी लोगों का क्या होता है उससे उन्हें कोई मतलब नहीं। अंत में, इन लोगों ने वैसे भी अपनी हकदारी बहुत बढ़ा चढ़ा कर बना ली है। और जहाँ इस वर्ग में कोई गरीब नही है, छोटे से छोटे व्यक्ति को भी उसकी आम जरूरतें मिल ही जाती हैं और कल की किसी को चिंता नहीं है उसकी भी पूरी व्यवस्था है। और जहाँ यह लगता है कि व्यवस्था के गलत तौर-तरीके से उनकी हकदारी में कटौती हो सकती है तो उसके लिए भी गुंजाइश कर लेते हैं। उदाहरण के लिए ठेकेदार लोग यह मानकर चलते हैं कि उन्हें कुछ कटौती और फिरौती देनी पड़ेगी, इसलिए वे काम के दाम भी उतने ही बढ़ाकर माँगते हैं। जाहिर है, इस सब का भार असंगठित क्षेत्र के लोगों पर ही पड़ता है। इसतरह गरीब पर वंचना और शोषण की दोहरी मार पड़ती है जिसे वह कह भी नहीं पाता है, समझ तक नहीं सकता है।

राज्य की भूमिका

2.16 वंचना और शोषण की गुत्थी को समझने के लिये दो प्रारम्भिक बातों पर विचार करना जरूरी है। एक तो राज्य की भूमिका क्या है और दूसरे वंचना और शोषण का जाल फैलता कैसे है ? राज्य की आदर्श भूमिका की अगर बात करें तो राज्य का पहला काम है ऐसी व्यवस्था कायम करना, जिसमें सभी नागरिक बिना किसी उलझन के सरलता से अपनी समझ के अनुसार जिंदगी बिता सके। अगर कोई मसले आपसी तौर पर या समाज के स्तर पर हल न हो पाये तो उनको सुलझाने में राज्य जरूरी मदद कर दे। इस तरह राज्य की पहली भूमिका है व्यवस्था की। इसके लिये तरह-तरह के कानून और कायदे बनाए जाते हैं जिनको अमल में लाना राज्य की जिम्मेदारी होती है।

2.17 राज्य की दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका लोगों में गैर-बराबरी से संबंधित है। शुरू में सब लोग छोटे-छोटे समुदायों में रहते थे ताकतवर पर अंकुश लगाना और कमजोर को संरक्षण देना समाज की जिम्मेदारी थी जिसे परंपरा के मुताबिक निभाया जाता था। जैसे-जैसे समाज का आकार बढ़ता गया लोगो के बीच के संबंध औपचारिक होते गये और यह जिम्मेदारी राज्य की होती गई। कमजोर वर्गों, विशेषकर अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को संरक्षण देने की जिम्मेदारी स्वयं संविधान ने राज्य को सौंपी है।

2.18 राज्य का एक तीसरा रूप भी है। कभी-कभी राज्य स्वयं एक संस्था का रूप ले लेता है। संस्था के रूप में उसकी हैसियत साधारण नागरिक जैसी होती है। परन्तु इस रूप में भी उसकी अपनी एक अलग पहचान होती है। उदाहरण के लिए वन के मालिक के रूप में वन विभाग अपना काम जमीनदारों की तरह करता है। परन्तु उसके इस मालिकाना कारबार के पीछे राज्य की सत्ता की लम्बी साया हमेशा बनी रहती है। इसके अलावा एक बात और है। हमने अपने देश के लिये नियोजित विकास का रास्ता अपनाया है। इसलिए विकास के मामले में पहल करना राज्य की जिम्मेदारी बन गई है। इस संबंध में भी दो पहलू हैं - एक नियोजन का और दूसरा विकास के कार्यक्रमो के क्रियान्वयन का। जब राज्य स्वयं या अन्य संस्थाओं के रूप में विकास के लिये कोई काम करता है तो उसकी हैसियत एक व्यक्ति जैसी हो जाती है। इस तरह राज्य उन्हीं संस्थाओं के कामकाज के

दायरे में अपनी भूमिका देखने लगता है और उसी में राज्य की समूची अस्मिता सिमिट जाती है।

2.19 इस तरह राज्य की तीन प्रमुख भूमिकायें हैं - **व्यवस्था, संरक्षण** और **विकास**। ये तीनों भूमिकायें बिल्कुल अलग-अलग हैं। राज्य तथा उसके अधिकारियों के लिये हमेशा यह संभव नहीं हो पाता है कि वे इन तीनों भूमिकाओं के भेद को समझें और विवेक के साथ सही जिम्मेदारी को पहचान कर काम करे। होता यह है कि जब वे कोई एक जिम्मेदारी निभाते हैं तो दूसरी जिम्मेदारियाँ नजरअंदाज हो जाती है। आज के हालात में जिसके बारे में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे राज्य के संरक्षण की जिम्मेदारी अक्सर नजरअंदाज हो जाती है अथवा उसे उतनी अहमियत नहीं दी जाती है। इसके सबसे बुरे परिणाम अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लोगों को ही भुगतने पड़ते हैं।

वंचना के पाँच स्तर

2.20 अब यदि हम वंचना की प्रक्रिया का परीक्षण करें तो पायेंगे कि मोटेतौर पर वंचना के भी पाँच स्तर हैं। इन्हें समझने के लिये हमें इतिहास में थोड़ा पीछे जाना होगा। मनुष्य का इतिहास छोटे समाजों के रूप में शुरू होता है। उस आदिम व्यवस्था में हर एक समाज का अपने इलाके के सभी संसाधनों पर पूरा-पूरा अधिकार था। संसाधनों पर अधिकार के मामले में यह हालत आमतौर पर बहुत समय तक बनी रही। परन्तु फिर भी कहीं-कहीं कुछ अपवाद भी आ गये। उदाहरण के लिए जब कोई समाज अधिक ताकतवर हो गया तो उसने दूसरे समाजों के संसाधनों पर अधिकार जमाने के लिये उन्हें चुनौती देनी शुरू की। वंचना की प्रक्रिया की शुरुआत प्राकृतिक संसाधनों पर लोगों के स्वामित्व और उनके उपभोग के अधिकार की इसी चुनौती से शुरू होता है। इस चुनौती के कई रूप हो सकते हैं। कहीं यह चुनौती अधिक ताकतवर समाजों की ओर से आती है, कहीं ताकतवर व्यक्तियों की ओर से। परन्तु कहीं-कहीं यह चुनौती स्वयं राज्य की ओर से भी आ सकती है। हमारे देश के आदिवासी इलाकों में वनों पर सरकारी नियंत्रण राज्य के द्वारा वंचना की प्रक्रिया का एक जानामाना उदाहरण है। वंचना की प्रक्रिया का यही पहला स्तर है।

2.21 प्राकृतिक संसाधनों पर समाज का अधिकार न रहने पर भी उत्पादन के साधन के रूप में व्यक्ति का उन पर अधिकार बना रह सकता है। हमारी परंपरागत व्यवस्था में गाँव की सीमा के भीतर के सभी संसाधनों का वहाँ के निवासियों का अपनी आजीविका के लिये उपयोग करने का अधिकार माना जाता था। खेती की जमीन पर पहला हक जमीन को तोड़कर खेती योग्य बनाने वाले का था। अगर वह व्यक्ति या उसके वंशज खेती न कर सके तो उसी गाँव के दूसरे व्यक्ति या समाज की सहमति से दूसरा कोई भी व्यक्ति उसे जोत सकता था। इस तरह जमीन को जोतकर उससे जीवन चलाने का अधिकार स्थापित हुआ जिसे सामाजिक मान्यता भी मिली। परन्तु आज हमारे देश में हालत यह है कि जमीन जोतने वाले अधिकतर लोगों का उस जमीन पर कोई अधिकार नहीं है। इस तरह उत्पादन का साधन और कामगार के बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। उत्पादन के बारे में एक बात यहाँ पर उल्लेखनीय है। उत्पादन के बुनियादी तौर से तीन कारक हैं-**प्रकृति की देन, मेहनत का फल और विज्ञान और तकनीक के** प्रयोग से बढ़त। विज्ञान और तकनीक में उन्नति से बढ़त ही आधुनिक विकास का आधार है। परन्तु जब कामगार का जमीन जैसे उत्पादन के साधन से अपनेपन का संबंध टूट जाता है तो उसका यही अर्थ होता है कि उसका उत्पादन के साधन पर अधिकार खतम हो जाता है। उस हालत मे सकल उत्पादन में प्रकृति की देन और

नये विज्ञान और तकनीक से होने वाली बढ़त परसेउसकी हकदारी जाती रहती है। वंचना की प्रक्रिया का यही दूसरा स्तर है।

2.22 उत्पादन के साधन पर अधिकार छिन जाने पर भी यह हो सकता है कि काम करने वाले मजदूर को अपनी मेहनत की उचित हकदारी मिलती। उदाहरण के लिए सरकार वनोपज की खरीदी के लिये उसका भाव इस तरह निर्धारित कर सकती है कि उसे संग्रह करने वाले को उसका पूरा मूल्य न भी मिले तब भी मजदूरी पूरी मिल जाय। इसीतरह खेतिहर मजदूर में, खेती के पूरे उत्पादन पर उसका हक न मानते हुए भी, उचित मजदूरी का हक माना जा सकता है, यही न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का सैद्धान्तिक आधार भी है। परन्तु देखने में यह आता है कि ऐसा होता नहीं है। उत्पादन के साधन छिन जाने पर मजदूर की स्थिति कमजोर हो जाती है। उस हालत में धीरे-धीरे उन्हें अपनी मेहनत की भी पूरी हकदारी नहीं मिल पाती है। आखीर में उनकी मजदूरी इतनी कम हो जाती है जिससे पेट भी नहीं भरता। शोषण की प्रक्रिया का यहीं तीसरा स्तर है।

2.23 बात यही नहीं रुकती है। अगर मजदूर को पूरी मजदूरी यहीं मिले तो उसे घर चलाने के लिए दूसरों का मुँह देखना पड़ता है वे कर्जदार हो जाते हैं और यहाँ पर पहुँच कर उसे अपने मन का काम करने की स्वतंत्रता का सौदा करना पड़ता है। इस हाल में वह दूसरों के इशारों पर काम करने के लिए मजबूर हो जाता है, वह बंधक मजदूर बन जाता है, जो एक तरह की गुलामी ही है। इस स्थिति में शोषण का रूप जैविक शोषण हो जाता है। समाज में कामगारों की भूमिका जनमने, अधिक से अधिक काम करने और मरने के पहले, अपने एवजीदार पैदा करने तक की रह जाती है। यह वंचना का चौथा स्तर है।

2.24 वंचना का पाँचवा तथा अंतिम स्तर सामाजिक-मनोवैज्ञानिक होता है। इस हालत में लोग व्यवस्था की अन्यायी स्थिति को जायज मान लेते हैं, उसे अपना भाग्य मानकर बिना उफ किये स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें न व्यवस्था से कोई शिकायत रहती है और न लोगों से कोई शिकवा। अगर कोई बड़ा आदमी है, खुशहाल है तो यह उसका भाग्य है, जिसे भोगने का उसका हक है। यहीं पर आकर गरीब आत्मविश्वास, स्वाभिमान और सम्मान की भावना तक खो बैठते हैं। इस अन्यायी स्थिति को मजबूत और स्थायी बनाने के लिए तरह-तरह के मिथकों का सहारा लिया जाता है। इसका सबसे कारगर रूप है हिन्दू व्यवस्था में कर्म का सिद्धांत और पुनर्जन्म की मान्यता। हरिजन को अपनी स्थिति से कोई गिला यहीं है क्यों वह उसको कर्म का भोग मानता है। और वह उस व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी नहीं कर सकता है क्योंकि उसे अगले जनम की चिंता है, इस जनम में जो हुआ सो हुआ, अगला जनम तो संभालना है।

2.25 वंचना के इसी जाल में फँस कर निसर्ग की गोद में बसने वाला आजाद आत्माभिमानी खुशहाल इंसान अपनी हकदारी खोता जाता है और आखिर में अकिंचन और अछूत बन जाता है। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लोग इसी वंचना की प्रक्रिया के विभिन्न स्तरों पर जूझ रहे हैं। समता, न्याय और भाईचारे के आदर्शों की स्थापना के लिये वंचना के इस मायावी जाल को काटना होगा। संविधान में कमजोर वर्गों के विकास और रक्षा के लिये जो जिम्मेदारी राज्य को दी गई है, उसको सही अर्थों में वंचना के जाल को तोड़कर ही निभाया जा सकता है। यह कैसे संभव होगा, हमारे देश के सामने आज यही सबसे बड़ा सवाल है.

3

सामाजिक प्रतिष्ठा और आत्म गौरव

वंचना की प्रक्रिया के पाँचों स्तर, जिनका हमने उम्र जिक्र किया है, हमारे देश में मौजूद है और धीरे-धीरे अधिक प्रखर होते जा रहे हैं। उस प्रक्रिया का मुकाबला करने के लिये उपयुक्त रणनीति बनाने के लिये हर स्तर की वंचना पर अलग-अलग गहराई से विचार करने की जरूरत है। इसकी चर्चा हम उसकी अंतिम सीढ़ी यानी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्तर से शुरू करेंगे। समाज में सबसे अहम सवाल है आम आदमी की इज्जत और प्रतिष्ठा का। आदमी की इज्जत और प्रतिष्ठा बनती है उसके काम से, उसके काम की मान्यता से, उत्पादन के साधनों पर अधिकार से और सामान्य व्यवस्था में उसकी अपनी हकदारी से।

हकदारी और स्वशासी व्यवस्था का खात्मा

3.2 यह तो सभी जानते हैं कि हमारी परंपरागत व्यवस्था में अनुसूचित जातियों के लोगों की हालत सबसे खराब थी। उन्हें समाज में सबसे निचली सीढ़ी पर जगह दी गई थी। इसके अलावा उन पर सबसे असंचिकर और कड़ी मेहनत वाले काम थोपे गये थे। फिर भी गांव एक सामाजिक-आर्थिक इकाई था और वे उसी अर्थव्यवस्था के एक अभिन्न अंग थे। उसके उत्पादन में उनकी हिस्सेदारी थी जो परंपरा से निर्धारित थी। शुरू-शुरू में खेती की जमीन सहित सभी प्राकृतिक संसाधनों पर गाँव समाज का अधिकार था। उनका उपयोग करके हर आदमी को अपनी जिंदगी चलाने का अधिकार था। यह व्यवस्था अपने आदर्श रूप में आदिवासी इलाकों में अभी भी है। परन्तु धीरे-धीरे कई जगह ताकतवर वर्गों ने कुछ संसाधनों पर, जैसे कि खेती की अच्छी जमीन पर निजी हक जमा लिया। फिर भी इस हालत में भी खेती की जमीन के अलावा दूसरे संसाधनों पर गाँव के सभी लोगों का लगभग समान अधिकार बना रहा। मोटेतौर पर अंग्रेजों के आने के पहले गाँवों में यही व्यवस्था थी।

3.3 अंग्रेजी राज के पहले एक दूसरी खास बात यह थी कि लोगों के सभी तरह के आपसी विवाद गाँव में ही तय हो जाते थे। गाँव के फैसले में कम से कम यह तो होता ही था कि हर मामले की सच्चाई सामने आ जाती थी और सभी फैसले परंपरा के मुताबिक सही होते थे। हाँ, यह जरूर है कि कई बातों में परंपरागत व्यवस्था स्वयं ही अन्यायी थी। फिर भी गाँव की स्वायत्तता के अपने लाभ भी थे।

3.4 अंग्रेजी राज आने के बाद गाँव के स्वशासन की यह परंपरा जानबूझकर तोड़ी गई और पूरे देश पर एक बाहरी औपचारिक व्यवस्था लाद दी गई। गाँव समाज के लिए इसके परिणाम बड़े ही भयानक हुये। परन्तु उसका पूरा असर तो अब सामने आ रहा है।

3.5 अंग्रेजी राज के कायम होने के बाद प्रशासन के मामले में कुछ अच्छी बातें भी हुईं जिसका जिक्र करना जरूरी है। पहले तो पूरे देश में अमन कायम हुई। दूसरे सिद्धांत रूप से सभी लोग कानून के सामने बराबर माने जाने लगे। तीसरे राज्य के प्रशासन का व्यवहार सभी लोगों के साथ एक जैसा तटस्थता का था, उसमें भेदभाव बरतना गलत माना जाता था।

व्यवस्था की कमजोरी का असर

3.6 आजादी के बाद प्रशासन के इस रूप में भारी बदलाव आया है। सबसे पहली और अहम बात यह है कि आज देश में खासतौर से गाँवों में कानून व्यवस्था की हालत अच्छी नहीं है। व्यवस्था

के मामले में प्रशासन का दबदबा कम होता गया है, होता जा रहा है। यही नहीं, कई मामलो में प्रशासन अब तटस्थ नहीं है और तगड़े लोगों को उसकी शह या खुल्लमखुल्ला मदद मिल रही है। इस माहौल में कमजोर वर्गों के लोग, खासतौर से अनुसूचित जातियों के लोग अकेले पड़ गये हैं। यह जरूर है कि अब ये लोग भी कुछ संगठित हुए हैं। पर फिर भी आज की आम हालत यही है कि इन लोगों को एक ओर व्यवस्था और दूसरी ओर ताकतवर वर्गों और लोगों दोनों के ही उत्पीड़न का सामना करना पड़ रहा है। शोषित और उत्पीड़ित की न कोई इज्जत है और न प्रतिष्ठा। उसे अकेले ही बड़े खराब माहौल से जूझना पड़ रहा है।

3.7 व्यवस्था की कमजोरी का दूसरा दुखद परिणाम प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार और उनके उपयोग से संबंधित है। अंग्रेजों के जमाने में प्राकृतिक संसाधनों, खास तौर पर खेती की जमीन को, निजी संपत्ति मान लिया गया था जिससे आम आदमी की परम्परागत हकदारी खतम हो गई। इसकी चर्चा हम विस्तार से आगे करेंगे। परन्तु जो संसाधन निजी संपत्ति नहीं थे उन पर एक तरह से सरकार नजर रखती थी और उनसे दीगर लोग गुजारा करते थे। प्रशासन के कमजोर हो जाने से इन संसाधनों का कोई देखने वाला नहीं रहा। इस तरह स्थानीय संसाधनों पर समाज का अधिकार तो अंग्रेजी राज ने पहले ही खतम कर दिया था और उस पर प्रशासन की देखरेख उसके बाद ही खत्म हो गई। इस हालत में इन संसाधनों पर भी ताकतवर लोगों ने तरह-तरह की जुगतों से अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया। कहीं खुल्लमखुल्ला कानून को तोड़ा और कहीं छोटे सरकारी कर्मचारियों को मिलाकर उस पर कानूनी हक ही जमा लिया। इस अराजकता की हालत में कमजोर लोगों के अधिकार धीरे-धीरे कम होते गए और वे और भी साधनहीन हो गए।

आदिवासी इलाकों में स्वशासी व्यवस्था

3.8 आदिवासी इलाकों की हालत इससे थोड़ी अलग है। आजादी के पहले बहुत से आदिवासी इलाकों में सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था लागू ही नहीं की गई थी। इसलिए उनकी परंपरागत स्वशासी व्यवस्था बनी रही। कहीं-कहीं बाहरी व्यवस्था लागू की भी गई थी परन्तु उन पर उसका कोई खास असर नहीं पड़ा क्योंकि आदिवासी लोग अधिकतर जंगली और पहाड़ी इलाकों में रहते थे, जहाँ तक प्रशासन की पहुँच ही नहीं थी। आजादी के बाद यहाँ की हालत तेजी से बदली है। इसका मुख्य कारण यह है कि आदिवासी इलाकों में वे संसाधन पाये जाते हैं जिनकी नई व्यवस्था को जरूरत है। विकास के लिये इन संसाधनों को काम में लाने के लिए ही आदिवासी इलाकों को बड़ी तेजी से खोला गया है। जैसे-जैसे दुर्गम इलाके खुलते जा रहे हैं वहाँ सरकारी कर्मचारियों, व्यापारियों और ठेकेदारों का रेला पहुँचता जाता है। औपचारिक प्रशासनिक व्यवस्था जो वहाँ पहले नामचार को हुआ करती थी अब पूरी तरह से छाती जा रही है। यह सब निहायत नेमी ढंग से हो रहा है, न उसके पीछे कोई सोच है और न कोई उद्देश्य। दूसरी जगह वह व्यवस्था है. इसलिए वह आदिवासी इलाकों में भी होना चाहिये। यही नहीं यह जानते हुए भी कि वह व्यवस्था आदिवासियों के लिये अहितकर साबित हो रही है, उसका विकल्प नहीं खोजा जा रहा है। इस नई अनमेल व्यवस्था के दबाव के सामने आदिवासियों की अपनी व्यवस्था चरमरा गई है, टूटती जा रही है।

3.9 आदिवासी समाजों में स्वशासी परंपरा का एक और भी गहरा अर्थ है। सच तो यह है कि हर समाज को अपनी व्यवस्था खुद करने का सहज अधिकार है। यह अधिकार स्वयंभू है। यही आजादी किसी भी समाज में आत्म-गौरव की भावना के लिये निर्णायक होती है। और आत्म गौरव ही सामाजिक जिंदगी का सार है।

3.10 दुनिया में हर समाज अपने समाज को विशिष्ट मानता है और उस पर उसको गर्व होता है। गर्व की यह भावना तभी हो सकती है जब कि वह समाज अपनी व्यवस्था चलाने के लिए आजाद

हो और लोगों को यह मालूम हो कि अपनी जिंदगी का रास्ता वे खुद तय कर सकते हैं, जब कोई समाज अपनी सामाजिक व्यवस्था को चलाने के लिये भी स्वतंत्र नहीं हो तो, कैसा आत्म सम्मान और कैसा आत्म गौरव ? इसी अर्थ में आदिवासी समाज के साथ बड़ा अन्याय हुआ है और अभी भी जारी है। इन इलाकों में न केवल उनकी अपनी परंपरागत व्यवस्था को नकार दिया गया वरन् एक ऐसी व्यवस्था बिना सोचे समझे लाद दी गई जिसके फलस्वरूप उनकी अपनी हर बात गलत हो गई है और साधारण आदिवासी औपचारिक व्यवस्था के सामने अपराधी हो गया है।

आदिवासी समाज का अपराधीकरण

3.11 आदिवासी इलाकों में पूरे समाज का ही अपराधीकरण हमारे देश की उदार परंपरा पर सबसे बड़ा धब्बा है। और विडम्बना तो यह है कि यह सब हुआ और हो रहा है सिद्धांतों के नाम पर संविधान और कानून की दुहाई देकर। यही नहीं, यह सब किया जा रहा है एक ऐसी व्यवस्था के द्वारा, जो अपने को न्याय, युक्ति और आधुनिकता का प्रतीक मानती है।

3.12 वैसे अपराधीकरण की शुरूआत तो अंग्रेजों के जमाने से ही शुरू हुई थी। परन्तु आजादी के बाद न केवल उसको बदलने की कोशिश नहीं की गई वरन् उस अपराधीकरण का सिलसिला और भी तेज होता गया है और उसका रूप और भी विकराल होता गया है। अंग्रेजों ने वनों के बारे में कानून बनाकर उन सब वनों को अपने कब्जे में कर लिया जिनमें आदिवासी हजारों साल से रहते चले आ रहे हैं। और यही कानून आजादी के बाद बचे हुए आदिवासी इलाकों पर भी लाद दिया गया। इसतरह अनजान आदिवासी अपने घर में ही घुसपैठिया बन गया है। कोई भी सरकारी प्यादा उसे हकाल कर बाहर निकाल सकता है। अगर वह न निकले तो जोरजबरदस्ती कर सकता है। अगर उसकी झोंपड़ी जला दी जाय या हाथी से तुड़वा दी जाय तो कोई जुर्म नहीं, क्योंकि सरकारी प्यादे के लिये उसके कर्तव्य पालन करने का सवाल है।

3.13 यही उनकी जमीन के साथ हुआ। वह जिस जमीन को बाप-दादों के जमाने से जोतता चला आ रहा है उस जमीन पर उसका अधिकार महज इसलिए अवैध हो सकता है कि पटवारी ने उसका नाम अपने कागज में दर्ज नहीं किया। कागज का लिखा पत्थर की लकीर हो जाता है जिसे मिटाना उसके बस की बात नहीं। इस तरह जिस जमीन को वह जोत रहा है, उसे वह अपनी नहीं कह सकता हैं। उसे कोई हटा दे या निकाल दे तो उसका कोई अधिकार नहीं बनता है।

3.14 यह तो रही जमीन जायदाद की बात। सामाजिक मामलों में भी वही हाल है। अगर आदिवासी अपनी परंपरा के अनुसार मद बनाता है, देवी देवताओं को चढ़ाता है और फिर उसका सेवन करता है तब भी वह कानून के सामने गुनहगार ही होगा। कारण, उसके राज्य के कानून के मुताबिक या तो उसे मद पीना ही नहीं चाहिये था क्योंकि वहाँ नशाबंदी है। अथवा जहाँ नशाबंदी नहीं है वहाँ उसको सरकारी दूकान से खरीद कर पीना चाहिए था क्योंकि उसे अपने घर मद बनाने का अधिकार नहीं है। दोनों ही हालत में वह अपराधी है, उसको जेल तक हो सकती है।

3.15 इसी तरह वह अनजाने में न जाने कितने करार तोड़ने का अपराधी हो जाता है महज इसलिये कि उसने कभी किसी कागज पर बिना यह समझे ही कि उस कागज में क्या लिखा है या नहीं भी लिखा है अंगूठा लगा दिया था। और फिर ये सब गुनाह लद जाने के बाद उनसे राहत मिलने का अधिकार भी केवल इसलिए चुक जाता है कि या तो उसे मालूम ही नहीं है कि वह जाए कहाँ उसके लिये। और अगर कभी कोई न्याय के मंदिर की दहलीज तक पहुँच भी गया तो वहाँ पहुँचते-पहुँचते बहुत देरी हो चुकी होती है। उन अजूबा कानूनों के बारे में जिनके अंतर्गत उसको सजा मिल जाती है, न उसने कभी सुना और न कभी सपनों में भी उनके बारे में कभी सोचा था। व्यवस्था

अपनी रीति नीति के मुताबिक चलती जाती है। संसद और विधानसभाएँ कानून बनाती जाती हैं, सरकारें कायदे गढ़ती जाती है। और यह मान लिया जाता है कि वे सब ठीक है, उनकी सबको जानकारी, उनके मुताबिक चलना सबका फर्ज है। पर अपनी सामाजिक व्यवस्था में जीने वाला आदिवासी अनजाने में ही अपराधी बन गया, इसका कहीं एहसास तक नहीं है।

3.16 इस तरह आधुनिक व्यवस्था की निगाह में बहुत से इलाकों में पूरा आदिवासी समाज ही अपराधी बन गया है। किसी भी आदिवासी को किसी भी मामले में पकड़कर कानून के हवाले किया जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों का कैसा स्वाभिमान और कैसी प्रतिष्ठा। इस हालत में अगर नई व्यवस्था आदिवासी को गरीब, अनजान और यहाँ तक कि असभ्य भी करार दे दे तो कौन से अचरज की बात होगी। सच तो यह है कि आज आदिवासी समाज के लिये विकास ही सबसे बड़ा शत्रु बन गया है। क्या तथाकथित विकास के लिये किसी समाज की जिंदगी, किसी समाज की प्रतिष्ठा दांव पर लगाई जा सकती है ? और फिर क्या प्रतिष्ठा का भी मोल हो सकता है ?

3.17 सबसे अचम्भे की बात तो यह है कि आदिवासी इलाकों की यह विसंगति सबको मालूम है। परन्तु फिर भी पहली प्रतिक्रिया तो नई व्यवस्था को सही, और उसकी परम्परा को गलत साबित करने की होती है। उम्मीद यह की जाती है कि आदिवासी समाज अपने को बदले, नई व्यवस्था के अनुरूप अपने को ढाले, और यही विकास है, यह उसे समझाने की कोशिश होती है। इस तरह पहले तो उस बुनियादी विसंगति को सुधारने के लिए कोई कार्रवाई ही नहीं होती और अगर कहीं कोई कार्रवाई शुरू भी की जाती है तो न जाने कहाँ जाकर किस तरह अटक जाय इसका कोई भरोसा नहीं। इसी सिलसिले में मैंने पिछली रिपोर्ट में आबकारी नीति का जिक्र किया था जिसको मैं यहाँ पर कुछ नये तथ्यों के साथ फिर से दोहराना चाहूँगा।

आबकारी का फंदा

3.18 आदिवासी इलाकों के मामले में वैसे तो संविधान की मंशा यही है कि सभी कानून पूरी तरह से वहाँ के लोगों की जरूरत के मुताबिक बनाये जाँय। हो सकता है कि आदिवासी इलाकों के मामले में आधुनिक व्यवस्था में इस तरह का पूरा बदलाव करने में कई तरह के एतराज हों। परन्तु कम से कम आदिवासियों के सामाजिक मामलों में बाहरी कानून आड़े न आएँ, इसमें तो किसी को एतराज नहीं हो सकता, इसे सभी लोग मानते भी हैं। परन्तु फिर भी आबकारी का फंदा आदिवासी समाज के गले में पड़ा ही हुआ है।

3.19 आदिवासी समाज में मदपान उनकी जिंदगी का ही एक हिस्सा है। उदाहरण के लिए आज भी बस्तर में गोंड लोगों में बच्चे के पैदा होने के बाद महुआ के मद की घुट्टी दी जाती है और आदमी के मरने पर भी महुआ का मद उसके मुँह में डाला जाता है। परन्तु अंग्रेजों ने आदिवासियों की मदपान की सामाजिक परम्परा में दखलंदाजी की और उसकी जगह बाहर की शराब की बिक्री की व्यवस्था कायम की। इसके दो कारण थे। पहले तो अंग्रेजों के लिये आदिवासी इलाकों पर काबू पाना सबसे कठिन साबित हुआ। उन्हें इन इलाकों में लगातार विद्रोहों का सामना करना पड़ा जिससे वे परेशान हो गए थे। वे उन्हें किसी भी तरह से अपने वश में करना चाहते थे। इसके लिए आदिवासियों में शराब की आदत डलवाकर वश में करने का ही सबसे अच्छा उपाय उन्हें सूझा । आदिवासी इलाकों में उनकी आबकारी नीति चीन में अफीम की नीति की तरह ही थी।

3.20 दूसरे आदिवासी इलाके जंगली और पहाड़ी थे। वहाँ स्थायी खेती तक नहीं होती थी। उस जमाने में वहाँ पायी जाने वाली वस्तुओं का कोई खास मूल्य भी नहीं था। उस हालत में इन सुदूर

इलाकों में रहने वाले सरल लोगों से शराब की बिक्री करके ही राजस्व की वसूली सबसे आसान थी। दोनों ही तरह से अंग्रेजों की यह नीति सफल हुई। परन्तु आदिवासी समाज उससे तबाह हो गया।

3.21 संविधान के अनुच्छेद 340 के अंतर्गत सन् 1960 में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के क्षेत्रों की स्थिति का जायजा लेने के लिये एक आयोग **ढेबर आयोग** की नियुक्ति की गई थी। इस आयोग ने अंग्रेजी जमाने की आबकारी नीति को आजादी के बाद भी चालू रखने की कड़े शब्दों में निंदा की थी। उन्होंने उसकी जगह एक नई नीति अपनाने का सुझाव दिया। इस नीति में आदिवासी लोगों को अपनी परंपरा के अनुसार मद बनाने और उसके व्यवहार की छूट देने की सिफारिश थी। परन्तु इस सिफारिश पर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया और हालात जैसे के तैसे बने रहे।

3.22 इसके बाद सन् 1974 में केन्द्रीय सरकार ने आदिवासी इलाकों में आबकारी नीति की एक बार फिर समीक्षा की और एक नई नीति बनाई गई। इस नीति में ढेबर कमीशन की सिफारिशों को पूरी तरह से मानते हुए कुछ और बातें भी जोड़ी गईं। इस नीति में चार खास बातें थीं-

§1§ आदिवासी लोगों को अपनी परंपरा के अनुसार व्यक्तिगत उपयोग के लिए मद बनाने की छूट दी जाय।

§2§ आदिवासी इलाकों में शराब की व्यापारिक बिक्री बंद कर दी जाय।

§3§ जहाँ आदिवासी इलाकों में गैर-आदिवासी पट्टियाँ हों जैसे कि नये औद्योगिक नगर, वहाँ पर, अगर जरूरी समझा जाय तो, शराब की बिक्री सरकारी दूकानों से की जाय।

§4§ आदिवासी इलाकों में गाँव के स्तर पर मद से संबंधित पूरी व्यवस्था की जिम्मेदारी गाँव समाज को सौंप दी जाय।

3.23 यह आबकारी नीति आज सोलह साल बीतने के बाद भी किसी भी राज्य में पूरी तरह लागू नहीं हो पाई है। उदाहरण के लिये मध्यप्रदेश ने पहले तीन बिन्दु तो स्वीकार कर लिये परन्तु आदिवासी समाज को अपने गांव में मदपान की व्यवस्था चलाने का अधिकार नहीं दिया गया। आंध्रप्रदेश में नामचार के लिए आदिवासी इलाकों में शराब बिक्री को आदिवासियों की सहकारी समितियों को सौंप दिया गया जिसका कोई मतलब ही नहीं हुआ। महाराष्ट्र में सरकार ने औपचारिक रूप से तो इस नीति को मान लिया और उसके अमल के लिए कई सरकारी आदेश भी निकाले गये। परन्तु वहाँ गढ़चिरौली में जिस तरह से इस नीति पर अमल हुआ वह चौकाने वाला है। उससे यह भी पता लगता है कि हमारा प्रशासनतंत्र किस तरह कागज पर खानापूरी कर बढ़िया तस्वीर पेश कर सकता है चाहे सही मायने में कहीं कुछ भी न किया हो।

गढ़चिरौली में आबकारी नीति

3.24 महाराष्ट्र सरकार ने आदिवासी अंचलों में आदिवासियों को निजी उपयोग के लिए मद बनाने की छूट दे दी है। इसके अलावा यह भी निर्णय लिया है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा सुझाई गई नीति के अनुसार आदिवासी इलाकों में शराब की सभी दुकानें भी बंद कर दी जाएगी। परन्तु उन्होंने आदिवासी इलाकों की गैर-आदिवासी पट्टियों में सरकारी दुकानों से शराब बेचने की सिफारिश नहीं मानी। राज्य सरकार सिद्धांत रूप से सरकारी दूकानों से शराब की बिक्री को ठीक नहीं मानती है। सरकार ने गाँव के स्तर पर गाँव समाज को मद के बनाने और पीने के मामले में अधिकार देने के बारे में भी कोई निर्णय नहीं लिया है।

3.25 आबकारी नीति पर राज्य सरकार के उपर लिखे फैसलों के बाद अमल शुरू हुआ। इसी सिलसिले में गढ़चिरौली के आदिवासी इलाके में जितनी शराब की दुकानें थीं उनको साल के आखीर में बंद

करने के लिए आदेश भी हो गए। परन्तु इस पर शराब के ठेकेदारों ने सरकार से प्रार्थना की कि उनके लाइसेंस रद्द नहीं किए जाँय और उनको अपनी दुकानें दूसरी जगह हटाने की इजाजत दे दी जाय। सरकार ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली।

3.26 इस फैसले के बाद एक बड़ी दिलचस्प बात हुई। अब सवाल आया कि ये लोग अपनी दुकानें आदिवासी इलाकों से हटा कर कहाँ रखें। सरकार ने यह पहले ही तय कर लिया था कि आदिवासी इलाकों में गैर-आदिवासी पट्टियों में शराब बेचने के लिए सरकारी दूकानें नहीं खोली जाएँगी। इसका मतलब हुआ कि गैर आदिवासी पट्टियों में शराब की बिक्री ठेके की दूकानों से ही जारी रहेगी। पुराने ठेकेदारों को इसी फैसले में राह निकलती नजर आई जिससे सरकार की बात भी बनी रहे और उनका काम भी चलता रहे।

3.27 अब इन ठेकेदारों के लिए सबसे बड़ा सवाल यह था कि ये गैर-आदिवासी पट्टियाँ किसे कहा जाय ? चूँकि सरकारी नीति के मुताबिक गैर-आदिवासी पट्टियों में ठेके चालू रहने की व्यवस्था थी। इसलिए वे अपनी दुकानों की जगह बदलकर, जिसके लिए सरकार राजी हो गई थी, वहाँ ले जा सकते थे। यहाँ पर ठेकेदारों ने बड़ी चतुराई दिखाई और सरकार ने आबकारी नीति की भावना का ध्यान नहीं रखा। इस मामले में राज्य सरकार ने एक विचित्र फैसला किया। गढ़चिरौली के सभी बाजार केन्द्रों को गैर-आदिवासी इलाका मान लिया गया। मतलब यह हुआ कि इस जिले में कोई भी शराब की दुकान बंद नहीं हुई। हाँ, उनमें से कुछ दूकानें आदिवासी गाँवों से उठकर बाजार गाँवों में आ गई

3.28 आदिवासी इलाकों की हालत को जो लोग जानते हैं, वे लोग इस पूरी कसरत का क्या मतलब हुआ समझ सकते हैं। वैसे भी शराब की दूकानें आम तौर पर मौके के बड़े गाँवों में ही होती हैं। आदिवासी इलाकों में बाजार के गाँव ही मौके के गाँव होते हैं। यह ठीक है कि इन गाँवों में गैर-आदिवासी लोग अधिक रहते हैं। परन्तु एक गाँव को गैर-आदिवासी पट्टी तो नहीं कहा जा सकता है। नई आबकारी नीति में गैर-आदिवासी पट्टियों के बारे में जो तजबीज की गई थी उसमें आदिवासी इलाकों में उन बड़े-बड़े औद्योगिक परिसरों की ओर इशारा था जहाँ काफी बड़े इलाके में बाहर से आकर लोग बस जाते हैं। उसका मकसद बाजार के गाँव से कदापि नहीं था। अगर आदिवासी इलाकों में बाजारों में शराब की बिक्री चालू रहती है तो ठेके की दूकानों के बंद करने की नीति का कोई मतलब ही नहीं है। जिन ठेकेदारों की दूकानें बाजार में होंगी वे अपने नौकरों और लठैतों से आसपास और दूर-दराज के गाँवों में शराब की बिक्री आसानी से करा सकते हैं।

3.29 गढ़चिरौली में शराब के व्यापारियों ने एक और तरकीब निकाल ली है। उनकी शह पर कुछ बाहरी लोग आदिवासी गाँव में जाकर रहने लगे हैं और अपने पीने के लिए लाइसेंस बनवा लेते हैं। उन लाइसेंसों के आधार पर वे लोग शराब खरीद कर अपने घर में रखते हैं और उसकी खुले आम बिक्री करते हैं।

3.30 महाराष्ट्र सरकार ने गाँव समाज को आबकारी की व्यवस्था करने के अधिकार को अभी तक नहीं माना है। इसलिए गाँव समाज को अवैध या वैध रूप से शराब की बिक्री करने वालों से कुछ कहने का हक ही नहीं है। इस तरह शराब के ठेकेदारों की मनमानी चल रही है। महाराष्ट्र सरकार ने बताने के लिए कागज पर केन्द्रीय सरकार की आदिवासी इलाकों के लिये नई आबकारी नीति मान ली, उसको लागू भी कर दिया परन्तु ठेके की शराब धड़ल्ले से बिक रही है और आदिवासियों का सामाजिक और आर्थिक शोषण पहले जैसा ही जारी है।

दारूबंदी के लिये जन-आंदोलन

3.31 गढ़चिरौली के आदिवासी समाज में मदपान को लेकर एक नया सोच उभरा है। इस समय

वहाँ अच्छे पैमाने पर दारूबंदी के लिये आंदोलन चल रहा है। लोगों के हिसाब से उनके जिले में पांच करोड़ रुपये की दारू हर साल बिकती है। और उनका कहना है कि लगभग इतना ही रुपया सरकार विकास के लिये वहाँ खर्च करती है। लोगों ने सरकार के सामने एक सीधी सी बात रखी है कि सरकार दारू की बिक्री बंद कर दे और चाहे तो जिले के विकास के काम बंद कर दे। इसमें जिले का कोई घाटा नहीं होगा। उनके मुताबिक दारूबंदी होने से जिले का विकास अपने आप हो जाएगा। लोगों की यह भी चिंता है कि बाहरी शराब पीने से उनके शरीर पर बुरा असर पड़ता है। इस आंदोलन में महिलाएँ आगे आई हैं। आखिर जब आदमी शराब पीता है तो सबसे पहला वार तो औरत को ही झेलना पड़ता है - एक ओर पिटाई होती है और दूसरी ओर उसके बच्चे दाने-दाने के लिए मोहताज हो जाते हैं।

3.32 इस जन-आंदोलन की सभी लोग तारीफ करते हैं। सभी स्तरों पर अधिकारियों और मंत्रियों से उनकी माँगे पूरी करने के वायदे भी मिले हैं। लेकिन मौके पर हालत नाजुक बनी हुई है। सरकार की ओर से उन्हें कोई राहत तो मिली ही नहीं। इसके उल्टे आंदोलनकारियों को कई जगह कानून कार्रवाई का सामना करना पड़ रहा है। उदाहरण के लिए कई गाँवों में लोगों ने शराब न पीने का तय किया है। इसके साथ ही यह भी तय किया है कि अगर कोई गांव वाला उनके फैसले को नहीं मानेगा और शराब पियेगा तो उस पर समाज दण्ड करेगा। इस मुहिम को नाकाम करने के लिये ठेकेदारों ने कई तरह के हथकण्डे अपनाएँ हैं। उदाहरण के लिये एक गाँव में ठेकेदारों ने कुछ पीने वाले लोगों को अपनी तरफ मिला लिये। जब उन पर समाज ने जुर्माना किया तो पुलिस में शिकायत करा दी। पुलिस ने समाज की बात तो सुनी नहीं और जानबूझकर अपराधियों की तरफदारी की। पुलिस इन लोगों से पूछती है कि उन्हें दण्ड देने का अधिकार किसने दिया है। इसीतरह जब गाँव के लोग शराब की दूकानें बंद करने के लिए आंदोलन चलाते हैं, शांतिपूर्ण धरना देते हैं तो कानून और व्यवस्था का नाम लेकर सरकार दूकानदारों की तरफदारी करती है।

3.33 आदिवासी लोगों ने जब यह आंदोलन शुरू किया था तब उन्हें, सरकार की आदिवासी इलाकों के लिये आबकारी नीति के बारे में कुछ मालूम नहीं था। जब उन्हें उस नीति की जानकारी हुई तो उन्होंने प्रशासन से कहना शुरू किया कि वे आदिवासी इलाकों के लिये केंद्रीय सरकार की नीति लागू करें। आखीर में जाकर ही लोगों को यह पता चला कि सरकार ने उसूलन वह नीति मान ही नहीं ली है वरन् वह लागू भी हो चुकी है। परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है मौके पर कुछ नहीं हुआ। लोग इस मामले को पिछली साल (1988-89) राज्य के मुख्यमंत्री तक ले गए। मुख्यमंत्री जी ने भी एक बार फिर वायदा किया कि साल के आखीर में दुकानें बंद कर दी जायेंगी। परन्तु साल के आखीर में ऐन वक्त उन दुकानों को फिर से एक साल की मुहलत दे दी गई। लोग यह सोच में हैं कि इस सरकारी साल का आखीर कभी आयेगा भी या नहीं ? यही नहीं, लोगो के सामने एक और चुनौती आ गई है। खबर है कि इस इलाके में महुवे से शराब बनाने का एक कारखाना बनाने के लिए कुछ लोग पहल कर रहे हैं जो न केवल राज्य का मान्य नीति के खिलाफ है वरन् जिसका लोग भी विरोध कर रहे है।

लोगों के लिये असमंजस की हालत

3.34 अब सवाल यही है कि ऐसी हालत में लोगो को क्या करना चाहिये ? यह तो साफ है कि कम से कम अपनी सामाजिक व्यवस्था स्वयं चलाने का अधिकार तो लोगों का है ही, इसमें संविधान पूरी तरह उनके साथ है। आबकारी नीति के मामले में केन्द्रीय सरकार अथवा यों कहें कि राष्ट्रपति के निर्देश भी साथ हैं। राज्य सरकार ने भी उन निर्देशों को माना है। परन्तु उस नीति को लागू करते समय एक ऐसा पेंच डाल दिया गया कि उसकी मूल भावना जाती रही। लोगों ने सभी स्तरों पर दौड़-धूप कर ली। परन्तु उसका भी कोई नतीजा नहीं निकला। जब अपने समाज के स्तर पर

लोग अपनी व्यवस्था खुद करने का फैसला करते हैं तो यह कह दिया जाता है कि उन्हें वैसा करने का कानून में कोई अधिकार नहीं है। और अगर वे अपने समाज में सदस्य के खिलाफ कोई कार्रवाई करते हैं तो खुद उन पर कानूनी कार्रवाई आ जाती है। वे इसी असमंजस में पड़े हैं कि करें क्या

3.35 आबकारी नीति का यह मामला मैंने तफसील से इसलिए बयान किया है क्योंकि यह मुद्दा हर आदिवासी की निजी और सामाजिक जिंदगी को छूता है। अगर कोई आदिवासी अपनी परंपरा के मुताबिक चलता है तो वह कानून तोड़ता है, कानून के सामने अपराधी है, और उसके खिलाफ कार्रवाई की जा सकती है। यहाँ पर मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि आदिवासी इलाकों में कोई भी ऐसा कानून जो आदिवासी की अपनी परंपरा को अपराध बना दे संविधान की मूल भावना के खिलाफ है। इस हालत में अगर वे लोग ऐसे कानून का पालन नहीं करते है और अपने समाज की व्यवस्था अपनी परंपरा के अनुसार स्वयं चलाने का फैसला करते हैं तो उनका यह काम संविधान की भावना के अनुरूप होगा।

आम आदमी की हकदारी

आज की दुनिया में आदमी का मान और सम्मान उसकी माली हालत से जुड़ा हुआ है। जिस आदमी को दो जून रोटी भी नसीब न हो, उसका कैसा मान और कैसा सम्मान ? मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि आम आदमी की माली हालत देश के कुल उत्पादन से जुड़ी हुई है। उत्पादन के लिये तरह-तरह के कामकाज जरूरी होते हैं जिसमें देश के सभी निवासियों की हिस्सेदारी होती है। हाँ, उस हिस्सेदारी के रूप अलग-अलग होते हैं। कोई आदमी खेत में काम करता है तो कोई कारखाने में, कोई फौज में शामिल है तो कोई दफ्तर में, कोई डाक्टर है तो कोई व्यापारी। इसी तरह से कोई हाथ का काम करता है तो कोई दिमागी। सभी की मिली जुली मेहनत से एक ओर खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की चीजें बनती हैं और दूसरी ओर तरह-तरह की सेवाओं की व्यवस्था होती है। यही सब वस्तुएँ और सेवाएँ मिलकर किसी देश का कुल उत्पादन कहलाती है। देश की कुल पैदावार में हर काम करने वाले का हक होता है। परन्तु असली सवाल है कि तरह-तरह का काम करने वालों के काम के एवज में उस कुल उत्पादन में हकदारी कैसे आँकी जाती है। यह तो साफ है कि किसी भी आदमी की हकदारी इस बात पर निर्भर होगी कि उसने कितना काम किया और उसकी मेहनत का मूल्य कैसे आँका जाता है। आदमी की मेहनत का मूल्य आँकने में ही सबसे बड़ा पेंच है। और वहीं न्याय और अन्याय की जड़े हैं।

4.2 हमारे देश की पूरी व्यवस्था पर संगठित क्षेत्र का वर्चस्व है। इसलिये हकदारी के मामले में आज हो यह रहा है कि देश की कुल पैदावार में सबसे पहले संगठित क्षेत्र में काम करने वालों का हक तय हो जाता है। चूँकि संगठित क्षेत्र ही हकदारी तय करता है इसलिये उसके अपने सदस्यों की हकदारी में इतना तो रहता ही है कि उसकी जिंदगी साधारण स्तर पर आसानी से चल सके। उससे ज्यादा किसको कितना मिले इस पर झगड़े होते रहते हैं जो बहुतकर दिखावा होते हैं। उन सब का एक ही असर होता है कि देश की कुल पैदावार में संगठित क्षेत्र की हकदारी उतनी और बढ़ जाती है।

4.3 देश की कुल पैदावार के इस बाँट के बाद जो कुछ बच रहता है असंगठित क्षेत्र के लोगों को उसी में संतोष करना पड़ता है। इसलिये असली छीना-झपटी तो असंगठित क्षेत्र में आपसी बटवारे को लेकर होती है। इस छीना-झपटी में जो सबसे कमजोर और जो सबसे नासमझ हैं वे ही सबसे नुक्सान में रहते हैं। ये लोग चाहे कितनी मेहनत क्यों न करें, उनका असली हक चाहे कैसा भी क्यों न बनता हो, पर उसकी कहीं पूछ नहीं होती। यही कारण है कि मेहनतकश को कड़ी मेहनत के बावजूद दो जून रोटी भी नसीब नहीं होती।

हकदारी के उसूलों में गैर-इन्साफी

4.4 मैंने अपनी पिछली (अट्ठाइसवीं) रिपोर्ट में सामाजिक न्याय के इस अहम सवाल की ओर देश का ध्यान खींचा था। काम करने वालों की हकदारी आँकने के लिए हमारे देश में आज दो अलग-अलग उसूल लागू हैं। एक ओर संगठित क्षेत्र है जिसमें काम करने वाले की मजदूरी या तनख्वाह इस तरह तय की जाती है कि एक कमानेवाले की आमदनी पूरे परिवार के भरण-पोषण के लिये काफी हो। परन्तु यह उसूल न खेतिहर मजदूर की मजदूरी तय करने के लिये और न ही असंगठित क्षेत्र के दीगर कामगारों की मजदूरी तय करने के लिये माना जाता है। यह कैसा इन्साफ है कि खेतिहर मजदूर जिसकी मेहनत के फल पर पूरी दुनिया चलती है वह अपने परिवार का भी पेट नहीं चला सकता। दफ्तर में काम करने

वाले को पंखे के नीचे आठ घंटे बैठकर काम करने के लिये इतनी हकदारी मिल जाती है कि पूरा परिवार शान से रहे। परन्तु उसी दफ्तर को बनाने वाले मजदूर को चिलकती धूप और भरी बरसात में काम करके भी घर चलाने की हकदारी नहीं। जाहिर है कि हमारे संविधान की हर धड़कन इस तरह के भेदभाव के खिलाफ है। पर फिर भी यह भेदभाव क्यों ? इसका कोई जवाब नहीं है। इसलिए जहाँ तक आम आदमी की हकदारी का मामला है हमारी पूरी व्यवस्था न केवल अन्यायी है वरन् असंवैधानिक भी है।

4.5 परन्तु वह कौन सा राज है जिसके कारण संविधान की इतनी खुल्लमखुल्ला अवहेलना की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया ? हो सकता है कि इस बारे में अभी तक गफलत रही हो। मगर संविधान की इस अवहेलना की संविधान में ही दिये गये सामाजिक न्याय के मामलों पर एक संविधानिक रिपोर्ट में कड़ी आलोचना होने के बाद भी कहीं भी किसी ओर से इस बारे में कोई हरकत तक नहीं हुई। लगता है कि संगठित क्षेत्र के हर व्यक्ति का हित इसी में है कि यह सवाल उठाया ही न जाये। कोई भी अपनी हकदारी को अन्यायी कहकर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी नहीं मारना चाहेगा। असंगठित क्षेत्र के लोगों के मामले में वर्तमान व्यवस्था इस कदर अन्यायी और असंवेदनशील हो सकती है इसका उन लोगों को सही मायने में एहसास नहीं है। वे उसे अभी तक न्यायपूर्ण माने बैठे है, उनका यह भ्रम मिटना जरूरी है।

खेतिहर मजदूर की हकदारी सबसे कम

4,6 देश के दो क्षेत्रों के लिये दो अलग उसूलों की इस बात को अगर थोड़ी देर के लिए हम एक तरफ रख भी दें तो दूसरा सवाल यह आता है कि लोगो की मेहनत का मूल्य, भाव या दर किस तरह से आँकी जाती है ? अगर हम अपने देश के सभी तरह के कामों की उनके लिये सरकारी तौर पर कितना वेतन या मजदूरी दी जाती है या तय की गई है इस हिसाब से एक लिस्ट बनायें तो उसमें एक खेतिहर मजदूर की जगह सबसे नीचे होगी। किसी भी राज्य के मजदूरी के कानूनों को उठाकर देख लीजिए तो इस मामले में हालत सब जगह एक जैसे मिलेगी-खेतिहर मजदूर की मजदूरी सबसे कम है। खेतिहर मजदूरी के अलावा सभी तरह के दीगर कामगारों की मजदूरी उससे ज्यादा होती है।

4.7 इसका मतलब यह हुआ कि हमारे देश में खेतिहर मजदूर की मजदूरी सबसे कम है। खेतिहर मजदूर की मजदूरी को और सभी तरह की मजदूरियों के लिए एक पैमाना कहा जा सकता है। इस समय हमारे देश में खेतिहर मजदूरों के लिये मजदूरी कम से कम 9 रु० रोज से लेकर 20 रु० रोज तक है। परन्तु यह तो कानून की बात है। यह सभी को मालूम है कि मौके पर यह मजदूरी भी नहीं मिलती है। उसकी दर कहीं-कहीं तो जैसे उत्तरप्रदेश के बांदा जिले में कोल और हरिजनों के लिये "पाँच पाव ज्वार" या 2 रु० रोज तक है। आमतौर पर 5-6 रु० रोज मजदूरी मिल जाये तो लोग अपना भाग्य सराहते हैं। औरतों की मजदूरी एक-आध रुपया कम ही होती है।

4.8 किसान मजदूर को इतना कम क्यों देता है यह बड़ा पेचीदा सवाल है इसलिये इसे हम अभी यहीं छोड़ देंगे और इसकी चर्चा आगे करेंगे परन्तु यहाँ हम उसूलों की बात कर रहे है, इसीलिए समझना यह जरूरी है कि यह कैसे होता है कि खेतिहर मजदूर की मजदूरी की दर सबसे कम आंकी जाती है ? खेतिहर मजदूर की मजदूरी को बढ़ाने की माँग बहुत से लोग करते हैं, उसके लिये आंदोलन और लड़ाईंया भी होती हैं। परन्तु उसकी मजदूरी दीगर सभी कामगारों की तुलना में सबसे कम क्यों रखी जाती है इस पर कोई बहस नहीं होती है, यह असली सवाल कहीं उठाया ही नहीं जाता है। **खेतिहर मजदूर की मजदूरी की दरें सबसे कम होती हैं, इस बात को जाने अनजाने वाजिब मान लिया गया है। और यहीं पर हमारे देश में अन्याय की जड़ सबसे गहरी है।**

हकदारी का आधार–जीवन के लिये उपयोगिता ?

4.9 सबसे पहले तो यही लगता है कि किसी काम का मूल्य आंकने के लिये जिंदगी के लिये उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखना मुनासिब होगा। जिंदगी के लिए कौन सा काम सबसे जरूरी है और उस हिसाब से सभी कामों की एक लिस्ट बनाए तो खेती-किसानी के काम से बढ़कर क्या कोई और काम हो सकता है ? आखिर आदमी की जिंदगी के और सभी काम खेती-किसानी पर ही टिके हैं जिससे सबकी जिंदगी चलती है। अगर किसी आदमी को खाना ही न मिले तो क्या वह कोई और काम कर सकता है। इसीलिये हमारी परपंरा में खेती को उत्तम कहा गया है। मगर आज लगता है खेती का काम सभी तरह से सबसे नीचे हैं। इसतरह जीवन के लिये उपयोगिता से खेती के कामकाज के मूल्य का कोई संबंध नहीं है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जिंदगी के लिये हवा और पानी तो खाने से भी ज्यादा जरूरी होते हैं और उनका तो कोई मूल्य होता नहीं है। इसलिये खेती-किसानी के साथ जिंदगी के लिये वह काम कितना जरूरी है उसे जोड़ना मुनासिब नहीं होगा। उसके लिये कुछ और सिद्धांत ही अपनाने होंगे।

हकदारी तय करने के आम उसूल

4.10 आमतौर पर किसी भी काम का मूल्य आँकने के लिए तीन बातें ध्यान में रखी जाती हैं - 1। उस काम के लिये जरूरी कौशल, 2। उस काम में मेहनत की कड़ाई, और 3। उस काम को करने की जगह और परिस्थितियाँ। अब अगर हम देश में सभी तरह के कामों की एक सूची इन तीनों बातों को ध्यान में रख कर बनाये तो खेतिहर मजदूरी का जो स्थान बने उसी के आधार पर उसका मूल्य या मजदूर की हकदारी निश्चित करना वाजिब होगा। आइये, देखें इन तीनों मामलों में उसकी क्या स्थति है।

काम का कौशल

4.11 मजदूर मोटेतौर पर दो तरह के होते हैं - अकुशल और कुशल। कहीं-कहीं इनके बीच में अर्ध-कुशल का दर्जा भी रख दिया जाता है। कुशलता और अर्ध-कुशलता में भी अनगिनत भेद होते हैं। अकुशल में हल्की मजदूरी और कड़ी मजदूरी के लिये अलग-अलग दरें होती हैं। जाहिर है कि जितना अधिक कौशल और जितनी ज्यादा मेहनत हो मजदूरी उतनी ज्यादा होगी। जिस काम की मजदूरी सबसे कम रखी जाय वह काम सबसे हल्का और सबसे अकुशल होना चाहिए।

4.12 अगर उम्र जो कहा गया है वह सही है तो खेतिहर मजदूर की मजदूरी सबसे कम रखी गई है।इसका मतलब यह है कि उसका काम हमारे देश में जितने तरह के भी दीगर काम हैं उन सब की तुलना में न केवल सबसे अकुशल है वरन् सबसे हल्का भी है। खेतिहर मजदूर का काम अकुशलता का प्रतीक माना जाता सकता है। अब इस पर थोड़ा गौर करें। क्या कोई भी जिम्मेदार आदमी, जिसे खेती-किसानी के बारे में कुछ भी जानकारी है, ईमानदारी से यह कह सकता है कि खेतिहर मजदूर अकुशल होता है, उसका काम हल्का होता है ? यह ठीक है कि खेती किसानी सीखने वह किसी स्कूल में नहीं जाता है। सच तो यह है कि जो लोग खेती स्कूल और कालेज में सीखते हैं और बड़ी-बड़ी सनद हासिल करते हैं उन्हें हमारे देश की खेती-किसानी करने के काबिलियत हासिल नहीं हो पाती हैं, वे उसके काबिल ही नहीं रह जाते। हमारे मुल्क में खेतिहर मजदूर और किसान खेती-किसानी कठोर जिंदगी के स्कूल में सीखता है और वहीं से खेती-किसानी का कौशल हासिल करता है। खेत में कब हल चलाना चाहिये, हल कैसे जोता जाता है, बीज किस समय कितना और कैसे बोया जाना चाहिये, फसलों की निराई और जब तक कट न जाये उनकी देखभाल, कोई भी काम ले लें, सभी में बड़े कौशल की जरूरत पड़ती है। खेती अनाड़ियों का खेल नहीं है।

मेहनत की कड़ाई

4.13 कौशल के बाद अगर हम, किसी काम में आदमी को कितनी कड़ी मेहनत करनी पड़ती है इसका हिसाब लगाएँ तो भी क्या खेतिहर मजदूर से ज्यादा कोई हो सकता है, क्या कोई उससे अधिक कड़ी मेहनत करता है ? हो सकता है कि कुछ कारखानों में मजदूरों को कुछ ज्यादा कड़ा काम करना पड़ता हो। परन्तु संगठित क्षेत्र के सभी काम आमतौर पर खेतिहर मजदूरी की तुलना में बहुत कम मेहनत वाले हैं। मशीनों के आ जाने से और वैसे भी कई ऐसे काम हैं जिनमें अब कोई मेहनत करनी ही नहीं पड़ती है। लिफ्ट चलाने वाला दिन भर बटन दबाता है और चपरासी साहब का पर्दा उठाता है। क्या इसमें भी कोई मेहनत है और कोई कौशल ?

काम की स्थिति

4.14 आखीर में अगर काम करने की जगह और उसके माहौल को देखें तो भी खेती-किसानी से दीगर कामों की कोई बराबरी नहीं। खेती-किसानी का काम खुले आसमान के नीचे होता है। जेठ की चिलचिलाती धूप हो, पूस की ठंडी रात, बरसात की झड़ी हो या आंधी और तूफान आये, खेती-किसानी का काम रुक नहीं सकता। किसान मौका चूक नहीं सकता, खेतिहर मजदूर के लिये इस तरह काम करना कोई अनहोनी बातें नहीं है, वह तो उसकी जिंदगी ही है।

4.15 अब हम अगर खेतिहर-मजदूर का काम सभी तरह से देखें - जिंदगी के लिये उसका मूल्य, कौशल, मेहनत, काम करने की जगह और माहौल, तो किसी भी मायने में वह किसी भी और काम से नीचा नहीं है। शायद उसकी बराबरी करने वाला भी कोई और काम नहीं है। वह सबसे ऊँचा ही साबित होता है। तब फिर मजदूरी के रूप में उसकी हकदारी सबसे कम क्योंकर है, और उसे अकुशल होने का तमगा क्यों पहनाया गया है ? इसका एक ही जवाब है - हमारी व्यवस्था को चलाने वाले, खेतिहर मजदूर को उसकी हकदारी देना नहीं चाहते। यही लोग जब परम्परागत व्यवस्था की बात करते हैं और सिद्धांतों की बातें हांकते हैं तो कह देते हैं कि वह व्यवस्था अन्यायी थी, उसमें हरिजनों को दबाकर रखा गया था, उनको उनकी मेहनत का फल नहीं मिलने दिया जाता था। परन्तु आज की व्यवस्था जिसको वे खुद चला रहे हैं वह तो संविधान के निर्देशों की कायल हैं, समानता और न्याय तो उसकी नींव है, कमजोर वर्गों की रक्षा करना उसकी जिम्मेदारी है - तब फिर यह व्यवस्था खेतिहर मजदूर की हकदारी किस आधार पर सबसे कम कूतती है ? सबसे अचरज की बात तो यह है कि विधान सभाओं में लम्बी चौडी बहसों के बाद भी ऐसे कानून कैसे पास हो जाते हैं जिसमें खेतिहर-मजदूरों को सबसे निचला दर्जा दिया गया है ?

असंगठित क्षेत्र में दीगर कामगारों की नाइंसाफी

4.16 खेतिहर मजदूर की हकदारी को समानता और न्याय की दुहाई देने वाले एक जुमला कह कर नकार देते हैं कि खेतिहर मजदूर एक अकुशल मजदूर है। इससे बड़ी नाइंसाफी और इससे बड़ा इन्सान के जज़बात का कोई मखौल नहीं हो सकता। मगर यह नाइंसाफी खेतिहर मजदूरों तक ही सीमित नहीं है। यह मेहनतकशों के खिलाफ एक बड़ी साजिश या व्यूह-रचना का अंग है जिसे बड़े जतन से उसूलों का जामा पहना कर पोशीदा रखने की कोशिश होती रही है, उसमें कामयाबी भी हुई है। अगर हम मेहनतकशों के दीगर धंधों को देखें, जिनका मैंने पिछली रिपोर्ट में खुलासा किया था, उनका भी यही हाल है। उन सब को अकुशल तो नहीं कहा जाता, परन्तु उनके काम का मोल तथाकथित कुशल लोगों को जो मिलता है उसको देखते हुए इतना कम रखा जाता है कि ये भी एक तरह अकुशल मजदूरों के बराबर ही हो जाते हैं। मगर वे लोग जब अपनी हालत की खेतिहर-मजदूर की हालत से बराबरी

करते हैं; जिसको वे जानते हैं और जिसके काम को वे समझते भी हैं तो उन्हें यह सोचकर कि उन्हें उनसे थोड़ा बहुत ज्यादा ही मिलता है तसल्ली होती है। मजदूरी देने वाला भी उन्हें एहसान से लाद देता है। इस तरह खेतिहर मजदूर को अकुशल कह देने से और उसकी हकदारी के सबसे कम आंके जाने से असंगठित क्षेत्र के सभी कामगारों को हकदारी में बट्टा लग जाता है। यही नहीं, जैसा कि हम आगे देखेंगे उससे खुद किसान की हकदारी एक अकुशल मजदूर के बराबर रह जाती है। चूँकि असंगठित क्षेत्र के सभी कामगार और किसान भी खेतिहर मजदूर की नाजायज हकदारी को जायज मान बैठते हैं, इसलिये दीगर नाजायज हकदारियों के खिलाफ भी न कोई शिकायत रह जाती है और न कोई प्रतिक्रिया ही होती है। यही नहीं, चूँकि मौके पर असलियत में खेतिहर मजदूरों और दीगर मेहनतकशों को जो मजदूरी मिलती है वह न्यूनतम मजदूरी से भी कम होती है, इसलिये उन्हें कभी सपने में भी यह ख्याल नहीं आ पाता है कि उनकी मजदूरी संगठित क्षेत्र में कुशल कहे जाने वाले लोगों से ज्यादा नहीं तो बराबर तो होनी ही चाहिये। इस माहौल में उनकी माँगे कानून में दी गई न्यूनतम मजदूरी पर जाकर अटक जाती है। वही उन्हें अपनी सही हकदारी भी लगने लगती है। इस तरह नाजायज न्यूनतम मजदूरी जायज लगने लगती है।

कुछ और सवाल

4.17 खेतिहर मजदूरों के लिये न्यूनतम मजदूरी की हकदारी के सिलसिले में खेती और किसानों की हालत पर भी सोचना जरूरी होगा। सच तो यह है कि जब खेतिहर मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी बढ़ाने की बात आती है तो उसे यह कह कर टाल दिया जाता है कि न्यूनतम मजदूरी जितनी अभी है वह भी तो नहीं मिलती है। अगर इस दर को और बढ़ा दिया जाये तो आखिर किसान उसे देगा कहाँ से ? एक दूसरी बात भी कही जाती है कि आखिर जब चारों ओर बेरोजगारी है और एक काम के लिए चार-चार आदमी खड़े है तो कानून कुछ भी कहे इन लोगों की मजदूरी तो अपने आप ही कम हो जायेगी। ये बातें यह दिखाने के लिये भी बहुत बढ़ा चढ़ा कर की जाती हैं कि आज की अन्यायी और शोषक व्यवस्था अन्यायी नहीं है, जायज है। यह उस रणनीति का एक हिस्सा है जिसमें बचाव का सबसे अच्छा तरीका दूसरे पर आक्रमण करना होता है। ताज्जुब तो यह है कि हमारे बड़े-बड़े विद्वान और आयोजक, सामाजिक कार्यकर्ता और राजनेता इन गलत बातों को मान कैसे लेते हैं अगर हम थोड़ा सा भी गहराई से विचार करें तो यह साफ हो जाएगा कि ये तर्क बिल्कुल खोखले हैं, उनमें कोई सार नहीं है।

कम मजदूरी या बेरोजगारी

4.18 पहले इसी बात पर सोच लें कि क्या जैसा लोग कहते हैं, हमारे देश में बेरोजगारी है, इसलिए मजदूरी कम है ? यह एक भ्रम है। बेरोजगारी को कम मजदूरी का कारण बताना गलत है। सच्चाई बिल्कुल इसकी उलटी है और बात भी बिल्कुल साफ है। **हमारे देश में मजदूरी कम है इसलिए बेरोजगारी है। अगर आम मजदूर को उसकी हकदारी मिल जाय तो उसकी आमदनी बढ़ जाएगी और बेरोजगारी अपने आप खत्म हो जायेगी ।** यहाँ मैं मेहनतकश लोगों की सिर्फ उनकी मेहनत की जायज हकदारी की ही बात कर रहा हूँ । उत्पादन के साधनों और संसाधनों पर उनकी हकदारी का और भी बड़ा सवाल है । उनको अगर उत्पादन के साधनों और संसाधनों के मामले में इंसाफ मिल जाये तो उनकी हकदारी और भी बहुत बढ़ जायेगी । इस पर हम अलग से बात करेंगे ।

4.19 मेहनत की हकदारी के मामले में हम देख चुके हैं कि कुछ बातें तो उसूलन ही गलत है। एक ओर संगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोग है जहाँ पर हर आदमी की आमदनी या मजदूरी कम से कम इतनी तो है ही कि वह पूरे परिवार को पाल सकता है। फिर बहुतेरे लोगों की आमदनी तो इतनी अधिक है कि वे उसका क्या करें यह भी नहीं उनकी समझ में आता। यही नहीं, बहुत

से परिवारों में आदमी और औरत दोनों नौकरी करते हैं या और दूसरे काम-धंधों में लगे हैं। मगर उनमें से हर सदस्य की पगार उसी उसूल के हिसाब से तय होती है। इस तरह संगठित क्षेत्र में थोड़े से परिवार बहुत से रोजगारो को बटोर लेते हैं। दूसरी ओर अनगिनत परिवारों में एक व्यक्ति को भी ऐसा काम नहीं मिल पाता है जिससे वह पूरे परिवार का काम चला सके। जब तक देश में हर परिवार में से एक व्यक्ति को ऐसा काम न मिल जाय जिससे वह पूरा परिवार चला सके तब तक ऐसी व्यवस्था जिसमें कुछ परिवारों में एक से अधिक काम मिल जाए सरासर अन्याय नहीं है ? मगर आसूदा लोग इस गलत व्यवस्था को भी व्यक्ति का अधिकार बताकर या दीगर उसूलों की बात करके जायज कहने में नहीं हिचकते हैं।

4.20 असंगठित क्षेत्र की हालत संगठित क्षेत्र से बिल्कुल उल्टी है। उसमें पहले तो सिद्धांत रूप से यह नहीं माना जाता है कि एक आदमी की मजदूरी से पूरा परिवार पल सकता है। यदि एक परिवार में एक सदस्य को साल में 300 दिन न्यूनतम मजदूरी पर काम करने को मिल जाय तो अनेक इलाकों में कुल सालाना आमदनी लगभग 3000 रु० होगी। गरीबी की रेखा तक पहुँचने के लिए उसे साल में 6000 रु० से अधिक कमाना होगा। इस तरह परिवार को पालने के लिये कम से कम दो लोगों को काम पर जाना ही होगा। परन्तु यहाँ मजदूरी की दर इतनी कम होती है कि दो लोगों की आमदनी से भी परिवार का काम नहीं चल पाता है। इसलिये सिर्फ पेट भरने के लिये भी परिवार में बच्चे, बूढ़े, औरत, मर्द सभी को काम की तलाश रहती है। इस हालत में मजदूरी की दर चाहे कितनी भी कम क्यों न हो, वे काम करने के लिए मजबूर रहते हैं। नतीजा यह होता है कि गरीब के परिवार में औसतन तीन लोगों को काम करना पड़ता है, तब जाकर कहीं उनका पेट भर पाता है। इतना काम न मिलने पर वे आधे पेट या भूखे रह जाते हैं।

4.21 अब अगर हम पूरे देश में रोजगार की हालत का जायजा लें तो कुछ बातें साफ हो जायेंगी। एक ओर संगठित क्षेत्र हैं जहाँ सभी परिवारों में कम से कम एक व्यक्ति रोजगार में लगा हुआ है और बहुत से परिवार ऐसे भी हैं जिनमें एक से अधिक लोग काम करते हैं। दूसरी ओर असंगठित क्षेत्र में परिवार का पेट भरने के लिए भी, परिवार के दो या तीन लोगों को काम करना पड़ता है। अब इन सब का अगर जोड़ लगायें तो यह तो नहीं कहा जा सकता है कि हमारे देश में काम की कमी है। फर्क सिर्फ इतना है कि संगठित क्षेत्र में जिन परिवारों में एक से अधिक लोग काम करते हैं वे काम पर इसलिए नहीं जाते हैं कि उनके घर खाने को नहीं है। वे काम इसलिए करते हैं कि कुछ और आशाइशें मिल जाय जिनका कोई अंत नहीं है। दूसरी ओर असंगठित क्षेत्र में एक से अधिक लोग काम करने के लिए घर से इसलिए निकलते हैं जिससे वे किसी तरह से परिवार का पेट भर सके।

4.22 अगर असंगठित क्षेत्र के इन मजदूरों को इतनी मजदूरी मिल जाये कि पूरे परिवार का पेट पल सके तो फिर उसकी औरत, जो अपना घर बसाने के लिये लालायित है, बाहर काम करने नहीं जायेगी गरीब अपने बच्चे को भी काम पर नहीं भेजेगा क्योंकि वह भी औरों की तरह अपने बच्चों का भविष्य बनाना चाहेगा, उनको पढ़ाने भेजेगा। वह अपने बूढ़े पिता और माँ को भी तो उनके आखिरी दिनों में कुछ आराम देना चाहेगा। इसलिये वे भी काम पर नहीं जायेंगे। इस तरह इन परिवारों में से मजदूरी के बाजार में तीन की जगह एक व्यक्ति ही पहुँचेगा।

4.23 हमारे देश में असंगठित क्षेत्र में लगभग 70 प्रतिशत लोग काम करते हैं। अगर उन सबको अपनी हकदारी मिल जाय तो मजदूर कम और काम अधिक दिखाई देगा। उस हालत में बेरोजगारी अपने आप खतम हो जायेगी। इस हालत में फिर मजदूरी बाजार में रोजगार की तलाश में आने वाले लोगों की कमी होने से मजदूरी की दरें और भी ऊँची होती जाएँगी। इस तरह एक नया संतुलन बनेगा जिसमें एक ओर तो मजदूरों को उनकी पूरी हकदारी मिल जायेगी दूसरी ओर वे लोग जो काम के बिना हकदारी बनाए बैठे हैं उनको हकदारी के लिए काम करना पड़ेगा ।

कम मजदूरी, बेरोजगारी और जैविक शोषण

4.24 इस तरह हमारे देश में जिसे बेरोजगारी कहा जाता है, वह बेरोजगारी है ही नहीं। बेरोजगारी कम मजदूरी देने का एक बहाना है और आम मेहनतकश लोगों के खिलाफ एक गहरी साजिश का फल है। उसका एकमात्र यही उद्देश्य है साधनहीन और असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को सिर्फ इतनी हकदारी देकर जिससे कि वे किसी तरह तब तक जिंदा बने रहें जब तक वे कम से कम लेकर अधिक से अधिक काम करते रहें। सच तो यह है कि इस व्यवस्था में आम मेहनतकश का जैविक शोषण हो रहा है। खेद है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था के इस जघन्य पहलू की ओर कोई खास तवज्जह तक नहीं दी गई है।

4.25 प्राणी की उर्जा सबसे अधिक छोटी उम्र में होती है। इस जैविक उर्जा का सही स्तेमाल प्राणी के परिपक्व अवस्था तक पहुँचने के पहले उसके चहुमुखी विकास के लिये होना चाहिये। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो जाने के बाद ही व्यक्ति की उर्जा को दूसरे कामों में लगाना उचित होगा। इसीलिए मानव समाज में विकास के साथ कम उम्र में काम का प्रचलन कम होता गया है और जीवन के लिये व्यक्ति की प्रारम्भिक तैयारी का समय बढ़ता गया है। आज की हालत में 20-25 साल की उम्र तक पढ़ने लिखने और तैयारी का समय है और उसके बाद ही व्यक्ति का किसी व्यवसाय में लगना उचित माना जाता है।

4.26 परन्तु आज भी हमारे देश में गरीब लोगों में काम की शुरुआत बहुत छोटी उम्र में ही हो जाती है। जब तक व्यक्ति किशोरावस्था में पहुँचता है, वह चुक जाता है। व्यवस्था को इस व्यक्ति से केवल इतना मतलब रहता है कि जब तक वह रहे कम से कम लेकर अधिक से अधिक काम करे और आखिर में वह अपना "एवजीदार" दे जाय।

4.27 इसी तरह असंगठित क्षेत्र में महिलाओं के काम करने की स्थिति भी संगठित क्षेत्र से बिल्कुल अलग है। असंगठित क्षेत्र में महिलाओं को मजदूरी में इसलिये प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि वे अधिक मेहनत से काम करती हैं और उनका कम मजदूरी से भी काम चल सकता है। हमारी उच्च वर्गीय व्यवस्था के लोग इस तरह के रोजगार को भी महिलाओं की अर्थव्यवस्था में भागीदार की संज्ञा देकर विकास का लक्षण मान लेते हैं। सच तो यह है कि असंगठित क्षेत्र में महिलाओं और बच्चों को काम पर लगाना जैविक शोषण का एक घृणित रूप है। व्यवस्था जानबूझकर कम मजदूरी देकर बेरोजगारी के बहाने महिलाओं और बच्चों के इस निंदनीय शोषण को तर्कपूर्ण ही नहीं वरन् वांछनीय तक कहने में नहीं हिचकती।

मजदूरी और किसान

4.28 अब दूसरा सवाल है खेतिहर मजदूरों की मजदूरी का। यह कहा जा सकता है कि असंगठित क्षेत्र में कुछ कामों के लिये तो मजदूरी तुरन्त बढ़ाई जा सकती है जैसे कि उन ठेकेदारों के मजदूरों की जो सरकारी ठेके लेते हैं। एक तरह से ये काम भी संगठित क्षेत्र के ही हैं। **इन कामों में ठेकेदारों को बीच में लाकर मजदूर, जिन्हें संगठित क्षेत्र में होना चाहिये था, असंगठित क्षेत्र में ढकेल दिया जाता है।** ऐसी व्यवस्था की जा सकती है जिससे ठेकेदारी के मजदूरों को, जिनको अभी हकदारी नहीं मिल रही है, वह मिलने लगे।

4.29 परन्तु खेती के मामले में तो किसान को आज की न्यूनतम मजदूरी देना भी कठिन है। सही तर्क को जानबूझ कर उलट कर पेश किया जाता है। किसान की आमदनी उसकी खेती की पैदावार के भाव से जुड़ी है। हमारे देश में खेती की मुख्य पैदावार अनाज है। सभी तरह के अनाजों के भाव

सरकार तय करती है। खेती की पैदावार के भाव को तय करने में खेती में दीगर लागतों के साथ मेहनत-मजदूरी भी शामिल की जाती है। **सच तो यह है कि अनाजों के भाव तय करने में सबसे अधिक हिस्सा मजदूरी का ही होता है। इसलिए अनाज का भाव तय करने में खेतिहर मजदूरों की मजदूरी की दर का ही सबसे अधिक असर होता है। यहीं पर एक बड़ा पेच है।** जिसे समझना जरूरी है।

4.30 खेतिहर मजदूरों की मजदूरी सरकार तय करती है। **चूँकि खेतिहर मजदूर को अकुशल मजदूर माना जाता है। इसलिये उसकी हकदारी सबसे कम रखी जाती है। जाहिर है कि जब ऐसी नाजायज हकदारी के हिसाब से अनाज का भाव तय होगा तो उसका भाव भी कम होगा। दोनों का रिश्ता साफ है - कम मजदूरी सस्ता अनाज। किसान को जब अपनी फसल का भाव कम मिलता है तो वह भी मजबूर है और खेतिहर मजदूर को उसी हिसाब से कम मजदूरी देता है।**

4.31 यहीं पर अपने हाथ से खेती करने वाले किसान और उसकी ओर से बात करने वाले यह भूल जाते हैं कि आखिर हमारे देश की खेती में मजदूरी का सबसे अधिक हिस्सा तो खुद किसान और उसके परिवार का होता है। उसकी इस मेहनत की हकदारी उसे फसल के दामों से ही मिलती है। और उसकी फसल में लगी मेहनत की हकदारी खेतिहर मजदूर की हकदारी के मुताबिक बनती है जिसे सभी लोग अकुशल मानते हैं और जिसके लिये न्यूनतम मजदूरी जायज मानी जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि खेती करने वाले सभी लोगों की मेहनत की एक ही हकदारी होती है, उसकी दर एक ही है चाहे वह किसान हो या मजदूर हो। और उस अकुशल मेहनत करने वाले को 10 रु० और 20 रु० रोज से ज्यादा की हकदारी नहीं मिल सकती। इसीलिए खेती की फसलों के भाव के मुताबिक जब आंके जाते हैं तो बहुत नीचे होते हैं। किसान इस पेंच को न समझ, उसे भाग्य मान लेता है और खेतिहर मजदूर, कम मजदूरी को किसान की मजबूरी समझ बैठता है।

4.32 सच तो यह है कि अभी अनाजों के भाव तय करने में सरकार मजदूरी का हिसाब मजदूरी की न्यूनतम दरों से भी नहीं लगती है। चूँकि कई इलाकों में खेतिहर मजदूरी की दरें उससे भी बहुत कम है इसलिये न्यूनतम मजदूरी से कम दरों के आधार पर अनाज का मूल्य तय करने में कोई गैर इन्साफी नहीं लगती। इसलिये हाथ से खेती करने वाले साधारण किसान को तो न्यूनतम मजदूरी का भी पड़ता नहीं पड़ता है। इस हालत में खेतिहर मजदूर को भी न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी देना उसे वाजिब लगने लगता है।

4.33 इस तरह यह साफ है कि खेती की फसलों का भाव इसलिए कम होता है कि उसको पैदा करने वाले मजदूर-किसान की मेहनत की हकदारी इतनी कम आंकी जाती है। अगर इन कामगारों को उनकी हकदारी मिल जाय तो फसलों के भाव अपने आप उभर उठेंगे और फिर किसान के लिये मजदूर की पूरी हकदारी देना संभव हो जायेगा। इस बंटवारे में संगठित क्षेत्र के लोगों की हकदारी पर आंच जरूर आयेगी। परन्तु अगर अन्याय खतम होना है और न्याय होना है तो उनका पहला वार तो संगठित क्षेत्र पर ही पड़ेगा। आखिर अन्याय तो उसी समय शुरू हुआ जब खेतिहर मजदूर को अकुशल मजदूर का दर्जा दिया गया और कारखाने के मजदूरों को, यहाँ तक कि दफ्तर के छोटे बड़े सभी कर्मचारियों को भी, उससे कहीं उभर रख दिया गया। अगर खेती की मजदूरी और किसानी को कुशल माना गया है, और उसे सबसे अधिक कुशल काम न मानने का कोई कारण नहीं है, तो उनकी हकदारी भी संगठित क्षेत्र में काम करने वालों के बराबर या अधिक हो जाएगी। अगर इस तरह इंसाफ की बात होती है तो संगठित क्षेत्र के जिन लोगों ने व्यवस्था में अपनी स्थिति का फायदा उठाकर अपनी हकदारी अनाप शनाप बना रखी है और देश के कुल उत्पादन के एक बड़े हिस्से को नाजायज तौर पर हथिया लिए हैं उनकी हकदारी में कमी आएँगी और उन लोगों का देश के कुल उत्पादन में हिस्सा भी कम हो जाएगा। इसलिये संगठित क्षेत्र के लोग इस बराबरी के दावे का सभी तरह से विरोध करेंगे पर इंसाफ की लड़ाई में विरोध तो होना ही है।

अनुसूचित जातियों के साथ इन्साफ का रास्ता

4.34 जब तक खेतिहर मजदूर को उसकी जायज हकदारी नहीं मिलती तब तक गरीब, विशेषकर अनुसूचित जातियों के लोगों को जिनमें से अधिकांश लोग खेतिहर मजदूर हैं, न्याय नहीं मिल सकता। **न्याय की पहली सीढ़ी है खेतिहर मजदूर के कौशल को स्वीकार कर उसको कुशल मजदूर का दर्जा देना। इसके अलावा संगठित क्षेत्र में जो सिद्धांत मजदूरी के लिये मान्य है, उसके अनुसार खेतिहर मजदूर की मजदूरी की दर इतनी हो जिससे कि उसकी औरत और बच्चों को काम करने के लिए मजबूरन बाहर न जाना पड़े। वह भी एक प्रतिष्ठित नागरिक की तरह अपनी कमाई से पूरे परिवार का भरण-पोषण कर सके।**

4.35 जो बात खेतिहर मजदूरों के लिये है वही कमोवेश असंगठित क्षेत्र के दीगर मजदूरों के लिये भी है हालांकि खेतिहर मजदूरों की हालत सबसे गई गुजरी है। असंगठित क्षेत्र के दूसरे मजदूरों में भी अनुसूचित जातियों के लोग बड़ी तादाद में हैं। उनकी हालत में सुधार तभी हो सकता है जब उनकी मेहनत की हकदारी सही तरह से आंकी जाय। **आज की हालत में, जब हरिजनों के पास अपनी मेहनत और अपने कौशल के अलावा और कुछ है ही नहीं, उनकी इंसाफ की लड़ाई मेहनत की हकदारी की लड़ाई है।**

व्यवस्था का गलत रुख

4.36 साधारण मजदूरों के मामले में हमारी व्यवस्था कितनी बेरहम हो सकती है इसके कई उदाहरण मैंने पिछली रिपोर्ट में दिये थे। उसका सबसे खराब उदाहरण गुजरात में गन्ना कटाई करने वाले और महाराष्ट्र में वन श्रमिकों के थे। गन्ना कटाई वाले "कोयता" बंधक मजदूर हैं। परन्तु राज्य सरकार इस खेदजनक तथ्य को स्वीकार कर उनके लिये कुछ कार्रवाई करने की बजाय उन्हें बंधुआ मजदूर मानने से इंकार करती रही है।

4.37 महाराष्ट्र के वन श्रमिकों के मामले में राज्य सरकार ने कानून के द्वारा जो न्यूनतम मजदूरी तय की थी उसे वन विभाग ने जानबूझ कर माना नहीं और उन्हें लगभग आधी मजदूरी देते रहने का फैसला किया था। कानून का यह खुल्लमखुल्ला उल्लंघन दो साल तक चलता रहा। सबसे खेद की बात तो यह है कि जब मैंने संविधान के अंतर्गत अपनी जिम्मेदारी का हवाला देते हुए राज्य सरकार के द्वारा संविधानिक जिम्मेदारी न निभाने और वन श्रमिकों, जिनमें से अधिकांश आदिवासी हैं, के हकों की रक्षा न करने की ओर ध्यान खींचा तब भी किसी तरह की कोई कार्रवाई नहीं हुई और उस संविधानिक लेखे को भी नजरअंदाज कर दिया गया। आज भी लाखों मजदूरों का दो साल का बकाया जो सरकार के उम्मर आता है जिसकी अदायगी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

4.38 यहाँ पर असली सवाल है गरीबों के प्रति व्यवस्था के सही रुख का। मैंने पिछली रिपोर्ट में कहा था क्या कोई सरकार संगठित क्षेत्र के एक भी मजदूर का एक भी पैसा एक भी दिन के लिए न देने का सोच सकती है ? एक और हर राजनीतिक दल संगठित क्षेत्र के लोगों के लिए एक से एक बढ़कर आशाइशें देने का वायदा कर रहा है। उधर दूसरी ओर असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के मामलों में नीति स्तर पर जो घोर अन्याय हो रहा है, संविधान का उल्लंघन हो रहा है उसका कहीं जिक्र तक नहीं है। यही नहीं इन अन्यायी कानूनों के द्वारा जो मजदूरी तय होती है, जो उनकी हकदारी से कहीं कम है, वह भी पूरी-पूरी मिल जाय इसके लिये भी अधिक से अधिक कागजी कार्रवाई हो जाती है, कोई ठोस कदम नहीं। यहाँ तक कि जहाँ सरकार खुद कार्रवाई कर सकती है, करना

चाहिये, कोई न कोई हीलाहवाला देकर अपनी जिम्मेदारी से बरी हो जाती है। **अभी के हालात से ऐसा नहीं लगता कि व्यवस्था असंगठित क्षेत्र के लोगों को न्याय दे सकेगी।**

4.39 आम आदमी असंगठित क्षेत्र में काम करता है। वहीं पर गरीबी है। अधिकतर हरिजन और कुछ आदिवासी हैं। इन्हीं गरीबों की श्रेणी में आते हैं। इसलिये उनका हित गरीबों के हित के साथ जुड़ा हुआ है। अगर आम आदमी को सही मायने में न्याय देने की बात उठाई गई तो सबसे पहले खेतिहर मजदूर की मजदूरी सही तौर पर तय करनी होगी। उसे संगठित क्षेत्र के कुशल मजदूर के बराबर करना होगा अगर खेतिहर मजदूर की हकदारी सही हो जाती है तो किसान को उसकी मेहनत का फल सही मिले, इसके लिये उसकी फसल के दाम बढ़ाने पड़ेंगे। इसी तरह असंगठित क्षेत्र के जितने कारीगर हैं उनको भी इंसाफ देना होगा। साफ है अगर ऐसा होता है तो संगठित क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र के बीच एक नया रिश्ता बनाना पड़ेगा। दुर्भाग्य से आज की पूरी व्यवस्था उनके बीच इन अन्यायी रिश्तों पर ही टिकी हुई है। इन अन्यायी रिश्तों को बदले बिना आम आदमी को न्याय नहीं मिल सकता है।

4.40 इस तरह आज बुनियादी सवाल यह है कि क्या इस अन्यायी व्यवस्था को बनाए रखा जाना चाहिए या आम मेहनतकश को न्याय मिलना चाहिये। हमारा संविधान इस मामले में साफ है। देश में जहाँ भी जिस रूप में भी अन्याय हो वह खतम होना है। इसके साथ ही कमजोर वर्गों के साथ न्याय हो, उन्हें संरक्षण मिले यह राज्य की जिम्मेदारी है। क्या राज्य खेतिहर मजदूरों और असंगठित क्षेत्र के दूसरे मजदूरों की हकदारी सही तौर से तय करेगा और वह हकदारी उन्हें मिल सकेगी यह सुनिश्चित करेगा। यही आज के सबसे बड़े सवाल है।

आम आदमी का अधिकार

4.41 **अपनी मेहनत की सही हकदारी आम आदमी की जिंदगी का अधिकार है। सरकार इस संवैधानिक दायित्व के निभाने के लिए सही व्यवस्था नहीं कर पा रही है। इसलिये मजदूरों को अधिकार है कि वे जहाँ भी हो संविधान का पालन करते हुए अपने संवैधानिक अधिकारों की रक्षा करें। इसी हकदारी के लिए मजदूर और किसान, हरिजन और आदिवासी जगह-जगह संघर्ष कर रहे हैं। इसमें निहित स्वार्थों से टकराहट हो रही है।** इन संघर्षों में व्यवस्था से उन्हें पर्याप्त समर्थन नहीं मिल रहा है। इसके उलटे अक्सर निहित स्वार्थ किसी न किसी तरह व्यवस्था का समर्थन हासिल कर लेते हैं। सरकार और वे सभी संस्थाएँ/अधिकारी जिन्हें संविधान ने कमजोर वर्गों के संरक्षण और कल्याण की जिम्मेदारियाँ सौंपी हैं, उनके लिये यह जरूरी है कि वे असंगठित क्षेत्र के आम मजदूरों की हकदारी के मामले में बुनियादी तौर पर जो संविधान की अवहेलना आज हो रही है उस पर गंभीरता से विचार करेंगे। वे संवैधानिक अधिकारों की लड़ाई में संविधान को तोड़ने वाले की बजाय जिन लोगों की रक्षा की जिम्मेदारी संविधान ने उन्हें सौंपी है उनका साथ दें और उनके हितों की रक्षा करें।

5

उत्पादन के साधनों पर अधिकार - 1

कानून, बंदोबस्त और दखल

हमारा देश कृषि-प्रधान है। देश में उत्पादन का मुख्य साधन खेती की जमीन रही है। इसलिए समाज के विभिन्न वर्गों में जमीन पर अधिकार को लेकर संघर्ष भी चलते रहे हैं। परन्तु आजादी के बाद विकास का नया दौर शुरू हुआ है। इस दौर में उद्योगों और तरह-तरह के दूसरे व्यवसायों की तरक्की हुई है और खेती की बजाय अब उनका स्थान ऊँचा होता जा रहा है। इन नये धंधों में उत्पादन के साधन भी तरह-तरह के हैं। जिस तरह खेती के मामले में अहम सवाल जमीन पर हकदारी का है उसी तरह इन धंधों में उत्पादन के साधनों पर काम करने वाले के अधिकार के सवाल भी उठ रहे हैं।

5.2 संगठित क्षेत्र में साधनों पर अधिकार का सवाल महत्वपूर्ण है परन्तु उसकी अभी खास अहमियत नहीं है क्योंकि उस क्षेत्र में काम करने वालों की मेहनत की हकदारी देश की आम हालत को देखते हुए बहुत ज्यादा है। परन्तु असंगठित क्षेत्र में इस मामले में स्थिति बिलकुल अलग है। असंगठित क्षेत्र में काम करने वालों की एक तो मजदूरी की दरें वैसे ही बहुत कम हैं। इसलिए उत्पादन के साधनों पर मजदूरों का अधिकार न होने से उन पर दोहरी मार पड़ती है। इसके बारे में मैं पिछली रिपोर्ट में विस्तार से चर्चा कर चुका हूँ और कई सिफारिशें भी की थीं। उनको यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं है। उन सिफारिशों का सारांश यही था कि उत्पादन के साधनों पर अधिकार मजदूरो का होना चाहिये और सरकार को इसके लिए जरूरी कार्रवाई करनी चाहिए। यहाँ पर मैं खासतौर से खेती की जमीन के बारे में फिर से चर्चा करूँगा क्योंकि उसी के मामले में सबसे ज्यादा अन्याय हो रहा है और अधिकतर गरीबों, विशेषकर अनुसूचित जाति के लोगों का भाग्य जमीन पर उनके अधिकार से ही बंधा हुआ है।

जमीन का सम्पत्ति बन जाना

5.3 खेती की जमीन तथा संसाधनों पर से हमारे देश में खेती करने वाले और संसाधनों के सहारे जीने वालों की हकदारी का कैसे खातमा हुआ इसका कुछ जिक्र पहले आ चुका है। हमारे देश की परंपरा में जमीन सहित प्राकृतिक संसाधन लोगों के लिये उनकी जिंदगी चलाने के लिये साधन माने जाते थे, सम्पत्ति नहीं। इस मामले में अंग्रेजों के आने के बाद एक बुनियादी तब्दीली हुई। जमींदारी इलाकों में ही नहीं रैयतवारी व्यवस्था में भी खेती की जमीन पर लोगों का निजी हक कायम किया गया। इस तरह जमीन सम्पत्ति बन गई और उसका नया मालिक अपनी इच्छा से उसे किसी को किराये पर दे सकता था, बंधक रख सकता था या बेच भी सकता था। इस बदलती हालत में जो लोग अपने हक कायम नहीं कर पाये, वे नये मालिकों के काश्तकार या केवल खेतिहर मजदूर बनकर रह गए। इस तरह खेती करने वालों का खेती की जमीन से अपनी आजीविका चलाने का अधिकार खतम हो गया। वह जमीन के मालिक का मातहत हो गया, उसका जमीन से सीधा नाता टूट गया।

5.4 आजादी के बाद जागीरदारी, जमींदारी और दूसरी तरह के बिचौलिये कानून से खत्म कर दिये गये और उसूलन खेती करने वाले का जमीन पर हक मान लिया गया। परन्तु बहुत से मामलों में कानून का ठीक से पालन नहीं हुआ। इसलिए बहुत सी खेती की जमीन ऐसे लोगों के पास रह गई जो खेती नहीं करते हैं। दूसरी ओर अधिकांश खेती करने वाले लोग ऐसे हैं जिनका उस जमीन पर अधिकार नहीं है। ये जमीन वाले लोग अब अपनी जमीनें सीधे-सीधे लगान, ठेकेदारी या बटाई पर देते हैं अथवा कहीं-कहीं खुद मजदूर रख कर खेती कराते हैं। बहुत से खेतिहर मजदूर बंधुआ हैं। कहीं-कहीं ट्रैक्टर और दूसरी मशीनें आ जाने से खेती के लिए मजदूरों की भी जरूरत कम हो गई है। इधर कुछ समय से पेड़ों की खेती को भी बढ़ावा मिला है, जिसमें मजदूरों की कोई खास जरूरत ही नहीं होती है।

जमीन पर जोतने वाले की हकदारी-बुनियादी सवाल

5.5 इस तरह सबसे अहम सवाल है जमीन और उसको जोतने वाले के बीच का रिश्ता क्या हो? जहाँ जमीन समाज की है, जैसा कि अभी भी कई आदिवासी इलाकों में है, यह रिश्ता साफ है। हर आदमी को गाँव की जमीन जोतने और उससे अपनी रोजी-रोटी चलाने का हक है। अगर किसी गाँव में आबादी बढ़ जाती है तो पहले खेती की जमीन बढ़ाने की कोशिश की जाती है। अगर वह नहीं हो पाता है तो सभी को कम जमीन से ही गुजारा करना पड़ता है। जब से जमीन पर समाज के अधिकार को अंग्रेजों से खत्म कर दिया तभी से उस पर मिल्कियत सरकार की हो गई। आदिवासी इलाकों में इसका जमकर विरोध हुआ और जगह-जगह विद्रोह भी हुए। उनकी इस खिलाफत को देखते हुए कुछ इलाकों में उनकी पुरानी परंपरा चालू रहने दी गई और उसे कानून में भी मान लिया गया। उदाहरण के लिए उत्तर पूर्व के लगभग सभी आदिवासी इलाकों में और मध्य क्षेत्र में भी कहीं-कहीं जैसे बिहार के सिंहभूम जिले में कोल्हान विद्रोह के बाद जमीन पर सामाजिक अधिकार की परंपरागत व्यवस्था को मान्य किया गया।

5.6 जमीन की मिल्कियत के मामले में **ताना भगतों** का आंदोलन उल्लेखनीय है। इन लोगों का एक बड़ा ही सीधा-सादा सा सवाल था। उनका कहना था कि **"जमीन भगवान की है, हम भगवान के बच्चे हैं और हम भगवान की दी हुई जमीन से गुजारा करते हैं। इसलिए जमीन और हमारे बीच सरकार कहाँ से आ गई ?" ताना भगतों** का आंदोलन गांधी जी के असहयोग आंदोलन के पहले से चल रहा था। इन दोनों आंदोलनों की भावना एक ही जैसी थी। इसलिए ताना भगत गांधी जी के आंदोलन में शामिल हो गये। आजादी के बाद जब यह सवाल आया कि क्या नई सरकार जमीन पर कर लगा सकती है तो **ताना भगतों** ने फिर वही बात दुहराई। **"सरकार सरकार है। "** उनकी बात मान कर बिहार सरकार ने **ताना भगतों** के लिए एक अलग कानून बनाया जिसमें उनकी जमीन पर कर नहीं लगाने की बात है।इस तरह सरकार ने तानाभगतों के मामले में जमीन और उसको जोतने वाले के बीच सीधा संबंध मान लिया।

5.7 अंग्रेजों के जमाने से जमीन पर निजी अधिकार मानने की जो बात शुरू हुई उसे आज भी माना जा रहा है। इस हालत में सवाल यह है कि क्या हमारी व्यवस्था उस आदमी का, जो जमीन जोत रहा है, उस जमीन पर कोई हक मानती है या नहीं। इस सवाल के दो पहलू हैं एक कानूनी और दूसरा मौके पर उसके अमल का। पहले मैं मौके पर क्या होता है इसकी बात करूँगा।

लेखी रिकार्ड - लोगों की लाचारी

5.8 जमीन पर हकदारी के बारे में पहली बात तो यह है कि आज की व्यवस्था में हर बात के लिये किसी न किसी तरह की लिखा पढ़ी की जरूरत है। जमीन के अधिकारों के बारे में भी कानून

के मुताबिक खसरा-खतौनी जैसे कुछ कागजात रखे जाते हैं जिनमें आदमी का नाम दर्ज होना जरूरी है। इस हालत में अगर कोई आदमी खेती कर रहा है तो उसके हक के बारे में पहला सवाल यही आता है कि क्या उसका नाम सरकारी कागजों में दर्ज है ? यह बात कहने में बड़ी सरल लगती है परन्तु जमीन पर अधिकार के मामले में इस कागजी कार्रवाई के बहुत ही बुरे नतीजे हुए हैं। शुरू में जब गाँव के लोग अपनी व्यवस्था खुद करते थे, उस समय कौन सी जमीन कौन जोत रहा है इसको किसी कागज से साबित करने की जरूरत नहीं थी। कौन सी जमीन कौन जोत रहा है यह गाँव में सबको मालूम होता है। अगर कोई आदमी जोर जबरदस्ती करके किसी की जमीन पर अधिकार जमा भी ले तो भी वह बात किसी से छिपी नहीं रहती थी। दूसरे शब्दों में, खेती की जमीन पर कब्जा और उससे जुड़े हुए व्यक्ति के हकों की बात बिल्कुल साफ होती थी, उसमें कोई हेरफेर की गुंजाइश नहीं थी। इस बाबत् सभी मसलों का फैसला भी गाँव में ही गाँव के लोग अपनी समझ के मुताबिक कर लेते थे। परन्तु जब से "खेत कौन जोत रहा है ?" और "खेत का मालिक कौन है ?" इसका प्रमाण पटवारी का कागज हो गया और इन मामलों में आखिरी फैसला अदालतों में होने लगा तो गाँव की व्यवस्था कमजोर हो गई और गाँव का आदमी पूरी तरह से दूसरों पर अधीन हो गया। इसका अंजाम बहुत बुरा हुआ है।

5.9 जमीन पर अधिकार के मामले में सबसे ज्यादा गड़बड़ी आदिवासी इलाकों में हुई है, हो रही है। पहले तो कई इलाकों में अभी तक कोई कागजात ही नहीं हैं, इसलिए गाँव में किसकी जमीन कहाँ पर है यह कागज पर नहीं है। जब इन इलाकों में बाहर के लोग नहीं पहुँचे थे और गाँव के लोग पहले की तरह अपना काम चला रहे थे तब तक कागज पर किसी का नाम है या नहीं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। सभी बातें लोगों को मालूम थीं और उसी के मुताबिक उनका काम चलता था। परन्तु अब हालात तेजी से बदल रहे हैं। एक ओर तो बाहर के लोग आ गए है। दूसरे जमीन की मिल्कियत सरकारी लोग तय करते हैं। इस हालात में लोगों के सामने एक भारी समस्या खड़ी हो गई है जिस पर गहराई से विचार करना होगा।

5.10 आदिवासी इलाकों में सबसे गंभीर बात यह है कि कानून के ऐसे बहुत से दांव पेंच हैं जो लोगों की समझ के बाहर हैं। आज के कानून में जमीन समाज की नहीं है, सरकारी है। इसलिये अगर किसी जमीन पर किसी का नाम दर्ज नहीं है तो वह सरकारी मान ली जाती है। सरकार उस जमीन का जो चाहे सो कर सकती है। जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे कि इस कानूनी पेंच की सबसे बड़ी मुसीबत जंगल में रहने वाले लोगों को झेलनी पड़ रही है। उधर कागज पर नाम चढ़वाने से भी जमीन पर मिल्कियत हो जाती है। इस बात का बाहरी लोगों ने बुरी तरह से फायदा उठाया। कई इलाकों में उन्होंने मनमाने तरीकों से आदिवासियों की जमीनों पर अपना कब्जा जमा लिया। इसके लिए उन्होंने कागजात भी तैयार करवा लिये हैं। किसी ने सरकार से पट्टा ले लिया है, किसी ने अदिवासी से कागज पर अंगूठा करवा लिया और किसी ने झूठी सच्ची रजिस्ट्रियाँ करवा लीं। इस तरह किसी न किसी बहाने आदिवासी लोगों की बहुत सी जमीन उनके हाथों से निकल गई है। आज कागज उनके खिलाफ है। इसलिये वे लाचार हैं, कुछ कर भी नहीं सकते।

.11 कई आदिवासी इलाकों में बहुत पहले कुछ कागजात तैयार किए गए थे। उस समय बहुत जगह नक्शे नज़री तौर पर ही बना लिये गये थे। इन नक्शों पर लोगों की जमीनें अंदाज से आंकी गई थी। एक और बात भी है। ये सभी कागजात बहुत पुराने हैं। कागज और मौका मेल नहीं खाता है। इस तरह उन इलाकों में भी, जहाँ कुछ कागज़ात बने थे, हालात कोई खास अच्छे नहीं हैं। बाहरी लोग, सरकारी प्रतिष्ठान और यहाँ तक कि सरकार ने भी उनकी कागज की कमजोरी का फायदा

उठाया है। उन्होंने उल्टे-सीधे कागज तैयार करवा कर न जाने कितने आदिवासियों की जमीन पर कब्जा कर लिया है। इस इलाकों में भी आम आदिवासी भारी परेशानी में फंसा हुआ है।

सोनभद्र की करुण कहानी

5.12 वैसे तो जमीन की मुसीबत आदिवासी इलाकों में सभी जगह है, परन्तु उत्तरप्रदेश के सोनभद्र जिले में हालत सबसे ज्यादा खराब है। आजादी के बाद यहाँ के लोगों ने परेशान होकर कई बार आंदोलन किया। सरकार भी हालत सुधारने के लिये कार्रवाई शुरू करती हैं पर कोई नतीजा नहीं निकल पाता। इस समय भी इस इलाके में घोर असंतोष है और एक आंदोलन चल रहा है। इसलिये यहाँ की हालत पर खासतौर पर चर्चा करूँगा।

राज्य की चूक और लोगों का मरण

5.13 आजादी के पहले यह इलाका आदिवासी इलाका माना जाता था और यहाँ की बहुत सी जातियाँ जन जातियों में आती थीं। इस इलाके में कई तरह का प्रशासन था - कुछ जमींदारियाँ थीं, कुछ हिस्से सरकार की सीधी निगरानी में भी थे। आजादी के बाद यहाँ के लोगों को बिना किसी खास कारण, शायद नासमझी में, अनुसूचित जनजाति की बजाय अनुसूचित जाति घोषित किया गया। इन्हीं जातियों को सीमा पार मध्यप्रदेश और बिहार के इलाकों में अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है। इसका पहला बुरा असर तो यह हुआ कि ये लोग संविधान के संरक्षण से छूट गये।

5.14 इस इलाके में जमीन के कागजातों के बारे में बड़ी खराब हालत थी। बहुत जगह तो जमीन के कागजात तैयार ही नहीं हुए थे। जहाँ कागजात तैयार हुए भी थे वहाँ नब्बे नजरी तौर पर अंदाजिया ही थे। जब तक यह इलाका अलग-थलग था, कोई जाता आता नहीं था तब तक लोगों को इसकी कोई परेशानी नहीं थी। परन्तु संयोग यह है कि उत्तरप्रदेश जैसे बड़े राज्य में यह एक ऐसा छोटा सा इलाका है जो पानी, जंगल और खनिज सभी तरह से बड़ा धनी है। इसलिए जब विकास का दौर शुरू हुआ तो यहाँ पर तरह-तरह की परियोजनाएँ चालू की गईं। इनमें रिहंद का बांध और ताप बिजलीघर मशहूर है। इन परियोजनाओं के बारे में मैं पिछली रिपोर्ट में जिक्र कर चुका हूँ। उनसे उत्पन्न हुई विस्थापन की समस्या की बात हम आगे करेंगे।

लूटी लूट का दौर

5.15 इस नये दौर में पहली बात तो यह हुई कि तरह-तरह के कामों के लिए जमीन की जरूरत पड़ी। इस इलाके में जमीन पर लोगों के अधिकार के कागज या तो थे ही नहीं या आधे अधूरे थे। इसलिये कागजात न होने के कारण या उन पर उनका नाम न होने के कारण बहुत से लोगों को अपनी जमीन से हाथ धोना पड़ा। उधर नई परियोजनाओं के बनने से बाहर से आने वाले लोगों का रेला भी चालू हो गया। उन लोगों ने जब यहाँ के हालात देखे तो उन्होंने भी सोचा क्यों न बहती गंगा में हाथ धो लें। इन लोगों ने तरह-तरह के हथकंडों से लोगों की जमीनें हथिया लीं। आजादी के बाद इस इलाके में न जाने कितने बड़े-बड़े फार्म बन गए, बड़े-बड़े प्रतिष्ठान बन गए। और उन जमीनों के असली मालिक और उनको जोतने वालों का क्या हुआ, इसकी कहीं किसी को कोई खास चिंता नहीं हुई। शासन और प्रशासन विकास के कामों में मशगूल है।

व्यवस्थापन की मार

5.16 आजादी के तुरंत बाद से ही यहाँ के लोग जमीन और जंगल की परेशानी को जिला प्रशासन और राज्य सरकार के सामने रखते रहे हैं। यहाँ की हालत कितनी खराब है इसकी राज्य सरकार

को भी जानकारी है। इसीलिए सरकार ने जमीन के बन्दोबस्त की कार्रवाई सन् 1962 में शुरू की थी। परन्तु उसमें इतनी गड़बड़ियाँ हुई कि बाद में उसे बंद कर देना पड़ा। सरकार ने 1974 में एक बार फिर नये सिरे से बंदोबस्त शुरू किया। परन्तु इस कार्रवाई में भी कामयाबी नहीं मिली वरन् गड़बड़ी और भी बढ़ गई। दोनों बार नाकामयाबी का असली कारण एक ही था। यह पूरी कार्रवाई आदिवासी की समझ के बाहर थी। हर बात के फैसले में मौके पर क्या है उसकी बजाय कागज का लेख और झूठी-सच्ची गवाही ही चलती है। दूसरे, सब कार्रवाई गाँव से बाहर अदालतों में होती है। वहाँ की बात आदिवासी की समझ में नहीं आती थी और अच्छा वकील करना उसके बस की बात नहीं थी। ऐसी हालत में बाहरी लोग मनमाने ढंग से कागजों में हेरा-फेरी करवा के जो चाहे सो करवा लेते हैं। लोग सरकार के सामने इन धांधलियों की बात उठाते रहे परन्तु उसका कोई असर नहीं हुआ। आखिर में तंग आकर इन लोगों ने अदालत का दरवाजा खटखटाया। सर्वोच्च न्यायालय ने इस मामले की सुनवाई की और जमीन के बंदोबस्त को ठीक तरह से करने के लिए राज्य सरकार को हिदायतें दीं।

आदर्श व्यवस्था भी उलटी पड़ी

5.17 सर्वोच्च न्यायालय की हिदायतों में बंदोबस्त के लिए एक आदर्श ढाँचा कायम किया गया है। उसके मुताबिक इस काम के लिए एक उँचे अधिकारी के अधीन जरूरी अमला तैनात है। काम पूरा करने के लिए दो साल का समय दिया गया। आदिवासियों की नासमझी की हालत को देखते हुए उन्हें मुफ्त कानूनी सहायता और किसी भी मामले में उनके साथ नाइंसाफी न हो जाय, इसके लिये हर मामले में अपने आप उँची अदालत गौर करे, इसकी व्यवस्था की गई है। इस काम के लिए पांच जिला स्तर के न्यायिक अधिकारियों की तैनाती की गई है। और यह सब काम सही तरह चल रहा है इसको देखने के लिए उच्चतम न्यायालय की ओर से तीन आयुक्त बनाए गए हैं। ये लोग अपनी रिपोर्ट उच्चतम न्यायालय को सीधे भेजते थे।

5.18 इस तरह उच्चतम न्यायालय ने एक आदर्श ढाँचा बनाया। इससे अच्छा और कोई ढाँचा हो नहीं सकता। परन्तु यह आदर्श ढाँचा भी लोगों को उलटा पड़ा। इस मामले में पूरा खुलासा यहाँ नामुमकिन है और न जरूरी ही। इस बारे में इतना ही कहना काफी है कि इस इलाके का हर आदमी जो अभी तक बिना किसी परेशानी के अपना खेत जोत रहा था। इस कार्रवाई से कम से कम आधा दर्जन मामलों में उलझ गया है। अमीनों ने मौके पर पड़ताल करके लोगों के सामने पेंसिल से सही नाम लिखे परन्तु घर जाकर जब पक्के कागज बनाये तो उनमें जो चाहा सो दर्ज कर दिया। नजरी नक्शों और उनमें बड़े-बड़े खसरा नंबर होने से इस हेराफेरी में और भी सहूलियत हो गई। इसका नतीजा यह हुआ कि जिसका खेत अच्छा हैं उसके नाम बंजर, जिसके पास पहाड़ चट्टान थी उसके नाम पर बढ़िया जमीन और जिसने कभी गाँव देखा ही नहीं, उसके नाम पर जिसकी चाही उसकी जमीन चढ़ा दी गई या बढ़िया जंगल ही उसके नाम हो गया। उधर कहीं जंगल के इलाके में खेती और खेती की जमीन पर जंगल बता दिये गये।

5.19 सबसे अफसोस की बात तो यह हुई कि पिछले दो बंदोबस्तों में जो गड़बड़ियाँ की गई थीं, और जिनके खिलाफ लोगों की दरख्वास्त पर नये बंदोबस्त का हुकुम हुआ था वे जहाँ के तहाँ बन रहे। पहले तो कोई ऐसा कानून नहीं बना जिससे जिन लोगों ने पहले कानून का गलत फायदा उठाकर जमीन पर हक कायम कर लिया, उनका हक खतम हो जाए। दूसरे, उसे मौके पर भी इन कानूनी गलतियों को दुरुस्त करने के लिये भी कोई निर्देश नहीं जारी किए गए। मतलब यह कि इस नये

National Institute of Educational Planning and Administration
D-1915

बंदोबस्त में पहले की गड़बड़ियाँ तो जो थी सो हैं हीं, परन्तु उसके बाद अब न जाने कितनी नई गड़बड़ियाँ जुड़ गई हैं।

5.20 यही नहीं मुफ्त कानूनी सहायता इतनी बेमन और नेमी तौर पर दी जा रही है कि उसका लोगों को कोई फायदा नहीं हुआ। सभी मामलों में आम आदमी को समय और रुपया बर्बाद करना पड़ रहा है। उँची अदालत में अपने आप सुनवाई की व्यवस्था भी लोगों के लिये उलटी पड़ी है। एक तो जब सभी मामले उँची अदालत में जाते हैं तो फरीक को भी मजबूरन वहाँ की पेशी में जाना ही पड़ता है। दूसरे उँची अदालतों की कार्रवाई में मौके की हालत की बजाय कानूनी बारीकियाँ ज्यादा निकाली जाती हैं। उस हालत में जिसके पास पैसा है और जो पैरवी करवा सकता है उसी का पलड़ा भारी हो जाता है।

5.21 मतलब यह कि आज इस इलाके में हर आदमी चक्कर में पड़ा हुआ है। उसे नहीं मालूम कि उसकी जमीन उसके नाम है भी या नहीं। जिस जमीन को वह जोत रहा है उस पर उसका नाम चढ़ जाय इसके लिये उसे कितना खर्च लग जाएगा यह भी नहीं मालूम। इसलिये न जाने कितने लोगों को साहूकारों की शरण लेनी पड़ रही हैं। करे भी वह क्या, हर कदम, हर सांस पैसा माँगती है। कुछ स्वयंसेवी संस्थाएँ उसकी मदद कर रही हैं परन्तु उस तूफान में वे भी लाचार हैं। अगर ऐसा ही चलता रहा तो या तो उसकी जमीनें ताकतवर आदमी हड़प लेंगे और अगर जमीनें किसी तरह से बच भी गईं तो उस पर खर्चा-पानी इतना हो जाएगा कि वे साहूकार की हो जाएगी।

बुनियादी सवाल

5.22 पहले की तरह सोनभद्र के लोगों और कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं ने अपनी मुसीबतों को सरकार के सामने पेश करने की कोशिशें कीं, परन्तु उसका कोई नतीजा नहीं निकला। बंदोबस्त का पहिया उसी तरह से घूम रहा है, उसमें कोई बदलाव नहीं। इसलिये मजबूरन उन लोगों ने खुद मिलजुल कर इस मुसीबत का हल निकालने की सोची। वे अब इस नतीजे पर पहुँचे कि बंदोबस्त उनके जीने-मरने का सवाल है। दूसरे, यह भी साफ है कि आज जैसी कानूनी कार्रवाई से उनको न्याय नहीं मिल सकता। जब लोगों ने खुद सारी समस्याओं के बारे में गहराई से सोचा तो उन्हें यह भी अहसास हुआ कि **साधारण आदमी, सासतौर पर आदिवासी की सबसे बड़ी ताकत अपने गाँव में है वहाँकी सबबातें वह जानता है और हर मुसीबत का मिलकर सामना कर सकता है। लेकिन गाँव के बाहर वह बिल्कुल अनजान है, यही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। इसलिए वहाँ वह लाचार है और उसको दूसरों का सहारा ताकना पड़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि जब तक लोगों को अपने हक को मनवाने के लिए गाँव से बाहर जाना पड़ेगा तब तक उसकी मुसीबत खतम नहीं होगी। इसलिए इस मुसीबत को काटने का एक ही तरीका है कि वे सरकार से कहें कि उनकी जमीन की पूरी पूरी कार्रवाई उनके गाँव में ही की जाय, उसके लिए वे कहीं बाहर नहीं जाएँगे।**

5.23 वैसे तो जमीन के मामलों में यही उम्मीद की जाती हैं कि पूरी जाँच पड़ताल गाँव में की जाय और जहाँ तक हो फैसला भी वहीं किया जाय। परन्तु आमतौर पर इस उसूल पर अमल नहीं हो रहा है। फिर दूर-दराज के इलाकों में तो उसके अमल का कोई सवाल ही नहीं है। बड़े अधिकारी वहाँ जाने से कतराते हैं। वे सोचते हैं गाँव वालों को ही बुलवा लो, उन्हीं का तो काम है। किसी भी बहाने अपनी सुविधा के लिए पूरी कार्रवाई गाँव के बाहर ही बड़ी जगहों में की जाती है। इस तरह अधिकारी की सहूलियत के लिए हजारों लोग महीनों और सालों भागने-दौड़ने के लिए मजबूर हो जाते है। उनको इसकी परवाह तो क्या एहसास तक नहीं कि साधारण आदमी अपने गाँव से

बाहर निकल कर कितना लाचार हो जाता है। दूसरे लोग उसकी इस लाचारी का फायदा उठाते हैं। वे उसकी जमीनें किसी न किसी तरकीब से खुले आम अपने नाम करवा लेते हैं। उसके लिये उस सब लूट को टुकुर-टुकुर देखते रहने के अलावा कोई चारा ही नहीं बचता।

व्यवस्था की बदचलनी

5.24 इस व्यवस्थापन में खुद व्यवस्था की एक बड़ी कमजोरी, जिसकी सीधे सच्चे लोगों को भारी कीमत अदा करनी पड़ती है, खुलकर सामने आई। यह सभी जानते हैं कि दुर्गम आदिवासी इलाकों में आमतौर पर कोई भी सरकारी कर्मचारी काम करने के लिए जाने को तैयार नहीं होता है। और जो लोग वहाँ जाते हैं उनमे से अधिकांश गलत तरह के लोग होते हैं जो वहाँ के लोगों की सरलता का फायदा उठाते हैं, मनमानी करते हैं। मनमानी करने का सबसे बड़ा मौका बंदोबस्त के समय होता है जिसमें कर्मचारी की कलम से अनजान आदमी का सब कुछ छिन सकता है और उसकी मदद से चतुर चालाक न कुछ से एक बड़ी रियासत बना सकता है। इसलिये बंदोबस्त के कामकाज में अगर गलत अधिकारी पड़ जाय तो लोगों की क्या हालत होगी इसका अंदाज भी नहीं लगाया जा सकता है।

5.25 सोनभद्र में पहले दो बंदोबस्तों में धांधली का सबसे बड़ा कारण सरकारी तंत्र की बदचलनी का था। बड़े खेद की बात है कि उन दो हादसों के बाद भी राज्य सरकार ने कोई सबक नहीं लिया और तीसरी बार फिर से लोगों को उससे भी बड़ी मुसीबत में डाल दिया। बंदोबस्त में गड़बड़ी की संभावनाओं को देखते हुए साधारण तौर पर भी यह एहतियात बरता जाता है कि अच्छे चुने हुए कर्मचारी लगाए जाएं। इसके अलावा ऐसे कर्मचारियों की खास तौर पर नहीं लगाया जाता है जो रिटायर होने वालेहोते है।जिससे गलत काम करने से वे कुछ तो डरेंगे। सोनभद्र में इस सामान्य एहतियात को ही ताक पर ही नहीं रख दिया गया वरन् नियुक्तियाँ इन सिद्धांतों के बिलकुल उलटी की गईं। पहले तो उच्चतम न्यायालय के आदेश और सरकार के प्रयासों के बावजूद इस सुदूर क्षेत्र में जाने के लिये कोई तैयार ही नहीं हुआ। सरकार ने इस मामले में कड़ाई भी नहीं बरती। इसलिये पद बहुत समय तक खाली पड़े रहे। आखिर मे लाचारी में सरकार को अवकाश प्राप्त कर्मचारियों की नियुक्ति करनी पड़ी और बहुत से पद ऐसे लोगों से भरे गये। इस हालत में जिसका डर था वही हुआ - खुली लूट। राज्य में नई सरकार बनने (दिसम्बर 1989) के बाद सभी रिटायर लोगों की सेवाओं को समाप्त कर दिया गया है। परन्तु नई नियुक्तियाँ कब और कैसे होंगी किसी को नहीं मालूम। इस समय (मार्च 1990) बंदोबस्त का काम लगभग रुका पड़ा है।

लोगों की प्रतिक्रिया और अपने संकल्प

5.26 इस तरह सोनभद्र में एक ओर बंदोबस्त की कार्रवाई जैसे-तैसे चल रही है परन्तु दूसरी ओर लोगों ने कार्रवाई को एक नया मोड़ देने के लिये सरकार के सामने माँग पेश की है। **उनकी यह माँग कि उनकी जमीन के मामले में सभी फैसले गाँव में ही किये जाएँ पूरी तौर से वाजिब है।** इस माँग को पेश करते समय उन लोगों से यह एहसास किया कि इस कार्रवाई के पूरा करने में काफी वक्त लग सकता है। इसलिये उन्होंने यह भी तय किया कि जब तक सरकार इसके लिये तैयारी करे तब तक वे अपनी परंपरा के अनुसार अपने-अपने गांव में जंगल-जमीन के मामले में खुद इंतजाम करते रहेंगे। इस इलाके में गांव या बंदोबस्ती गांव बहुत बड़े होते हैं। एक-एक गांव में दस-बीस यहाँ तक कि पचास-पचास मजरे या बसाहतें हैं। समाज की इकाई गांव न होकर मजरा है। इसलिये इस इंतजाम के लिये उन्होंने मजरे को ही इकाई माना है। हर मजरे के लोग अपने

मजरे की सीमा के भीतर के पूरे ज़मीन-जंगल का इंतजाम करेंगे। जब तक नये तरीके से सरकारी कार्रवाई नहीं हो जाती तब तक जंगल-जमीन के इन्तजाम के उन्होंने तीन उसूल रखे हैं -

1। गांव में जो आदमी जहाँ खेती कर रहा है उसका कब्जा बना रहेगा।

2। ऐसे किसी भी आदमी को जो गांव में अभी खेती नहीं कर रहा है, किसी तरह के भी कागज, सरकारी या गैर-सरकारी के आधार पर जमीन पर कब्जा नहीं करने दिया जाएगा।

3। इसी तरह कागज के आधार पर किसी आदमी को भी जंगल नहीं काटने दिया जाएगा।

5.27 सोनभद्र के लोगों ने यह भी तय किया है कि जब तक सरकार की ओर से बन्दोबस्त नहीं हो जाता है तब तक के लिये वे ग्राम समाज की ओर से अपने-अपने मजरे के कागजात तैयार करेंगे। इसके लिये एक तो हर मजरे का नजरी नक्शा बनाया जाएगा जिसमें हर आदमी अभी कहाँ खेती कर रहा है इसको अंदाजिया दिखाया जाएगा। इसके साथ ही उनके खेतों का एक रिकार्ड भी बनाएँगे जिसमें उनकी चौहद्दी का ध्यान होगा जिससे कि उसके बारे में कोई शक-शुबह न रह जाय। उनका कहना है कि अगर सरकार सैकड़ों साल बिना नक्शों के या नजरी नक्शे से काम चला सकती है तो गांव के लोग कुछ दिनों तक तो उससे काम चला ही सकते हैं। आखिर गांव के लोगों की जानकारी में तो सभी बातें हैं ही। इसलिए सरकारी कागजात में गलती हो सकती है परन्तु गाँव के लोगों के द्वारा तैयार किए गए कागजात सही ही होंगे।

जमीन की व्यवस्था का बुनियादी सवाल - लोगों की अपनी व्यवस्था करने की हकदारी

5.28 सोनभद्र में जमीन के मामले को लेकर यह जन आंदोलन सही दिशा में है। उसकी मूल भावना को स्वीकार करना जरूरी है। **जमीन पर अधिकार के मामले में आज की व्यवस्था मूल रूप से आदिवासियों के खिलाफ है। जमीन को कौन जोत रहा है और कौन उसका मालिक है इसकी जानकारी गांव में ही मिल सकती है और इन मामलों पर सही फैसला गांव में ही हो सकता है।** इस मामले में भरोसे की गवाही भी गांव में ही मिल सकती है, उसे वहाँ के लोग ही बता सकते हैं। कागजी लेखे और दूसरी गवाही न केवल बिल्कुल बेमानी है वरन् उसमें सब तरह की गड़बड़ी की गुंजाइश है। आज की व्यवस्था में जमीन पर अधिकार का आधार सरकारी कागज है। अगर उसके मामले में कोई विवाद होता है तो उसका फैसला गांव के बाहर अदालत में होता है। अदालत में सबसे अधिक भरोसेमंद माना जाता है कागज और दूसरे नंबर पर है लोगों की गवाही। अदालत में ताकतवर और पैसे वाले लोग ही गवाही पेश कर सकते हैं। इसके अलावा वही लोग कानूनी मुद्दों को लेकर नीचे से उपर उच्चतम न्यायालय तक भी जा सकते हैं। यह साफ है कि गाँव से बाहर आम आदमी का फलड़ा कमजोर हो जाता है और उसको इंसाफ मिलने की कोई उम्मीद नहीं रहती। इसलिए जब तक इस व्यवस्था में यह बुनियादी बदलाव नहीं होता है कि जमीन पर अधिकार का फैसला गांव में, गाँव के लोगों के बीच होगा, तब तक आदिवासी को इंसाफ नहीं मिलेगा।

5.29 **हालांकि यह माँग बंदोबस्त को लेकर उठी है परन्तु वह उसूल जमीन के बाबत सभी मामलों के लिये सही है। सोनभद्र में लोगों की माँग बुनियादी माँग है। सरकार के द्वारा व्यवस्था न किये जाने पर अपनी व्यवस्था स्वयं करने का संकल्प भी न केवल वह प्रजातंत्र के मूल्यों के अनुरूप है वरन् संविधान में आदिवासियों के लिये जिस तरह की स्वशासी व्यवस्था की तजबीज की गई है, उसके अनुरूप भी है। सरकार को उनके संकल्प का आदर करना चाहिए और उनकी तजबीज के मुताबिक बंदोबस्त की कार्रवाई में जरूरी फेरबदल करना चाहिये। बंदोबस्त और जंगल, जमीन के सभी मामलों में यही उसूल और ऐसी ही व्यवस्था देश के दीगर आदिवासी इलाकों में भी लागू की**

जानी चाहिए। आदिवासियों के जमीन के अधिकारों की रक्षा के लिए जरूरी है कि उसकी व्यवस्था गांव में हो। उसके लिये गांव समाज ही सबसे उपयुक्त है। उसी को उस पर चौकसी रखने का अधिकार होना चाहिए। इसके लिये वे स्वयं भी संकल्प ले सकते हैं जिसका सरकार को आदर करना चाहिए।

6

उत्पादन के साधनों पर अधिकार - 2
जमीन, जोत और हकदारी

आदिवासी इलाके में जमीन के गैर-कानूनी ढंग से लोगों के हाथ से निकलते जाने की पिछली रिपोर्ट में लम्बी चर्चा हो चुकी है। इसलिए उसको यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। आदिवासियों की जमीनों को बचाने और जो जमीनें पहले से जा चुकी हैं उनको वापिस दिलाने के लिए कड़ी कानूनी कार्रवाई जरूरी है। परन्तु इस काम में सरकार की ओर से कोई खास तेजी हाल फिलहाल आये इसकी कोई खास उम्मीद दिखाई नहीं देती है।

6.2 इस मामले में सबसे गलत बात आंध्रप्रदेश में हो रही है जिसका नये तथ्यों के साथ, मैं फिर से जिक्र करना चाहूँगा। जैसा सभी को मालूम है यहाँ सरकार ही खुद अपने कानून को नकार रही है। यही नहीं, अब तो लगता है कि सरकार ने उस कानून को रद्द करने के लिये कमर ही कस ली है और उसके लिए हरचंद कोशिश की जा रही है। और तो और, आंध्रप्रदेश के आदिवासी मंत्रणा समिति तक ने, संविधान में जिस पर आदिवासियों के हितों को बढ़ाने की जिम्मेदारी रखी गई है, इस कानून को रद्द करने की सिफारिश कर दी है। इस मामले में किसी राजनैतिक दल ने भी आदिवासियों का साथ नहीं दिया, उन सबको यही चिंता थी कि कहीं वे बहुमत वाले लोगों को नाराज न कर दें। परन्तु आदिवासी मंत्रणा समिति के व्यवहार ने तो सभी को मात कर दिया। उनके व्यवहार से दो बातें साफ हैं। एक तो आदिवासी प्रतिनिधि हमारी व्यवस्था के पेंच को समझ नहीं पाते हैं। दूसरे यह कि दूसरे लोग उनको भुलावा देकर उन पर आसानी से दबाव ला सकते है।

6.3 आंध्रप्रदेश में इस कानून को रद्द करने की कोशिशों का विरोध आदिवासी क्षेत्र में सभी दूर बहुत जम कर हो रहा है। इसमें कुछ स्थानीय संस्थाएँ जैसे रायसभा और स्वयंसेवी संस्थाओं ने अच्छी भूमिका अदा की है। इसी को देखते हुए सरकार को आदिवासी मंत्रणा समिति को अपनी ओर कर लेने के बाद भी इस कानून को रद्द करने के लिये आगे की कार्रवाई रोक देनी पड़ी है। मुझे उम्मीद है कि राज्य सरकार जमीन के कानून के बारे में अपने इस गलत फैसले को आगे नहीं ले जाएगी और वर्तमान कानून को संविधान की भावना का आदर करते हुए अमल में लाएगी। यह खेद की बात है कि इतना सब होने के बावजूद केन्द्र सरकार ने भी इस मामले में राज्य सरकार को संविधान का उल्लंघन न करने का निर्देश नहीं दिया है।

जमीन पर जोतने वाले की हकदारी का अहम सवाल

6.4 जमीन के बारे में सबसे बुनियादी सवाल है जमीन जोतने वाले की हकदारी का। इस मामले में हमारे देश के कानून में जोतने वाले का जमीन पर अधिकार मान लिये जाने के बावजूद असलियत में उसी की हालत सबसे कमजोर है। आज हक की बात तो दूर जमीन जोतने वाले का नाम भी सरकारी कागजात में दर्ज कराना लगभग नामुमकिन सा है। ऐसी हालत में अहम आदमी को उत्पादन के साधन से किस तरह से जोड़ा जा सकता है, यही अहम सवाल है और इसी पर गहराई से विचार करना जरूरी है।

6.5 जागीरदारी, जमींदारी खतम होने के बाद उन किसानों की समस्या तो खतम हो गई जो अपनी खेती अपने आप करते हैं। ये लोग सिर्फ काम अधिक होने पर जरूरत के मुताबिक मजदूरों की सहायता लेते हैं, जिनके बारे में सवाल अधिकार का नहीं मजदूरी का है जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। यहाँ पर असली सवाल तो उन लोगों का है जो खुद तो हल को हाथ लगाते नहीं है मगर जमीन के मालिक बने बैठे हैं। इन लोगों में भी दो तरह के लोग हैं - एक वे जो दूसरे धंधों में लगे हैं परन्तु अपनी जमीन पर भी किसी तरह से कब्जा बनाये रखना चाहते हैं। दूसरे वे लोग हैं जिनका कोई और धंधा नहीं है परन्तु या तो उनके पास जमीन ज्यादा है इसलिए खुद खेती करने की जरूरत नहीं है या अपनी सामाजिक परंपरा के कारण खुद खेती नहीं कर सकते।

6.6 वैसे तो इन दोनों वर्गों में से किसी के साथ भी रियायत की जरूरत नहीं है। परन्तु जो लोग दूसरे धंधों से जिंदगी बसर कर रहे हैं उनकी एक खास स्थिति है। इन लोगों की तादाद अभी भी बहुत ज्यादा है और बढ़ती जा रही है। इस तरह की गैर-मौजूदा जमीनदारी की इतनी बड़ी समस्या तो अंग्रेजों के जमाने में भी नहीं थी। ये लोग जमीन पर अपना कब्जा रख कर इन्साफ के नाम पर नई व्यवस्था और हक के नाम पुरानी व्यवस्था दोनों का फायदा उठा रहे हैं। किसी दूसरे आदमी को उसकी जिंदगी बसर करने का अधिकार तक नहीं मिलने दे रहे हैं। उन लोगों को जमी कब्जे बनाए रखने का कोई हक नहीं है। अगर उनको जमीन रखना है तो खेती करे और दूसरे धंधे छोड़ दें, उसे कोई दूसरा आदमी कर सकता है। इस उद्देश्य को हासिल करने के लिए पिछली रिपोर्ट में मैंने कानून बनाने की सिफारिश की थी। खेद है इस पर अभी तक कोई विचार ही नहीं हुआ।

6.7 अब सवाल यह है कि जब तक ऐसा कानून नहीं बन जाता जिससे गैर-मौजूदा लोगों की हकदारी खतम हो जाय तब तक क्या किया जा सकता है। इन लोगों के खेती करवाने के मोटेतौर पर तीन तरीके हैं -

1. कुछ लोग खेती के लिए सालाना मजदूर रखते हैं। ये लोग इन मजदूरों को अपनी खेती से बांधे रखने के लिए मजदूर को थोड़ी सी जमीन उसकी निजी खेती के लिये दे देते हैं। इसके अलावा इन मजदूरों को या तो दूसरे खेतों में पैदावार का एक हिस्सा मिलता है या जिस दिन काम करे उस दिन मजदूरी। मजदूरी की दर पहले से तय होती है। इस तरह के सालाना मजदूर बंधक मजदूरों के दर्जे में आते हैं। बड़े-बड़े जमींदारों के यहाँ खेती अक्सर ऐसे ही मजदूर करते हैं।

2. बहुत से लोग अपनी खेती बटाई से करवाते हैं। बटाई भी कई तरह की होती है। कहीं बटाईदार को आधा हिस्सा मिलता है परन्तु कहीं पर ज्यादा, जैसे कि पश्चिम बंगाल में और कहीं कम भी। हिस्सा खेत की किस्म पर भी निर्भर करता है - अच्छी जमीन में कम और खराब जमीन में ज्यादा।

3. बहुत से लोग अपनी जमीन को ठेके पर उठा देते हैं। ठेके भी कई तरह के हैं। अक्सर ठेके का भाव पहले से तय हो जाता है। अच्छी सिंचाई की जमीन के लिये एक हजार से दो या तीन हजार रु० तक साल का मिल जाता है। इन सभी मामलों में मालिक अपनी जमीन सिर्फ एक साल के लिए देता है। अक्सर उसी जमीन पर वही लोग पुश्त-दर-पुश्त नहीं,, तो साल-दर-साल तो काम करते ही रहते हैं। परन्तु इन खेती करने वालों का उस जमीन पर कोई हक नहीं होता - न कानूनी और न मौके पर।

6.8 दूसरों की जमीन पर खेती करने वाले लोगों के मामले में सोचते वक्त हमें महज कानून की बजाय हमारे देश की अर्थव्यवस्था के बुनियादी उसूल क्या हैं इसकी ओर ध्यान देना जरूरी होगा। "जमीन उसकी जो जोते" यह उसूल स्वाभाविक है और बुनियादी भी। यही हमारे संविधान की भावना भी है, जिसको अमली जामा पहनाने के लिये आजादी के बाद तेजी से काम शुरू हुआ था। अब अगर ये लोग जो जमीन जोत रहे हैं, उनका जमीन पर कोई हक नहीं है तो कहीं न कहीं कोई बात गलत है। या तो हमारे कानून में कोई कमी है या उसके अमल में कहीं गलती हो रही है।

6.9 इस मामले में एक बड़े खेद की बात हो रही है जिसका जिक्र यहाँ पर करना जरूरी है। जमीन की हकदारी के इस खुले उल्लंघन को अब यह कह कर कि "जमीन उसकी जो जोते" इस उसूल का अमल हो ही नहीं सकता, वर्तमान अन्यायी स्थिति को ही मान लेने और उसे जायज करार देने की बात कई जगह शुरू हुई है, यहाँ तक कि जिम्मेदार संस्थाओं के द्वारा आयोजित गंभीर परिसंवादों में खुलकर इसका पक्ष लिया जा रहा है। यह हमारे देश में सामाजिक न्याय के प्रति बढ़ती हुई असंवेदनशीलता और, उससे भी बढ़ कर संवैधानिक मूल्यों के प्रति अनास्था का परिचायक है। परन्तु आसूदा वर्ग से, जिनका अपना हित उसी अन्यायी व्यवस्था पर टिका हुआ है, इसके सिवाय और उम्मीद ही क्या की जा सकती है कि वे अपने हितों पर फर्जी उसूलों का पर्दा डालें और सही उसूलों की अव्यवहारिक आदर्श कह कर अनदेखी करें। इस हालत में आशा की किरण यही है कि व्यवस्था में भी कुछ लोग अभी सही असूलों के हामी हैं और जो सबसे बड़ी बात है, लोग अपने हकों के बारे में जागरूक होते जा रहे हैं।

बिहार में पलामू जिले का सोले गाँव

6.10 इस मामले में बिहार के पलामू जिले के सोले गाँव में हाल की घटनाओं का जिक्र करना वाजिब होगा। यह गाँव हमारे देश की सामंतवादी विरासत का प्रतीक माना जा सकता है। इस गांव के जमींदार बिहार के बहुत बड़े जमीनदार हैं। कहा जाता है कि सब मिलाकर उनके पास 4-5 हजार एकड़ जमीन है। इस गांव में भी अधिकांश जमीन उन्हीं की है जो लगभग 800 एकड़ बतायी जाती है। उसके बाद दूसरे नंबर पर एक ब्राह्मण परिवार है जिसके पास 20 एकड़ जमीन है। उसके बाद गांव के दूसरे लोगों के पास 5 एकड़ या उससे कम ही जमीनें हैं। अधिकांश लोगों के पास कोई जमीन नहीं है। इसलिये वे लोग जमीनदार की जमीन पर खेती करके अपना गुजारा करते हैं। इस गांव के अधिकांश रहवासी हरिजन और मुसलमान हैं।

6.11 बिहार के दौरे के समय पिछली वर्ष में सोले गाँव भी गया था। गाँव के लोगों ने बताया कि उनमें 28 परिवार जमीनदार के हलवाहे हैं। जमीनदार की ओर से उनको आधा-आधा एकड़ जमीन मिली हुई है जिसकी एवज में वे उसके यहाँ काम करते हैं। उन्हें काम हर दिन नहीं मिलता है। मगर किसी दिन जमीनदार के यहाँ काम हो तो उस काम के लिए उनका जाना जरूरी है। जिस दिन वे काम करेंगे उस दिन उनको अनाज के रूप में लगभग 3 रु० मजदूरी मिलती हैं। जिस दिन जमीनदार के यहाँ काम नहीं होता है उस दिन भी वे किसी दूसरे के यहाँ काम पर नहीं जा सकते हैं। उन्हें बिना काम के ही रहना पड़ता है। इन 28 लोगों के अलावा करीबन 50 लोग जमीनदार के बटाईदार हैं। ये बटाईदार उन जमीनों को दस-दस या बीस-बीस साल से जोत रहे हैं। इस गांव में जमीनदार का ही एक पक्का मकान है और सभी लोगों के एक जैसे कच्चे मकान हैं। गाँव में जमीनदार का कारकुन रहता है जो उसकी खेती और मकान की देखरेख करता है।

जोतने वालो को अपने अधिकारों का अहसास

6.12 सोले गॉव के लोग अभी तक इस सामंतवादी विरासत को अपनी तकदीर मानकर लादे रहे हैं. मगर अब उनमें भी बदलाव आया है. वे इस नाइंसाफी को सहने के लिए तैयार नहीं हैं. मुझे बताया गया कि उन्होंने अभी हाल में ही यह तय किया कि जमीन पर अपने हक के लिये वे खुद लडेंगे. जो आदमी जिस जमीन को जोत रहा है वह उसे नहीं छोड़ेगा. उन्होंने यह फैसला जमीनदार के कारकुन को पिछली साल जमीन की जुताई के पहले बता दिया था. जमीनदार को यह बात गवारा नहीं हुई. यह फैसला तो जमीन पर उसकी मिल्कियत को खतम करने के लिये पहला कदम हो सकता है. इसलिए पहले तो उसने गांव के लोगों को धमकाने की कोशिश की. उसने अपने कारकुन से आसामियों को कहलवाया कि बाहरी लोग उनको नाहक भडका रहे हैं, वे उनके कहने में न आयें. अगर वे लोग बाहरी लोगों के कहने पर कुछ करेंगे तो उनको गांव में जमीन जोतने को नहीं मिलेगी.

6.13 जब लोगों ने जमीनदार की नहीं सुनी और अपने फैसले पर अड़े रहे तो जमीनदार ने उनको कहलवा दिया कि गांव के किसी भी आदमी को जमीन नहीं दी जाएगी और वे खुद ही अपनी जमीन जोत लेंगे. जमीनदार ने जमीन जोतने के लिए बाहर से मजदूर लाने की कोशिश की. परन्तु इस बीच गॉव के लोगों ने आसपास के गांवों के लोगों से बातचीत करके उनको अपने हक के बारे में, जो उन्होंने लड़ाई छेड़ी है, बताया. उन लोगों को यह भी साफ कह दिया गया कि वे सिर्फ इतना कह रहे हैं कि जिस जमीन पर वे काबिज हैं उसको वे नहीं छोड़ेंगे. उनको जमीनदार को पहले की तरह बटाई देने में कोई उज्र नहीं है. वे उसकी जमीन पर इतना ही हक चाहते हैं कि जो जिस जमीन को जोत रहा है उसे छोड़ेगा नहीं.

6.14 आसपास के गांव वालों ने उनकी बात समझी और उसे मान गये. उन लोगों ने भी यह तय किया कि उनके गांव से कोई भी आदमी सोले में मजदूरी के लिए नहीं जायेगा. इस तरह एक ओर तो जमीनदार को मजदूर नहीं मिले और दूसरी ओर पहले के बटाईदार खेत जोतने की तैयारी करने लगे. यह जमीनदार के लिए तौहीनी की बात थी. उसने बटाईदारों को कहला दिया कि अगर वे खेत जोतने आयेंगे तो उनको जबरदस्ती रोक जायेगा और उनको जमीन नहीं जोतने दी जायेगी. इस तरह मामला काफी तूल पकड़ गया और संघर्ष की नौबत आ पहुँची. इस पर लोगों ने आपस में बातचीत की और इस नतीजे पर पहुँचे कि वे अभी जमीनदार का मुकाबला करने की हालत में नहीं हैं. इसलिए उन्होंने यह तय किया कि वे उनके साथ लड़ाई तो नहीं करेंगे परन्तु इसके साथ ही वे अपनी बात पर डटे रहेंगे, बाहर के मजदूरों से जमीन की जुताई नहीं होने देंगे.

6.15 इस तरह इस गांव में कशमकश चलती रही. दोनों ओर से कोई पीछे हटने को नहीं तैयार हुआ. आखिर में इस साल इस गांव की थोड़ी सी जमीन को छोड़कर पूरी जमीन बिना जुती ही पड़ी रही.

6.16 अगले साल के लिये दोनों ओर तैयारी हो रही है. जमीनदार पहले एक दो आदमियों को जमीन का लालच देकर अपनी तरफ तोड़ने में सफल हुआ और कुछ थोड़ी सी जमीन जुतवा ली. परन्तु फिर उन लोगों को अपनी गलती का अहसास हुआ और वे लोगों के साथ मिल गए और अधिक जमीन नहीं जुत पाई. जमीनदार के पास वैसे तो और बहुत सी जमीन है, इसलिये अगर इस गांव में से खेती न भी हो तो उसे कोई फर्क नहीं पड़ेगा परन्तु उसके लिये सवाल उसूल और प्रतिष्ठा

का है। दूसरी ओर काश्तकारों के लिये जीने-मरने का सवाल है। काश्तकारों ने प्रशासन को दरख्वास्त दी है कि वे उनको संरक्षण दे जिससे कि वे जिन खेतों को जिंदगी से जोतते चले आ रहे हैं उनको इस साल भी जोते और आगे भी जोतते रहें। **उन्होंने तय किया कि किसी भी हालत में इस वर्ष वे अपने इस अधिकार को नजरअंदाज नहीं होने देंगे और अगर प्रशासन न भी साथ दे तो भी वे अपने संविधान के अधिकारों की रक्षा खुद करेंगे।**

घांघलियों का अम्बार

6.17 लोगों के अधिकारों के बारे में बात करते समय सबसे पहला सवाल यह है कि आखिर चंद लोगों के पास इतनी बड़ी रियासतें अभी तक बनी कैसे रह सकी हैं ? सोले गाँव के मामले में छानबीन करने पर कुछ बातें उभर कर सामने आई हैं जिनका जिक्र जरूरी है। कुछ जमीनें तो जमींदारी के जमाने से ही खुदकाश्त में दिखाई जाती रही है। इसी तरह कुछ जमीन पर घर परिवार वालों का नाम लिखवा कर कब्जा कायम रखा गया है। **दुर्भाग्य से खुदकाश्त की परिभाषा में जैसा कि उसका असली मतलब है, खुद अपनी मेहनत या अपने परिवार के सदस्यों की मेहनत का उपयोग कर खेती करना जरूरी नहीं है। अगर कोई मजदूर लगाकर खेती करता है तो भी उसे खुदकाश्त माना जाता है।** इस तरह खुदकाश्त के बहाने या परिवार के सदस्यों के नाम से कितनी भी जमीन पर कब्जा रखा जा सकता है।

ट्रस्ट-असली और नकली

6.18 इस गांव में जमींदार ने कुछ जमीन को एक ट्रस्ट में दे अपना कब्जा कायम रखा है। यह ट्रस्ट किसी एक दूसरे गांव में मंदिर के नाम पर है। ट्रस्ट की जमीन की देखरेख जमींदार का कारिंदा करता है। उस मंदिर के लिए इस जमीन की आमदनी के लिए शायद ही कुछ हिस्सा पहुँचता हो।

6.19 इस तरह के फर्जी ट्रस्ट न केवल सोले या बिहार में ही नहीं वरन् लगभग सभी राज्यों में हैं। कहीं-कहीं तो उनकी भरमार है। मैंने पिछली रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि सभी तरह के ट्रस्टों की जमीनें भूमिहीनों में बांट दी जाय और सरकार जिन कामों के लिए वे ट्रस्ट बने है, उनके लिए अपनी ओर से जरूरत के मुताबिक अनुदान दे दे। **आखिर गरीबों का हक छीन कर और उनके शोषण के आधार पर किसी तरह के धार्मिक या सामाजिक काम का कैसे कोई औचित्य हो सकता है, ऐसे भले काम शोषण पर क्योंकर निर्भर रहे ? सरकार [illegible] पुराने राजा-महराजाओं को पाल सकती है तो इस तरह के धार्मिक सामाजिक कामों के लिये, जो गरीबों के शोषण पर निर्भर हैं, जरूरत के मुताबिक अनुदान दे सकती है। गरीबों को शोषण से मुक्त करवा सकती है। यह सरकार का फर्ज है।** जहाँ ट्रस्ट फर्जी है उनमें तो कुछ लेन-देन की बात भी नहीं उठती।

सीलिंग कानून का दुरुपयोग

6.20 सोले में कुछ जमीनें सीलिंग में इसलिए नहीं गई क्योंकि रिकार्ड में जमीनों में बागान दिखाया गया है। मौके पर कोई बाग नहीं है और पूरी जमीन पर खेती हो रही है। इस तरह सीलिंग कानून का दुरुपयोग करके जमीनदार ने जमीन पर कब्जा कर रखा है।

गैर-मजरुआ पर अधिकार - अराजकता की बुनियाद

6.21 इसी तरह से बहुत सी गैर-मजरुआ जमीन के वितरण में भूमिहीनों के हकों को नजरअंदाज करके जमीनदार ने अपने लोगों के नाम पर करवा ली है। यह खेद है कि **बिहार में गैर-मजरुआ जमीन के वितरण की व्यवस्था की ओर खास ध्यान नहीं दिया गया है।** कई राज्यों में, जैसे कि

मध्यप्रदेश, कृषि योग्य भूमि के वितरण की एक स्पष्ट प्रक्रिया है। वहाँ के नियमों के अनुसार किसी गांव की पूरी कृषि योग्य भूमि जो बाँटी जा सकती है, की एक लिस्ट बनती है। फिर उस जमीन को बांटने के बारे में एक आम इश्तहार जारी होता है। उस जमीन के लिये फिर जितने भी प्रार्थना पत्र आते हैं, उनमें से लोगों को नियमों में दी गई प्राथमिकता के आधार पर भूमि बाँटी जाती है।

6।22 बिहार में गैर-मजरुआ जमीन को बांटने के लिये सरकार की ओर से पहल की बजाय जमीन को चाहने वाले लोगों को पहल करनी पड़ती है। जिसे जमीन चाहिये वह दरख्वास्त देता है। इस प्रक्रिया में पहले तो किसी भी स्तर पर आधिकारिक रूप से यही नहीं मालूम हो सकता है कि गैर-मजरुआ जमीन है कौन सी और अगर गैर-मजरुआ जमीन है तो क्या वह बाँटी जा सकती है ? इस हालत में जमीन के बारे में पहले तो गरीब को जानकारी ही नहीं मिल पाती है जिसका चतुर चालाक लोग फायदा उठा लेते हैं। दूसरे बहुत से मामलों में तगड़े लोग पहले से ही जमीन पर काबिज हो जाते हैं। दरख्वास्त मिलने पर कर्मचारी सरसरी जाँच करता है और प्रार्थी को पट्टा मिल जाता है। इधर कुछ इलाकों में जब से सामाजिक कार्यकर्ताओं ने गरीब लोगों की ओर से जानकारी लेकर अधिकार जताया है, तब से कुछ सुधार हुआ है। उसके साथ ही संघर्ष भी बढ़ा है। परन्तु जो लोग अब तक लोगों की नासमझी का फायदा उठाकर जमीन हथिया चुके हैं उसका सरकार की ओर से कोई निकाल नहीं किया जा रहा है। इसलिये लोग अपनी ओर से इसका प्रतिकार कर रहे हैं। यही सोले गाँव में भी हो रहा है।

धोखा-धड़ी से जमीन हथियाना - फर्जी स्तीफे

6।23 अंत में उन जमीनों का मामला आता है जिनको जमींदार ने जोर जबरदस्ती, धोखाधड़ी करके हथिया लिया है। थोड़ा सा पैसा नकद या उधार देकर बिक्री या रहननामी करवा कर भूमि का हथियाना तो जानी मानी बात है। परन्तु कई जगह जमीन हथियाने के लिये एक और तरीका भी अपनाया जा रहा है। जिसका जिक्र करना जरूरी है। कानून के मुताबिक अगर कोई काश्तकार खेती नहीं कर पा रहा हो या नहीं करना चाहता हो तो वह उससे स्तीफा दे सकता है। यह व्यवस्था उस समय खास तौर से जरूरी थी जब जमीन का लागान खेती से होने वाली आमदनी की तुलना में बहुत ज्यादा था और गरीब उससे राहत चाहता था स्तीफा मंजूर होने के बाद सरकार उस जमीन को किसी दूसरे व्यक्ति को दे सकती थी।

6।24 इस पुरानी कानूनी प्रक्रिया का बिहार, खास तौर से पलामू के आदिवासी इलाकों, में घोर दुरुपयोग हुआ है। यहाँ पर बहुत से लोगों ने कर्मचारियों से साठ-गाठकर काश्तकार के बिना जाने उसकी ओर से स्तीफा दाखिल करवा दिये और स्तीफों की मंजूरी करवा कर उनका नाम कटवा दिया। इसके बाद जमीन दूसरे लोगों के नाम झूठमूठ चढ़ा दी जाती है। यह सब कार्रवाई कागजी होती है और असली काश्तकार को इसके बारे में कुछ अता-पता ही नहीं रहता है। इसलिये काश्तकार तो अपना खेत जोतता रहता है पर कागज में उसके नाम की बजाय दूसरे का नाम चालू हो जाता है। फिर कुछ समय या कई सालों के बाद भी मौका देखकर ताकतवर लोग उसको बेदखल करके खेत पर कब्जा कर लेते हैं।

6।25 इस तरह की धोखा-धड़ी और जोर जबरदस्ती के खिलाफ गरीब को कहीं से कोई राहत नहीं मिल पाती है। कब्जा हो जाने पर ताकतवर लोगों का सब कुछ पुख्ता हो जाता है उन्हें कोई हिला नहीं सकता है। कागज तो पहले से ही ठीक हुआ रहता है। कहीं-कहीं ये स्तीफे मृतक पूर्वजों के नाम से दाखिल करवाए जाते हैं जिससे कि कागज पर अंगूठे की निशानी सही है या नहीं इसकी जाँच पड़ताल भी न हो सके। पलामू जिले के सोले में ही नहीं रंका-भडरियाँ जैसे कई आदिवासी

इलाकों में भी इस तरह के स्तीफों के आधार पर भारी संख्या में तगड़े लोगों ने गरीबों की भूमि को हड़पा है। इसके खिलाफ लोग अब मुहिम चला रहे हैं। उन्हें न्यायालयों से जमीन वापसी की कोई उम्मीद नहीं है। इसलिये वे खुद संगठित होकर अपनी जमीनों पर कब्जा वापिस ले रहे हैं।

नाइंसाफी के खिलाफ लोगों के फैसले

6.26 सोले गॉव के लोगों ने विषम स्थिति का मुकाबला करने के लिये लोगों ने अपनी ओर से कुछ फैसले किये हैं। उन लोगों ने पहली बात तो यह तय की है कि जो व्यक्ति जिस जमीन को को जोत रहा है वह उसको नहीं छोड़ेगा और इस साल चाहे कुछ भी क्यों न हो वह उसको जोतेगा। अगर जमीनदार लोहे तो उस जमीन की पैदावार का उचित हिस्सा वे जमीनदार को दे देंगे। जो जमीन ट्रस्ट के नाम पर है उस पर जमीनदार का कोई हक नहीं हैं इसलिये उसकी पैदावार का एक हिस्सा वे अलग से रखेंगे और जैसा सरकार चाहे वे उसकी वैसी व्यवस्था कर देंगे। लोगों के नाम की जिस जमीन को १ ी स्तीफा लगवाकर जमीनदार ने हथिया ली है वह जमीन उसके असली हकदारों को वापिस करवा दी जायेगी। मगर इसमें कुछ समय लग सकता है क्योंकि वे लोग गॉव की पूरी जमीन के बारे में ही इकजाई फैसला करना चाहेंगे। इसलिये अगर किसी जमीन को पिछली साल कोई दूसरा गरीब जोत रहा था तो वही इस साल भी जोतेगा। उसके बारे में आखिरी फैसला आगे पूरी जमीन के मामले में फैसले के साथ किया जायेगा। बहरहाल उस जमीनदारका कोई हक नहीं होगा। इसीतरह जहॉ जमीनदार ने गैर-मजरुआ या बागान की जमीन को गलत तरीके से अपने कब्जे में कर लिया है उसे भी जो लोग पिछली साल जोत रहे थे वे ही लोग जोतते रहेंगे। इन जमीनों से पैदावार का एक हिस्सा अभी फिलहाल गॉव की निधि के रूप में अलग रखा जायेगा। आगे सब लोग मिलकर जैसा समझेंगे उसका उपयोग करेंगे।

आंध्र प्रदेश के पुलिमामिडी गाँव में गरीबों की लड़ाई

6.27 आंध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद से सिर्फ दो घंटे के रास्ते पर कांडुकूर मंडल में पुलिमामिडी गॉव है। आजादी के बाद इस गॉव में कानून का खुला दुरुपयोग कर सामन्तवादी शिकंजा लोहे की तरह मजबूत हो गया है। साधारण काश्तकार, जिनमें अधिकतर अनुसूचित जातियों के सदस्य हैं, पिस रहे हैं। परन्तु वे अब लाचार नहीं है, अपने अधिकारों के लिये लड़ रहे हैं। बताया जाता है कि इस गॉव की कहानी अपवाद नहीं है। यहॉ की हालत तेलंगाना क्षेत्र के साधारण गांवों की हालत का एक उदाहरण है। इसलिये मैं इस गॉव की चर्चा कुछ विस्तार से करूँगा।

6.28 कहानी निजाम के जमाने से ही शुरू होती है। यह गॉव एक जागीरदार का था। हर घर को बेगारी या कुछ नाममात्र के अनाज के बदले में एक व्यक्ति मजदूरी के लिये मुहैया कराना पड़ता था। थोड़ा सा भी कर्ज हो जाने पर तरह-तरह की यातनाएँ झेलनी पड़ती थी और आखीर में जमीन देकर ही जान बचती थी। आजादी के बाद उस समय के गुमाश्ता परिवार ने अपने पद का फायदा उठा कर अब एक बड़ी जागीर अपने लिये बना ली है।

6.29 जमीन पर कब्जे का पूरा काम बड़ी सूझबूझ से किया गया। उसने 1950 के बाद एक-एक करके पहले तो जागीरदार की जमीन पर जागीरदार के नाम के साथ पहनी (खसरा) में अपना नाम दर्ज करवा लिया। उसके बाद एक-एक कर उन जमीनों पर अपना कब्जा दर्ज करवाता गया। इसके अलावा कई जमीनों पर कुछ दूसरे लोगों का इस आधार पर कब्जा दर्ज करवा दिया कि उन्होंने 1948 में जमीन खरीदी थी। इस तरह इस गुमाश्ते ने अपने और कुछ दूसरे नामों से कहते हैं लगभग 5000 एकड़ पर कब्जा कर लिया है।

6.30 यह जाहिर है कि नये माहौल में इतनी लम्बी चौड़ी जागीर को बनाए रखना मुश्किल था। इसलिये इस व्यक्ति ने जमीन पर कब्जे को कायम रखने के लिये और कई तरकीबें अपनाईं। सबसे

पहले तो सीलिंग कानून से बचने के लिये कई तरह के बेनामी हस्तांतरण किये गये। उदाहरण के लिये 1965में लगभग 240 एकड काली मिट्टी की बढ़िया जमीन ट्रस्ट बनाकर एक मंदिर के नाम लिख दी। 1975-76 में लगभग एक हजार एकड़ जमीन एक साल में ही पुरानी बिक्री और कब्जों के आधार पर, जिनका कोई प्रमाण नहीं था, बेनामीदारों के नाम कर दी। इसका सरकारी रिकार्ड में भी इन्दराज भी हो गया। इसी तरह 1961-62 में लगभग 150 एकड़ सरकारी जमीन पर बिना किसी प्रक्रिया के नये पट्टेदारों के नाम चढ़वा दिये। 1971 के बाद से कहा जाता है कि लगभग 2000 एकड़ जमीन दूसरे बेनामीदारों के नाम हो चुकी है।

6।31 जमीनदार की सही कोशिश है कि इस बेनामी जमीन पर गांव के निवासियों को किसी तरह का हक न मिल नाय। उसका कहना है कि "गाँव की सेवा और शव का श्रृंगार दोनों ही निरर्थक है।" कहते हैं कि उसने बहुत सी जमीनें बाहरवालों को बेच दी है, बिक्री अभी भी चालू है। अगर गांव के लोग उसी जमीन को खरीदना चाहें तो उनको इन्कार कर दिया जाता है। सौभाग्य से कानूनी अड़चन के कारण नये खरीददारों का नाम पट्टेदार के रूप में इन्दराज नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण यही है कि बेचने वालों का कहीं बुजूद ही नहीं है जिससे उस बिक्री का सत्यापन असम्भव है। गाँव में मौके पर जमीन के कब्जे को लेकर बहुत से झगड़े चल रहे हैं।

6।32 इसी विवाद के बारे में समाचार मिलने पर मैं खुद इस गाँव की स्थिति का जायजा लेने के लिये 1988 में गया था। वहाँ विचित्र नजारा था - एक ओर हजारों एकड़ जमीन पड़ी थी दूसरी ओर सैकड़ों गरीबों की रोजी रोटी का कोई ठिकाना नहीं था। कारण कुछ भी क्यों न हो यह स्थिति उचित नहीं मानी जा सकती है। लोगों को अपनी जीविका के लिये प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग से वंचित नहीं रखा जा सकता है। इसलिये मैने स्थानीय प्रशासन को सलाह दी थी कि बेनामी और ट्रस्ट की जमीनों को गरीबों को खेती करने के लिये देना उचित होगा। परन्तु इस सलाह का कोई खास असर नहीं हुआ।

6।33 इसके बाद लोगों ने इस जमीन पर खेती करने का अधिकार पाने के लिये न्यायालय, प्रशासन और संगठन का सहारा लिया। देवस्थान के नाम में 240 एकड़ जमीन है। मगर इस जमीन के बारे में देवस्थान प्रतिष्ठान को जो कानूनन उसकी देखभाल के लिये जिम्मेदार है, पहली बार 1987 में मालूमात हुई। उसके बाद प्रतिष्ठान ने इस जमीन के प्रबंध के लिए एक समिति बनाई है। इस तरह ट्रस्ट की जमीन पर से जमीनदार का कब्जा तो हट गया है। परन्तु देवस्थान प्रतिष्ठान इस जमीन को गरीब काश्तकारों को नहीं देना चाहता है। उस पर घास पैदा हो रही है। मेरे सुझाव को ध्यान में रखते हुए एक प्रस्ताव यह भी था कि यह जमीन अनुसूचित जाति वित्त निगम खरीदकर अनुसूचित जाति के सदस्यों को दे दे। परन्तु उस पर भी अभी तक कोई फैसला नहीं हुआ है। दूसरे इस गाँव के लोग भी इस प्रस्ताव के बारे में उत्सुक नहीं हैं। उनका कहना है कि इससे गाँव के गरीबों में दो वर्ग हो जाएँगे। इसलिये वे गाँव की पूरी जमीन का फैसला चाहते हैं जिसमें गाँव के सभी गरीबों को राहत मिले।

6।34 मेरे पिछले दौरे के बाद अनुसूचित जाति के कुछ लोगों ने बेनामी जमीन के बारे में न्यायालय में मुकदमा दायर किया और सरकार से यह आग्रह किया कि वह जमीन उन्हें जोतने को दे दी जाय। ज्वाइन्ट कलेक्टर ने अपने फैसले में यह मान लिया कि यह जमीन बेनामी है। इस फैसले के खिलाफ उच्च न्यायालय में कार्रवाई चल रही है। परन्तु सरकार की ओर से इस बेनामी जमीन पर काश्त के बारे में कोई निर्देश न होने से इन लोगों ने उस पर अपनी ओर से ही कब्जा कर लिया है और खेती करना शुरू कर दी है।

6.35 इन काश्तकारों को अब चिन्ता यह है कि कहीं जमीनदार उनकी जोती हुई जमीन बलपूर्वक न छीन लें। इसलिये उन्होंने स्थानीय राजस्व अधिकारियों से यह आग्रह किया था कि वे नियमानुसार पाहनी में जमीन पर उनका कब्जा और फसल दर्ज करें और उसकी नकल उन्हें दे, जिससे उनके पास लिखित प्रमाण हो जाय कि इस साल (1989-90) जमीन जुती है और उस पर उनका कब्जा है। मगर कई दरख्वास्तें देने के बाद भी वे यह जानकारी हासिल नहीं कर पाये कि पाहनी में क्या इंदराज किया गया, पाहनी की नकल मिलने की बात तो बहुत दूर है। इसके बारे में गॉव वालों ने मुझे भी एक प्रार्थना पत्र भेजा जिसके आधार पर मैं स्थिति को खुद देखने के लिये इस गॉव में गया (अप्रैल 1990)।

6.36 मौके और कागजात को देखने से लोगों का डर सही निकला। उनकी दरखास्त पर स्थानीय अधिकारियों ने जॉच की थी परन्तु उसकी रिपोर्ट ऊपर भेजी गई और न लोगों को ही जॉच में पाए गए तथ्यों की कोई लिखित जानकारी दी गई। कागजात को देखने पर मालूम हुआ कि 1989-90 की पाहनी में इस भूमि को "पड़त" दर्ज किया गया है। इसका पट्टेदार बेनामी है जिसके बारे में मुकदमा चल रहा है। चूँकि पाहनी में भूमि पड़त दिखाई गई है इसलिये कब्जेदारों के नाम दर्ज करने का सवाल ही नहीं उठता है। स्थानीय अधिकारियों ने मेरी पूछताछ के दौरान यह स्वीकार किया कि जमीन इस साल जुती है। मैंने भी मौके पर जाकर देखा तो साफ था कि इस जमीन पर इस वर्ष काश्त हुई थी और पूरी जमीन में पिछली फसल के सूखे पौधे अभी भी खड़े थे। इस तरह पाहनी में इन्दराज गलत था। जॉच में पाहनी का इंदराज गलत निकलने के बाद उसे दुरुस्त नहीं किया गया था।

6.37 पाहनी में इस नादुरुस्ती का कारण साफ है। अगर पाहनी में यह दिखाया जाता है कि उस जमीन पर इस साल खेती हुई थी, तो दूसरा स्वाभाविक सवाल यह होता कि उसे किसने जोता था इन खेतों के पट्टेदार बेनामी है। उसके तथाकथित पट्टेदार को आज तक न किसी ने गांव में देखा है, और न कोई उसके बारे में कुछ जानता ही है। ज्वाइन्ट कलेक्टर ने उसे बेनामी करार दिया है। इसलिये अगर जमीन पर खेती दिखाई जाती है तो प्रार्थियों के नाम को कब्जेदार के रूप में दिखाना ही होगा। ऐसा करने से उनका कब्जा और अधिकार भी पुख्ता हो जाएगा।

6.38 इस मामले में लगता है कि जमींदार और आधकारी बरसात का इंतजार कर रहे थे। बरसात होने के बाद इस साल खेत जुता था या नहीं इसका प्रमाण मिट जाएगा। उस समय जमींदार अपने आदमी लेकर उस जमीन को जुतवाकर आसानी से अपना कब्जा कायम कर सकेगा। अगर इस साल के काश्तकारों की ओर से अपना कब्जा कायम रखने का प्रयास किया जाता है तो उनके उस प्रयास को बलपूर्वक अतिक्रमण बताकर पुलिस की सहायता मांगी जा सकती है। चूँकि पाहनी में जमीन पड़त दिखाई गई है इसलिए उनके कब्जे के दावे के खिलाफ एक महत्वपूर्ण लेखी साक्ष्य बन जाती है जिसके खिलाफ मौखिक साक्ष्य आसानी से अस्वीकार की जा सकती थी। इसलिये पुलिस उनको खेत में जाने से रोक सकती थी। उस हालत में उन लोगों को कहीं से भी राहत नहीं मिल सकती थी। इसके बदले हो सकता है कि उसी समय इन लोगों की दरखास्तों पर ऊपर से मांगी गई अभी की रिपोर्ट भी पेश कर दी जातो जिसमें यह दर्ज होता है कि जमीन पड़त थी और उस पर किसी का कब्जा नहीं था।

6.39 यह एक संयोग है कि इस गांव में मैं पहुँच गया और यह तथ्य कि जमीन इस साल जुती थी और उस पर गरीब लोगों का कब्जा है सामने आ गया। मेरे जाने से एक ऐसी लिखित और मौखिक गवाही बन गई है जिसको सरलता से नकारा नहीं जा सकता है। अगर अब भी किसी की

ओर से इन गरीबों को जोर जबरदस्ती बेदखल करने की कोशिश होती है तो मुझे उम्मीद है कि कब्जे के बारे में निर्विवाद तथ्यों के आधार पर पुलिस उनको संरक्षण देगी, यही उनका स्पष्ट दायित्व होगा।

जमीन के बारे में कुछ बुनियादी सवाल

6.40 बिहार में से **सोले** और **आंध्रप्रदेश** में पुलिमामिडी में लोगों की लड़ाई के मुद्दे बड़े सीधे-सादे से हैं परन्तु उनमें कुछ बड़े ही बुनियादी सवाल हैं। पहला यह कि अगर कोई आदमी किसी खेत को जोत रहा है तो क्या इस हकीकत को सरकारी कागज में नहीं उतारा जाना चाहिये ? जो बात मौके पर है उसका जिक्र कहीं न कहीं तो होना चाहिये। अगर हमारी व्यवस्था में ऐसा नहीं होता है तो उसका एक ही मतलब है कि उस व्यवस्था में गरीब आदमी के जायज अधिकार को अनदेखा करने के लिये एक आसान रास्ता बना लिया गया है। यह रास्ता कानूनी हो सकता है। परन्तु उसे न तो न्यायपूर्ण कहा जा सकता है और न हमारे संविधान की भावना के अनुकूल ही माना जा सकता है। यहाँ कानून, न्याय और संविधान में तालमेल की कमी साफ जाहिर होती है। कुछ भी हो, परन्तु यह जरूरी है कि किसी भी हालत में संविधान और न्याय की अवहेलना न हो। अगर कोई आदमी जमीन जोतकर अपनी जिंदगी बसर कर रहा है तो व्यवस्था और कानून अगर उसे जमीन की मिल्कियत नहीं दिला सकते तो कम से कम उसकी जिंदगी बसर करने के अधिकार की तो रक्षा कर ही सकते हैं। और अगर व्यवस्था और कानून उसके इस मूलभूत अधिकार की रक्षा नहीं कर सकते हैं तो उसके आत्मरक्षा के अधिकार को तो छीना नहीं जा सकता।। सोले और पुलिनामिडी गाँवों के लोगों की लड़ाई उनकी जिंदगी के मूलभूत अधिकार की रक्षा की लड़ाई है। मुझे उम्मीद है कि स्थानीय प्रशासन और सरकार उनके इस अधिकार की रक्षा के लिए जो भी जरूरी हो वह करेगी।

6.41 इन गाँवों के जमीन जोतने वालों ने जो सवाल उठाया है वह सवाल एक गाँव का नहीं है। वह पूरे देश का सवाल है। सच तो यह है कि इस सवाल से देश के सभी जमीन जोतने वालों के जीवन का अधिकार जुड़ा हुआ है। आज हमारे गाँवों में ऐसे ही अधिकारहीन खेती करने वाले लोगों की तादाद सबसे अधिक हैं और उनमें अधिकतर हरिजन और कुछ आदिवासी भी हैं। और इन्हीं लोगों की जिंदगी की लड़ाई सबसे कठिन है और उनके जीवन का अधिकार सबसे अहम है।

6.42 इस हालत में सबसे पहले तो संविधान की भावना के अनुरूप और अब तक किये गये वायदों के मुताबिक राज्य का ही फर्ज है कि वह जोतने वाले की जमीन के उसूल को अमल में लाने के लिए तुरंत और कारगर कदम उठाये। इसमें एक भी दिन की देरी करने का कोई कारण नहीं है। **इस वर्ग के जीवन के अधिकार की हिफाजत के लिये सबसे पहला कदम तो यही होगा कि कानून कुछ भी हो या कानून में इस बारे में कोई जिक्र न भी तो जो आदमी जिस जमीन को जोत रहा है, वह उस पर काबिज रहे, यह सुनिश्चित किया जाय। इस उसूल का खुला ऐलान किया जाय और उनके कब्जे का सरकारी कागजातों में इन्दराज हो। इसके अलावा अगर कोई जमीनदार इस अधिकार को नजरअंदाज कर जमीन जोतने वाले को बेदखल करता है तो उसकी हिफाजत सरकार की जिम्मेदारी है।** लोगों को अपने जीवन के अधिकार की रक्षा करने का संकल्प लेने और उसके लिये संघर्ष करने का अधिकार है। कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा करने की जिस सरकार पर संविधान ने खासतौर पर जिम्मेदारी है उससे इतनी उम्मीद तो की ही जा सकती है कि जहाँ संघर्ष करने की नौबत आ जाय वहाँ जमीन के मालिक का पक्ष न लेकर गरीब के अधिकार की रक्षा करेगी और उनका साथ देगी।

6.43 दूसरा सवाल है भूमि संबंधी कानूनों के उल्लंघन का। खेती की जमीन के बारे में सभी राज्यों में अधिकतम सीमाएँ हैं परन्तु फिर भी ऐसा कैसे है कि जमीनदारों के पास अभी भी हजारों एकड जमीन है जिसको कहीं वे बंधुआ मजदूरों से जुतवाते हैं तो कहीं पड़त डाले रखते हैं जब कि गरीब अपनी आजीविका के लिये निराधार मारा मारा घूम रहा है।

6.44 यह सभी को मालूम है कि इन जमीनदारों का जमीनों पर कब्जा गैर-कानूनी है। यह भी साफ है कि ये लोग हमारी कानूनी व्यवस्था के उस पेच का फायदा उठा रहा है जिसमें अगर किसी तरह मामला उलझा दिया जाय तो सालों बिना फैसले के बीत सकते हैं। इस बीच भूमि पर कब्जा मालिक का बना रहता है और गरीब बेसहारा हो जाता है। जमीन के मामले में यह सुविदित है कि जमीन पर जिसका कब्जा है आखीर में वही जीतता है। कब्जेदार एक अदालत से दूसरी अदालत में उसी से होने वाली आमदनी खर्च करके अपना पक्ष बना सकता है। गरीब के पास अदालत लड़ने के लिये कोई वसीला नहीं।

6.45 इसलिए एक दूसरा बुनियादी सवाल यह है कि किसी भूमि के संबंध में विवाद होने की स्थिति में उस पर कब्जा किसका रहना चाहिए। आज की हालत में, जमीन को जोतने वाला मजदूर या बटाईदार जो उस जमीन से रोजी रोटी कमाता है, कब्जे के मामले में उसका कोई बुजूद नहीं है। जमीन पर कब्जा उसके मालिक का माना जाता है चाहे उसने उस खेत की कभी शकल भी न देखी हो। हमारी व्यवस्था के इस सोच का आधार है भूमि का सम्पत्ति रूप। भूमि सहित प्राकृतिक संसाधन लोगों की जिंदगी का आधार है सम्पत्ति नहीं। इसलिये आज के कानून में बुनियादी बदलाव की जरूरत है। परन्तु जब तक यह कानून नहीं बदला जाता है तब तक खेती करने वाले मजदूरों या बटाईदारों को न्याय मिले यह भी सुनिश्चित करना होगा। चूँकि इन लोगों की जिंदगी उस जमीन से चलती है इसलिये उसको जोतते रहने का उनका अधिकार है। इसी तरह से अगर कोई जमीनदार जमीन वैसे ही घेरे हुए है तो इसका मतलब यही हुआ कि वह कुछ दूसरे लोगों को उनके जिंदगी के अधिकार से वंचित कर रहा है। ऐसी हालत में उन लोगों को अपने जिंदगी के अधिकार की स्थापना करने का अधिकार है।

6.46 इस मामले में एक बात उल्लेखनीय है। कई राज्यों के कानूनों में यह प्रावधान था और कहीं-कहीं अभी भी है कि अगर जमीन का मालिक जमीन न जोते तो उस जमीन पर खेती हो इसके लिये प्रशासन प्रबंध कर सकता है। इसी तरह अगर कोई व्यक्ति जमीन छोड़कर चला जाय तो वह खेती करने के लिए दूसरे को दी जा सकती है। एक और बात भी है। आज के कानून के मुताबिक जमीन खेती के लिये दी जाती है। इसलिये जमीन का उपयोग खेती के अलावा किसी दूसरे काम के लिये सरकार की बिना अनुमति के नहीं किया जा सकता है। इसका मतलब यही है कि जमीन किसी व्यक्ति की निजी संपत्ति नहीं है जिसको जो चाहे जैसा उपयोग करे।

6.47 दुर्भाग्य से आजादी के बाद कानून के इस पहलू पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। कृषि की उन्नति की योजनाएँ बनी हैं परन्तु जमीन का मालिक उसका सही उपयोग कर रहा है या नहीं इस पर कोई अंकुश नहीं है। इसीलिये आज जमीन का संपत्ति रूप बहुत ही उभार पर है। शहरों के आसपास और औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए ली जाने वाली भूमि की कीमत अनाप-शनाप हो गई हैं। इसलिये बहुत से जमीनदार किसी भी कीमत पर अपना कब्जा बनाए रखना चाहते हैं, उनको उसके सही उपयोग की कोई चिंता नहीं है। ये लोग ऐसे मौके की तालाश में भी रहते हैं कि कहीं भारी रकम मिल जाय तो जमीन बेच दें। यह गलत है । जो लोग खेती पर निर्भर है उनका खेती की जमीन पर पहला हक बैठता है। यदि कोई खेती नहीं करता है या नाममात्र को खेती करके

जमीन पर अपना कब्जा बनाए रखना चाहता है तो वह दूसरे नागरिक को अपने जिंदगी के अधिकार से वंचित करता है जो हमारे कानून और संविधान की मूल चेतना के खिलाफ है।

6.48 सबसे खुशी की बात तो यह है कि अब आम आदमी इस संवैधानिक स्थिति और अपने बुनियादी अधिकारों के प्रति सजग होता जा रहा है। उसे अब यह गवारा नहीं कि सरकार अपने ही बनाए गए कानूनों पर अमल न करे या उनके अमल में ढील बरते अथवा उसके कर्मचारी जान-बूझ कर उसकी अवहेलना करे और अपराधियों की ओर से आंख बंद कर ले। वह अब उस न्यायिक व्यवस्था की साधारण प्रक्रियाओं का भी कायल नहीं है जिसमें उलझ कर मानव समाज के सबसे बुनियादी अधिकार जिंदगी के अधिकार-की अवहेलना हो जाय। उसे अब सब्र नहीं रहा है। इसीलिये जगह-जगह वह गैर-इंसाफी के खिलाफ और अपने अधिकारों की स्थापना के लए इकतरफा कार्रवाई के लिये मजबूर है। ऐसी हालत में दूसरा पक्ष, यहाँ तक कि सरकार भी प्रक्रिया, नियम और कानून का हवाला देकर उनकी कार्रवाई को अनुचित बताती है और राज्य की सत्ता का उनके खिलाफ उपयोग जायज मानती है। इस पर तत्काल पुनर्विचार की जरूरत है।

6.49 ये सभी संघर्ष बुनियादी तौर पर **दो अधिकारों के बीच टकराव हैं - एक ओर जीवन का अधिकार और दूसरी ओर संपत्ति का अधिकार। जीवन का अधिकार सम्पत्ति के अधिकार से भी बड़ा** है। सच तो यह है कि सम्पत्ति का अधिकार तो हमारे संविधान में माना ही नहीं गया है। इसलिए जीवन के अधिकार की रक्षा राज्य का पहला कर्तव्य है। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के संवैधानिक अधिकारों की रक्षा के इस दायित्व के बारे में राज्य को एक दिन के लिए भी ढिलाई नहीं बरती चाहिए - ऐसा करना संविधान की खुली अवमानना होगी। काम करने वाले का उत्पादन के साधनों से अलगाव न हो और वह उनका उपयोग करके अपनी आजीविका चला सके, इसको सुनिश्चित करने के लिये वर्तमान कानूनों का सही अमल हो, उनमें जरूरी संशोधन किए जांए और लोगों के संघर्ष में राज्य की सत्ता असंदिग्ध रूप से उनका समर्थन करे।

7

उत्पादन के साधनों पर अधिकार- 3
सवाल बंधक मजदूरों का

वंचना की प्रक्रिया में पिसते हुए आदमी के सामने कभी-कभी ऐसी भी नौबत आ जाती है जब वह अपनी आजादी को ही बेचने के लिए मजबूर हो जाता है। फिर वह किसी जमीनदार या किसी ठेकेदार के यहाँ उनके खेत या बागान में, ईंट के भट्ठे, पत्थर की खदान में या गलीचा बनाने के कारखाने में बंधुआ मजदूर बन जाता है। यहाँ उसको सिर्फ इतनी मजदूरी मिलती है जिससे उसके हाथ पैर चलते रहें। जब यह बंधुआ काम करते-करते लाचार हो जाता है तो चुसे हुए फल की तरह फेंक दिया जाता है और फिर उसकी जगह गरीबों की लम्बी कतार में से एक नया आदमी भर्ती कर लिया जाता है - जब तक उसका शरीर साथ दे तब तक काम करने के लिये और आखीर में फिर उसी तरह चूस कर फेंक दिये जाने के लिये।

7.2 हमारे संविधान में यह अमानवीय प्रथा खत्म कर दी गई थी। इस राष्ट्रीय संकल्प को अमल में लाने के लिये कई कानून भी बनें। बंधुआ मजदूर रखना अपराध है, इस अपराध के लिये सजा भी हो सकती हैं। कुछ लोगों को सजा हुई भी है परन्तु ऐसे मामले उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। बंधुआ मजदूरों को छुड़वाने के अभियान चले। बहुत सी स्वयंसेवी संस्थायें भी इसमें आगे आई हैं और उन्होंने अच्छा काम किया है। परन्तु इन सब कार्रवाईयों में कामयाबी मिल जाने पर और बंधुआ को आजादी मिल जाने पर भी उसकी जिंदगी का सवाल तो जैसे का तैसा तैयार बना रहता है। सच तो यह है कि उस बंधन के घेरे में उसको दो जून खाने के लिए तो मिल ही जाता है। घेरे के बाहर आने पर आजादी तो मिल जाती है पर पेट भरने के लाले पड़ जाते हैं। और जब कोई चारा नहीं रह जाता है तो उसे फिर से उस मालिक की नहीं तो किसी और मालिक की शरण लेनी पड़ती है। घूम फिर कर बात वहीं पहुँच जाती है।

7.3 इसी घेरे को तोड़ने के लिये सरकार ने बंधुआ मजदूरों के आर्थिक पुनर्वास के लिए भी कई कार्यक्रम बनाये हैं। इन कार्यक्रमों में बंधुआ को छूटने के तुरन्त बाद आर्थिक सहायता देने का व्यवस्था है। इसके साथ ही उसे गरीबी के दूसरे कार्यक्रमों की सुविधायें भी दी जा सकती हैं। इन कार्यक्रमों में भी कुछ सफलता तो मिली है। परन्तु बहुत से बंधुआ मजदूर सब तरह की सहायता मिलने के बाद भी अपने पैरों पर नहीं खड़े हो पाते हैं और फिर से वे किसी न किसी के बंधुआ बन जाते है या बिना किसी सहारे के भटकने के लिए मजबूर हो जाते हैं। बहुत से बंधुआ मजदूरों को तो सरकारी या और दूसरी सहायता भी नहीं मिल पाती है इसलिये उनकी हालत और भी बदतर हो जाती है।

आजादी का मोल नहीं।

7.4 बंधुआ मजदूरों की मुक्ति के लिए कानून काफी व्यापक है। इस कानून की मूल चेतना के अनुसार यदि किसी व्यवस्था में व्यक्ति की आजादी खत्म होती है, तो वह गलत है और उस स्थिति के लिये जिम्मेदार व्यक्ति दंडनीय अपराध का दोषी है। आज की पेचीदा व्यवस्था में किसी व्यक्ति की आजादी को कई तरह से छीना जा सकता है। इसका सबसे सीधा तरीका तो बल प्रयोग का है। परन्तु उसके अलावा धन का बंधन भी आजादी को खत्म करने के लिये बड़े ही कारगर रूप से प्रयोग किया जाता है। बंधुआ मुक्ति के कानून में दोनों ही बातों को पूरी तरह ध्यान रखा गया है। इसीलिए

ऐसा कोई भी अनुबंध जिसमें किसी व्यक्ति को अपने श्रम का उचित मूल्य न मिले बंधक मजदूरी की परिभाषा में आ जाता है और इस कारण दण्डनीय अपराध बन जाता है। इसमें कर्ज देकर कम मजदूरी पर काम करने की मजबूरी तो शामिल है ही इसके साथ-साथ कर्ज देकर किसी की फसल पहले से कम दाम पर खरीदने का अनुबंध भी बंधुआ मजदूरी का ही एक रूप है। यही नहीं, उच्चतम-न्यायालय के निर्णयों के अनुसार किसी भी हालत में चाहे कर्ज हो या न हो, न्यूनतम मजदूरी से कम मजदूरी पर काम पर बंधुआ मजदूरी के दायरे में शामिल है।

7.5 कम मजदूरी या कम कीमत पर फसल की पहले से खरीद इन रूपों में शोषण असंगठित क्षेत्र, खास कर गाँव की व्यवस्था में, इतना व्यापक है कि वहाँ की लगभग सभी तरह की मजदूरी इस परिभाषा में आ जाती है। इसलिए प्रशासनिक और समाजशास्त्रियों में भी बंधुआ मजदूरी किसे माना जाय इस बारे में काफी मतभेद है, भ्रांति भी है। आमतौर पर दो प्रकार की व्यवस्थाओं को ही बंधुआ मजदूरी माना गया है। **पहली वह व्यवस्था जहाँ पर किसी व्यक्ति को सामाजिक दबाव या शारीरिक** जोर-जबरदस्ती से **मजदूरी करने के लिए मजबूर किया जाय। दूसरे, जहाँ पर पैसे के बल पर या ऋण देकर किसी व्यक्ति को काम करने के लिए मजबूर किया जाय।** पैसे के बल पर या ऋण देकर काम करने की मजबूरी को बंधुआ मजदूरी कहा जाय या नहीं। इसके बारे में भी अधिकारियों, यहाँ तक कि राजनेताओं में भी गलतफहमी है। इसके बारे में आमतौर पर यही बात आती है कि आखिर रुपये की पेशगी देकर अगर कोई मजदूर रखता है तो उसके साथ कोई न कोई शर्त तो लगानी ही होगी। अगर उस आदमी को मजदूरी नहीं करनी है तो पैसा वापिस दे दे। इस तरह आमतौर पर पेशगी के बदले में मजदूरी करनी ही पड़ेगी, इस बात को बंधन माना ही नहीं जाता है। उसे साफ तौर पर नहीं तो मौन रखकर जायज मान लिया जाता है। इसलिये इस बारे में संविधान और कानून की मंशा को साफ करना जरूरी है।

7.6 पेशगी रुपया देना कर्ज है और कर्ज का करार लेन-देन का सिविल मामला है। परन्तु मजदूरी काम करने का करार है जिसमें मजदूर अपनी इच्छा से दूसरे के लिये काम करने का इकरार करता है। इस इकरारनामें एक खासियत है कि वह पूरी तरह से स्वेच्छा से होना चाहिये। इस मामले में किसी भी व्यक्ति पर किसी तरह की जोर जबरदस्ती नहीं की जा सकती है। अपनी मर्जी से काम करना या काम न करना यह बुनियादी मानवीय अधिकार माना गया है। अगर कोई आदमी किसी भी कारण किसी की मजदूरी करने या न करने के लिये मजबूर है तो इस बुनियादी मानवीय अधिकार का उल्लंघन होता है, हमारे संविधान में दिये गये निजी आजादी के हक पर आंच आती है। निजी आजादी की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। इसलिए किसी आदमी पर पेशगी है इसलिये उसे मजदूरी करनी पड़ेगी यह बात असंवैधानिक है, मानवीय अधिकारों का हनन है। जब तक सभी स्तरों पर इसके बारे में सफाई नहीं होती है तब तक बंधुआ मजदूरी के बारे में दोमुही बात होती रहेगी।

कानून का क्रियान्वयन एकांगी

7.7 आज बंधुआ मजदूरी के कानून को अमल में लाते समय उसका उल्लंघन करने वाले के खिलाफ कार्रवाई नहीं होती है। बंधुआ मजदूर को छुड़वा देने पर ही जोर दिया जाता है। इसलिए जब इस कानून के तहत सिर्फ बंधुआ को छुड़ाने की कार्रवाई होती है तो उससे मालिक को कोई फर्क नहीं पड़ता। उसके लिये तो इतना ही होता है एक आदमी चला गया जिसकी उसे कोई चिंता नहीं। उसे उसकी जगह दूसरा आदमी मिल ही जाएगा। इस तरह बंधुआ मजदूरों को छुड़वाने की कार्रवाई में कुछ ऐसे लोगों को जो बंधुआ रहे हों थोड़ा लाभ जरूर मिल जाता है परन्तु बंधुआ मजदूरी की बात जैसी की तैसी रह जाती है।

7.8 बंधुआ मजदूरी को छुड़ाने के साथ साथ उनके पुनर्वास की योजना का एक और पहलू भी है। इस योजना में पुनर्वास के लिए अनुदान इत्यादि देने की बात अच्छी नियत से की गई थी। परन्तु इस योजना ने मौके पर हालात को और भी बिगाड़ दिया है। कई मामलों में तो सिर्फ अनुदान का फायदा की गर्ज से किसी भी आदमी को बंधुआ कह कर पेश कर दिया जाता है। बंधुआ को मिलने वाली राशि मालिक और कर्मचारी मिल करके खा लेते हैं। ऐसी हालत में असली बंधुआ मजदूर को तो पहचानना ही कठिन हो जाता है। उनकी हालत जैसी की तैसी बनी रहती है।

7.9 बंधुआ मजदूरों की समस्या के सही समाधान के लिए आज के सोच में बदलाव करना होगा। आखिर बंधुआ मजदूर किसी न किसी काम में तो लगा ही होता है। उसके साथ दो बातें हो रही हैं - एक तो उसको मजदूरी पूरी नहीं मिलती है और दूसरे उसको अपने मन के मुताबिक काम छोड़ने और दूसरा काम करने की आजादी नहीं है। उधर रोजगार के मामले में हालत बुरी है। सभी जानते हैं कि बेरोजगारी बढ़ रही है और गरीब को ठीकठाक काम करना कठिन है। निजी रोजगार के अवसर भी कम ही हैं और उनमें सफलता मिलना बड़ा कठिन है। इस हालत में बंधुआ जिस काम में लगा है उसे उससे छुड़ाकर आजादी दिलाने की बात असंगत है। इसलिए बंधुआ को छुड़ाने से कानून और कार्यक्रम की औपचारिकताएँ तो निभ जाती हैं परन्तु उस समस्या का तो सही हल होना चाहिये वह जानबूझ कर नजरअंदाज कर दिया जाता है।

बंधुआ की सही मुक्ति किससे ?

7.10 किसी भी कारोबार के मोटेतौर पर तीन अंग होते हैं - **मालिक, उत्पादन के साधन** और **मजदूर**। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि जमीन और उसी तरह दूसरे उत्पादन के साधन मालिक के लिये संपत्ति हैं। परन्तु मजदूर के लिये वे ही साधन जिंदगी चलाने का आधार हैं। **इसलिए इन्साफ तो इसी में है कि उत्पादन के साधनों पर मजदूर के अलावा और किसी का अधिकार होना ही नहीं चाहिये।** परन्तु जब तक यह अन्यायी व्यवस्था खत्म नहीं हो जाती और उत्पादन के साधनों पर मालिक का कब्जा है तब तक क्या उन साधनों से मजदूर का जिंदगी चलाने का अधिकार नहीं है जिंदगी का अधिकार बुनियादी है और उसकी रक्षा करना राज्य की जिम्मेदारी है। सम्पत्ति का अधिकार बुनियादी नहीं है, न वह संवैधानिक है। सम्पत्ति ली जा सकती है। परन्तु आदमी की जिंदगी का अधिकार छीनने का किसी को हक नहीं है। इस संबंध में नजरिया साफ न होने के कारण ही बंधुआ मजदूरी के मामले में अनजाने में या जानबूझकर मालिक के सम्पत्ति के अधिकार को नहीं छुआ जा सकता है यह मानकर मजदूर के जिंदगी के हक की हिफाजत नहीं की जा रही है। उसे बंधन से छुड़ाने की कार्रवाई में उसे अपनी जिंदगी चलाने के उत्पादन के साधनों से अलहदा कर दिया जाता है। यह न इंसाफ है और न संविधान की ही भावना के अनुरूप है।

7.11 बंधुआ मजदूरों के मामले में अपनाई गई अब तक की नीति में ही एक बुनियादी कमी है। उस मजदूर को गुलामी (की जंजीर) पहनाने वाला तो मालिक है, जिस कारोबार में वह लगा हुआ है उससे तो उसकी जिंदगी चलती है। कैसी विडम्बना है कि **उसकी मुक्ति की योजना उसकी गुलामी की जंजीरों को काटने की बजाय उसको अपनी जिंदगी के सहारे से काट देती है। इस बुनियादी गलती का सुधार जरूरी है। बंधुआ मजदूर की गुलामी की जंजीरें काटी जायं, पर उसके साथ यह ध्यान रखा जाय कि वह अपनी जिंदगी के सहारे से न कट जाय। उसके जिंदगी के सहारे पर अर्थात् जिस काम में वह लगा है उस कारोबार में उसका हक है। उसके इन बुनियादी हक की रक्षा की जाय और उसके अमानवीय संबंधों को काट जाय, यही सही बंधुआ मुक्ति होगी।**

7.12 इस तरह बंधुआ मजदूरी की प्रथा समाप्त करने के कार्यक्रम में तीन उसूलों पर अमल होना चाहिये। **पहले,** सरकार यह सुनिश्चित करे कि जो व्यक्ति जहाँ काम कर रहा हो वह वहाँ काम करता रहे। **दूसरे,** उसे काम के लिए उचित मजदूरी मिले। **अंतिम,** अगर बंधुआ अपनी इच्छा से उस काम से अलग होना चाहता है तो उसके रास्ते में कोई रुकावट नहीं आए।

7.13 इन उसूलों के मुताबिक अगर कार्रवाई होती है तो उसमें कोई बंधुआ मजदूर किस हालत में काम कर रहा हैं उसको देखना होगा और उनके लिए अलग-अलग कार्रवाई करनी होगी। हम यहाँ कुछ खास कामों में लगे मजदूरों के बारे में जिनमें अधिकांश बंधुआ आ जाते हैं, विस्तार से विचार कर सकते हैं। एक खेती में लगे **और बागानों में बंधे बंधुआ मजदूर और दूसरे खदानों** और भट्ठों में काम करने वाले बंधुआ मजदूर। इससे दूसरे अन्य कामों में लगे लोगों के लिये क्या किया जाय इसके लिये भी रोशनी मिल सकती है।

जमीन की जंजीर

7.14 कर्ज या पेशगी देकर बंधुआ मजदूरी की प्रथा पर काफी बहस हो चुकी है। परन्तु उन बंधुआ मजदूरों की बात, जिन्हें बड़े-बड़े जमीनदार थोड़ी सी जमीन देकर बंधुआ मजदूर बनाकर रखते हैं, बहुत नहीं हुई है। जमीन और खेती के मामले में एक बात साफ हैं - जो आदमी जिस जमीन को जोत रहा है उसको जोतते रहने का उसका हक है। इस हक की रक्षा करना राज्य की जिम्मेदारी है। इसलिए बंधुआ मजदूरी के ऐसे मामलों में पहली बात तो यह साफ तौर पर कही जानी चाहिये और उसका कड़ाई से अमल भी होना चाहिये कि जो बंधुआ मजदूर जिस जमीन को जोत रहा हो, वह उसको जोतता रहे। मजदूर को उस जमीन के हटाने का मालिक को कोई हक नहीं है। अगर मालिक को उस व्यक्ति से मजदूरी करवानी है तो वह उसकी इच्छा से और वाजिब मजदूरी देकर ही उससे मजदूरी करवा सकता है। अगर उस आदमी को दूसरी जगह मजदूरी मिलती है तो वह जमीन के मालिक के यहाँ काम न करके दूसरी जगह मजदूरी करने के लिए आजाद होगा। जमीन के मालिक के यहाँ मजदूरी न करने के आधार पर उससे जो जमीन वह जोत रहा है, उसे नहीं छीना जा सकता। जमीन पर उसका हक जो शुरू में उसे मजदूरी के कारण ही क्यों न दी गई हो और मजदूरी ये दो मामले बिलकुल अलग-अलग हैं।

7.15 **सोते** गाँव के संघर्ष में, जिसका हम पहले जिक्र कर चुके है, बंधुआ मजदूर भी शामिल हैं। इन बंधुआ मजदूरों के लिए इन तीनों बातों को अर्थात् जमीन पर हक, उचित मजदूरी और दूसरी जगह मजदूरी करने की आजादी सुनिश्चित करना राज्य की जिम्मेदारी है। **अगर मालिक इसमें कोई भी रोड़ा अटकाता है तो उस मालिक ने कानून के खिलाफ उनको बंधुआ बनाकर रखा है इसके लिये मजदूरों को दी गई जमीन ही सबसे बड़ी गवाही है।** ये बंधुआ मजदूर साल-दर-साल मालिक की जमीन जोतते रहे हैं यह सबको मालूम है, उससे इन्कार ही नहीं किया जा सकता है। अगर मालिक कहता है कि उन मजदूरों पर किसी तरह का बंधन नहीं था, नहीं है तो उसकी बात को मान लिया जाय। उसका मतलब यही होगा कि जिस जमीन को मजदूर जोत रहे हैं उसको जोतते रहने का उनका हक है। ताज्जुब है कि इतनी साफ कानूनी पकड़ होने के बाद भी 28 लोगों को बंधुआ रखने वाले जमीनदार के खिलाफ भी कानूनी कार्रवाई नहीं हो पाई। यही नहीं, इस साल उन मजदूरों को जमीन भी नहीं जोतने दी गई। मुझे उम्मीद है कि इन गरीबों को, जिनमें बहुत से हरिजन हैं, न्याय दिलाया जाएगा और अपराधी को दण्ड मिलेगा।

7.16 हमारे देश में न जाने कितने जमीनदार और फार्मों के मालिक हजारों एकड़ जमीन पर इसी तरह बंधुआ मजदूर रखकर अपनी मिल्कियत और कब्जा बनाये बैठे हैं। इन मजदूरों को खेत के एक छोटे से टुकड़े का लालच देकर बांध लिया है। इन मजदूरों को भी यह अधिकार है कि वे कह दें कि जिस जमीन को वे जोत रहे हैं वे उसे नहीं छोड़ेंगे । अगर जमीन का मालिक उनसे मजदूरी करवाना चाहे तो उसके लिए वह तैयार है बशर्ते कि वाजिब मजदूरी मिले। दासता की बेड़ियों में बंधे हुए ये लोग अगर इस संकल्प को लेते हैं तो राज्य का दायित्व है कि वह उनके जीवन के अधिकार की रक्षा करे और उस लड़ाई में उनका साथ भी दे। इन मजदूरों की गुलामी की स्थिति खत्म करने के लिये कानून बनाना जरूरी है। **जमीनदारों के उन सभी मजदूरों को जिन्हें जमीन देकर मालिक अभी तक बांधे रहे हैं उस जमीन पर उनको हक दे दिया जाय।** इस कानून के बन जाने पर आज की हालत जो संविधान की भावना के प्रतिकूल है समाप्त हो जायेगी, कानून और संविधान के बीच विसंगति नहीं रहेगी और लोगों को न्याय और जीवन का अधिकार मिल जायेगा।

कर्ज या बंधन बेबसी का

7.17 खेती से जुड़े हुए अधिकतर बंधुआ मजदूरों के लिये बंधन या तो कर्ज का होता है अथवा महज उनकी बेवसी का जिससे उन्हें कितनी भी कम मजदूरी देकर मजदूरी करते रहने के लिये मजबूर होना पड़ता है। वैसे तो अभी तक बधुआ मुक्ति में अधिकतर काम कर्ज के बंधन को तुड़वाने का ही हुआ है परन्तु इस मामले में स्थिति में खास सुधार नहीं हुआ है। जब तक कर्ज के लिये वैकल्पिक व्यवस्था नहीं हो जाती और लोगों का खुद अपना यह सोच कि "कर्ज लिया है इसलिये काम करना उनका नैतिक कर्तव्य है" नहीं बदल जाता बंधुआ मजदूरी के बारे में बुनियादी बदलाव की संभावना कम ही है।

7.18 फिर भी इस विषय में मैं एक खास समस्या की ओर ध्यान दिलाना चाहूँगा। कर्ज के आधार पर बंधुआ मजदूरी के मामले जब अदालत में पेश होते हैं तो अक्सर मालिक यह कह कर कि "मैं कोई कर्ज दिया ही नहीं और अमुक व्यक्ति उसका सामान्य मजदूर है" छूटती पा जाता है। इस तरह अदालत में तो कार्रवाई खतम हो जाती है पर मालिक का मजदूर पर दबाव कम नहीं होता है। उसके बाद भी मजदूर को काम करने के लिये या कर्ज वापिस करने के लिये मजबूर किया जाता हैं। **उन सभी मामलों में जहाँ मालिक कहता है कि उसने कर्ज दिया ही नहीं, अदालतों का यह दायित्व होना चाहिये कि वे बंधुआ मजदूर को मालिक के उस बयान और उसके बयान के आधार पर मामला खारिज करने के आदेश की एक प्रति बिना किसी शुल्क के खुद व खुद दे दे जिससे कि मजदूर के पास प्रमाण रहे और यदि उस पर कर्ज की वसूली या काम करने के लिये दबाव आता है तो वह उसे पेश कर सके और अदालत में मानहानि का दावा भी कर सके।**

7.19 जहाँ किसी व्यक्ति को न्यूनतम दर से कम मजदूरी पर काम करना पड़े वह भी बंधुआ मजदूरी के दायरे में आ जाता है। परन्तु इन मामलों में कई तरह की स्थितियाँ हो सकती है - एक ओर छोटे किसान हैं जिनकी माली हालत ही ऐसी नहीं है कि वे न्यूनतम मजदूरी दे सकें। अगर न्यूनतम मजदूरी देना उनके लिये जरूरी हो जाय तो हो सकता हैं कि वे मजदूर ही नहीं रखें। परन्तु मझोले या बड़े किसान और दूसरे धंधों में लगे हुए गैरमौजूदा भूस्वामियों के साथ तो ऐसी कोई मजबूरी नहीं है। इसलिये उनके मामलों में तो प्रशासन यदि चाहे तो न्यूनतम मजदूरी आसानी से दिलाई जा सकती है। चूँकि न्यूनतम मजदूरी न देना केवल न्यूनतम मजदूरी के कानून का उल्लंघन नहीं है वरन् बंधक मजदूरी कानून के तहत दण्डनीय अपराध भी है। इसलिये प्रशासन इन आसूदा लोगों

से, यह कानूनी व्यवस्था स्पष्ट करते हुए, उन मजदूरों को पूरे समय की पूरी मजदूरी दिला सकता है। यही कार्रवाई कर्ज के बदले पहले से कम कीमत पर खड़ी फसल खरीद के मामले में की जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति बकाया मजदूरी या कीमत देने में आनाकानी करे तो उसके खिलाफ बंधक मजदूर रखने का फौजदारी मुकदमा भी चलाया जा सकता है।

बागानों में कैद बंधुआ

7.20 वैसे तो अंग्रेजी राज के जमाने में बंधक मजदूरी की बुनियाद पर ही सभी तरह के बागानों का निर्माण हुआ था परन्तु समय के साथ बहुत से बागान मजदूरों के बंधन तो कमोवेश टूट गए हालांकि उनकी सामाजिक-आर्थिक हालत में कोई खास सुधार नहीं हुआ। इसके बारे में आगे हम विस्तार से चर्चा करेंगे। सबसे खेद की बात तो यह है कि कई बागानों में मजदूरों की बेड़ियां आज भी पहले जैसी ही बनी हैं और उनकी स्थिति कैदियों जैसी है।

7.21 तमिलनाडु की कोडाय पर्वत श्रृंखला की निचली पहाड़ियों के बागानों में हालत खासतौर से शोचनीय है। यहाँ कई छोटे-छोटे कॉफी के बागान हैं जिनमें अधिकतर मजदूर पनियन आदिवासी हैं। उनका बचपन से बुढ़ापे तक एक ही काम है - बागान में मजदूरी। इन लोगों की रहाइश जानबूझ कर सड़क से दूर जंगल में ही रखी जाती है जिससे उनका बाहर वालों से कोई संपर्क न हो सके। मजदूरी के रूप में बच्चे को एक चौथाई पयला (माप) चावल मिलता है, आदमी को तीन-चौथाई पयला और औरत को उससे कुछ कम। साल में एक जोड़ा कपड़ा वही एक कमीज और वही एक लुंगी जब तक तार-तार नहीं हो जाती अंग पर उनकी बेवस जिंदगी की दास्तान बनी लटकी रहती है। बीमारी आजारी में भी भगवान का ही भरोसा रहता है। हर आदमी कर्ज में डूबा रहता है। कहते हैं कि "सिर के बाल गिने जा सकते हैं पर पनियन के कर्ज का हिसाब नहीं लगाया जा सकता कहाँ तक कोई गिनती करेगा।"

7.22 इस तरह जिंदगी छीजती रहती है इन निरीह आदिवासियों की इन कॉफी के बागानों में, जिन्हें वे अपने खून-पसीने से सीचते हैं। इस अपने ही देस-परदेस में मरने पर भी उनकी देह को दफनाने तक के लिये ऐसी दो हाथ जमीन नहीं है जिसे वे अपनी कह सकें और मिल जाय उस मिट्टी में जिसमें से वे उपजे थे। दुनिया से दूर उससे बिल्कुल निस्संग, एक अभेद्य दीवार के उस पार, जिसमें से कोई झाँकने की या जिसे लाँघने की कोई हिमाकत तक नहीं कर सकता, "कैदी" हैं ये मानव आकृतियाँ और उसका छोटा सा संसार।

7.23 ये कॉफी बागान उनके मालिकों के लिये सोने की खान हैं, देश के लिये बहुमूल्य मुद्रा की कमाई के साधन है, परन्तु उन्हीं बागानों से उनको लगाने वाले, खून-पसीने से उनको सींचने वाले मजदूर के लिये दो जून भरपेट रोटी और तन को ढकने के लिये दो कपड़े भी नहीं। इस हालत में क्या होना चाहिये ? बंधुआ मजदूरी की मुक्ति और पुनर्वास ? क्या इस हालत में इन लोगों की "मुक्ति" की बात करना उस व्यवस्था का ही परिहास होगा जो सामाजिक आर्थिक न्याय के नाम पर उसका वह अकिंचन आसरा या "कैदी" की सुराक भी छीन लें ? सच तो यह है कि यहाँ सवाल उन मेहनतकशों को अपने लगाए उन बागानों से मुक्ति का न होकर उन बागानों में साधिकार रह बस कर आत्मसम्मान की जिंदगी बसर करने और उसकी प्रबंध व्यवस्था में सहभागिता का है।

भट्ट-खदानों के बंधुआ मजदूर

7.24 बंधुआ मजदूरों के दूसरे बड़े अड्डे हैं मिट्टी की खदान, ईंट के भट्टे, कालीन के कारखाने इत्यादि। अभी तक इन कारबारों में लगे बंधुआ मजदूरों को आजाद करने के लिये कार्रवाई में जोर

उन लोगों को वहाँ से निकाल कर दूसरा काम दिलाने पर रहा है। उनकी रिहाई करने में बंधुआ को मालिक से छुट्टी मिल जाती है और दूसरा कोई काम करने के लिये वह आजाद भी हो जाता है। परन्तु अक्सर यह आजादी बहुत दिनों तक नहीं चल पाती। ये लोग थोड़े दिन बाद उसी कारबार या दूसरी जगह जाकर फंस जाते हैं।

7.25 जैसा हम पहले कह चुके हैं कि यहाँ उसूल की बात तो है ही, पर उसके साथ अमल का भी सवाल है। ये सभी कारबार चल तो रहे ही हैं - उनमें उत्पादन होता है, मजदूरों को मजदूरी मिलती है और मालिक का मुनाफा। फिर इनमें लगे उन लोगों को, जिनके साथ अन्याय हो रहा है, बाहर क्यों निकाला जाय ? आखिर इन कारबारों में काम करने वालों को काम करते रहने का हक है। राज्य की भी यह जिम्मेदारी है कि वह उनको वाजिब मजदूरी दिलवाये और मालिक के शोषण से उनको राहत दिलवाये।

कोत से सोनभद्र - एक बेजार बंधुआ पट्टी

7.26 वैसे तो ईंट भट्टों और खदानों में काम करने वालों की बुरी हालत के बारे में खबरें आती ही रहती हैं। यहाँ काम करने वालों में से बहुतो को राहत भी मिली है। परन्तु फिर भी कुछ इलाकों की हालत बहुत ही ज्यादा खराब है। **राजस्थान** में कोटा से लेकर मध्यप्रदेश के श्योपुर, शिवपुरी और उसके बाद मध्यप्रदेश-उत्तरप्रदेश के सरहदी इलाकों में सहरिया और कोल जनजातियाँ रहती हैं। ये जातियाँ सबसे अधिक दबी हुई हैं। पहले तो ये लोग बहुतकर जंगलों से गुजारा करते थे। परन्तु अब इन इलाकों में या तो जंगल रहे ही नहीं या ये लोग जंगलों से निकाल दिये गये। बात वही हुई, ये साधनहीन हो गये और खेती कर नहीं पाये। जहाँ कुछ खेती की अच्छी जमीन थी भी, उस पर से भी इनका कब्जा जाता रहा। अब मजदूरी ही इन लोगों का मुख्य पेशा है।

7.27 सहरिया और कोल इस पूरे इलाके में दूसरों के चंगुल में फँस गये हैं। कहीं वे खेती में बंधक मजदूर हैं तो कहीं गिट्टी की खदानों में। इस इलाके में जंगल के बाद मुख्य संसाधन पत्थर हैं। बाहर के लोगों ने यहाँ जगह-जगह खदानें बना ली हैं - कुछ कानूनी और बहुत सी गैर-कानूनी। यही खदानें बंधुआ मजदूरी की भी सबसे बड़ी खदानें हैं - इनमें बहुत से मजदूर कोल और सहरिया हैं।

7.28 उत्तरप्रदेश के सोनभद्र जिले में बड़े-बड़े लोगों ने आदिवासियों की जमीनें लेकर गिट्टी तोड़ने के क्रेशर लगाए हैं और हजारों कोल उनमें बंधक मजदूर हैं। इनके मालिक इतने तगड़े हैं कि प्रशासन तो क्या सामाजिक कार्यकर्ता भी इस मसले को उठाने में हिचकते हैं। हो रहा है सो होने दो। ऐसी ही या इससे भी बुरी हालत इलाहाबाद और बांदा के दक्षिणी भाग में है। अभी हाल ही में **लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी** के प्रशिक्षार्थी बांदा में गये थे। वहाँ पहुँचने पर इन लोगों को रामनगर विकासखंड के इतवारी गाँव में मजदूरों की दर्दनाक हालत के बारे में कुछ सुनाई दिया। इसलिये उन्होंने वहाँ जाकर उनकी हालत को खुद ही देखने का सोचा। इस पर जिला मजिस्ट्रेट से लेकर सबसे छोटे अधिकारी ने उनको वहाँ न जाने के लिये कहा - "डकैतों का इलाका है। क्या करोगे मजदूरों से बात करके ? आप लोगों की अपनी जान भी खतरे में पड़ सकती है" फिर भी उनमें से दो प्रशिक्षार्थियों की टोली वहाँ हिम्मत करके पहुँची और मजदूरों से बात की। मौके पर 53 मजदूर एक गहरी खदान में काम कर रहे थे। इसके अलावा 30-40 मजदूर और होंगे।

7.29 इस खदान में काम करने वाले उसी गाँव या आसपास के गाँवों के हैं। वैसे तो सातों जाति के लोग हैं काम करने वालों में, परन्तु उनमें हरिजन और कोल ही अधिक हैं। इन लोगों का इस

खदान में काम करना नियति है, उससे छूटने का कोई उपाय नहीं है, वही उनकी जिंदगी हो गई है या उसी से उनकी जिंदगी जुड़ गई है। किसी-किसी के उम्र मालिक का कर्ज भी है। परन्तु काम करने के लिये असली दबाव पैसे का नहीं है। **अगर कोई काम पर जाने के लिये मना करने की जुर्रत करे तो उसकी जान भी जा सकती है, हाथ पैर तुड़वाए जा सकते हैं, पिटाई तो बड़ी ही मामूली बात है।** दस-बीस, पचास----कितने साल गुजर गये वहाँ काम करते कौन जाने।

7.30 **गाँव** का प्रधान इस खदान का मालिक है। उसके लिये किसी लड़की या औरत को उठा लेना मामूली बात है - एक सप्ताह में छह बलात्कारों के वाकये इन प्रशिक्षार्थियों को बताए गए। मजदूरी के नाम पर जो मिल जाय सो बहुत है - वैसे दर 2 रुपये से 6 रुपये रोज पड़ जाती है - "पाँच पाव ज्वार" मिल जाय तो भी भाग्य मानते हैं।

7.31 ज्यादा बातचीत करने पर प्रशिक्षार्थियों को भी डाट डपट कर और यह कह कर भगा दिया गया कि उन लोगों की भी शामत आ सकती है। जिला प्रशासन से जब इस इलाके की इस हालत की बात की गई तो वही सवाल और वही जवाब। कौन हैं बंधुआ ? आखिर इन लोगों को कुछ तो मिल जाता है ? और अंत में "करें क्या इलाका ही ऐसा है।" बस।

7.32 आजादी के 40 साल बाद कहीं भी मजदूरों की ऐसी हालत हो सकती है यह सोचा भी नहीं जा सकता है। परन्तु उम्र की घटनाएँ तथ्य हैं सुनी कहानियाँ नहीं। प्रशिक्षार्थियों का कहना था कि इस गाँव में हालत सबसे बुरी है परन्तु हालत पूरे जिले में ही खराब है। और फिर इस जिले के पाठा अंचल में तो ये लोग जा ही नहीं पाये जो कि कोलों का घर है। कहते हैं कि वहाँ का हाल तो न कहा जाय वही ठीक है।

7.33 बंधक मजदूरों के बारे में यह पहली खोज नहीं है। बंधक मजदूरी को खतम करने के लिये जब पहले पहल कानून सन् 1975 में बना था उस समय सभी इलाकों से इस तरह के न जाने कितने मामले सामने आये थे जिनकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। परन्तु उसके 14 साल के बाद आज भी इतने बड़े इलाके में ऐसा उत्पीड़न और शोषण चल रहा हो, जो प्रशासन की जानकारी में हो, जिसे सामाजिक कार्यकर्ता जानते हों पर उनकी ओर से "क्या करें ?" कह कर मुँह फेर लें, इसे क्या कहा जाय। मानव अधिकारों की यह अवहेलना खेद की ही नहीं, बड़ी शर्म की बात है-----देश में सभी के लिये।

शंकरगढ़ की अनंत लीज ?

7.34 इस इलाके में उत्खनन के व्यवसाय में एक महत्वपूर्ण मामला शंकरगढ़ का है। कहते हैं कि शंकरगढ़ के राजा साहब ने रानी साहिबा के नाम 46 गाँवो में उत्खनन का बिना मियादी पट्टा 4 हजार रु० प्रतिवर्ष की दर से दे दिया। इस पट्टे के तहत रानी साहिबा की ओर से न केवल उन 46 गाँवों में वरन् उससे भी बड़े इलाके में धड़ल्ले से उत्खनन करवाया जा रहा है। इनमें खदानों में काम करने वाले मजदूरों की हालत इस पट्टी में और जगहों की तरह ही शोचनीय है। इलाहाबाद के जिलाधीश ने लगभग 10 साल पहले रानी साहिबा को उत्खनन की समूची कार्रवाई को नये कानून के तहत व्यवस्थित करवाने के लिये नोटिस दिया। उस आदेश के खिलाफ रानी साहिबा ने मामला सिविल अदालत में पेश कर दिया। तभी से यह मामला अदालत में उलझा हुआ है।

7.35 यह जानते हुए भी कि शंकरगढ़ इलाके में उत्खनन की पूरी कार्रवाई ही गलत है, प्रशासन उस मामले में कोई भी कार्रवाई करने में असमर्थ है। रानी साहिबा को तुरंत लाभ से मतलब है न उनको उस संसाधन के खतम होने से कोई सरोकार है और न पूरे इलाके के बीरान और बेहड़ हो जाने की कोई चिंता। नियम और कानून बंध गया है अदालत की फाइलों में। दूसरी ओर

अगर लोग, जिनकी जिंदगी से उसका सीधा संबंध है, इस मामले में कोई एतराज करते हैं या अपने अधिकारों की बात होती है तो उन्हें सभी ओर से दमनचक्र का सामना करना पड़ता है। इस तरह से इस पूरे इलाके में पुरानी सामंतवादी व्यवस्था कानूनी दांव पेच के सहारे स्थानीय संसाधनों पर अपना एकाधिकार किए हुए हैं और मजदूरों की मजबूरी का फायदा उठाकर बिना किसी संकोच के उनका भी बेलाग शोषण कर रही है।

7.36 खदानों से संबंधित सभी कामों में औरतों और बच्चों को प्राथमिकता दी जाती है। एक तो औरतें ज्यादा मुस्तैदी से काम कर सकती हैं और बच्चे ज्यादा भाग दौड़ कर सकते हैं। दूसरी ओर उनको कम मजदूरी पर रखा जा सकता है। इस पूरे इलाके में जहाँ देखो वहीं बच्चे और औरतें टोकनियों में गिट्टी रेत या मिट्टी लिये भागते दिखाई देते हैं जिसमें अधिक से अधिक "टिकलिया" इकट्ठी कर सकें और शाम तक पेट भरने के लायक पैसा मिल सके। कुछ प्रतिष्ठानों में आदमी, औरतों और बच्चों को मजदूरी क्रमशः 9 रु०, 7 रु०, और 4 रु० प्रतिदिन है जब कि हिसाब 26 रु० का होता है। बच्चों और औरतों का इस तरह काम पर लगना शोषण में अंतिम सीढ़ी जैविक शोषण का उदाहरण है जिसके बारे में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। विडम्बना यह कि जिला प्रशासन के अनुसार पूरे इलाहाबाद जनपद में कोई बंधुआ मजदूर नहीं है।

समाधान की ओर

7.37 इस समस्या का और इस तरह की और समस्याओं का हल होना ही चाहिये। इसके लिए तरह-तरह के कानूनी दावपेंचों का काटना खास तौर से जरूरी होगा। उत्खनन के मामले में मोटे तौर पर दो तरह की स्थितियाँ हैं। **पहली** वे जहाँ सरकार से विधिवत् लीज के आधार पर काम चल रहा है। **दूसरी** जहाँ कारबार सरकार की अनुमति के बिना अवैध रूप से चल रहा है। जहाँ कारबार अवैध है वहाँ की समस्या का हल अपेक्षाकृत सरल है बशर्ते कि प्रशासन मजदूरों की ओर से सोचे। आमतौर पर प्रशासन के ध्यान में आने पर अवैध कारबार या तो बंद करवा दिये जाते है और अपराधी जो कुछ छीन झपट सकता है उसे लेकर कहीं दूसरा धंधा या दूसरी जगह तलाश लेता है। या फिर शंकरगढ़ की तरह उसके मालिक कानूनी उलझाव पैदा करके अपना काम काज चलाते रहते हैं। पहली हालत में मजदूर को अपनी रोजी रोटी से हाथ धोना पड़ता है और दूसरी में उसे मालिक की जोर-ज्यादतियाँ सहना पड़ती हैं। ये दोनों ही रास्ते मुनासिब नहीं हैं। इन मामलों में प्रशासन को अपनी ओर से पहल से यह सुनिश्चित करना चाहिए कि §1§ उस कारबार में लगे लोग उसमें लगे रहें, §2§ उनको वह कारबार करने का कानूनी अधिकार मिल जाय और §3§ अपराधी को कड़ी सजा मिले। इस तरह आर्थिक गतिविधि चलती रहेगी, लोगों को रोजी रोटी मिलती रहेगी और शोषण की बात अपने आप ही समाप्त हो जायेगी।

7.38 सरकारी अनुमति से चलाए जा रहे कारोबारों के मेहनतकशों को न्याय दिलाने में भी खास कठिनाई नहीं होनी चाहिये। **ये सभी कारबार निर्माण या उद्योगों के लिये सामग्री प्रदाय से संबंधित हैं इसलिये वे संगठित क्षेत्र में सक्रिय भागीदार हैं। संगठित क्षेत्र के सभी कारोबार आर्थिक दृष्टि से मजबूत हैं। इस क्षेत्र में सभी मेहनतकशों को अपने श्रम का अच्छा मूल्य मिल रहा है और मालिकों को खासा मुनाफा होता है। चूँकि ये सभी कारबार संगठित क्षेत्र का ही विस्तार है इसलिये उनमें लगे मजदूरों को पूरी मजदूरी न मिले और उनमें से बहुत से बंधक बने रहें यह नितांत असंगत और गैरइंसाफी की हालत है।** अगर किसी खास कारबार में लाभ नहीं भी हो रहा हो तो भी इस तथ्य को उसमें लगे कामगारों को न्यूनतम मजदूरी न देने के लिए आधार नहीं माना

जा सकता है। अगर किसी कारबार में मालिक को पड़ता नहीं पड़ता है और वह न्यूनतम मजदूरी देने की हालत में नहीं है, तो उसे वह कारबार बंद कर देना चाहिये। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि संगठित क्षेत्र में घाटे पर चलने वाले कई कारबारों, जैसे सूती कपड़ा मिलों को चलाने की जिम्मेदारी सरकार खुद ले लेती है जिससे उनके मजदूर बेकार न हो जायं और उनको मजदूरी पूरी मिलती रहे। इसलिये कोशिश तो यही होनी चाहिये कि इसी तरह से ये कारबार भी बंद न हों और इनमें लोगों की पूरी मजदूरी मिलती रहे। परन्तु इतने छोटे-छोटे कारबारों को सरकार अपने हाथ में लेकर चला पायेगी इसमें संदेह है। इसलिए इस समस्या का सबसे स्वाभाविक हल यही हो सकता है कि **जो मालिक यह कहें कि वे मजदूरी इसलिए नहीं दे पा रहे हैं कि उसको पड़ता नहीं पड़ता है उसका लाइसेंस खारिज कर दिया जाए और अगर मजदूर उस कारबार को चलाना चाहें तो उसके नाम पर कर दिया जाय।**

7.39 **बहरहाल,** इस तरह चाहे कारबार फायदे से चल रहा हो या नुकसान में, अगर मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी नहीं मिलती है तो वे बंधक मजदूर हैं। और फिर इन तमाम कारबारों में उन पर कर्ज या बिना कर्ज भी सामाजिक-आर्थिक दबाव से काम पर बने रहने की मजबूरी है। खेद है कि इन कारबारों में लगे करोड़ों मजदूरों की हालत पर गौर नहीं है। अगर अब भी सरकार इनकी समस्याओं पर गौर करके उन्हें न्याय नहीं दिलाती है या नेमी कार्रवाई करने के बाद भी कर्मचारी मालिकों के अपराध को नजरअंदाज करते रहते हैं तो लोगों का यह अधिकार है कि वे उन मामलों को सरकार के सामने लायें और सरकार उनकी हालत को ठीक करे। अगर तब भी मालिक अपना तौर-तरीका नहीं बदलता है तो उस पूरे कारबार को सरकार ले ले या मजदूरों को सौंप दें। मजदूरों को उन कारबारों को आपस में मिलजुल कर सहकारिता के आधार पर चलाने के लिये सरकार जरूरी मदद दे। यह जरूरी नहीं है कि उसके लिये सहकारी समितियाँ ही बनाई जायें - गरीब मिलजुल कर काम कर सकते हैं।

7.40 जिन कारबारों में बंधक मजदूर हो उन पर से उनके मालिकों की मिल्कियत खतम कर दी जानी चाहिये और उनके खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जाय। देश के नागरिकों की आजादी की खरीद-फरोख्त करने वालों को अपनी सम्पत्ति के अधिकार के लिए लड़ने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। अगर उनको उस घोर अपराध के लिये कानून के कठघरे में नहीं खड़ा किया जाता है और उसके लिये कठोर सजा नहीं मिलती है तो यही सबसे बड़ी रियायत होगी। **काम करने वाले को उत्पादन के साधनों पर अधिकार मिलना चाहिये, खासकर उन हालात में जहाँ पर उनको अपनी आजादी बेच देने के लिए मजबूर होना पड़ता है।**

8

संसाधनों पर अधिकार - 1
सिद्धांत और कानून

आम आदमी की गुजर-बसर के लिये प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को देखते हुए उन्हें चार हिस्सों में बांटा जाता है - §1§ वन §2§ घास के मैदान §3§ खेती की जमीन और §4§ पानी। पहले आदमी पूरी तरह से वनों पर ही निर्भर था जहाँ वह कंदमूल फल इकट्ठा करता था और वन्य प्राणियों का शिकार करता था। इसके अलावा उसे जहाँ कहीं पानी का किनारा मिला उसने उस का भी खास कर मछली मारने के लिये उपयोग किया। परन्तु जैसे-जैसे दुनिया में आबादी का दबाव बढ़ता गया आदमी के द्वारा संसाधनों के उपयोग का दायरा भी बढ़ना पड़ा। आखेट और संग्रह की प्रारंभिक अवस्था के बाद कहीं-कहीं उसने पशु पालन शुरू किया जिससे वनों के अलावा घास के मैदान काम में आए। आखीर में जब आबादी का दबाव और भी बढ़ता गया तो खेती करके खाने के लिये अनाज पैदा करने का नया तरीका ईजाद हुआ। इसी क्रम में आज तक लोग वन और घास के मैदानों को साफ करके जरूरत के मुताबिक खेती के लिए उपयुक्त जमीन बनाते रहे हैं। जैसे-जैसे खेती की जमीन बढ़ती गई वन और घास के मैदान कम होते गए हैं।

संसाधनों पर हक के तीन रूप

8.2 खेती के चलन के बाद आदमी की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में एक नया मोड़ आया। खेती की जमीन के रूप में प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग से इन पर लोगों के निजी अधिकार का सिलसिला शुरू होता है। पहले पहले यह अधिकार केवल भूमि के उपयोग तक ही सीमित था, उस पर मालिकाना हक किसी का नहीं था। परन्तु इस सीमित निजी अधिकार की स्थापना के बाद भी दूसरे संसाधनों- वन, घास के मैदान, और पानी-पर समाज का ही अधिकार बना रहा जो बहुत कुछ अभी भी बना हुआ है। हाँ, समाज के अधिकार के रूप में बदलाव आया है -समाज की जगह बहुत कुछ राज्य ने ले ली है, आज के युग में राज्य का अधिकार तेजी से बढ़ता जा रहा है।

8.3 विकास के नये दौर में खास तौर पर औद्योगिक क्रांति के बाद समाज में कई तरह की नई जरूरतें जुड़ गईं। इन जरूरतों को पूरा करने के लिए नये-नये उद्योग धंधे और प्राकृतिक संसाधनों के कई तरह के नये उपयोग भी शुरू हुए हैं। इन गतिविधियों के लिए संसाधनों पर नई तरह के कई अधिकार कायम हुए हैं, और भी होते जा रहे हैं। बदलाव के इस दौर में एक महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना जरूरी है। इस दौर में प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग के लिये एकजैसे दो दावेदार बन जाते हैं - एक उन पर पहले से गुजर करने वाले लोग और दूसरे नया उपयोग करने वाले लोग। इसमें पहले वर्ग के अधिकारों की बहुत कुछ अनदेखी हो रही है।

8.4 इस तरह प्राकृतिक संसाधनों पर मोटे तौर पर तीन तरह के अधिकार हैं जिन पर अलग-अलग विचार करना होगा। संसाधनों का सबसे व्यापक उपयोग खेती की जमीन के रूप में किया जाता है। इसलिये **पहला** मुख्य सवाल है जमीन जोतने वाले के हक का। खेती की जमीन के बाद वन और पड़ती भूमि आते हैं जिसमें घास के मैदान और चारागाह भी शामिल हैं। इसलिये **दूसरा** बड़ा सवाल इन संसाधनों के खेती के अलावा दूसरी तरह के उपयोगों का है। सबसे अधिक उलझनें भी इसी मामले की है और गरीब वर्गों के हित भी, जिनमें अधिकतर आदिवासी और हरिजन शामिल

हैं, संसाधनों के इन्हीं उपयोगों से सबसे अधिक जुड़े हुए हैं। संसाधनों पर तीसरे तरह के अधिकार खनिज और वनोपज से संबंधित हैं जिनके बारे में राज्य तथा आधुनिक संस्थाओं की भूमिका महत्वपूर्ण है।

अंग्रेजी राज में संसाधनों पर गलत हकदारी की शुरुआत

8.5 हम पहले देख चुके हैं कि हमारे देश में अंग्रेजी राज के दौरान एक ऐसी अर्थव्यवस्था कायम हुई जिसमें हमारी अपनी परम्पराओं का ध्यान नहीं रखा गया और बिना सोचे समझे पाश्चमी मूल्यों और मान्यताओं को स्वीकार कर लिया गया। हमारे देश की परम्पराकेअनुसार गाँव के संसाधनों पर गांव समाज का अधिकार था। ये संसाधन लोगों की आजीविका के साधन थे, वे किसी की निजी सम्पत्ति नहीं हो सकते थे। परन्तु अंग्रेजी सरकार ने प्राकृतिक संसाधनों को निजी सम्पत्ति मान लिया। इसी के चलते बड़े-बड़े इलाकों में जमींदारियाँ कायम हो गई और खेती की जमीन पर जमीनदारों का हक हो गया। जिन संसाधनों पर निजी हक नहीं था उन पर सरकार का अधिकार हो गया। इस तरह जंगलों पर सरकार ने अपना कब्जा कर लिया। शुरू में इस सरकारी कब्जे का केवल कानूनी औपचारिक रूप ही अधिक था। मौके पर गैर-निजी संसाधनों का दूसरे लोग पहले की तरह उपयोग करते रहे। लेकिन बदली हालत में उन पर उनका कोई हक नहीं रहा जिसके असर का उन्हें धीरे-धीरे ही अहसास हुआ।

8.6 प्राकृतिक संसाधनों का जब इस तरह बंदर-बाँट हो रहा था, उस समय एक बड़ी अहम बात बिलकुल ही नजर-अंदाज कर दी गई थी। भारत जैसे प्राचीन देश में कोई भी संसाधन ऐसा तो हो ही नहीं सकता था जिस पर कि कोई न कोई लोग अपनी जिंदगी बसर न कर रहे हों। सच तो यह है कि पूरी दुनिया में ही यही हालत है। मानव समाज के लंबे इतिहास में आदमी ने जंगल-पहाड़, नदी घाटी, रेगिस्तान, बर्फीले इलाके, हर तरह के संसाधनों पर जीना सीखा और उसी के मुताबिक अपने रहने के तौर-तरीके बनाये। हमारे देश में भी कोई ऐसा इलाका नहीं है जिसके संसाधनों से किसी न किसी की जिंदगी का अधिकार न जुड़ा हो।

8.7 परन्तु अंग्रेजों के द्वारा स्थापित इस नयी औपचारिक व्यवस्था में परंपरा का कोई अर्थ नहीं रहा। इसलिये उन संसाधनों पर वे ही अधिकार माने जा सकते थे जिनको राज्य औपचारिक रूप से स्वीकार करे। इस कारण जहाँ सरकार ने जाने या अनजाने प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करने का किसी समाज या वर्ग का हक औपचारिक रूप से नहीं माना , उनका जिंदगी बसर करने का बुनियादी हक ही खतम हो गया। इस तरह धनों पर हकों के मामले मे बड़ी बेइंसाफी हो गई। एक ओर नई व्यवस्था में जागीरदार जमींदार जैसे कुछ चंद लोगों का तो विस्तृत संसाधनों पर निजी हक कायम हो गया। परन्तु दूसरी ओर आम लोगों और कमजोर वर्गों को उनके उपयोग में किसी तरह की हकदारी नहीं मिली। वे अपनी जिंदगी चलाने के लिये दूसरों के मोहताज हो गए।

8.8 अफसोस की बात तो यह है कि यह सिलसिला आजादी के बाद भी चालू रहा। हमारी अर्थ-व्यवस्था के हाशिये पर बसने वाले लोगों के हकों की तो बात छोड़िये उनकी समस्याओं का भी कोई अहसास नहीं है। हकदारी के बिना ये लोग साधनहीन होकर वंचना के शिकार बन गए हैं और विनाश के कगार पर पहुँचते जा रहे हैं।

वनों पर लोगों की हकदारी का खातमा

8.9 प्राकृतिक संसाधनों पर हकदारी की आज की हालत समझने के लिये हम सबसे पहले वनों में बसने वालों की हकदारी से ही विचार शुरू करेंगे। वनों में रहने वाले लोग युगों से उन्हीं वनों

से जिंदगी बसर करते रहे हैं। इस तरह वनों पर वहाँ के रहने वालों का सहज अधिकार रहा आया है। यह अधिकार स्वयंभू है, जिसे किसी की मान्यता की जरूरत नहीं थी। इतिहास के क्रम में वनवासियों की जिंदगी में भी बदलाव आता रहा है। उनका रहन-सहन बहुत से मामलों में एक जैसा होते हुए भी स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप बहुत कुछ अलग-अलग होता गया। कुछ जातियाँ तो अभी भी आदिम अवस्था में ही हैं। ये जातियाँ पूरी तरह से वनों पर ही निर्भर हैं। सच तो यह है कि ये जातियाँ और वन एक रूप हैं। इसलिये उनके वहाँ रहने-बसने से वनों पर किसी तरह के बुरे असर का सवाल ही नहीं खड़ा होता है।

8.10 कुछ जनजातियां वनों को काट कर झूम खेती करते हैं। ये लोग एक जगह पर एक या दो साल खेती करके आगे बढ़ जाते हैं। पुरानी जगह पर कुछ समय के बाद वन फिर से पहले जैसा हो जाता है। कई जातियाँ झूम खेती की स्थिति से आगे बढ़ कर स्थायी खेती करने लगी हैं। पूरी दुनिया में ही आबादी के दबाव के बढ़ते जाने से खेती का फैलाव होता गया है और वनों की सीमा घटती जा रही है।

8.11 उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशक में जब हमारे देश में सरकार ने वनों के प्रबंध को अपने हाथ में लेने का फैसला किया तब से वनों की इस स्वाभाविक हकदारी में एक बुनियादी बदलाव आया है। शुरू में अंग्रेजी सरकार का जंगलों से लगाव उसकी बहुमूल्य इमारती लकड़ी से था। परन्तु धीरे-धीरे वनों से खासी आमदनी होने लगी। जब जंगलों से आमदनी को बढ़ाने और वह आगे भीअनी रहे इसके लिए योजनाएँ तैयार की गई तो उनमें सबसे बड़ी बाधा वन में रहने वाले लोग ही दिखाई दिये। **इसलिए अंग्रेजी सरकार को एक ऐसा कानून बनाना पड़ा जिसमें वन का इलाका दूसरे इलाकों से अलग किया जा सके और उसका प्रबंध इस तरह हो कि उस पर किसी का अधिकार न रहे और वहाँ के रहवासियों को वहाँ से हट दिया जाय। यह कानून 1865 में बनाया गया।**

8.12 कानून तो बन गया परन्तु उसमें यह भुला दिया गया कि उन वनों में बहुत से लोग हजारों साल से रह रहे थे। वे जंगल न केवल उनकी जीविका के साधन थे वरन् उनके साथ उनका पूरा जीवन, उनका इतिहास, उनकी सभ्यता, उनकी भावना और उनका धर्म सभी कुछ जुड़ा हुआ था। वहाँ के रहवासी वहाँ से हटने के लिए तैयार नहीं थे। परन्तु अंग्रेजी राज की ताकत के सामने उनका टिक पाना मुमकिन नहीं हो सका। फिर भी उन्होंने वनों पर अंग्रेजी सरकार का कब्जा आसानी से नहीं होने दिया। उसी समय से इन इलाकों में नई कानूनी व्यवस्था के खिलाफ एक के बाद एक विद्रोह होता रहा है। इन सभी विद्रोहों को सरकारों ने सख्ती से दबाया परन्तु फिर भी वह आग अभी भी खतम नहीं हुई है। वह आग अंदर ही अंदर सभी जगह अभी भी सुलग रही है। उत्पीड़न की हर हवा में वह आग जहाँ-तहाँ धधक भी उठती है।

वनों से लोगों का निकाला जाना

8.13 अंग्रेजी राज की एक खासियत यह थी उसकी औपचारिकता जिससे सभी कार्रवाईयां किसी न किसी नियम के अनुसार की जा सकती थी। यहाँ तक कि लोगों से उनका सब कुछ छीनने के लिए भी नियम बनाए जाते थे। दूसरे शब्दों में अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य के हितों को बढ़ाने के लिये नियम-कानून की टट्टी बना कर आड़ कर ली। जब नियम बन गये तो उसका पालन और उसके अनुसार कार्रवाई करना सभी का कर्तव्य बन जाता था। यही वनों के कानून के साथ भी हुआ। 1865 में भारतीय वन अधिनियम बन जाने के बाद राज के अधिकारी अपने नए "कर्तव्य" के पालन में लग गये। इस पूरी कार्रवाई का महान उद्देश्य था वनों की रक्षा। वनों को सरकारी कब्जे में लेने के लिए कानून में जो भी औपचारिकताएँ थीं वे बरती गयी। इस तरह धीरे-धीरे एक के बाद

एक इलाके के वन राज के आधीन आते गये और वन के रहवासियों को वहाँ से निकालने की कोशिशें होती रहीं। इसके लिये तरह-तरह की तरकीबें की गईं। कहीं जोर जबरदस्ती से, तो कहीं पर झांसा देकर और कहीं उन्हें लोभ-लालच देकर अपने आप चले जाने के लिए भी राजी कर लिया। इस कार्रवाई में जब सरकारी प्रस्ताव को मानने के प्रतीक रूप एक बारु कागज पर लोगों के अंगूठे लग गये तो वह करार हो गया। करार हो जाने के बाद जंगलो से निकल जाना लोगों का फ़र्ज़ बन गया। इस तरह आम आदिवासी को वनों से हटा देने के लिए सरकार को दोहरा अधिकार भी मिल गया।

8.14 कुछ संवेदनशील अधिकारियों ने इस प्रक्रिया का विरोध भी किया। अपने कर्तव्य और अपनी आत्मा की आवाज के बीच समझौते के रूप में उन्होंने जो कुछ इन आदिवासी इलाकों में घटा, उसको कागज पर जैसा का तैसा लिख दिया, उसके बारे में ऊँचे अफसरों को भी लिखा। परन्तु जब उसका कुछ असर नहीं हुआ तो उन्होंने अपनी समझ और आत्मा की आवाज की अनुसनी करके अपनी ड्यूटी अन्जाम की। कोई भी इलाका ले लीजिए चाहे वह सिंहभूम हो या बस्तर, आदिलाबाद हो या नासिक, कहानी एक ही मिलेगी। धीरे-धीरे सरकार का वहाँ के वनों पर एकाधिकार होता गया, जहाँ अभी तक पूरा अधिकार नहीं हो पाया है, जहाँ लोगों का प्रतिरोध मिला वहाँ कोशिश अभी भी जारी हैं।

8.15 आदिवासी आज भी पुरानी बस्तों को भूले नहीं हैं। उनका विश्वास है कि जंगलों में उनके पूर्वजों की आत्मा रहती है। इसलिये वे अपनी पुरानी जगह साल में एक बार जाते हैं और उनकी पूजा करता है। कई इलाकों में उनके पुराने खेत और बंधान उनकी पुरानी बसाहतों के अवशेष अभी भी वंश परम्परा की यादों को ताजा कर देते हैं। बढ़ती आबादी और अधिक ताकतवर लोगों के दबाव में आकर जब आदिवासी को जिंदगी चलाने के लिए जमीन की कमी महसूस होती है, तो उसे एक ही बात सूझती है किसी तरह उसी जंगल में जहाँ उसके पूर्व बसते थे फिर से एक बार बस जाय।

बचे लोगों की हालत

झूमिया

8.16 जंगलों पर अधिकार जमाने के लिए सरकार के ये प्रयास उन इलाकों में ही आसानी से सफल हो पाए थे जहाँ आदिवासी लोग कुछ खेती करना शुरू कर दिये थे। वहाँ उनके लिए यह मुमकिन हो सका था कि जिस जंगल को सरकार ने अपने कब्जे में ले लिया था उसकी सीमा रेखा के बाहर खेती के लिये कुछ जमीन बना ले और वहाँ बस जाएँ। परन्तु बहुत से इलाके ऐसे भी थे जहाँ आदिवासी लोग खेती करना बिल्कुल नहीं जानते थे। वे लोग या तो शिकार और कंदमूल इकट्ठा कर, जिंदगी बसर करते थे या फिर जंगल काटकर उसे जलाकर झूम खेती पर निर्भर थे। इन इलाकों में वनों के उपयोग को लेकर सरकार के साथ उनकी कशमकश बहुत दिनों तक चलती रही। कई इलाकों में लोगों के पास जिंदगी बसर करने का कोई दूसरा साधन न होने के कारण कशमकश अभी चल रही है। इसलिये कई जगह यद्यपि औपचारिक रूप से जंगल सरकारी घोषित कर दिये गये परन्तु लोग वहाँ से हटे नहीं। उड़ीसा और आंध्रप्रदेश के बहुत से इलाकों में वे लोग पहले की तरह अभी भी झूम खेती कर रहे हैं। यही हालत उत्तर-पूर्व के कई इलाकों में भी है। कई इलाकों में पहले सरकार के दवाव में आकर लोगों ने झूम खेती बंद कर दी और वहाँ से बाहर भी चले गये। परन्तु जब बाहर उनका गुजारा नहीं चला तो वे फिर से जंगल में लौट कर झूम खेती करने लगे हैं।

8.17 बहुत से मामलों में आदिवासी झूम खेती कर जरूर रहे हैं परन्तु उन जमीनों पर उनका कोई हक नहीं है। उनकी झूम खेती गैर-कानूनी भी है। इसलिये कानून का सहारा लेकर इन लोगों को

वहाँ से हटाने की बराबर कोशिशें की जाती रही हैं। कई इलाकों में उन्हें जबरदस्ती निकाल दिया गया और कहीं दूसरी जगह खेती का लोभ देकर। न जाने कितने छोटे-छोटे झूमिया समुदाय जैसे मध्य प्रदेश के सहारिया, बैगा और पहाड़ी कोरबा, आंध्रप्रदेश के कोंडा रेड्डी और उड़ीसा के जुआंग, जो इन जंगलों में सदियों से स्वाभिमान और आजादी की जिंदगी बिता रहे थे, एकाएक वहाँ से निकाल दिए गए। ये लोग अब साधनहीन हैं और उनकी जिंदगी का कोई सहारा नहीं रहा। ये छोटे समुदाय कोई विरोध भी नहीं कर सके और उनकी आवाज भी इतनी धीमी थी कि कहीं सुनाई भी नहीं दी। इनमें से बहुत से लोग कहाँ गये, क्या हुआ, इसकी भी खोज खबर नहीं रखी गई, उनके बारे में किसी को कुछ मालूम नहीं। हाँ, कई जगह ये जंगल अब सरकार के हो गए हैं, उन पर किसी का हक नहीं है, कोई दावा करने वाला भी नहीं। यह सिलसिला अभी भी चल रहा है। यह पूरी प्रक्रिया कानून के मुताबिक हुई है। परन्तु उस प्रक्रिया में लोगों से उनकी जीविका का साधन या जिंदगी का अधिकार छिन गया, छिनता जा रहा है।

घुमंतू जातियाँ

8.18 एक और भी बड़ा वर्ग घुमंतू जातियों का है जिनके बारे में भी कुछ ऐसा ही हुआ। बहुत सी घुमंतू जातियाँ जमाने से प्राकृतिक संसाधनों से अपनी जिंदगी बसर करते रहे हैं। परन्तु इनकी हालत और समाजों से कुछ अलग थी। ये लोग अन्य समाजों की तरह किसी एक इलाके के संसाधनों से अपनी गुजर-बसर नहीं चला पाते थे। संसाधनों के उपयोग के बारे में इन समाजों और दूसरे समाजों का अनुपूरक का रिश्ता था। जिन संसाधनों का या तो स्थानीय लोग स्तेमाल ही नहीं करते थे या जो उनकी जरूरत से ज्यादा थे, उनका ये लोग उपयोग करते थे। इनका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है गूजरों का, जो बड़े इलाके में अपने पशुओं को चराकर अपनी जीविका चलाते रहे हैं। कुछ जातियाँ, जहाँ पड़ाव डालती थी वहाँ के स्थानीय समाजों को तरह-तरह की सेवाएँ भी देती रही हैं।

8.19 इस तरह कुछ जातियों का जिंदगी बसर करने का तरीका कुछ ऐसा विकसित हुआ कि उसके लिये किसी एक जगह के प्राकृतिक संसाधन नाकाफी थे। इसलिये वे किसी एक जगह बंधकर नहीं रह सकते थे। ये लोग मौसम के अनुसार एक जगह से दूसरी जगह जाकर अपना काम चलाते थे। ऐसे लोगों में पशुओं को पालने वाले लोगों का वर्ग सबसे बड़ा है। मानव सभ्यता के इतिहास में पशुपालन एक महत्वपूर्ण चरण था। अब उसके कुछ अवशेष ही जहाँ-तहाँ रह गए हैं।

8.20 हम पहले देख चुके हैं कि अंग्रेजों के द्वारा स्थापित औपचारिक व्यवस्था में प्राकृतिक संसाधनों पर निजी हकों के अलावा और सभी तरह के हकों के नजर-अदांज कर दिये गये थे। इस तरह की नई औपचारिक व्यवस्था का घुमंतू जातियों पर बहुत बुरा असर पड़ा है। आजादी के पहले जब आबादी कुछ कम थी और संसाधन काफी थे, नये नियम कानूनों के बावजूद ये जातियाँ अपनी परंपरा के अनुसार जिंदगी बिताती रहीं। परन्तु आजादी के बाद आबादी के बढ़ने और सभी संसाधनों पर दूसरे हकों को नजर-अंदाज करके निजी हक कायम होते जाने से इन जातियों का उन संसाधनों का उपयोग करने का हक छिनता जा रहा है। ये लोग धीरे-धीरे बिल्कुल ही साधनहीन होते जा रहे हैं। इन जातियों के विकास के लिये कभी-कभार दो एक कार्यक्रम भी बने। परन्तु इस बुनियादी सवाल पर कि संसाधनों की औपचारिक व्यवस्था में उनकी जीविका का साधन अथवा उनकी जिंदगी का अधिकार ही खतम होता जा रहा है किसी भी स्तर पर गंभीरता से विचार तक नहीं हुआ है।

गाँव की व्यवस्था के हाशिये पर के लोग

8.21 अंत में, जब हम गाँव के भीतर संसाधनों पर अधिकारों के बारे में विचार करते हैं तो देखते हैं कि यहाँ भी हालत अच्छी नहीं है। गाँव के स्तर पर भी नई औपचारिक व्यवस्था में वहाँ के संसाधनों पर लोगों के निजी हक कायम होते गये। परन्तु उस प्रक्रिया में बहुत से लोगों के उन संसाधनों से परंपरागत तरीके से जिंदगी बसर करने की बात नजर अंदाज हो गई। गड़रिये भेंड़-बकरी चराते थे, बहेलियों के लिये जानवरों को फांसना ही जिंदगी का सहारा था, सबसे गरीब कुछ नहीं तो घास-फूस इकट्ठा करके पेट पालते थे, लकड़हारे जंगल से लकड़ी ले आते थे और कुछ जानकार लोग जड़ी-बूटियाँ इकट्ठी कर लेते थे। नई व्यवस्था में इनका कोई हक नहीं बना, ये लोग पूरी तरह से व्यवस्था की दया-भिक्षा पर आश्रित हो गए।

8.22 विकास के नये दौर में गाँव के संसाधनों पर दोहरा दबाव आया है। एक ओर तो बढ़ती आबादी की जरूरतों को पूरा करने के लिये खेती की जमीन का विस्तार होता गया है। दूसरी ओर बचे हुए संसाधनों पर ताकतवर लोग निजी अधिकार कायम करने का प्रयास करते रहे हैं। कई राज्यों में ग्राम पंचायतों जैसी औपचारिक संस्थाओं ने भी गैरनिजी जमीन और दूसरे संसाधनों का जैसा चाहा उपयोग किया है। इस सब का एक खेदजनक नतीजा यही हुआ है कि हर गाँव में साधनहीन गरीबों की संख्या बढ़ती गई है और गाँव के प्राकृतिक संसाधनों पर से उनका परंपरागत अधिकार जाता रहा है।

8.23 साधन छिन जाने से ये सभी लोग नई व्यवस्था में भूमिहीन कहे जाने लगे हैं। इन लोगों को रोजगार देने के लिए कई तरह के कार्यक्रम भी बनाए जाते रहे हैं। परन्तु यह बुनियादी मुद्दा कि गांव के संसाधनों पर से उनका अधिकार जाता रहा है और जो रह गया है वह भी तेजी से खतम हो रहा है इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसका मूल कारण यही है कि हमारी व्यवस्था संसाधनों पर तब तक किसी का कोई हक ही नहीं मानती जब तक कि वे कहीं लिखे न हों, उनका कोई हिसाब न हो। रोजगार की योजनाएँ अपनी जगह ठीक हैं, परन्तु इस प्रक्रिया में लोगों की आज की जिंदगी का आधार, कैसा भी छोत-मोटा क्यों न सही, छिन रहा है। संसाधनों पर हक छिन जाने के बाद जब तक लोगों को कोई दूसरा धंधा नहीं मिल जाए तब तक वे क्या करें इस पर कोई सोच भी नहीं है। हर गाँव के हाशिये पर के लोग प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग से वंचित होकर असहाय और अकिंचन होते जा रहे हैं। हमारी व्यवस्था की नजर में उनकी जीविका के साधन अथवा उनकी जिंदगी के अधिकार का कहीं कोई सवाल ही नहीं है।

वनों और आदिवासी का नजदीकी रिश्ता और बदलाव

8.24 वनों को आरक्षित होने के बाद वनों और आदिवासियों के बीच स्वाभाविक रिश्ते के बजाय औपचारिक रिश्ते की शुरुआत हुई। जैसा कि हम आगे देखेंगे कि आरक्षण की प्रक्रिया में वहाँ रहने वाले लोगों के कुछ अधिकार माने गये जो बाद में सिर्फ रियायतें ही रह गये और फिर आगे चलकर वे रियायतें भी नहीं बचीं। इस तरह आदिवासी और जंगलों के बीच संबंधों का औपचारिक रूप बदलता रहा है परन्तु व्यवहार में तो उनकी जिंदगी का रिश्ता है जिससे उसमें एकाएक बदलाव की गुंजाइश ही नही है। इसलिये इस मामले में भारी विसंगति पैदा हो गई है जिसके कारण सरकार और उनके बीच लेकर अभी तक झगड़े चल रहे हैं। इस झगड़े के बुनियादी कारणों और व्यावहारिक पहलू पर हम आगे विस्तार में चर्चा करेंगे। यहाँ पर एक बात कहना जरूरी है कि वनों में रहने वाले बहुत से आदिवासियों ने धीरे-धीरे खेती करना शुरू तो कर दिया था परन्तु खेती उनका मुख्य धंधा नहीं बन पाया और बहुत सी जगह आज भी नहीं है। वे लोग अपनी जिंदगी खेती चलाने के लिए

वनों सहित अपने पूरे परिवेश से ही सीधे-सीधे जुड़े हुए हैं। यही आदिवासी अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी खासियत है।

8.25 इसके विपरीत आदिवासियों के अलावा अधिकतर दूसरे लोगों का वनों से अब सीधा रिश्ता तो नहीं है परन्तु फिर भी उनको भी बहुत सी जरूरी चीजें वनों से ही आती है। इन चीजों को वे बाजार से खरीदते हैं। इस तरह नई व्यवस्था में प्राकृतिक संसाधनों और गैर आदिवासी लोगों के बीच का रिश्ता बहुत कुछ बाजार के जरिये बनता है। यह बाजार रिश्ता आदिवासियों और वनों के बीच के रिश्ते की तरह स्वाभाविक न होकर औपचारिक होता है - कानून कायदों से बंधा होता है। विडम्बना यह है कि आधुनिक राज्य इसी कानूनी रिश्ते को ही सही मानता है। इसीलिए राज्य की यही कोशिश रही है कि जहाँ तक हो सके आदिवासी और वनों के बीच का सीधा रिश्ता खतम कर दिया जाय और उनकी जगह औपचारिक रिश्ते बनाए जाए। इस हालत में आदिवासी इलाकों की अर्थव्यवस्था में एक बुनियादी बदलाव आ जाएगा। व्यवस्था के पूरी तरह से औपचारिक हो जाने से एक और आदिवासी को अपनी जरूरतों के लिये बाजार पर ही भरोसा करना होगा। दूसरी ओर सरकार का वनों पर बिना किसी भी तरह की विघ्न-बाधा के पूरा-पूरा अधिकार हो सकेगा। इसी कोशिश के चलते आदिवासी इलाकों में कई तरह की विसंगतियाँ पैदा हो रही हैं जिन्हें आसानी से नहीं सुलझाया जा सकता है।

वनों के पाँच दावेदार

8.26 इस तरह जहाँ एक ओर आदिवासियों के वनों से सीधे रिश्ते को खतम करके वनों पर राज्य की अकेली सत्ता कायम होती जा रही है दूसरी ओर राज्य की उस सत्ता के मार्फत कई तरह के नये औपचारिक और व्यवहारिक हक भी कायम हो रहे हैं। बदलाव के इस दौर में वनों पर दावों के सही रूप को समझना और कार्यनीति बनाते समय उसको ध्यान में रखना जरूरी है। मोटे तौर पर वनों के दावेदार पाँच तरह के हैं। वनोंपर सबसे <u>पहला</u> हक वन में रहने वाले लोगों का है जो स्वाभाविक है, यह हक सभी औपचारिक मान्यताओं के ऊपर है।

8.27 वनों पर अधिकार का <u>दूसरा</u> दावा वनों के बाहर रहने वाले लोगों की आर्थिक जरूरतों या बाहरी अर्थ-व्यवस्था का है। यह दावा पूरी तरह से औपचारिक है। बाहरी अर्थ-व्यवस्था के ये दावे या तो नियम कानून से तय होते हैं या बाजार पर निर्भर होते हैं। इसमें खुले बाजार में खरीद-फरोख्त वगैरह शामिल है। इसमें औद्योगिक प्रतिष्ठानों को दी गई लीजें वगैरह भी शामिल हैं।

8.28 वनों पर <u>तीसरा</u> हक खुद राज्य का माना जा सकता है। बहुत समय तक व्यावहारिक रूप में राज्य की दिलचस्पी सिर्फ वनों से होने वाली आमदनी में ही रही है। इसके लिए एक तो वन में रहने वालों पर कई तरह के कर लगाए गए। दूसरे वनों से बाहर जाने वाली वस्तुओं पर रायल्टी लगाई जाती है या उसका व्यापार करके सीधा मुनाफा कमाने की भी कोशिश होती है। बाहरी व्यवस्था के ये दोनों दावे आर्थिक दावे हैं।

8.29 वनों पर दो अन्य दावे आर्थिक संबंधों के दायरे के बाहर है - पहला वन्य प्राणियों का और दूसरा पर्यावरण के रूप में पूरे मानव समाज का। विकास की दौड़ में आदमी ने, खासकर पाश्चमी देशों के लोगों ने पूरे प्राकृतिक संसाधनों को केवल अपने उपयोग की ही वस्तु मान लिया है। आज आदमी की ताकत इतनी अधिक हो गई है कि वह सभी दूसरी बातों की अनदेखी करके पूरे प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार कर सकता है। वह उनका जैसा चाहे वैसा मनमाना उपयोग अपने लिये कर सकता है। इसलिये अगर हम यह मानते हैं कि प्रकृति अकेले आदमी की ही बपौती नहीं है तो दूसरे प्राणियों की हकदारी भी बनी रहे इसके लिए आदमी को अपने ऊपर कुछ बंदिशें लगाने की जरूरत

है। यही नहीं, वनों में वन्य प्राणी बचे रहें और वे केवल आदमी के उपयोग की वस्तु न बन कर रह जाय। इसलिए वन्य प्राणियों के लिए संरक्षण देना भी जरूरी है। इस तरह **चौथा** हक वन्य प्राणियों का है।

8.30 अंत में प्राकृतिक संसाधन पूरी मानव जाति की विरासत हैं, उसके जीवन का आधार हैं। अभी तक प्राकृतिक साधनों का उपयोग इस अनकही मान्यता के आधार पर किया जाता रहा है कि मानों वे साधन अनन्त है, कभी न खतम होने वाले हैं। परन्तु उनके अविवेकपूर्ण उपयोग से अब यह साफ है कि वे खतम होते जा रहे हैं और इस तरह मानव जाति के जीवन का आधार कमजोर होता जा रहा है। वन शुद्ध वायु, अच्छी मिट्टी और निरंतर पानी के बहाव के स्रोत हैं। इसलिए वनों का वनों के रूप में बने रहना जरूरी है। यह **पाँचवा** हक पर्यावरण का हक कहा जा सकता है।

8.31 इस तरह वनों के उपयोग के इस समय पाँच दावेदार हैं -

(1) स्थानीय समाज (2) बाहरी समाज (3) राज्य और अन्य संस्थाएँ (4) वन्य प्राणी (5) पर्यावरण

8.32 वनों पर अधिकार और उसके उपयोग के बारे में औपचारिक व्यवस्था कायम होने का सबसे पहला असर तो यही हुआ कि वन कानूनी तौर पर पूरी तरह से सरकारी हो गए। उन पर स्थानीय समाज के सहज अधिकार, उनके लिये कानून में कोई व्यवस्था न होने से, एकाएक खतम हो गए। इस नये संदर्भ में लोगों द्वारा वनों का परंपरागत उपयोग राज्य की इच्छा से दिये गए अधिकार या सहूलियतों की सीमा में आ गए। इस कारण आदिवासी इलाकों में एक बड़ी ही असंगत स्थिति बन गई है। राज्य की इच्छा पर आधारित लोगों के अधिकारों या सहूलियतों के बारे में किसी तरह का कानून बनाने की जरूरत भी नहीं समझी गई। उनके लिए अधिक से अधिक नियम बनाए गए या सरकारी आदेश जारी किए गए। जहाँ सभी रिश्ते औपचारिक हों ऐसी व्यवस्था में महज नियमों या आदेशों की कोई खास अहमियत नहीं है। इस कारण पूरी सद्भावना और तरह-तरह की उद्घोषणाओं के बावजूद आदिवासियों के अधिकार, जो स्वयंभू हैं जो उनके लिये पवित्र है, खतम हो गये। परन्तु इसके विपरीत दूसरी ओर स्थानीय समाज के अलावा दूसरे हकों का पूरा आधार ही कोई न कोई औपचारिक निर्णय हो सकता था। इसलिए उन्हें औपचारिक व्यवस्था में कानून बना कर पूरी मान्यता देने का उपक्रम चलता रहा। जिसका कोई वुजूद भी नहीं था वही अकेला नई व्यवस्था में मान्य अस्मितावान हो गया। इसी तरह वन्य प्राणियों की रक्षा और उनकी बढ़ोत्तरी के लिए भी पुराने कानूनों की जगह वन्य प्राणी संरक्षण अधिनियम सन् 1972 में बना। मानव समाज के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए पर्यावरण के बचाव व सुधार के लिये खास तौर पर सन् 1980 में वन संरक्षण अधिनियम बना। इस औपचारिक कानूनी व्यवस्था के सुदृढ़ होते जाने से लोगों की जिंदगी पर दूरगामी प्रभाव पड़ा है जिसको हम आगे नजदीक से देखेंगे।

9

संसाधनों पर अधिकार - 2
स्थानीय समाज और वन

वनों पर सरकारी अधिकार हो जाने के बाद उसके प्रबंध को औपचारिक रूप देना स्वाभाविक था। इसके अलावा इन इलाकों में तरह-तरह के बाहरी तत्व भी घुस गये हैं और घुसते जा रहे हैं। इन लोगों के वनों से आदिवासियों जैसा आत्मीय संबंध न होकर कामकाजी संबंध ही हो सकते हैं। इन नये कामकाजी संबंधों के नियमन के लिये कोई परंपरा तो है नहीं, और इन बाहरी तत्वों पर न कोई सामाजिक दबाव ही काम कर सकता है। इसलिये इस नई हालत में वनों के उपयोग को औपचारिक रूप से व्यवस्थित करना, उसके लिये नियम बनाना जरूरी हो जाता है। बाहरी तत्व यही भाषा समझते भी हैं। उन पर कानून कायदे का ही अंकुश लग सकता है।

9.2 परन्तु यदि हम इस कानूनी घेरे को, जो नए संदर्भ में जरूरी लगता है, आदिवासियों की ओर से देखें तो वह बड़ा अटपटा लगता है। आदिवासी समाज अभी बहुत कुछ पुरानी हालत में ही जी रहे हैं जहाँ उसकी जिंदगी और आसपास की प्रकृति ऐसे घुलेमिले हैं जिन्हें अलग-अलग खाचों में नहीं भरा जा सकता है। इसलिये उनकी जिंदगी और वनों को नये कानूनी ढाँचे की रचना के मुताबिक अलग-थलग नहीं किया जा सकता है। यह स्थिति नई व्यवस्था को रास नहीं आती है। वह आदिवासियों पर भी बाहरी तत्वों की तरह नियमों का अंकुश लगाने की कोशिश करती हैं। यह आदिवासी समाज के लिये जरूरी नहीं है, उपयोगी भी नहीं है इसको समझना जरूरी होगा।

9.3 आदिवासी समाज की जिंदगी का तर्ज ही ऐसा है जिसमें वह सिर्फ अपनी जिंदगी का ही ध्यान नहीं रखता है वरन् उसमें सभी और बातें भी शामिल हैं। वन्य प्राणियों और पर्यावरण का बचाव-सुधार उसकी परंपरा का अंग है। इन मामलों में अगर कहीं कोई चूक हो जाय तो उसका परिणाम उसकी आंखों के सामने आ जाता है। वह उनकी अपनी भोगी हुई हकीकत बन जाती है जिससे वे आँख नहीं चुरा सकते। इसलिये उनमें सुधार की प्रक्रिया स्वाभाविक हो जाती है जो समय के साथ उसकी परंपरा का अंग बन जाती है। इस तरह आदिवासी की व्यवस्था का क्रम संतुलित रूप से चलता रहता है।

9.4 परन्तु वनों पर सरकारी अधिकार के बाद संतुलन को कायम बनाये रखने के उद्देश्य के लिये कानून और नियम बनाए जाते हैं। इस नई व्यवस्था में दो बातें खास तौर पर देखने की है जिनके कारण विसंगति पैदा होती है। एक तो सभी कानून ऊपर से थोपे जाते रहे हैं। चूँकि ये कानून राज्य या केन्द्र के स्तर पर बनते हैं इसलिये वे हर इलाके के लिये एक जैसे होते हैं। परन्तु हर इलाके की स्थिति अलग-अलग होती है। इसलिए ऊँचे स्तरों पर बनाए गए कानून-कायदों का लोगों की जिंदगी से तालमेल होना जरूरी नहीं है, संभव ही नहीं है। दूसरे सभी कानूनों में आम तौर पर वन में रहने वालों और दीगर लोगों के बीच किसी तरह का अंतर नहीं किया जाता है और उनको बहुत कुछ एक ही डंडे से हाँका जाता है। इस तरह के कानून के लागू होने पर आदिवासी की आम जिंदगी की साधारण बातें भी गलत मानी जाने लगती हैं और उसमें भारी खलल पैदा हो जाता है, जिसका कारण उसकी समझ के बाहर होता है। इसलिए वनों के प्रबंध को औपचारिक रूप से व्यवस्थित किये जाने से आदिवासी इलाकों की हालत में सुधार की बजाय बिगाड़ होता गया है। इसीकारण सरकार और लोगों के बीच के संबंधों में कटुता बढ़ती गई है, उनके बीच तनाव पैदा

होता रहा है आखिर में कई जगह टकराव की हालत बन गई है, बनती जा रही है।

9.5 मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि एक तरफ आदिवासी की जिंदगी का अपना तौर तरीका अनौपचारिक, सहज और स्वाभाविक हैं। परन्तु दूसरी ओर संसाधनों के प्रबंध का सरकारी तौर तरीका औपचारिक है जो पहले से बिल्कुल ही अलग है। दोनों के नजरिये में बुनियादी फर्क है। इसलिये अहम सवाल यह है कि क्या आदिवासी इलाकों की इस अनमेल हालत को खतम करने के लिये कोई बीच का रास्ता बन सकता है ? इस सवाल के जवाब की कोशिश करने से पहले संसाधनों के प्रबंध करने के लिए बनाए जाने वाली व्यवस्था, कानून और नियमों से आदिवासी की जिंदगी पर पड़ने वाले असर को साफ तौर पर समझने की जरूरत होगी।

आदिवासी अर्थ-व्यवस्था के तीन स्तर

9.6 हालांकि आदिवासी अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान होती जा रही है फिर भी खेती से आदिवासी की जिंदगी की कुछ ही जरूरतें पूरी होती है। बाकी जरूरतों के लिये उसे जंगल, नदी, तालाब वगैरह का सहारा लेना होता है। सच तो यह है कि खेती से उसको सिर्फ अपने खाने-पीने के लिये अनाज की जरूरत पूरी होती है। इसके अलावा उसकी पूरी जिंदगी वनों से ही चलती है। आदिवासी को अलग से साग सब्जी पैदा करने की जरूरत नहीं है, उसे वनों से सैकड़ों तरह के फूलपत्ते, कांदे और फल मिल जाते हैं और वह भी हर मौसम के लिए अलग अलग। तालाबों और नदी नालों से उसको मछलियाँ, केंकड़े इत्यादि मिल जाते हैं। सच तो यह है कि खेती और वनोपज एक दूसरे के संपूरक हैं। कहते हैं कि जिस साल अकाल पड़ता है वनों में कंद-मूल भरपूर होते हैं। इसी तरह जिन लोगों का गांव में और कोई सहारा नहीं होता है वे जंगल में ही आसरा ढूँढते हैं।

9.7 आदिवासी को भी जिंदगी की कुछ जरूरतों को पूरा करने के लिए बाहरी दुनिया से थोड़ी बहुत खरीद-फरोख्त भी करनी पड़ती है। परन्तु इन जरूरतों के लिये लोग बहुत करके खेती की उपज की बजाय लघु वनोपज इकट्ठा कर उससे अदला-बदली करके या बाजार में बेचकर अपना काम चलाते हैं। कुछ और थोड़े पैसे की जरूरत हुई तो उसे पूरा करने के लिए वे वन में या उसके बाहर भी थोड़ी बहुत मजदूरी कर लेते हैं। इस तरह नमक, तेल, कपड़ा वगैरह की छुटपुट जरूरतें जंगल की पैदावार या उसमें मजदूरी करके पूरी हो जाती हैं।

9.8 दूसरे लोगों की तरह आदिवासी व्यवस्था में भी जन्म-मृत्यु और शादी-विवाह जैसे मौकों पर कुछ बड़ी जरूरतें भी आती हैं। वैसे तो उनके लिए भी आपसी व्यवहार या जानवरों का लेनदेन ही काफी हो जाता है। परन्तु अब कुछ नकदी भी देने का रिवाज शुरू हो गया है। ऐसी बड़ी जरूरतों के समय आदिवासी बहुतकर जानवर को बेचकर काम चलाते हैं। आदिवासी व्यवस्था में जानवरों को अलग से खासतौर पर रखने और चराने की प्रथा नहीं है। आदमियों की तरह जानवर भी हैं, जंगल में चरते हैं और बढ़ते रहते हैं। गाँव में जानवरों को "पशु धन" कहा जाता है। जानवर सही अर्थों में आदिवासी का नैसर्गिक धन है। वही उसकी वख्त-जरूरत के लिये पूँजी है।

9.9 इस तरह आदिवासी अर्थव्यवस्था 3 स्तरों की मानी जा सकती है। खेती और वनों से उनका साधारण खाने पीने का काम चल जाता है। लघुवनोपज से वे लोग बाहरी दुनिया से छुटपुट जरूरत पूरी कर लेते हैं। बड़ी जरूरतों के और आड़े समय के लिए पशुधन है, वही उनकी बचत है वही उनकी पूँजी है जो अपने आप बढ़ती रहती है और वख्त पर उनके काम आती है। अगर दुकाल न पड़े और कोई ऐसी वैसी बात न हो जिसमें उनकी वह पूँजी खतम न हो जाय, तो वे उसका उपयोग उत्सव या जश्न मनाने में भी कर सकते हैं।

9.10 वनों के आरक्षण हो जाने के बाद आदिवासियों की जिंदगी में खेती और वनोपज की इस स्वाभाविक तौर पर आपसी तालमेल वाली व्यवस्था में बाधा आने लगी। सच तो यह है कि उनकी अर्थ-व्यवस्था के इस पहलू को समझा ही नहीं गया जिसके कारण अनजाने में ही उस पर बहुत बुरा असर पड़ा है। नये हालात में आदिवासी लोग अपनी जीविका के लिये जिन संसाधनों का परंपरा से उपयोग करते आ रहे थे। उसके लिये एक तो सरकारी कर्मचारियों से इजाजत लेना जरूरी हो गया और दूसरे बाहर के लोग उसके उपयोग के लिये होड़ में उतर आये। शुरू में इन इलाकों में वन इतने अधिक थे और लोगों की आबादी इतनी थोड़ी थी कि बाहरी लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिये वनों पर पड़ने वाले दबाव से आम आदिवासी को कोई फर्क नहीं पड़ा। वरन् उलटे उससे कुछ फायदा ही हो गया। उदाहरण के लिए बाहरी जरूरतों के कारण ही वनों में कई तरह के काम निकले जिनमें आदिवासियों को मेहनत-मजदूरी करने का मौका मिला। परन्तु यह सुखद तालमेल बहुत दिनों तक नहीं चल सका। जैसे-जैसे जंगलों पर बाहरी दबाव बढ़ता गया, आदिवासियों की अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिये उनके संसाधन कम पड़ते गए। धीरे-धीरे बाहरी माँग और लोगों की अपनी जरूरतों के बीच तीखी होड़ होने लगी जिसमें बाहर की माँग ज्यादा ताकतवर साबित हुई।

9.11 जब वनों का आरक्षण हुआ तो वनों पर लोगों के अधिकार और उनकी जरूरतें पूरी करने की बात पर औपचारिक रूप से विचार हुआ और कुछ कार्रवाई भी की गई। परन्तु आरक्षण के समय खास तौर में उन्नीसवीं शताब्दी के माहौल में लोगों के अधिकारों को कोई खास अहमियत नहीं मिल पाई। सच तो यह है कि उस समय लोगों को नई औपचारिक व्यवस्था और उनके अधिकारों की औपचारिक मान्यता के बारे में कोई समझ भी नहीं थी। इसीलिए अधिकारों को तय करते समय बहुत करके सरकारी रिकार्ड में यही इन्दराज हो पाया कि "आदिवासी अपने निजी उपयोग के लिए अमुक वन क्षेत्र के जरूरत के मुताबिक अमुक चीजें ले सकते हैं।" "कहीं-कहीं पर किन्हीं-किन्ही वस्तुओं के बारे में यह भी मान लिया गया कि वे लोग उन्हें बाजार में भी बेच भी सकते हैं। परन्तु वनोपज के उपयोग के बारे में इस बात पर सफाई नहीं हुई कि आदिवासियों की जरूरतों और दूसरे लोगों की जरूरतों में अगर कोई होड़ होती है तो उस हालत में क्या होगा ? उस समय इस तरह की कमी जरूरत पड़ सकती है उसका कोई अहसास भी नहीं था।

बाहरी जरूरतों की होड़-बांस का खातमा

9.12 नये संदर्भ में बाहरी जरूरतों की होड़ का क्या रूप हो सकता है इसका एक अच्छा उदाहरण बांस का है। बांस गरीब आदमी की इमारती लकड़ी है, उससे आदिवासी अपनी झोपड़ी बनाता है। कच्चे मकानों में उसी का छप्पर पड़ता है। आदिवासी लोग बांस से ही खेत के लिये बागड़, घर के लिये बिछावन और उपयोग के बर्तन बनाते हैं। कुछ आदिवासियों के लिये बांस घरेलू उद्योग का भी साधन है। बांस की बांसुरी और उसके लजीज अंकुर उसकी जिंदगी में रंग भर देते हैं।

9.13 परन्तु आधुनिक व्यवस्था के लिये बांसों के इस उपयोग का कोई अर्थ नहीं था। उसकी नजरों में तो बांस खर-पतवार जैसा गैर-जरूरी पौधा था। कागज या लुगदी के नये उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में बांस की माँग होने के बाद इस नजरिये में बदलाव आया। अब बांस आधुनिक व्यवस्था के लिये उपयोगी हो गया। इस नये माहौल में बांसों के उपयोग के बारे में सरकारी सोच दूसरे छोर पर पहुँच गया। सरकारी आमदनी बढ़ाने और नये उद्योगों को बढ़ावा देने की गरज से बाँस काटने के लिये औद्योगिक प्रतिष्ठानों को बड़े-बड़े जंगल लीज़ पर दे दिए गए। इसमें अब तक

खर-फतवार समझे जाने वाले उस पेड़ का लोगों की जिंदगी में स्थान एक दम अनदेखा कर दिया गया। इसलिये नये कारखाने वाले जब किसी इलाके से बांस काटेंगे तो लोगों की जरूरतों का क्या होगा? इसका या तो ध्यान ही नहीं रखा गया और अगर कुछ किया भी तो सिर्फ नामचार को।

9.14 यहीं आकर औपचारिक इकरारनामों की ताकत और लोगों के परंपरागत अधिकारों की कमजोरी के परिणाम सामने आने लगे। ठेकेदार का तो आज के मुनाफे से मतलब है। दूसरे, अगर एक जगह बांस खतम हो जाता है तो ठेकेदार उसके लिए दूसरी जगह खोज लेगा। इसलिये कारखाने वाले अपने इकरारनामों की बिना पर अपनी धन और ताकत का स्तेमाल करके वनों में मनमाने ढंग से बांस काटकर निकालते रहे हैं। इस मनमाने दोहन का वनों और लोगों पर क्या असर होगा इससे उन्हें कोई सरोकार ही नहीं रहा।

9.15 बांसों की इस व्यवस्था की विसंगतियों के प्रति सरकार बहुत कुछ उदासीन ही रही है परन्तु लोगों के लिये उसके दुष्परिणाम साफ हैं। उदाहरण के लिये मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले के कोरबा लोगों का कहना है कि उनके जंगल बांसों से भरे हुए थे। वे जब जंगल जलाकर झूम खेती किया करते थे तो चार साल में जंगल फिर वैसा का वैसा ही हो जाता था। बांस "भभककर" निकलता था। परन्तु जब से ठेकेदार आये जंगल खतम हो गया। ठेकेदारों ने पहले तो बांस के झूडों से अधिक से अधिक बांस काटने की कोशिश की जिससे कि कम से कम समय में पायदा ज्यादा से ज्यादा हो जाय। इस कारण हर झूंड में इतने बांस ही नहीं छोड़े गए जिससे कि वे फिर से पूरी तरह आ जाते। दूसरे जंगल की कटाई में यह भी ध्यान नहीं रखा कि वहाँ के टोकनी बनाने वाले बांस कहाँ से लायेंगे। इसलिए जब टोकनी बनाने वालों के लिये और कहीं बांस नहीं रहे तो बांस के झूडों में उनके बढ़ने के लिये जो थोड़े से बांस छोड़ दिए गए थे उन्हीं को रात में जाकर काट लाये और अपनी गुजर बसर की। इस तिहरी मार से बांस का जंगल पूरी तरह खत्म हो गया।

9.16 बांस के जंगलों के मामले में सभी दूर यही हालत हुई है - इलाके के इलाके बीरान हो गए हैं। जहाँ कुछ थोड़े बहुत बांस बचे हैं वहाँ यह कह कर कि बांस खतम हो रहा है। आदिवासी को अपनी रोजमर्रा की जिंदगी की छोटी-मोटी जरूरतों को पूरा करने के लिए बांस निकालने पर बंदिश लगाई जा रही है। इसलिये उसके खेतों के लिये बागड़ लगाना और टूटी झोंपड़ी की मरम्मत करना भी मुश्किल हो गया है।

9.1 बांस की कटाई अधिक न हो इस गरज से कहीं-कहीं सरकार ने बांस कटाकर डिपो से बिना लाभ-हानि लागत के आधार पर बेचने का इन्तजाम किया है। परन्तु इससे समस्या हल नहीं हुई है, वरन् उसकी मुसीबत बढ़ी है। पहले तो इस व्यवस्था में आदवासी को एक बांस के लिए एक रूपये से दो रूपये तक कीमत देनी पड़ती है। और फिर जंगल के डिपो हर गांव में तो हैं नहीं इसलिए बांस लाने के लिए दस-दस, बीस-बीस मील पैदल चलना पड़ता है। उन्हें सिर पर ढोकर लाना पड़ता है। दूसरी ओर उसी जंगल में कागज़ के कारखाने को वही बांस एक रूपया या दो रूपया टन या पांच पैसे प्रति बांस की रायल्टी देकर इकरारनामों के मुताबिक सप्लाई किया जाता है। लोग जब इस विसंगति को देखते हैं तो अपनामन मसोस कर रह जाते हैं। परन्तु सरकार को वह विसंगति विसंगति नहीं लगती है क्योंकि हर कामनियम के अनुसार हो रहा है और सभी नियम अपनी जगह सही होते है।

जलाऊ लकड़ी

9.18 जलाऊ लकड़ी के मामले में भी यही हाल हुआ। जब वन ज्यादा था तो उसमें सूखी लकड़ी लोगों की जरूरत भर के लिए काफी से भी ज्यादा थी। परन्तु एक ओर तो वन कम होते गए और

दूसरी ओर आबादी बढ़ती गई। इसलिए सूखी लकड़ी नाकाफी होती गई और जलाऊ के लिए भी हरी लकड़ी काटी जाने लगी। जैसे-जैसे आसपास के जंगल खतम होते गए इसका दूर दराज के जंगलों पर भी असर पड़ने लगा। कई इलाकों में तो कुछ रहा ही नहीं। कहीं-कहीं औरतों को दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह किलोमीटर दुर्गम पहाड़ी इलाकों में चलकर जलाऊ लकड़ी लानी पड़ती है। एक बात और भी है। जलाऊ लकड़ी आदिवासी इलाके में सिर्फ खाना बनाने के काम नहीं आती है वरन् वह उनकी बांस बल्ली की दीवाल से बनी झीनी झोंपड़ियों को गरम रखने के लिये भी जरूरी है। ठंड में लकड़ी ही गरम कपड़ों का काम करती है। रात में जंगली जानवरों और कीड़े मकोड़ों से भी बचने के लिए भी आग जलाना जरूरी है।

9.19 दीगर जरूरतों की तरह ही जलाऊ के मामले में भी बाहरी लोगों की मांग का वनों और आदिवासियों पर बुरा असर पड़ा। बाहरी मॉग का रूप व्यापारिक होता गया। कहीं-कहीं जैसे मध्यप्रदेश में पूरे प्रदेश में सभी जगह चाहे उस इलाके में जंगल हो या नहीं जलाऊ लकड़ी देने की जिम्मेदारी सरकार ने ले ली इस कारण प्रदेश के बचे हुए जंगलों पर दबाव भारी होता गया। दूसरी ओर शहर-कस्बों की मांग को पूरा करने के लिए चोरी से लकड़ी जाने लगी जिसमें गरीब लोग जिनके लिये जिन्दगी बसर करने का और कोई सहारा नहीं है, शामिल हैं। इस हालत में जंगल से जलाऊ लकड़ी की निकासी को भी नियंत्रित करने की जरूरत हुई। और कहीं-कहीं जैसे बालाघाट (मध्यप्रदेश) में कुछ रेजों में जलाऊ की निकासी बिल्कुल बंद हो गई। परन्तु विडम्बना यह है कि इस मुमानियत का सबसे ज्यादा असर उस जंगल के बीच रहने वालों पर पड़ा है। औपचारिक रूप से बताया जा रहा है कि लकड़ी न होने के कारण बंदिश लगाई गई है। परन्तु वहाँ के लोग अपने जंगल में सूखी लकड़ी के ढेर के ढेर देख रहे हैं। उसे वे निकाल नहीं सकते हैं। इस तरह जंगल में रहने वाले लोगों को भी जलाऊ लकड़ी डिपो से खरीदने की मजबूरी है जो उनके लिये मुमकिन नहीं।

बुनियादी विसंगति

9.20 यहीं पर आकर आदिवासी की औपचारिक कानून और व्यवस्था की नजर में हक न होने से कमजोरी और बाहरी लोगों और अनजानी संस्थाओं की कानूनी हकदारी की ताकत के गलत नतीजे साफ हो जाते हैं। आदिवासी देखता है कि बीसियों ट्रक लकड़ी भर-भर कर कच्चे रास्तों पर धूल उड़ाते न जाने कहाँ के लिये चलते चले जाते हैं। परन्तु उसी वन से उसको हल बनाने के लिए लकड़ी लाने की मुमानियत है। जंगल में सूखे पेड़ों के ढ़ेर लगे हुए हैं। परन्तु पूस की रात में भी अपनी टूटी झोपड़ी में अलाव जलाने के लिये आदिवासी उन्हें छू नहीं सकता है, जिससे अलाव के किनारे उसके अध-नंगे बच्चे घुटने समेटकर तो सो सके। औपचारिक व्यवस्था प्रतिबंधों का तर्क समझती है, उन्हें उचित भी ठहराती है पर वे सभी तर्क साधारण आदमी की समझ के परे हैं। और यहीं से टकराव की शुरूआत होती है।

9.21 जैसा सभी मामलों में हम देखते रहे हैं, जब भी सुधार की बात आती है तो सबसे पहले निगाह गरीब की गलती पर ही पड़ती है। सही अर्थों में वह गलती है भी या नहीं, अगर गलती कर भी रहा है तो उसे वह गलत काम करना क्यों पड़ता है और उसका सुधार कैसे किया जा सकता है इसका बिना ध्यान दिये बगैर उस पर चौकसी करने की कोशिश होती रहती है। यही निस्तार के मामले में भी हुआ। वनोपज की इतनी कमी क्यों कर हो गई कि लोगों के निस्तार की जरूरत तक पूरी नहीं होती, इस पर तो कोई ध्यान नहीं दिया गया परन्तु उसके उल्टे यह मान लिया गया कि लोगों के निस्तार पर कोई अंकुश न होने की वजह से वन खतम होते जा रहे हैं। इसलिये पहले तो सरकारी सोच में निस्तार के अधिकार को ही एक तरह से नहीं जैसा ही माना जा रहा

है। कहने को कह दिया जाता है कि लोगों को निस्तार तो तभी मिल सकेगा जब जंगल होंगे। इसलिये जंगल का बचाना पहला काम है। उसके लिये निस्तार के अधिकार में भी कटौती की जरूरत हो तो वह कटौती किया जाना भी वाजिब हो जाता है। इस सोच में वनों पर दूसरे दबाव और उनके खतम होने के असली कारण भुला दिये जाते हैं।

9.22 इस माहौल में आदिवासियों के वनों से निस्तार के अधिकार सिर्फ रियायतें रह गए जिन्हें स्थानीय अधिकारी वहाँ की हालत को देखकर दे या न भी दे। यही नहीं कुछ हिसाबी-किताबी लोगों ने तो वनों के आरक्षण का इतिहास भुलाकर यहाँ तक कह डाला कि आखिर आदिवासियों या वनों के आसपास के लोगों ने किया क्या है, करते क्या हैं जिसके लिये उनका वनों पर खास अधिकार माना जाय। दुर्भाग्य से राष्ट्रीय कृषि आयोग तक ने आदिवासियों के अधिकार की बात को इसी रूप में लिया था और उसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए वनों को लागत-लाभ के व्यापारिक दायरे में ढकेल दिया जिसके बाद में भारी दुष्परिणाम हुए। यह जरूरहै कि इस तरह के सोच का कार्यकारी रूप में मौके पर कोई खास असर नहीं होता है। परन्तु इस माहौल में ऊपर से कानून को कड़ाई से पालन करने के निर्देश जारी होते जाते हैं, लोगों पर मैदानी कर्मचारियों का दबाव बढ़ जाता है, उसके साथ ही चोरी बढ़ जाती है, जायज जरूरतों को पूरा करने के लिये लेन-देन भी बढ़ जाता है और जब उसमें अति हो जाती है तो टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है।

नई वन नीति और स्थानीय लोगों की जरूरतें

9.23 स्थानीय लोगों की जरूरतों को पूरा करने के मामले में नई राष्ट्रीय वन नीति में पहले की तुलना में कुछ सुधार हुआ है। उसमें उसूलन यह माना गया है कि स्थानीय लोगों की जरूरतों को वनों से पहले पूरा किया जाय और बाद में और जरूरतों को देखा जाय। परन्तु इतनी बुनियादी बात मानने के तुरंत बाद इस नीति में दो बातें जोड़ दी गईं। पहली यह कि लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए वनोपज के प्रदाय में वन की वहन-क्षमता को ध्यान में रखा जाएगा। दूसरे उसके प्रदाय के लिये डिपो खोले जायेंगे और सभी चीजें वाजिब दरों पर दी जायेंगी।

9.24 उसूलों को व्यवहारिक रूप देने की से दोनों बातें देखने में बड़ी सीधी सरल लगती हैं। परन्तु व्यवहार में उनका असर उस उसूल को नकारना जैसा हो जाता है और आदिवासी अर्थव्यवस्था के लिए भारी पड़ जाता है। पहले हर एक वन क्षेत्र की वहन-क्षमता को निर्धारित कौन और कैसे करेगा इसमें पहल पूरी तरह से छोटे कर्मचारियों के हाथ में चली जाएगी और लोग उनकी मनमानी का शिकार होंगे। दूसरे जहाँ तक डिपो से बिक्री की व्यवस्था का सवाल है एक तो हर गाँव में बिक्री के लिये डिपो खुल नहीं सकते हैं। दूसरे, डिपो से बांस और लकड़ी लेने का मतलब है आदिवासी अपनी जरूरत के लिये बांस बल्ली जंगल में खुद नहीं काट सकता है। इसलिये बांस-बल्ली की कटाई और उसकी ढुलाई सरकार को करनी होगी।

9.25 जिसका मतलब हुआ कि डिपो से बांस लेने पर उसकी कीमत आदिवासी को अदा करनी होगी। बाहर वालों के लिये वह व्यवस्था साधारण और स्वाभाविक है परन्तु आदिवासी के लिये वह भार बन जाती है। सरकार के मुताबिक तो कटाई-ढुलाई की लागत या उसमें भी कुछ रियायत देकर भाव तय किया जाता है। परन्तु यह सभी जानते हैं सरकारी काम में लागत कितनी बढ़ जाती है। इसलिये कहने के लिए बिना लाभ बिना हानि के उसूल के मुताबिक दाम तय किये जाते हैं परन्तु सरकार की लागत में एक गाड़ी लकड़ी की कीमत दस से बीस रुपये तक हो जाती है। इतनी कीमत देकर आदिवासी जलाऊ लकड़ी की जरूरत कैसे पूरी कर सकता है।

9.26 वनों से निस्तार पाने के अधिकार का यह व्यावहारिक रूप सही नहीं है। निस्तार का मतलब है आदिवासी जो जंगल के किनारे रहता है, उसमें से अपनी जरूरत के मुताबिक जिस चीज को चाहे खुद जाकर अपने कंधों पर या बैलगाड़ी पर ढोकर ले आए। इसमें न उसको अपनी मेहनत की तो कोई कीमत पड़ती है और न ढुलाई का कोई किराया। निस्तार के लिये डिपो की व्यवस्था का मतलब है कि जो चीज वह अपनी मेहनत से जंगल से ला सकता है उसके लिए उसको पैसे देने होंगे। इसके अलावा बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस मील ढोने की मेहनत अलग। ये विसंगतियाँ हमारे कानून-कायदों में नजरअंदाज हो जाती हैं। सरकार अपनी समझ में आदिवासी के हित के लिये बड़ी सुंदर योजना बनाती है परन्तु फिर उसी के कायदे कुछ ऐसे बन जाते हैं कि वह आदिवासी को उलटे पड़ जाते हैं।

वनों के बारे में आदिवासी और सरकारी नजरियों में बुनियादी भेद

9.27 यहीं पर आकर सरकार और आदिवासी के वनों के बारे में नजरियों का अंतर साफ हो जाता है - वे एक दूसरे से पूरी तरह से उलटे हैं। जंगल को काटकर खेती के लिये जमीन बनाने की मजबूरी को छोड़कर **आदिवासी जंगल से अपनी जरूरतें उसी तरह से पूरी करता है जैसे बालक अपनी माँ का दूध पीता है। इसीलिए आदिवासी वन को अपनी माँ कहता है।** सरकार की निगाह में उन वस्तुओं का जो आदिवासी के लिए प्रमुख हैं, उसकी जिंदगी का सहारा हैं कोई मूल्य नहीं है, या न के बराबर है। दूसरी ओर सरकार या आधुनिक व्यवस्था जिस इमारती लकड़ी वगैरह को वनों की मुख्य उपज मानती है उससे आदिवासी को कोई खास मतलब नहीं।

9.28 अगर सचमुच लोगों को वनों से मिलने वाले लाभ का पूरा-पूरा हिसाब लगाया जाय तो सरकारी नजरिये का दोष साफ हो जाएगा। **आदिवासी को किसी पेड़ से उस पेड़ से आखीर में सूखने तक जितना लाभ मिलता है वह उसकी लकड़ी की कीमत से जो आखीर में उसको काटने से सरकार को मिलती है सौ गुना या हजार गुना भी हो सकता है। लेकिन चूँकि यह लाभ आदिवासी को सहज रूप में सीधे-सीधे मिलता है, वह हमारी आधुनिक अर्थव्यवस्था के हिसाब-किताब नहीं आता है और अनदेखा कर दिया जाता है।** आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का मतलब जंगल की लकड़ी या कुछ थोड़ी बहुत अन्य उपयोगी चीजों से ही रहता है। इसीलिए लकड़ी का मोल ही उसके हिसाब में आता है। लकड़ी पेड़ नहीं है, लकड़ी तो पेड़ की मौत के बाद उसकी "हड्डी" की तरह से हैं। इन "हड्डियों" का आदिवासी की अर्थव्यवस्था में अब तक कोई खास मतलब नहीं था। हाँ, यह ठीक है कि जब से पेड़ काटकर तुरंत पैसा बना लेने वाली बात शुरू हुई है तब से आदिवासी के मन में भी कुछ बदलाव आया है। परन्तु फिर भी आदिवासी बहुत करके दूसरों के बहकावे में आकर ही पेड़ काटता है वरना उसे कटे पेड़ में कोई खास दिलचस्पी नहीं रही है।

9.29 आधुनिक व्यवस्था का यही रवैया पर्यावरण के प्रति भी था। बाहरी लोगों ने, वनों के बने रहने में कोई दिलचस्पी न होने से, सिर्फ मुनाफे के लिये उनको बेरहमी से काटा, अभी भी काट रहे हैं। उधर कहीं-कहीं आदिवासी के पास कोई और रास्ता नहीं होने से पेट की आग बुझाने के लिये वनों को काटना पड़ा। इसके अलावा वनों के कटने या नैसर्गिक वनों की जगह आर्थिक दृष्टि से उपयोगी पेड़ लगाने से पर्यावरण को क्या हानि हो रही थी, इसका कहीं कोई हिसाब नहीं था। परन्तु अब पूरी दुनिया में पर्यावरण एक नाजुक हालत में पहुँच गया है। कई जगह लोगों को साफ हवा और पीने का पानी भी मिलना कठिन हो गया है। जब से पर्यावरण के बारे में यह नई चिन्ता पैदा हुई है, सभी आर्थिक गतिविधियों को लागत लाभ के नजरिये से ही न देखकर उसके पर्यावरण

पर प्रभाव को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है। पेड़ों से जो दूसरे लाभ मिलते हैं और जिनका अभी तक कोई हिसाब ही नहीं रखा जाता था वह एक विचारणीय विषय हो गया।

9.30 इस संदर्भ में वनों पर चारो तरफ से बढ़ते दबाव से बचाने के लिये खास तौर पर कानून बनाने की जरूरत हुई। सन् 1980 में केन्द्रीय सरकार ने वन संरक्षण अधिनियम बनाया। इस अधिनियम के आने के बाद वनों के प्रबंध के मामले में कुछ बुनियादी बदलाव आया है। उदाहरण के लिये अब वन क्या है इस कल्पना में ही बदलाव आया है। पहले **वनों से बहुत करके इमारती लकड़ी या बाहर की जरूरतों को पूरा करने के लिए नैसर्गिक वन काटकर सागौन जैसे खास पेड़ों का प्लांटेशन करना वनों का वैज्ञानिक प्रबंध माना जाता था। परन्तु अब इस तरह के प्लांटेशन वन नहीं माने जाते हैं। अब वन का मतलब है नैसर्गिक वन जिनमें सभी तरह के पेड़ पौधे लतावल्लरियाँ हों। यह नई कल्पना एक तरह से आदिवासी के अपने सोच से मेल खाती है और उसके हित में भी है। उसकी जिंदगी भी इन्हीं प्राकृतिक वनों से ही जुड़ी हुई है।** सच तो यह है कि पहले जिस तरह से प्लांटेशन लगाए जा रहे थे उससे उसकी जिंदगी का आधार खत्म होता जा रहा था। उस समय वह कहता था सागौन मत लगाओ, इससे हमारे कांदा नहीं होंगे, यूकिलिप्टस मत लगाओ इसके नीचे तो घास भी पैदा नहीं होती, हमारे जानवर क्या खायेंगे, तो कोई सुनता नहीं था। विभाग के हिसाब में आदिवासी की जरूरतों का हिसाब ही नहीं था। विभाग को तो सौ साल या दस साल बाद या आज आमदनी क्या होगी इससे मतलब था। वन की कल्पना में यह बदलाव न केवल पर्यावरण के लिये हितकर है, आदिवासी की अर्थ-व्यवस्था के लिये भी भला है।

9.31 परन्तु इसके साथ एक दूसरा बदलाव भी आया है जिसमें आदिवासी हितों को अनदेखा कर दिया गया। **नई कल्पना में वनों को पूरी तरह से प्राकृतिक वन बनाने के चक्कर में वनों और आदिवासियों का रिश्ता पूरी तरह से तोड़ने का फैसला हो गया है।** जब पर्यावरण की बात होती है तो वन से लोगों को मिलने वाले दूसरे लाभ नजरअंदाज कर दिए जाते हैं। इसलिए कहीं लोग जंगल में घुसकर नुकसान न करें और पर्यावरण को हानि न हो जाय, इसलिए लोगों को वनों से उनकी साधारण जरूरतों से भी महरूम किया जा रहा है। इस नीति के मुताबिक न केवल आदिवासियों की वनों के अंदर रिहायश और खेती करने पर मुमानियत है वरन् उनका वनों के अंदर जाने पर भी पाबंदी है जिससे वनों से सभी तरह के पेड़-पौधे और जानवर बिना किसी तरह की छेड़-छाड़ के रह सकें और बढ़ सकें। **आदिवासी के लिये, जो वनों में घुस नहीं सकते है उस हालत में जिंदगी कैसे चलेगी यह सोचना भी नामुमकिन है। उसे अपनी रोजमर्रा की जरूरतें तो पूरी करनी ही होंगी, उसके जानवर भी वन में ही चरेंगे। अंतर सिर्फ इतना ही होगा कि अब तक जो कानून से चल रहा था, वह गैर-कानूनी हो जाएगा। यह बात उसके लिए कोई नई नहीं है। पर्यावरण के लिये नए कानून से आदिवासी समाज के अपराधीकरण की इमारत में एक ईंट और लग गई, बस।**

9.32 वन के बाहर रहने वाले लोगों को, पर्यावरण के लिये बंदिशों से, कोई खास फर्क नहीं पड़ेगा। वे अपनी जरूरतें किसी न किसी तरह से पूरी करते ही रहेंगे। हो सकता है कि जो चीज पहले दो पैसे में मिलती थी अब चार पैसे में मिलने लगे। अगर कोई एक चीज बाजार में नहीं मिली तो वे लोग दूसरी चीज से काम चला लेंगे। परन्तु वही बंदिशें आदिवासी के लिये अनहोनी हो जाती है। उनसे उसकी जिंदगी के तौर तरीकों में ही बुनियादी बदलाव जरूरी हो सकता है। वह व्यक्ति जो बाजार की अर्थव्यवस्था से जुड़ा ही नहीं है अपने पड़ोस के जंगल में मिलने वाली चीजों को बाजार या डिपो में जाकर खरीदने की बात कैसे सोच सकता है ? पर्यावरण के लिये वनों के खास प्रबंध के इस नये दौर में वनों को बचाने के लिए उनके चारों ओर खाईयाँ खोदी जा रही हैं,

तार लगाए जा रहे हैं, और कहीं-कहीं उनमें बिजली भी दौड़ाई जा रही है, जिससे उनमें भीतर कोई आदमी पैर भी न रख सके। अगर ऐसा होता है तो उसे पान पत्ते कहाँ से मिलेंगे, जानवर कैसे जियेंगे ? **इसी तरह यह कहकर कि कुल्हाड़ी ने ही वनों को खत्म किया है, आदिवासी को कुल्हाड़ी लेकर जंगल में घुसने की इजाजत नहीं है। इस बात का किसी को एहसास भी नहीं कि जंगल में अगर जंगली जानवरों से मुकाबला हो जाय तो वह क्या करेगा ?**

9.33 इस तरह हमारी व्यवस्था कभी एक सिरे पर और कभी दूसरे पर काम करती है। परन्तु आम आदमी की जिंदगी व्यवस्था की तरह अलग-अलग खाँचे में नहीं बंटी है। उसमें सिरे की स्थितियाँ नहीं होती। जिंदगी मिलीजुली स्थिति का प्रतीक है। जब तक इस बात को नहीं समझा जाता है। और उसके मुताबिक काम नहीं होता है तब तक साधारण आदिवासी और औपचारिक व्यवस्था के नजरियों में भेद को खत्म नहीं किया जा सकता है।

10

संसाधनों पर अधिकार - 3

वनों का आरक्षण - बसाहत, खेती की जमीन और फलदार पेड़

संसाधनों पर आम लोगों के अधिकार और उनके उपयोग के बारे में ऊपर दिए गए विवरण में एक खास बात यह है कि आजादी मिलने से "खेती की जमीन जोतने वाले के हक में हो" इसकी सैद्धान्तिक मान्यता को छोड़कर और किसी भी मामले में कोई खास बदलाव नहीं आया। सच तो यह है कि अंग्रेजी राज के दौरान प्राकृतिक संसाधनों पर समाज और लोगों के अधिकारों के छिनने का जो सिलसिला चालू हुआ था, वह आजादी के बाद भी उसी तरह से जारी रहा है। कहीं-कहीं, खासतौर पर वनों के मामले में तो वह और भी तेज हो गया है। एक ओर तो वनों से संबंधित कानूनों में न केवल किसी तरह के सुधार की कोशिश नहीं हुई वरन् वे और भी कठोर बनते गए हैं। दूसरी ओर राज्य सरकारों के लिये वन उनकी आमदनी बढ़ाने के लिये आसान साधन साबित हुए। इसलिए राज्य सरकारों ने एक तो जंगलों के प्रबंध की व्यवस्था को और भी मजबूत किया है और दूसरे उन वनों को भी जो अंग्रेजों के जमाने में राज्य के अधिकार में नहीं आए थे, धीरे-धीरे राज्य के अधिकार में ले लिया गया।

वनों का आरक्षण - कितना कानूनी ?

10.2 वनों पर सरकार ने अपना अधिकार **भारतीय वन अधिनियम** के तहत कायम किया था। यही कानून वनों पर सरकार के अधिकार की बुनियाद है। हालांकि जैसा हम आगे देखेंगे आज इस वन अधिनियम की बुनियादी मान्यताओं को हमारी संविधानिक मान्यताओं के संदर्भ में परखने की जरूरत है, यहाँ पर हम यह अधिनियम ठीक है या नहीं इस पर विचार नहीं करेंगे। आज जो वन सरकार के अधीन है, उनकी प्रचलित कानून के संदर्भ में स्थिति क्या है, इस पर विचार करेंगे।

10.3 हम पहले देख चुके हैं कि अंग्रेजों के जमाने में वनों के आरक्षण में कानून की औपचारिकता निभायी गई थी। परन्तु लोगों को न्याय नहीं मिला। अधिकतर आदिवासी लोग अपने घरों से जबरदस्ती बेदखल कर दिये गये थे। उस जमाने की यह बेदखली अब केवल आदिवासियों की लोक गाथाओं में ही बची है। कभी-कभी अपने पूर्वजों के पत्थर और खेतों के बंधान देखकर उनके मन में बेचैनी जरूर पैदा हो जाती है। परन्तु उसजमाने में लगाए गए जंगलों के मुनारे लोगों को भाग्य की लकीर की तरह स्वीकार है।

10.4 आजादी के बाद देश का एक नया नक्शा बना जिसमें देश के सभी इलाके कुछ राज्यों में बंट गये। इन नये राज्यों में जो आदिवासी इलाके शामिल हुए थे, आजादी के पहले की उनकी व्यवस्था एक जैसी नहीं थी। बहुत से आदिवासी इलाके देशी रियासतों में भी थे। आदिवासी लोग वहाँ राजा को कुछ ले-देकर या उनकी तरह-तरह की सेवा करके जंगल में आजादी से रहते आ रहे थे। इसी तरह कई आदिवासी इलाके जागीरों और जमींदारियों में थे जिनमें प्रबंध के अलग ही तौर-तरीके थे। बहुत से आदिवासी इलाके अंग्रेजी सूबों में थे। परन्तु इन सूबों में भी प्रबंध एक तरह का नहीं था। कई आदिवासी इलाके गवर्नरों की सीधी देख-रेख में थे। कहीं-कहीं उस इलाके की हालत को देखते हुए कुछ खास व्यवस्थाएँ भी की गई थीं। कुछ आदिवासी इलाकों में तो सिर्फ उन इलाकों की हदबन्दी करके उसके भीतर लोगों को अपनी जिंदगी अपनी मर्जी के मुताबिक बसर करने के लिए आजाद छोड़ दिया गया था।

समान व्यवस्था - स्थानीय परंपराओं की अनदेखी

10.5 आजादी के बाद हमारे देश में नये राज्य बने तो आदिवासी इलाकों की पुरानी व्यवस्थाओं की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया। इसलिये इन इलाकों में पुरानी व्यवस्थाओं की जगह एकाएक एक समान नयी व्यवस्था लागू हो गई। वनों के मामले में सभी राज्यों में सामान्य नीति के तहत जहाँ वन आरक्षित नहीं थे वहाँ आरक्षण की कार्रवाई शुरू की गई। इसके अलावा सभी दूर निजी जंगलों को भी धीरे-धीरे सरकार से अपने कब्जे में ले लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि लगभग सभी आदिवासी इलाकों में आज एक ही कानून लागू है और एक जैसी ही प्रबंध व्यवस्था है।

10.6 वनों के प्रबंध के मामले में यह समान व्यवस्था कहने के लिये ठीक है, जरूरी भी लगती है, परन्तु प्रबंधकों के नजरिये से अब सब जगह एक समान व्यवस्था लागू हो भी गई है। परन्तु कानून बदलने से ही लोगों की जिंदगी तो नहीं बदल जाती है। इन इलाकों के रहने वालों की हालत, उनकी जिंदगी बसर करने के तौर-तरीके तो वही पुराने बने हुए हैं। इन लोगों के जिंदगी के उन तौर-तरीकों के लिये पुरानी प्रबंध व्यवस्था में कुछ गुंजाइशें थीं। परन्तु नई व्यवस्था में वे गुंजाइशें अब नहीं रही हैं। नई व्यवस्था और नये कानून लागू हो जाने के बाद भी लोग उनको मन से स्वीकार नहीं कर पाये हैं। इसलिए बहुत-सी जगह वनों में रहने वालों और सरकार के बीच टकराव की स्थिति पैदा हो गई है।

10.7 भारत जैसे बड़े देश की, जिसमें स्थानीय परंपराओं को हमेशा से बड़ा महत्व दिया गया है, तमाम स्थानीय परंपराओं का मोटे तौर पर भी इस रिपोर्ट में वर्णन करना कठिन होगा। सच तो यह है कि सभी दूर स्थानीय व्यवस्थाओं को बिना देखे-समझे ही इकतरफा कार्रवाई के रूप में नई व्यवस्था लागू कर दिये जाने से, पुरानी व्यवस्थाओं की सही जानकारी तक कहीं एक जगह नहीं है। राज्य के स्तर पर भी, जहाँ से वनों की व्यवस्था की जाती है, उसके बारे में पूरी जानकारी नहीं है। इसलिए नई व्यवस्था और स्थानीय परंपराओं के बीच विवाद के मुद्दे भी राज्य सरकारों को मालूम नहीं है। इस हालत में लोग सरकार के सामने **अपनी परंपराओं का हवाला देते हुए अपने यहाँ की खास हालत पर गौरकरवाने के लिये अपनी समझ के मुताबिक अपनी माँगे रखते रहते हैं। राजनेता और अधिकारी मौके पर उनकी तकलीफों को दूर करने के वायदे भी कर आते हैं। परन्तु वे वायदे सिर्फ खाली बातें ही बने रह जाते हैं। अगर सरकार में उनकी दरख्वास्तों पर कोई कार्रवाई शुरू हुई भी तो कानून में उनके लिये कोई गुंजाइश न होने से कहीं न कहीं अटक जाती है। बस लोगों की दास्तान में एक और वाकया जुड़ जाता है और तकलीफ जैसी की तैसी बनी रहती हैं। जब सरकार समस्या सुलझा नहीं पाती और लोगों को जिंदगी बसर करने का और कोई रास्ता दिखाई नहीं देता, तो असंतोष होता है, सरकार पर यकीन कम होता जाता है और फिर क्या करें क्या न करें यह समझ नहीं आता। यही असमंजस टकराव और विद्रोह का रूप भी ले लेता है।**

आजादी के बाद वनों का आरक्षण - कितना कानूनी ?

10.8 सबसे पहले तो हम उन मामलों को देख लें जहाँ सरकार यह दावा करती है कि कानून के मुताबिक पूरी कार्रवाई करके वनों को आरक्षित किया गया है। इस मामले में मौके पर हालत कुछ अलग ही है। जगह-जगह लोगों की एक बड़ी शिकायत है कि उनके जंगल कब और किस तरह से आरक्षित हो गये इसकी उन्हें कोई खास जानकारी ही नहीं मिली। ये शिकायतें आजादी के बाद की कार्रवाई के बारे में कुछ ज्यादा ही हैं। **कानून के मुताबिक वन का आरक्षण लोगों से सही मायने**

में बातचीत करके उनकी बात सुनकर ही किया जाना चाहिये। ऐसा लगता है कि कानून की औपचारिकता बरती गई मगर कानून की मंशा का पालन नहीं हुआ। इस तरह की खानापूरी के कुछ उदाहरणों से, लोगों की शिकायतें बेबुनियाद नहीं हैं, यह साबित होता है।

§1§ सोनभद्र में आरक्षण - सवाल ही सवाल

10.9 उत्तरप्रदेश के सोनभद्र जिले में लगभग 80 प्रतिशत इलाके में वन हैं। इस जिले में कुछ वन तो आजादी के पहले आरक्षित कर दिये गये थे परन्तु अधिकांश वनों के आरक्षण की प्रक्रिया आजादी के बाद शुरू हुई। इसके बारे में आम लोगों की शिकायत थी कि आरक्षण की प्रक्रिया कहाँ, कैसे और किसने की, इसके बारे में सही जानकारी नहीं मिली। इसके अलावा जहाँ यह प्रक्रिया हुई भी वहाँ बड़े ही सरसरे ढंग से की गई जिसमें लोगों को अपनी बात कहने का मौका ही नहीं मिला। यहाँ के लोगों ने इस मामले को सभी दूर उठाया परन्तु कहीं से भी राहत न मिलने पर उसे अदालत ले गए। इसके बाद भी सरकार उनकी अनसुनी करती रही और उनके आरोपों पर कोई ध्यान नहीं दिया। यह मामला जब उच्चतम न्यायालय में पहुँचा तभी यह साफ हुआ, जिसे फिर सरकार ने भी माना, कि वनों के आरक्षण करते समय कुछ मोटी बातों पर भी अमल नहीं किया गया था। उदाहरण के लिए जंगल की लाइन कहाँ से निकलेगी इसके निशान मौके पर नहीं लगाए गए थे। इसके अलावा, इस कार्रवाई के बारे में डुग्गी पिटकर मुनादी करने की बात तो दूर लोगों को सरसरी तौर पर जबानी भी कुछ नहीं बताया गया। सिर्फ कागजी इश्तहार लगाकर कानून का पेट भर दिया था। कई गाँवों में तो मौके पर कोई अधिकारी भी नहीं पहुँचा और वहाँ के जंगल के आरक्षण की कार्रवाई पूरी हो गई।

10.10 आरक्षण की प्रक्रिया में लगभग दस लाख हेक्टेयर वनभूमि आती है। उच्चतम न्यायालय में यह मामला पहुँचने तक इस इलाके के कुछ वनों के आरक्षण की कार्रवाई तो पूरी हो गई थी और वन अधिनियम की धारा 20 के तहत अंतिम अधिसूचना भी जारी हो चुकी है। इस तरह कुछ वन विधिवत् आरक्षित वन हो गए थे। परन्तु अधिकांश वनों के मामले में वह कार्रवाई पूरी नहीं हुई थी। उच्चतम न्यायालय ने आरक्षित वनों को छोड़ कर जहाँ आरक्षण की कार्रवाई पूरी नहीं हुई, पूरी कार्रवाई फिर से दोहराने का आदेश दिया है। यह कार्रवाई अब नये सिरे से की जा रही है। परन्तु इस पूरे मामले में एक शोचनीय बात हुई है कि **उच्चतम न्यायालय भी यह जानते हुए कि सभी जगह जो बातें कानून में जरूरी थीं वे नहीं की गई, केवल इसकारण कि किसी इलाके में वनो के आरक्षण की अधिसूचना जारी हो गई है, कानून की दीवाल पर जाकर रुक गया और लोगों को राहत नहीं दे पाया। अगर किसी इलाके में आरक्षण के लिये कानून में दी गई प्रक्रिया नहीं अपनाई गई है तो आरक्षण गलत है। किसी भी गलत कार्रवाई से लोगों के अधिकार खतम नहीं हो सकते हैं, वे कायम हैं इसलिये उन्हें नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है।**

§2§ गढ़चिरौली - बिना देखे आरक्षण

10.11 अभी हाल ही में §1989§ महाराष्ट्र के गढ़चिरौली में वहाँ के वनों के आरक्षण के बारे में बात निकली तो वहाँ के विधायकों को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उनके यहाँ के जंगलों को आरक्षित करने के लिये प्रस्ताव भेजे जा चुके हैं जो नागपुर कमिश्नर के पास धारा 20 के तहत अंतिम अधिसूचना जारी करने के लिए रखे हुए हैं। जब इस पर और आगे बातचीत हुई तो लोगों ने बताया कि कुछ साल पहले जंगल वालों ने कुछ कार्रवाई की तो जरूर थी। परन्तु किसी को भी

यह मालूम नहीं था कि वह कार्रवाई किस लिए की जा रही हैं। और फिर इसमें सबसे हैरत की बात तो यह निकली कि कुछ इलाकों में तो कोई अधिकारी गया ही नहीं और कार्रवाई पूरी हो गई। गनीमत यह थी कि कल अधिकारी ईमानदार था और शायद अंग्रेजी प्रशासन की परम्परा निभाते हुए उसने अपनी रिपोर्ट में भी यह लिख दिया था कि वह इलाका इतना दूर-दराज और कठिन था कि वहाँ जाना ही मुमकिन नहीं था।

10.12 इस मामले में सौभाग्य से स्थानीय विधायकों के आग्रह पर कमिश्नर ने अंतिम अधिसूचना जारी करने की कार्रवाई रोक दी है। इस तरह लोगों के उम्पर एक भारी विपत्ति आने से बच गई। अगर कहीं धारा 20 के तहत अंतिम अधिसूचना जारी हो गई होती तो उसके बाद इन सब गलतियों के मालूम हो जाने का भी कोई मतलब नहीं निकलता। सोनभद्र के मामले की तरह इस मामले में औरों की तो बात छोड़ें, उच्चतम न्यायालय तक कानून के सामने अपनी लाचारी बता देता। जंगल के अधिकारी अपने कर्तव्यों का पालन करने में जुट जाते और लोगों पर किसी भी तरह की कार्रवाई करने के लिए उनको छूट मिल जाती। लोगों की हर फरियाद और हर तकलीफ का एक ही जवाब होता - "कानून है, क्या करे, उसका पालन करना सभी का फर्ज है। कानून भी तो आखिर जनता की भलाई के लिए है।"

(3) सिंहभूम - गैर कानूनी कार्रवाई

10.13 वन के कानूनों को गैर-कानूनी होने पर भी किस तरह लोगों पर थोप जा सकता है और उसके लिये उन्हें सजा भी दी जा सकती है। इसकी एक मिसाल बिहार के सिंहभूम जिले की गौर करने लायक है। देश में सभी इलाकों की तरह ही यहाँ भी वन विभाग के मुताबिक लोग वन में कानून के खिलाफ जमीन जोतते रहे हैं। इस गैर-कानूनी कार्रवाई के लिए लोगों पर मुकदमें चलाये जाते हैं और उनको सजा भी होती रही है। इस जिले में कुछ लोगों ने वन विभाग की इस कार्रवाई पर कानूनी एतराज उठाया। उन्होंने कहा कि जो जमीन वे जोत रहे हैं वह वन में नहीं आती है। उन्हें उसके आरक्षण की कार्रवाई का इल्म ही नहीं है, उनकी निगाह में वहाँ का वन आरक्षित ही नहीं हुआ है। इसलिये इन लोगों ने जुर्म कबूल करने से इन्कार कर दिया।

10.14 जब यह मामला उच्च न्यायालय में गया तो अदालत की ओर से वन विभाग से यह पूछा गया कि अगर वे कहते हैं कि आरक्षित वन में खेती हो रही है और जुर्म हुआ है तो क्या वे इस बात का सबूत पेश कर सकते हैं कि यह बात लोगों को मालूम थी कि वन आरक्षित हो गया था। कानून के मुताबिक लोगों की जानकारी के लिए वनों के आरक्षित होने की अंतिम घोषणा स्थानीय बोली में होनी चाहिए। वन विभाग अदालत के सामने यह घोषणा पेश नहीं कर सका। वन के आरक्षित होने की जानकारी लोगों को मिलने का सबूत न होने से उन लोगों पर कोई जुर्म कायम नहीं हो सका और उन्हें बरी कर दिया गया।

10.15 यह फैसला सन् 1951 में हुआ था। वनों के आरक्षण के बारे में कानूनी हालत अभी भी वही बनी हुई है इस मामले में न तो वन विभाग ने आगे कैसी भी कोई भी कार्रवाई करने की जरूरत ही समझी और न अगर कानूनी कार्रवाई में कोई कमी रह गई हो तो उसको दूर करने के लिए भी कोई कदम ही उठाया। इसके उलटे वन विभाग उन वनों के आरक्षण को सही मानते हुए लोगों पर पहले की तरह जुर्म कायम करते रहे हैं उनको अदालत में पेश करते रहे हैं और लोगों को सजाएँ भी होती रही हैं। हाँ, अगर किसी आदिवासी को वकील की सहायता मिल गई तो वह 1951 के फैसले का हवाला कर बरी हो जाता है। इस तरह हालांकि वन विभाग लगभग चालीस साल के बाद यह साबित नहीं कर सकता है कि वन आरक्षित हैं, परन्तु फिर भी लोगों के खिलाफ कानूनी

कार्रवाई करने से नहीं रुका है। और राज्य सरकार जिस पर आदिवासियों की रक्षा करने की जिम्मेदारी है, उसको शायद यह मालूम ही नहीं, कि हो क्या रहा है, इस ओर कोई गौर करने की जरूरत भी नहीं समझी। यही नहीं, अभी हाल ही में यह सूचना दी गई कि स्थानीय बोली में अधिसूचना जारी करने की कानूनी बाध्यता को भी कहीं-कहीं समाप्त करने का सोचा जा रहा है।

जागीरदारी वन

10.16 वनों के आरक्षण के मामले में एक दूसरा उदाहरण भी महाराष्ट्र का है जिसमें सरकार ने पुराने निजी वनों को एक तरफ कानून बनाकर सातवें दशक में अपने अधिकार में लिया था। परन्तु इस मामले में एक बड़ी अजीब बात हुई। इस कानून के तहत इन इलाकों में बिना किसी जांच पड़ताल के यह मान लिया गया कि जागीरदारों के जो भी वन जिस किसी हालत में थे वे सबके सब सरकारी हो गये। इस कानून के खिलाफ मालिकों की प्रतिक्रिया को देखते हुए सरकार ने यह फैसला किया कि साढ़े बारह हेक्टेयर तक की जमीन मालिकों को वापिस कर दी जायेगी। परन्तु निजी वनों के आरक्षित मान लिये जाने के समय और उनको मालिकों को लौटाने की तजबी में इन वनों में जो लोग बसते थे या खेती करते थे, न इसकी जांच करने की भी कोई जरूरत समझी गई और न उनके हकों का ही ध्यान रखा गया। उनकी ओर से सवाल उठाने पर कह दिया जाता है कि जिसका वन था उसको वापिस किया जायगा, इन लोगों से सरकार को क्या मतलब। नतीजा यह हुआ कि उस कानून की वजह से इन वनों में आदिवासियों की पुरानी से पुरानी बसाहतें और खेती सभी कुछ गैर-कानूनी हो गया। जो लोग अब तक बिना किसी रोक टोक के उन वनों में खेती करते रहे थे, जिस जमीन को वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपना मानते आए थे, उनका कब्जा अवैध हो गया।

10.17 इस मामले में एक बात साफ है। कानून चाहे कुछ भी हो, आदिवासियों के साथ न्याय नहीं हुआ है। **यहाँ पर वनों के आरक्षण के लिए जिस कानून का सहारा लिया गया और प्रक्रिया अपनाई गई हैं वे दोनों ही गलत हैं।** और यह सरकार को मालूम है। **नासिक** जिले में इसी बात को लेकर नौबत यहाँ तक आ गई कि गोली तक चल चुकी है। वन विभाग के अधिकारी इन इलाकों में अकेले जा तक नहीं सकते हैं। परन्तु फिर भी बुनियादी विसंगति को खतम करने के लिये किसी की ओर से कोई पहल नहीं की जा रही है। इलाके में संघर्ष और टकराव हैं। उसे कानून और व्यवस्था के साथ से निपटाने की कोशिश हो रही है। मगर असली मुद्दे उलझे पड़े हैं, अनदेखे, अनसमझे।

आरक्षण की प्रक्रिया के मामले में गलतियाँ

10.18 वनों को आरक्षित करने की प्रक्रिया के ये उदाहरण तो ऐसे हैं जो सरसरी तौर पर देखने में ही गलत साबित हो जाते हैं। आरक्षण की प्रक्रिया को अगर थोड़ा और नजदीक से देखा जाय तो बहुत कुछ हालत अच्छी नहीं मिलेगी। प्रक्रिया के मामले में भी सभी ओर से लोगों की शिकायतें मिलती हैं। उदाहरण के लिये **मौके पर बिना लाइन खींचे वन के आरक्षण की कार्रवाई सिर्फ सोनभद्र में ही नहीं हुई है, इसीप्रकार की शिकायतें सभी जगह हैं।** दूसरे, आरक्षण की पूरी कार्रवाई में लोगों को अपनी बात कहने का कहाँ तक मौका मिला होगा, इसका भी कोई ठिकाना नहीं है। वनों का आरक्षण करते समय गांव में जाकर लोगों को समझने की कोशिश लगभग नहीं के बराबर हुई हैं, यह बात गढ़चिरौली या निजी जंगलों के बारे में जो हुआ उससे बिलकुल साफ है। ऐसी हालत में जहाँ लोग वनों के आरक्षण के बारे में शंकायें उठाते हैं या और शिकायतें करते हैं उनको गैर-वाजिब नहीं कहा जा सकता है। सरकारी कागजात पूरी तरह से विश्वसनीय नहीं है। हाँ, कानूनी खानापूरी जरूर हुई है और उस तरह से ही उन्हें सही माना जा रहा है। परन्तु औपचारिक तौर पर भी सभी

कुछ ठीक हुआ होगा, यह नहीं कहा जा सकता है, इस बाबत् सरकार कई बार अदालतों में अपने दावों को साबित नहीं कर पाई है।

वन की सीमायें

10.19 जंगलों के मामले में सबसे बड़ा सवाल उनकी हदबन्दी का आता है। अधिकतर आदिवासी इलाके में नक्शे नजरी थे। इसके अलावा जिस समय ये नक्शे बने थे उस समय से आज तक हालात में बहुत फेरबदल हो चुका है। इसीलिए जगह-जगह पर लोगों को शिकायत है कि जंगल की लाइनें उनके खेतों में से निकली हैं, उनकी बाड़ी और घरों के बीच से निकल रही हैं। हो यह रहा है कि सरकारी विभाग इन नजरी नक्शों को सही मानकर कार्रवाई करते हैं। जब नक्शे नजरी हैं, पुराने हैं और उनमें मौके के मुताबिक तरमीम ही नहीं हुई है तो उनको आधार मानकर कोई भी कार्रवाई हो कैसे सकती है ? अगर इस तरह कोई कार्रवाई होती है, जैसा कि हो रहा है, तो उसे सही नहीं माना जा सकता है।

10.20 नक्शों और रिकार्ड के मामलों में तकरार सिर्फ लोगों और वन विभाग के बीच ही नहीं है। सभी राज्यों में जंगल विभाग और राजस्व विभाग के बीच हदबन्दी को लेकर भारी तनाजा है। न जाने कितने ऐसे मामले हैं जिनमें लोगों के पास उनकी जमीन के राजस्व विभाग के द्वारा दिये गए पट्टे हैं और उन पर खेती हो रही है। इसीतरह से बहुत सी जमीनें खासतौर से बिहार में भूदान में दी गई थी जिसे भूदान बोर्ड ने भूमिहीनों में वितरित किया। परन्तु वन विभाग अपने नक्शों के आधार पर राजस्व विभाग के पट्टों को और भूदान के वितरण को गैर-कानूनी बताता है और लोगों को खेती से बेदखल करने की कार्रवाई करता है। इस तरह वन की हदबंदी के बारे में जब सरकार के दो विभाग आपस में फैसला नहीं कर पा रहे हैं तब फिर आदिवासी की तो बिसात ही क्या ?

10.21 वैसे तो हकबन्दी के ये झगड़े अर्से से चले आ रहे हैं - कहीं दस साल तो कहीं बीस, चालीस या पचास साल तक के मामले उलझे पड़े हैं और आदिवासी परेशान घूम रहा है। मगर अब तो इस उलझन की सफाई न होने के लिये वन संरक्षण अधिनियम का एक और बहाना भी हो गया है। इस मामले में वन विभाग के किसी भी स्तर के अधिकारी से कैसी भी बात करो, अमुमन एक ही सूखा सा जवाब मिल जाता है - "क्या करें, कानून है ?" परन्तु यह उलझन आदिवासी लोगों के लिए कोई साधारण परेशानी नहीं है। **कानूनों और प्रक्रियाओं का यह पूरा जाल उनको अपनी जीविका के साधन, जीवन के अधिकार से वंचित कर रहा है। यह सरासर गलत है।**

बसाहतें गैर-कानूनी ?

10.22 जैसा मैं पहले कह चुका हूँ आज की व्यवस्था में कागज का लिखा हुआ ही सही माना जाता है। इसलिए वनों के मामले में जो वन विभाग के कागजों में लिख जाता है, आदिवासी के लिये वह तकदीर की लकीर बन जाता है। परन्तु सवाल यह है कि क्या इन कागजों पर सही कुछ सही ही लिखा है या जो उनमें नहीं लिखा है वह है ही नहीं इस पर कैसे भरोसा किया जाय ? पूरे देश में ऐसे अनगिनत मामले हैं जहाँ पर लोग वनों के बारे में सरकारी कागजों के गलत होने का दावा करते हैं। उदाहरण के लिये पूरे देश में आदिवासियों की हजारों ऐसी बसाहतें हैं, जहाँ आदिवासी लोग अपने पुरखों के जमाने से बसते चले आ रहे हैं परन्तु ये बसाहतें वन विभाग के खाते में दर्ज नहीं हैं। इसलिए वन विभाग या तो उन बसाहतों का वुजूद ही इन्कार कर देता है। मौके को समझाने के लिये कह दिया जाता है वैसे ही झोपड़ियाँ डाल ली होंगी, उनका क्या ? अथवा वे बसाहतें वन के आरक्षित होने के बाद बसी हैं इसलिए गैर-कानूनी हैं। **ऐसे "कानूनी झूठ" के आगे "लोगों के सच" का कोई अर्थ नहीं। इसलिए उन बसाहतों को बेदखल करने में किसी को कोई हिचक नहीं।**

10.23 इसका सबसे दर्दनाक वाकया महाराष्ट्र के धुलिया जिले में हुआ था जिसके बारे में मैं पिछली रिपोर्ट में जिक्र कर चुका हूँ। कई ऐसे गांव हैं जहाँ जंगल का नामोनिशान नहीं है, जिनके बारे में कम से कम पिछले 50 साल से वहीं बसने के सबूत हैं, बिजली है, स्कूल हैं, पंचायत घर है, मगर यह सब वन विभाग की नजर में नहीं आता है, उनका रिकार्ड सही है और उसके अनुसार लोगों को अतिक्रामक करार दे दिया गया। इन गांवों के रहवासियों को वनविभाग का इतना खौफ था कि उन्होंने रातों-रात अपने घर छोड़कर भागने में ही अपना भला देखा। इस तरह हजारों गाँवों के आदिवासी लोग कानून के सामने बिल्कुल लाचार हैं। आज वे अपना वुजूद तक नहीं साबित कर सकते हैं सिर्फ इसलिए कि वन के अधिकारी वहाँ गये नहीं, या गये भी तो उन्होंने उनके बारे में कुछ लिखा नहीं, उनका कागज साफ है।

वनग्रामों की असंविधानिक व्यवस्था

10.24 आरक्षण के बाद वन में कानूनन केवल ऐसी बसाहतें ही बनी रह सकती थीं जिनको वनों में रख-रखाव या विकास के लिए जरूरी समझा जाय। वनों में काम करने के लिये जरूरत के मुताबिक मजदूर मिलते रहे इसके लिये अंग्रेजों के जमाने में या तो पहले से बसे हुए गाँवों को वनग्राम घोषित कर दिया गया था या दूसरी जगह से लोगों को ले जाकर नये वनग्राम बसाए गए। वनग्रामों में रहने वालों के लिए वन विभाग की कुछ शर्तें थीं जिनका पालन करना जरूरी थीं। वन ग्रामों में लोगों को जरूरत के समय वन में काम करने के लिये परिवार में से एक या दो सदस्य देना लाजमी था। कहीं-कहीं मजदूरी की दर और शर्तें भी निश्चित थीं। इसके बदले वन विभाग इन लोगों को खेती के लिए कुछ जमीन देता था। परन्तु उस जमीन के पट्टा का साल दर साल नवीनीकरण होता था। उस जमीन पर जोतने वाले का स्थायी हक नहीं था। वनग्रामों की यही व्यवस्था आजादी के बाद भी चलती रही।

10.25 वन ग्राम के निवासियों का एक मामला छठे दशक में **केरल उच्च न्यायालय** के सामने आया था। उच्च न्यायालय ने वन गाँव में रहने वालों के उम्र बंदिश लगाने वाले हिल मेन्स रूल्स को असंवैधानिक करार दिया था। इस फैसले के बाद केन्द्रीय सरकार ने सन् 1974 में औपचारिक रूप से राज्य सरकारों को यह सलाह दी थी कि चूँकि वनग्राम हमारी संवैधानिक व्यवस्था के खिलाफ है इसलिए सभी वन ग्रामों का राजस्व गाँव का दर्जा दिया जाय और जिस जमीन को लोग जोत रहे हैं उस पर उनको पूरा अधिकार दिया जाय। कुछ राज्यों ने जैसे महाराष्ट्र ने तो इस सिफारिश के मुताबिक वन ग्रामों को राजस्व गाँव बना दिया है। कई राज्यों में जैसे मध्यप्रदेश में यह प्रक्रिया अभी अधूरी है। परन्तु कई राज्यों में जैसे उड़ीसा और असम में यह व्यवस्था अभी जैसी की तैसी ही चली आ रही है। असम में केन्द्रीय सरकार के इन निर्देशों के बावजूद न केवल अभी भी वन ग्राम है वरन् कानूनन वनग्रामों के हर परिवार को साल में कम से कम कुछ दिन मजदूरी करना भी जरूरी है। जैसा पहले कहा जा चुका है यह व्यवस्था असंवैधानिक है। सबसे अधिक ताज्जुब की बात तो यह है कि इस व्यवस्था के असंविधानिक करार दिये जाने के बावजूद नई वन नीति में वन ग्रामों की व्यवस्था को जगह दी गई है।

10.26 वनग्रामों के बारे में कुछ बातें और भी जरूरी हैं। एक तो इन गाँवों के लोगो को सामान्य विकास कार्यक्रमों के लाभ नहीं मिल पाते हैं। छठी पंचवर्षीय योजना में वन ग्रामों के विकास के लिये एक खास कार्यक्रम लिया गया था, परन्तु सातवी योजना में वह चालू नहीं रहा। वन ग्रामों में बसने वालों के पास जमीन के स्थायी पट्टे न होने से उन्हें साख संस्थाओं से कर्ज नहीं मिलता

है। कुछ राज्यों ने वन ग्राम के निवासियों को पंद्रह साला पट्टे देना शुरू कर दिये हैं। इसमें कहीं-कहीं उन्हें कर्ज मिलने की सुविधा तो मिल गई है परन्तु उनकी स्थिति में कोई बुनियादी बदलाव नहीं आया है।

10.27 वनग्रामों को राजस्व ग्रामों का दर्जा दिये जाने के बारे में आमतौर पर एक और सवाल भी उठाया जाता है। अगर इन लोगों को भूमि का पट्टा दे दिया जाय तो उनके हाथ से वह जमीन निकल सकती है और बाहर के लोग उन जमीनों के सहारे वनों में घुसपैठ कर सकते हैं। राजस्व ग्राम बन जाने पर इन घुसपैठियों पर वन विभाग का कोई नियंत्रण भी नहीं रह पाएगा इसलिये वे मनमानी कर सकते हैं। दूसरी ओर आमतौर पर यह भी देखा जा सकता है कि दूरदराज के इलाकों में सामान्य राजस्व या विकास प्रशासन पहुँचता ही नहीं है। पहले वन विभाग इन गांवों में कुछ काम कराता था परन्तु अब वे भी बंद हो गए हैं। इसलिये एक मत यह भी है राजस्व गाँव बन जाने पर यहाँ के लोगों को वन विभाग की उनके बारे में खास जिम्मेदारी होने से जो लाभ मिलता रहा है उससे वे लोग वंचित हो जाएँगें। इसलिये यह कहा जा सकता है कि वनग्राम का वनग्राम के रूप में बना रहना ही वहाँ के निवासियों के हित में है।

10.28 वनग्रामों के रहवासियों की नजर से इससे कोई खास मतलब नहीं है कि उनकी बसाहतों का प्रबंध राजस्व विभाग करे या वन विभाग। यह मामला शासन में व्यवस्था का नेमी सवाल है। वन अधिकारियों को जिस तरह पुलिस के कुछ अधिकार मिले हैं उसी तरह से राजस्व कानून में भी अधिकार दिये जा सकते हैं जिससे कि वे वनों में बसाहतों का सामान्य कानून के मुताबिक प्रबंध कर सकें। **परन्तु सबसे अहम बात यह है कि वनग्राम के निवासियों को दूसरे लोगों की तरह पूरे नागरिक अधिकार मिलने चाहिये। खास तौर पर उन लोगों को जो जमीन वे जोत रहे हैं उस पर पूरे स्वामित्व का अधिकार होना ही चाहिये। इसीतरह मजदूरी के बारे में भी वनग्राम के रहवासी होने के नाते किसीप्रकार की भी पाबन्दी नहीं होना चाहिए। हाँ, उस जमीन के हस्तांतरण के बारे में कड़ा प्रतिबंध हो सकता है जैसे कि इन जमीनों के पट्टे वारिसाना हक के अलावा पूरी तरह से अहस्तांतरणीय हो सकते हैं।**

खेती गैर-कानूनी ?

10.29 अब अगर हम वनों की मानी गई सीमा के भीतर लोगों के खेती के मामलों को देखें तो हालत और भी खराब है। आमतौरपर जमीन पर हक इस बात पर निर्भर होता है कि कोई आदमी उस पर कब से खेती कर रहा है। इसलिये पहला सवाल यह है कि आदिवासी यह साबित कैसे करे कि वह अपनी जमीन को इतने साल से जोत रहा है ? जो बात बसाहतों के बारे में ऊपर कही गई है वही बात जमीन पर भी लागू होती है। जमीन पर कब्जे के मामले में भी सरकार एक ही गवाही मानती है और वह है उसका अपना कागज। उस जमीन पर या तो पटवारी के कागज में इन्दराज हो या वन विभाग में कोई दाखला हो। अगर रिकार्ड में और कुछ न हो तो उस जमीन के मामले में आदिवासी पर कोई मुकदमा चला हो या जुर्माना हुआ हो तो वह सबूत भी उसके काम आ सकता है। **मगर इस सब के पीछे एक मान्यता है कि सरकारी कर्मचारी ने अपना काम ठीक तरह से किया ही होगा। विभाग सरकार है इसलिए काम हुआ ही होगा यह व्यवस्था का प्रथम सत्य है। अगर किसी विभाग का कर्मचारी उस गाँव तक गया ही न हो या जाने के बाद "बड़ा खाना" खाकर लौट आया और आदिवासी के खिलाफ कानून में जो कार्रवाई करना चाहिए थी वह की ही न हो तो आदिवासी क्या करें ?**

10.30 इस कानूनी पेंच की वजह से सभी दूर हालत बहुत खराब है। आरक्षित वनों में लोग दसियों साल से खेती करके किसी तरह से अपनी जिंदगी चला रहे हैं परन्तु उनके पास इसका कोई सबूत नहीं है। इस कारण उस जमीन पर उनका कोई हक नहीं बनता। यही नहीं उन पर बेदखली के लिए कानूनी कार्रवाई चल रही है। चूँकि उस जमीन से ही आदिवासी की जिंदगी चलती है इसलिए उसे सब कुछ मंजूर है, मालिक जो ठहरे। उनकी हर तरह की बातें भी सहना पड़ती हैं। इन जमीनों पर खेती करने वालों के साथ कल क्या होगा, इसका कोई भरोसा नहीं, इसके बारे में किसी को कोई विश्वास भी नहीं।

10.31 **लोगों की खेती गैर-कानूनी हो जाने का एक बड़ा कारण यह भी है कि वनो को आरक्षित करते समय इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया गया कि वहाँ के लोग किस तरह से अपनी जिंदगी बसर करते हैं। इस कारण भी आज आदिवासी लोग न जाने कितने तरह के प्रसाद में उलझे हुए हैं। जिनके कुछ उदाहरणों से ही असलियत समझी जा सकती है जो आगे दिये जा रहे हैं।**

<u>वनो में अस्थायी खेती</u>

10.32 हम पहले देख चुके हैं कि बहुत सी जनजाति अभी कृषि-पूर्व स्थिति जैसे के "संग्रह और आखेट" या चलित अथवा झूम खेती के स्तर पर हैं। वनों के आरक्षण के समय उनकी जीविका के इस तरीके को मान्यता नहीं मिली। इसलिये उनके वे तौर-तरीके गैर कानूनी हो गए। परन्तु झूम खेती और स्थायी खेती के बीच में कई और स्तर है। उदाहरण के लिये कई जगह पहाड़ी इलाकों में जमीन इतनी अच्छी नहीं है कि उस पर हर साल खेती की जा सके। प्रगत इलाकों में भी कई जगह लोग अपनी जमीन को साल दो साल के लिये पड़ती छोड़ते रहे हैं। इसलिये हालांकि आदिवासी किसी एक साल में किसी एक खेत में ही खेती क्यों न करता हो, उसकी खेती की जमीन उससे दो गुनी या तीन गुनी भी हो सकती थी। उसका यह चलन सबको मालूम है। परन्तु जब वनों के आरक्षित होने की प्रक्रिया चालू की गई या उन्हें एकाएक आरक्षित वन घोषित किया गया तो अधिक से अधिक उसकी वह जमीन ही उसके नाम पर अंकित की गई जिस पर वह उस समय खेती कर रहा था। शेष भूमि को जो उसकी खेती में नहीं थी वनभूमि मान लिया गया। अब जब अपनी रंपरा के मुताबिक उसने उस खेत को छोड़कर दूसरा खेत जोतना शुरू किया तो कानून के मुताबिक यही माना जाता हैं कि उसने जंगल की जमीन जोत डाली। इस तरह स्थानीय स्थिति की गैर-समझी के कारण आदिवासियों के अधिकारों को अनदेखा ही नहीं कर दिया गया वरन् उनके खिलाफ कानूनी कार्रवाई भी शुरू हो गई। उदाहरण के लिये इस तरह के बहुत से मामले महाराष्ट्र के धुले जिले के अकराणी ताल्लुक में कायम किए गए हैं।

10.33 इसी तरह से आदिवासी इलाके की हालत के मुताबिक ऊँची नीची जमीन पर भी खेती करता रहा है। परन्तु नई व्यवस्था के मुताबिक 15 डिग्री ढलान के ऊपर खेती करने की मुमानिय है। इसलिये जो लोग आरक्षण के पहले 15 डिग्री से अधिक ढलान वाली जमीन पर खेती कर रहे थे, उनकी खेती को मान्यता नहीं मिली और उनकी खेती अनधिकृत मानी जा रही है। यह ठीक है कि इस तरह की जमीन पर खेती करना वैज्ञानिक दृष्टि से सही नहीं है और किसी के भी हित में नहीं है। परन्तु इस आधार पर आदिवासी उस जमीन से अपनी गुजर-बसर कर रहा था इस तथ्य को तो नहीं झुठलाया जा सकता है और उसको गैर-कानूनी कह कर उससे बेदखल नहीं किसी जा सकता है। उसका विकल्प क्या हो यह सरकार और लोगों, दोनों की ही सोचने की बात है। उड़ीसा

खासतौर पर दक्षिणी उड़ीसा के मामले में इस तरह के भारी संख्या में मामले है जिनमें पीढ़ी दर पीढ़ी खेती की जमीन को भी गैर कानूनी करार दे दिया गया है जिसके कारण भारी असंतोष है।

10.34 यही नहीं यह 15 डिग्री का नियम सभी जगह लागू करना व्यवहारिक दृष्टि से उचित नहीं है। उदाहरण के लिये बस्तर जिले में सबसे बढ़िया खेती की जमीन नालों के अंदर की मानी जाती है। स्थानीय परम्परा के अनुसार आदिवासी उस नाले के सिरे से छोटी-छोटी क्यारियाँ बांधना शुरू करते हैं और आगे चलकर जहाँ तक संभव होता है क्यारियाँ बाँधते जाते हैं। इस रीति से खेती करने पर मिट्टी का एक जर्रा भी कट कर नहीं जा पाता है। भूमि संरक्षण के लिये इससे बढ़िया और कोई तरीका नहीं हैं। परन्तु नाले के पेटे की पूरी जमीन का ढाल 15 डिग्री से अधिक हो सकता है जिससे उसको खेती के लिये नहीं दिया जा सकता है। इस तरह सबसे अच्छी खेती की जमीन जिसका पूरी तरह से वैज्ञानिक उपयोग हो रहा है, अनधिकृत कब्जा करार दे दी जाती है।

थाने में बरकस जमीन

10.35 महाराष्ट्र के थाणे जिले में कई इलाकों में जागीरदारी थी। जागीरदार धान के लिए समतल खेतों को तो लोगों को स्थाई तौर पर काश्त के लिए देते थे। परन्तु पहाड़ी के ढाल पर उँची-नीची जमीन में लोग जंगल को सफाई करके आपस में तय करे खेती किया करते थे। इसके लिए प्रत्येक हल के उम्र कुछ रुपये जागीरदार को देना पड़ता था। परन्तु उसका कागज में कहीं हिसाब नहीं था। यह जमीन बरकस जमीन कहलाती थी। जागीरदारी खत्म होने पर धान की जमीनें तो लोगों के नाम पर चढ़ गई, परन्तु बरकस जमीन छूट गई या जानबूझ कर छोड़ दी गई। कागज पर लोगों का नाम न होने से इस पूरी जमीन पर जागीरदारी खत्म होने के तुरंत पहले पूरा-पूरा कानूनी हक जागीरदारी का ही मान लिया गया। आदिवासी का न सिर्फ कानूनी हक मारा गया मगर उसकी जीविका का साधन खेती भी खतरे में पड़ गया। थाणे के एक जागीरदार को उसकी जमीन सरकारी डेयरी के लिये लिये जाने पर बरकस जमीन के लिये जिस पर आदिवासी काबिज थे, लगभग चालीस लाख रुपया मुआवजा मिला, जब कि उस पर खेती करने वाले आदिवासियों को वैसे ही हकाल दिया गया। कहते है कि अकेले थाणे जिले में एक लाख एकड़ से अधिक बरकस जमीन है जिस पर दसियों हजार आदिवासियों की जिंदगी निर्भर है । इस जिले में बरकस जमीन को लेकर आंदोलन चल रहा है । मगर सरकार में बरकस की समस्या क्या है इसके बारे में कहीं किसी को कोई अहसास तक नहीं हैं ।

रायगढ़ की दली जमीन

10.36 इसी तरह महाराष्ट्र के ही रायगढ़ जिले में दली जमीन का मामला बहुत उलझा हुआ है। इस पहाड़ी इलाके में बहुत सी जमीनों पर हर साल खेती नहीं की जा सकती है। इसलिये घूम-घूम कर खेती की जाती थी। किसी जमाने में बीस साल या दस साल में एक बार उसी जगह खेती का नम्बर आता था, बाकी दिनों जगह खाली पड़ी रहती थी। सौ साल या उससे भी पहले से खेती की इस प्रथा को सरकार मानती आ रही है। पश्चिमी घाट के बहुत से गाँवों में दली खेती के लिए लोगों को सनदे दी गई जिनके मुताबिक गाँव के सब लोग इकजाई रूप से उस जमीन पर खेती कर सकते थे। ये लोग इन जमीनों पर आज भी खेती कर रहे है।

10.37 परन्तु दली जमीन के बारे में आज के कानून में कहीं जिक्र नहीं है। इस कारण ये लोग चक्कर में पड़ गए हैं, चारो तरफ घूम रहे हैं। कहीं लोग राजस्व विभाग में उसका लगान भरते हैं तो कहीं वन विभाग में ।कहीं पर सरकारी विभाग द्वारा उनकी खेती में कोई दखल नहीं दिया जा

रहा है। परन्तु कहीं उनको बेदखल भी किया जा रहा है और वन विभाग उस जमीन पर पेड़ लगा रहा है। कहीं आगे से उस पर खेती न करने के लिये धमकी भी दी जा रही हैं। इस मामले में मेरे स्तर पर राज्य सरकार का ध्यान दिलाने के दो साल बाद भी हालत वैसी ही बनी हुई है। अभी हाल ही में (1989) जब मैं इस इलाके में गया था तो रायगढ़ के वन मंडलाधिकारी ने लोगों को अलबत्ता दिलासा दी थी कि दली जमीन के बारे में उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी और जमीन उनके पास ही बनी रहेगी। परन्तु बात एक अधिकारी के वायदे की ही नहीं है कानून की भी है। इसलिए आखिर में इस जमीन का क्या होगा इसके बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता ?

कर्नाटक में हरी खाद के लिये जमीन

10.38 कर्नाटक में पश्चिमी घाट के इलाके में लोग खेती के लिए परम्परा से हरी खाद का स्तेमाल करते हैं। जिसके लिए वे वनों से पत्ते लाते हैं। पहले यह प्रथा औपचारिक रूप से मान्य थी। इसलिए एक एकड़ धान के खेत के लिए कहीं चार-पाँच या कहीं आठ-दस एकड़ तक का जंगल लोगों को दिया जाता था जहाँ से वे हरे पत्ते ला सकते थे। नये कानून आने के बाद धान के खेत तो लोगों के हो गये परन्तु जंगल की इस जमीन पर जिसके पट्टे उनके पास है, उनका क्या अधिकार है, इसके बारे में कोई सफाई नहीं है। कहीं तगड़े लोगों ने इन जंगलों को काट कर सुपारी और कॉफी के बड़े-बड़े प्लांटेशन तक बना लिए हैं। लेकिन जहाँ लोग कमजोर हैं वहाँ उनको अपने खेतों के लिए हरी खाद भी नहीं मिल रही है। इस असमंजस की हालत में उन जमीनों में पेड़ों की संख्या और उनकी बढ़त भी कम होती जा रही है जिससे पर्यावरण और उनकी अपनी अर्थ-व्यवस्था दोनों की ही नींव कमजोर होती जा रही है।

आदिलाबाद के वनों में पुरानी खेती

10.39 लोगों के अधिकारों की अनदेखी करने का एक बड़ा ही शोचनीय उदाहरण- आदिलाबाद जिले का है। इस इलाके में वनों में खेती करने के सवाल को लेकर आजादी के पहले हालत इतनी खराब हो गई थी कि वहाँ के मूल निवासी गोंड़ आदिवासियों ने निजाम के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था। उसके बाद उस झगड़े को निपटाने के लिए निजाम ने पहल की और लोगों को कब्जे की जमीनों के पट्टे देने का फैसला किया गया। इस समझौते के तहत कई लोगों को उनकी कब्जे की जमीन के पट्टे देने का फैसला किया गया। इस समझौते के तहत कई लोगों को उनकी कब्जे की जमीन के कच्चे कागज भी मिल गये थे। इन पट्टों के लोग "**हाईमेनडार्फ पट्टा**" कहते हैं, क्योंकि इस मामले को हाईमेनडार्फ ने सुलझाया था जो उस समय निजाम के आदिवासी मामलों के सलाहकार थे। बताते हैं कि हैदराबाद के खिलाफ 1948 की पुलिस कार्रवाई में इन मामलों के सहित उस समय के सब रिकार्ड नष्ट हो गए या जानबूझ कर नष्ट कर दिये गये। इसका कुछ बड़े लोगों ने जम कर फायदा उठाया। इन लोगों ने कहीं आदिवासियों के पट्टों के नाम पर और बहुतकर वैसे ही धडल्ले से जंगलों का सफाया करके करोड़ों रुपये बना लिये। परन्तु खेती करने वालों का मामला रिकार्ड न होने से अटक गया और चालीस साल से वैसा ही पड़ा है। इन लोगों के कच्चे पट्टों को मान्यता नहीं मिली और उनके हक कानूनी दांव-पेंच में उलझ गये। मुझे खुशी है कि अभी हाल में एक युवा सब-कलेक्टर ने इनमें से कुछ मामलों को निपटाया है परन्तु उसे, जिन लोगों ने आदिवासियों की जमीनों पर गैर कानूनी ढंग से कब्जा कर लिया है, उनके रोश का सामना करना पड़ा है।

10.40 आदिलाबाद के इस उलझाव का एक बहुत ही बड़ा नुकसान इस कारण हुआ कि इस जिले में वन विभाग और लोगों के बीच झगड़े की जड़ बनी रही और तनाव बना हुआ है। इस मामले में कानून चाहे कुछ भी हो, सरकारी विभाग का पलड़ा हल्का था। लोग आजादी के पहले से जमीनों पर काबिज थे इसलिये उनके हक को कोई भी इन्कार नहीं सकता था। फिर भी चूँकि कानून उनके खिलाफ था इसलिये उसके तहत उन जमीनों के मामले में कार्रवाई की बात भी उठती रही और झगड़ा भी होता रहा। आखीर में, लोगों की खिलाफत के कारण और वन विभाग के पास उनके खिलाफ मौके पर कोई ठोस सबूत न होने से कार्रवाई रोकनी पड़ती है। इस पूरी प्रक्रिया का लोगों को परेशानी के अलावा कोई नतीजा नहीं था।

10.41 आदिलाबाद में इस विरोधाभासी स्थिति का फायदा उठाकर बहुत से दूसरे लोग भी जंगल में घुसते गये और बड़े पैमाने पर गैर-कानूनी तौर पर खेती होने लगी। इस गैर कानूनी खेती के खिलाफ जब भी बन विभाग कार्रवाई करने की कोशिश करता तो पुराने और नये मामलों को अलग करना मुश्किल होने के कारण सभी मामलों को एक साथ ही लिया जाता रहा है। इन कार्रवाईयों में पुराने लोग अपने जायज हकों को लेकर सामने रहते और उनके पीछे दूसरे लोग भी, जिनका कानूनी अधिकार नहीं बनता था, हो जाते थे। पुराने लोगों के दावों को देखते हुए वन विभाग को पूरी कार्रवाई को ही रोकने के लिये मजबूर हो जाना पड़ता था।

10.42 आदिलाबाद के वनों में महाराष्ट्र से लम्बाडा जाति के लोग अपने जानवर चराने के लिए हर साल आते थे और उसी तरह वापस चले जाते थे। परन्तु जब इन लोगों ने यहाँ की ऐसी हालत देखी जिसमें लोग जंगल-जमीन पर धड़ल्ले से गैर-कानूनी कब्जा कर रहे हैं, तो उन्होंने भी सोचा कि क्यो न वे भी खानाबदोशी की जिंदगी से छुट्टी लेकर किसान बन जायें। उन्होंने भी जहाँ वे लोग जानवर चराते थे वहाँ के जंगल काटकर जमीनें बना ली और खेती करने लगे यह झमेला इतना बड़ा बन गया कि वन विभाग उनके खिलाफ भी कोई कार्रवाई नहीं कर पाया। नतीजा यह हुआ कि आज कुछ इलाकों में ऐसा कोई आदमी नहीं बचा है जो भूमिहीन हो। सभी के पास कानूनी या गैर-कानूनी तौर पर जमीन है।

10.43 यही नहीं, इस हालत का फायदा अतिवादियों ने भी उठाया। अतिवादियों ने लोगों से कहा कि **जंगल हमारा है और हमें जिन्दा रहने का हक है। इसलिए जंगल काटकर खेत बनाओ और अपनी जिंदगी चलाओ। सरकारको हमारी जिंदगी का हक छीनने का कोई अधिकार नहीं है।** इस तरह इन लोगों ने आम आदमी के मन की बात ही कह डाली। इस नारे के तहत लोगों ने जिस जमीन को खेती के लायक समझा उसका जंगल काट कर खेत बना डाला। वन विभाग इस खेती को गैर-कानूनी मानता है परन्तु अतिवादी उसे लोगों का अधिकार बताते हैं। अतिवादी गतिविधियों के कारण वन विभाग इन लोगों के खिलाफ कोई कार्रवाई भी नहीं कर सकता है। **इस समय अतिवादियों को उन्हीं लोगों का सबसे बड़ा समर्थन प्राप्त है जिनका जमीन पर अवैध कब्जा है।** इन लोगों को मालूम है कि जिस दिन अतिवादी उनके पीछे नहीं रहेंगे वन विभाग उन्हें बाहर निकाल देगा। मतलब यह है कि जायज अधिकारों को अनदेखा करने के कारण इस इलाके में लोग तरह-तरह से नाजायज तौर पर जंगल में घुसते गए और जंगल जमीन पर कब्जा करते गये। आज हालत यह हो गई है कि वन विभाग के अधिकारियों का वनों में जाना भी नामुमकिन हो गया है, उसकी हिफाजत करना और तरक्की की बात तो अलग ही रही।

पालघाट में जागीरदारी और निजी जंगल

10·44 वनों के सरकारीकरण की एक अत्यन्त करुण कहानी केरल के वनों की है जहाँ पर बहुत से इलाके जागीरदार के निजी जंगल थे· पालघाट के पास एक छोटी सी जागीर है वाड़ासेरी मामादियार जिसमें आदिवासी लोग युगों से अपनी जिंदगी बिता रहे थे· जागीरदारी प्रथा के अंतर्गत उन लोगों को जागीरदार के लिए काम करना पड़ता था और उनकी गुजर-बसर होती थी· इसमें कभी-कभी जोर-जबरदस्ती भी होती थी जिसके खिलाफ विद्रोह तक हुआ· परन्तु दोनों ओर की कुछ सीमाएँ थीं· बहरहाल आदिवासी लोगों के लिये जंगल अपना घर था उसके साथ एक जागीरदार भी था नियति की तरह ही· वे उस जागीरदार के खेत जोतते थे उसके साथ ही जंगल से लकड़ी बीनकर और इकट्ठा करके बेच कर आमदनी कर लेते थे· इस तरह जागीरदार और आदिवासियों का हित एक-दूसरे का अनुपूरक था· वनों से जागीरदार की आमदनी होती थी और लोगों का गुजर-बसर चलता था· इसमें लोगों को कोई उज्र भी नहीं था और फिर आड़े समय जागीरदार काम भी आता था·

10·45 राज्य में दूसरी जगह जागीरदारी खतम हुई तो उसके साथ यह जागीरदारी भी खतम हुई और जंगल सरकारी नियंत्रण में आ गये· इस प्रक्रिया में वहां के लोगों को बिल्कुल भुला दिया गया क्योंकि उनके अधिकारों के बारे में कोई दाखिला भी था· वनों के सरकारी हो जाने के बाद एक ही काम होता रहा है कि किसी तरह से आदिवासियों को जंगल से हटा दिया जाय· पिछले दौरे में (1989) जब मैंने वनों में आदिवासियों के हितों के बारे में उच्च अधिकारियों से बात की तो उन्होंने बताया कि लोगों के परम्परागत उपयोग मे कोई रुकावट नहीं है· परन्तु मौके पर फारेस्ट गार्ड से बात की तो उसका मत बिल्कुल स्पष्ट था - जंगल सरकारी है उसमें आदिवासियो का घुसने का क्या काम ? इस तरह आजादी के बाद जागीरदारी खतम होने और वनों के सरकारी अधिकार में लिये जाने से जिन लोगों की जिंदगी निर्भर थी उनके अधिकार की ओर ध्यान नहीं दिया और राज्य की सत्ता के सामने वे लाचार हैं· उनको कहीं किसी और से भी किसी तरह के न्याय की आशा ही नहीं· यह पूरी प्रक्रिया हमारे संविधान में जिंदगी के अधिकार और आदिवासी के हितों का प्रावधान का खुला उल्लंघन है·

चारो ओर टकराव ही टकराव

10·46 इस तरह वनों की हालत सभी दूर एक ही जैसी है· आंध्रप्रदेश में आदिलाबाद, खम्मम और श्रीकाकुलम्, मध्यप्रदेश में दक्षिण बस्तर, महाराष्ट्र में गढ़चिरोली, चंद्रपूर और नासिक तथा बिहार में सिंहभूम जिलों मे कई इलाके ऐसे हैं जहाँ सरकार और लोगो के बीच टकराव की स्थिति है और कई इलाके वन विभाग की अधिकार-सीमा के बाहर हो गए है· सभी जगह हालत सिर्फ इसीलिए बिगड़ती गई है कि लोगों की जायज बातों का ओर ध्यान नहीं दिया गया, इकतरफा ढंग से कानून थोपने की कोशिश की जाती है और विभागीय कर्मचारियों का व्यवहार दमनकारी रहा है· आखीर में या तो लोग अपने आप इसके विरोध में उठे या अतिवादी ताकतों ने उनकी ओर से लड़ाई शुरू की· खेद है कि **इस टकराव को खतम करने के लिए जो बुनियादी सवाल है उनकी ओर ध्यान न दिया जाकर वहाँ की हालत को केवल अतिवादी गतिविधियाँ मानकर ताकत का इस्तेमाल कर उनसे पार पाने की कोशिश होती रही है· इस तरह की कार्रवाई से न जंगल बचेंगे और न ही आदिवासियों की समस्या का ही हल होगा· इसलिये वनों की पूरी व्यवस्था पर ही नये सिरे से विचार करने की जरूरत है·**

11

संसाधनों पर अधिकार - 4

वन्यप्राणी और आदिवासी

अभी तक हम संसाधनों पर बाहरी व्यवस्था के आर्थिक दबावों के कारण आदिवासी व्यवस्था पर होने वाले प्रभाव पर विचार कर रहे थे। आदिवासी व्यवस्था पर इन हकों का प्रभाव गहराता जा रहा है। दुर्भाग्य से इन दुष्परिणामों की ओर कोई खास ध्यान नहीं गया है। इसके अलावा जैसा हम पहले देख चुके हैं कि प्राकृतिक संसाधनों पर कई तरह के गैर-आर्थिक दावे भी है। ये दावे अभी हाल तक लगभग न कुछ के बराबर थे। परन्तु अब वे बढ़ते जा रहे हैं। इनमें वन्य प्राणियों की बचाव-बढ़त और पर्यावरण का बचाव-सुधार दो प्रमुख दावे हैं जिन पर गहराई से विचार करना जरूरी है।

वन्य प्राणी

11.2 वैसे तो वन्य प्राणियों की सुरक्षा का कानून काफी पुराना है और आजादी के पहले भी उनकी बचाव-बढ़त के लिये कार्रवाई होती रही थी। परन्तु आजादी के बाद वन्य प्राणियों का बेरहमी से कत्ले-आम जैसा हुआ है जिसके कारण उनके बचाव की तरफ खास तौर पर ध्यान देने की जरूरत महसूस हुई । वन्य प्राणियों की सुरक्षा के लिये कानूनो को कड़ा बनाया गया है और उनके अमल में भी कड़ाई बरती जा रही है। परन्तु जैसा और सभी मामलों में हो रहा है कि इसमें असली अपराधी या तो एक तरफ हट गये हैं या उनके गुनाह ही नजर-अंदाज कर दिये गए हैं। नये कानूनों की चपेट में खास तौर पर आदिवासी आ गया है जिसकी उसूलों के नाम पर कहीं सुनवाई नहीं हो रही है।

11.3 आजादी के बाद वन्य प्राणियों के तेजी से खत्म होने के कई कारण हैं। आजादी के पहले अंग्रेजी सूबों और देशी रियासतों में शिकार कुछ लोगों का शौक था और एकतरह से उन्हीं का हक ही था। आजादी के बाद पहले तो और सभी मामलों की तरह वन्य प्राणियों की रक्षा के मामले में भी प्रशासन में ढिलाई आने से उसका दबदबा कम हुआ। दूसरे देशी रियासती इलाकों में राजाओं और जागीरदारों के खतम हो जाने से व्यक्तिगत निगरानी नहीं रही। इसके साथ-साथ सभी जगह वनों की व्यवस्था के मामले की तरह वन्य प्राणियों के मामले में भी गांव समाज की कोई भूमिका ही नहीं मानी गई और इस मामले में उनका प्रभाव भी जाता रहा। दूसरी ओर विकास के नये दौर में वनों के दोहन में तेजी आई, वनोपज निकालने के लिए सड़कों का जाल बिछाया गया। विकास की बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ भी वन्य क्षेत्रों में ही बनी और नये राजमार्गों का निर्माण हुआ। विकास के नये कार्यक्रमों के जीप वाले अफसरों की भरमार हो गई और यह भीड़ जंगली इलाकों में बंदूक और सर्च लाइट लेकर घुस पड़ी।

11.4 इसके अलावा नये दौर में शिकार अब एक शौक की चीज ही नहीं रह गया वरन् उसका बाजार भी गरम हो गया, धन कमाने का और नये पैसे वालों के लिए ऐश की जिंदगी का सरल उपाय। न जाने कितनी कम्पनियाँ खुल गई जो इस व्यापार में लग गई, नतीजा साफ है । अधिकतर जगह या तो जंगली जानवर करीब-करीब खतम ही हो गये हैं। परन्तु जहाँ कुछ बचे भी हैं वहाँ भी कड़े कानूनों के बावजूद जानवरों का बचाव कठिन है। उदाहरण के लिये कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल के तिगड्डे पर हाथी दांत की अभी भी जमकर तस्करी हो रही है और बन्दूकों यहाँ तक

कि ए॰के॰ 47, से लैस बड़े-बड़े गैंग लगे हुए हैं॰ आश्चर्य तो यह है कि इस तस्करी से निपटने के लिये सभी राज्यों में एक समान नीति तक नहीं बन पाई है॰ कर्नाटक से हाथी दांत की चोरी करके चोर अगर किसी तरह महाराष्ट्र की सीमा में पहुँच जाय तो हाथी दांत उससे बरामद होने पर भी उस पर कोई जुर्म नहीं कायम किया जा सकता॰

अभयारण्य और राष्ट्रीय उद्यान

11.5 वन्य प्राणियों के संरक्षण के लिए अभयारण्य और राष्ट्रीय पार्क बनाने की व्यवस्था है॰ इनकी पूरे देश में ही स्थापना की जा रही है॰ वैसे सरकार की ओर से तो यही कहा जाता है कि जहाँ अभयारण्य बनते हैं वहाँ लोगों की आम जिंदगी के कामकाज में कोई रोकटोक नहीं होना चाहिए यही कानून भी है॰ परन्तु मौके पर अभयारण्य के बहाने लोगों पर तरह-तरह की बंदिशें लगा दी जाती हैं जिससे लोग परेशान हैं॰ जहाँ राष्ट्रीय उद्यान बने हैं वहाँ तो योजना के अनुसार उसके अंदरूनी कोर इलाके से लोगों को बाहर हटाने की व्यवस्था है॰ यह जरूर है कि राष्ट्रीय उद्यान बनने के लिए कानून के तहत प्रक्रिया में लोगों के एतराजों को सुनने और उनके अधिकारों को तय करने का प्रावधान है॰ और अगर उन्हें हटना पड़े तो उसके मुआवजे की व्यवस्था है॰ परन्तु अधिकतर मामलों में इस कानून का सही तौर पर पालन नहीं हो रहा है॰ जहाँ अभयारण्य कायम किये जाते है वहाँ तो इकतरफा घोषणा हो जाती है, लोगों से पूछताछ करने का कोई सवाल ही नहीं उठता॰ राष्ट्रीय उद्यानों में कानूनी व्यवस्था होते हुए भी बुरा हाल है॰ प्रभावित लोगों को बसाने का काम सिर्फ मध्यप्रदेश के कान्हा राष्ट्रीय उद्यान में हुआ है परन्तु वह भी पूरा नहीं हो पाया है॰ दूसरी बहुत सी जगह जहाँ राष्ट्रीय उद्यान बने हैं या बनाए जा रहे हैं इसप्रकार की कोई व्यवस्थित योजना अभी तक नजर नहीं आ रही है॰ इसलिए एक ओर लोगों को अपने गाँवों से हटने के लिए मजबूर किया जा रहा है और दूसरी ओर उनकी आर्थिक व्यवस्था पर इसका प्रभाव क्या होगा इसका कोई सोच ही नहीं है॰

11.6 सरकारी सोच में लोगों के हित के बारे में सोच की कोई जरूरत भी नहीं है क्योंकि वन सरकार के हैं और आदिवासी वहाँ घुसपैठिया है, उसका कोई अधिकार नहीं॰ अगर सरकार उसको वहाँ से बिड़ार नहीं देती, उसकी वही बड़ी मेहरबानी है॰ पिछली रिपोर्ट में मैंने मध्यप्रदेश में बस्तर के इंदिरा राष्ट्रीय उद्यान का जिक्र किया था यहाँ पर राष्ट्रीय उद्यान बनाने की प्रक्रिया शुरू करने के पहले ही लगभग दस साल से उसका राष्ट्रीय उद्यान की तरह से प्रबंध किया जा रहा है॰ चौकियाँ बन गई हैं, लोगों के आने जाने में रूकावट है, वन से बाँस नहीं ले सकते, अपने खेतों की बागड़ के लिये लकड़ी नहीं काट सकते और लघु वनोपज इकट्ठा कहाँ बेचे खरीदने वाले इलाके में जा नहीं सकता है॰ उनकी अर्थ-व्यवस्था चौपट हो गई है और किसी तरह से ले देकर काम चला रहे हैं॰ औपचारिक रूप से सरकार का यही दावा है कि वनों का वे किस तरह से प्रबंध करेंगे यह उनकी मर्जी हैं॰ **मैंने इस संबंध में साफ लफ्जों में लिखा था कि यह असंवैधानिक है परन्तु इस पर भी सरकार में सुनी अनसुनी हो गई, कोई कार्रवाई नहीं हुई है॰**

11.7 इसी तरह से मध्यप्रदेश में ही तथाकथित सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान से दो गाँवों के लोगों को जबरदस्ती हटाया गया॰ और उनको हटाने के अभियान में एक व्यक्ति की झोपड़ी भी जला दी गई॰ परन्तु राज्य सरकार का यही कहना है कि "राष्ट्रीय उद्यानों के आंतरिक क्षेत्रों में ग्रामीण उन क्षेत्रों से हटने के इच्छुक हैं॰ ये भी सभ्यता के निकट आना चाहते हैं॰" इस तरह जहाँ भी कोई शिकायत

होती है सरकार की ओर से यही कहा जाता है कि कोई जबरदस्ती नहीं की गई। यही कहानी सभी आदिवासी इलाकों की है। **सरकार अपनी जबरदस्ती को जबरदस्ती नहीं मानती है, अपने गैर-कानूनी काम को गैर-कानूनी नहीं मानती है। यह कोई नहीं बताता कि आखिर जो लोग वहाँ पहले से रह रहे हैं, जिनके पास कहीं कोई जिंदगी का साधन नहीं है वे अपना घरबार, जमीन जायदाद के बिना जबरदस्ती के कैसे हटाए जा सकते हैं ? वे बिना जबरदस्ती हट जाएँगे ?**

11.8 यहाँ पर सरकार के द्वारा अपनी गैर-कानूनी कार्रवाई करते रहने से बाज न आने की बात फिर से दुहराना चाहूँगा। न केवल सरकार ने इस ओर ध्यान दिलाने के बावजूद अपना रवैया नहीं बदला वरन् गलती को मानना भी जरूरी नहीं समझा। यही नहीं संसद को भी इस मामले में गलत जानकारी दी जाती रही है। उदाहरण के लिये पर्यावरण और वन मंत्रालय के राज्य मंत्री ने 10 नवम्बर 1987 को राज्य सभा में बताया कि छठी पंचवर्षीय योजना के अंत में 53 राष्ट्रीय उद्यान थे। इनमें से 11 राष्ट्रीय उद्यान मध्यप्रदेश में बताए गये। परन्तु आज भी मध्यप्रदेश में कानून के तहत स्थापित राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या सिर्फ 2 है। इंद्रावती राष्ट्रीय उद्यान और सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान जिनका ऊपर जिक्र किया गया है न केवल अब तक राष्ट्रीय उद्यान विधिवत् घोषित नहीं किये है वरन् उन्हें राष्ट्रीय उद्यान बनाने की राज्य की इच्छा की घोषणा के बाद विधिवत् कार्रवाई भी नहीं शुरू की गई है। परन्तु मौके पर सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान में लोगों को निकालने की कार्रवाई शुरू हो गई और उस प्रक्रिया में घर जलाने को भी गलत नहीं माना गया। **जब राष्ट्रीय स्तर पर और संसद के सामने जानकारी देते समय कानून का कोई ख्याल नहीं रखा गया हो तो फारेस्टगार्ड से क्या उम्मीद की जाय ? कहाँ का कानून और कहाँ का संविधान। क्या यह साफ नहीं है कि यहाँ सरकार की इच्छा ही मद्यन है, वही वहाँ का कानून है।**

आंध्रप्रदेश के चेंचू और टाइगर प्रोजेक्ट

11.9 अभयारण्य और राष्ट्रीय उद्यान बनाते समय लोगों के बारे में किसी तरह का ध्यान न रखने का सबसे खराब उदाहरण आंध्रप्रदेश में चेचू रिजर्व का है। चेंचुओं की हालत को देखते हुए 1942 में उनके लिए इलाकों को आरक्षित बना दिया गया था। उसका खास मकसद यही था कि वहाँ के वनों से वे बिना किसी छेड़छाड़ के अपनी जिंदगी चलाते रहे हैं। यह रिजर्व शुरू में पाँच साल के लिए बनाया गया था। यह उम्मीद थी कि उसके बाद उनकी हालत को देखते हुए आगे फिर जरूरी कार्रवाई की जायेगी। आजादी के बाद जैसा कि और सभी मामलों में हुआ चेंचुओं के मामले में भी यह बात कि उनके लिए वहाँ का वन खास तौर पर आरक्षित किया गया था, भुला दिया गया। यही नहीं बाद में उनके इलाके की कम आबादी को देखते हुए उसे शेरों के लिये अभयारण्य बना दिया गया। **इस तरह बात बिल्कुल ही उलटी हो गई। जहाँ पहले चेंचुओं के इलाके को उनके लिए खास तौर पर अलग कर दिया गया था जहाँ कोई दूसरा नहीं जा सकता था, वहीं अब खुद चेंचू को उस इलाके से बाहर हट जाने के लिए मजबूर किया जा रहा है।** मैं पिछली रिपोर्ट में कर्नाटक के बी0आर0 पहाड़ियों में अभयारण्य बनने के बाद वहाँ के लोगों को किस बेरहमी से हटाया गया जिक्र कर चुका हूँ। चेंचू लोगों का यही कहना है कि वे जिंदगी से अपने इलाके में शेरों के साथ जीते रहे हैं और जीते रहेंगे, मगर सरकार को उनकी यह दलील मंजूर नहीं है।

घुमंतू जातियाँ

11.10 अभयारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों के बनने से उन इलाकों में बसने वाली जातियों के अलावा कुछ और जातियों पर भी असर हुआ है जिनमें घुमंतू जातियाँ प्रमुख हैं। उदाहरण के लिये

हिमाचलप्रदेश में ग्रेट हिमालयन नेशनल पार्क बनाते समय यह ध्यान नहीं दिया गया कि वहाँ के वनों में न जाने कब से गद्दी लोग खुले मौसम में आकर भेड़-बकरियाँ चराते थे। राष्ट्रीय उद्यान बनने के बाद चराई पर बंदिश से गद्दियों की पूरी अर्थव्यवस्था ही चौपट होती जा रही है। इसीप्रकार इस इलाके से कुछ जातियाँ जड़ी-बूटियाँ इकट्ठी करती थी। इस पर भी रोक लग गई है। इसी तरह उत्तरप्रदेश और हिमाचल प्रदेश के गूजर लोग भी दूर-दूर तक घूमकर अपने जानवर चराकर जीविका चलाते रहे हैं। अब राष्ट्रीय उद्यानों के बनते जाने से उनमें से उनके रास्ते बन्द होते जा रहे हैं। विडम्बना यह है कि जहाँ एक ओर लोगों की जिंदगी कैसे चलेगी इसका ख्याल किये बिना जानवरों के घुसने पर रोक लगा दी गई है वहीं नये सरमायेदार और रईसों की कारों के लिये तो क्या कारों की रैली तक के लिए राष्ट्रीय उद्यानों के दरवाजे खुल जाते हैं। अभी दो साल पहले कारबर्ट राष्ट्रीय उद्यान में कार की रैली में एक शेर कुचल कर मर गया। पर्यटन आसूदा लोगों की जिंदगी में रंग भरने के लिये जरूरी है, उससे देश को भी पैसा मिलेगा, इसलिये वह सब जायज है शेर भी कुचल जाय तो कोई बात नहीं, आखिर विकास के लिये कुछ तो कुर्बानी देनी ही होगी। घुमंतुओं का क्या- यहाँ नहीं तो कहीं और चले जाय। कहाँ चले जाय और क्यों, इसकी सोचने और पूछने की जरूरत ही क्या।

लोगों पर गैर-वाजिब बंदिशें

11.11 जहाँ अभयारण्य या राष्ट्रीय उद्यान बन जाते हैं वहाँ पर कई तरह की बंदिशें लग जाती हैं। वैसे तो वन्य प्राणी संरक्षण अधिनियम में ही बिना इजाजत अनुसूचित वन्य प्राणियों को मारने की मुमानियत हो जाती है। परन्तु अभयारण्य बनने के बाद तो इस मामले में बड़ी कड़ाई बरती जाती है। सबसे बड़ा सवाल लोगों के सामने जंगली जानवरों से अपनी जान की रक्षा और फसल बचाने का है। वन में रहने वाले लोगों को जानमाल का नुकसान होता ही रहता है, उनके जानवरों को भी जंगली जानवर मारकर खा जाते हैं। पहले वे तरह-तरह की जुगत अपनाकर कुछ बचाव करते भी रहते थे। परन्तु अब सभी तरह की बंदिशें लग जाने से वे लाचार हो गये हैं। कुछ करें तो कानून टूटता है और न करें तो जिंदगी का सहारा टूटता है।

नुकसान की अनदेखी

11.12 जंगली जानवरों की वजह नुकसान की भरपाई के लिये राज्य सरकारों ने कुछ नियम बनाये हैं। परन्तु एक तो वे आधे-अधूरे हैं और दूसरे लोगों से संबंधित अन्य नियम-कानूनों की तरह ये नियम भी इतने पेचीदे हैं और इकतरफा है कि उनके नुकसान की भरपाई हो नहीं पाती है। उदाहरण के लिये जान हानि की हालत में मुआवजा एक हजार रुपये से दस हजार रुपये तक अलग-अलग राज्यों में है। जख्मी हो जाने की हालत में कहीं इलाज का प्रावधान है कहीं नहीं। उसके मामले में मुआवजे का आमतौर पर कोई भी प्रावधान नहीं। अगर कोई काम करने लायक न रहे, तो यह उसका भाग्य आदिवासी भी इसे उसी तरह से स्वीकार करता है।

11.13 जानवरों के नुकसान के मामले में वही स्थिति है। कहीं मुआवजे की राशि एक हजार है कहीं दो हजार। महाराष्ट्र में जानवरों के नुकसान संबंधी नियमो के मुताबिक उस जानवर की बाजार की कीमत का 75 प्रतिशत तक मुआवजा मिल सकता है। परन्तु मुआवजे की रकम गाय और बैल के लिए एक हजार रुपये, भैंस के लिए बारह सौ रुपये और बकरी और भेंड़ के लिए पचहत्तर रुपये से अधिक नहीं होगी।

11.14 पहले तो यही बात नहीं समझ में आती है कि अगर सरकार की नीति और बंदिशों के कारण किसी को नुकसान होता है तो उसकी पूरी-पूरी भरपाई क्यों न हो। और फिर यह तो होता नहीं है कि किसी को मुआवजा गाँव में बैठे-बैठे मिल जाय। मुआवजा पाने की भी लम्बी प्रक्रिया है। पहले जानवर के मरने का सबूत बनाकर रखो। यह कैसे हो कोई नहीं बताता। फिर उसके लिये डाक्टरी सर्टीफिकेट चाहिये। सब कुछ हो जाय तो आखीर में दफ्तरों की दौड़-धूप। मतलब यह है कि बहुत से मामलों में लोगों को कुछ मुआवजा मिलता ही नहीं है। और अगर मुआवजा मिल भी गया तो खर्च इतना हो जाता है कि वह नहीं के जैसा ही होता है। इसके मामले में मैंने महाराष्ट्र सरकार का ध्यान आकर्षित किया था परन्तु उसका कोई जवाब नहीं मिला।

11.15 मुआवजे के मामले में हालत सभी जगह खराब है। कैसी विडम्बना है कि **वन्य प्राणियों की रक्षा के लिये कानून तो पूरे देश के लिये बन गया पर उस कानून से लोगों पर होने वाले असर के बारे में एक आम राय तक नहीं बन पायी। अगर कहीं जानवर का नुकसान राष्ट्रीय उद्यान में होता है तो उसकी कोई भरपाई नहीं होती है क्योंकि तर्क यह होता है कि जानवर अंदर गया ही क्यों ?** जहाँ अभी आदमी और सरकारी अफसरों तक को अलग-अलग तरह के इलाकों की सीमाओं के बारे में सही जानकारी नहीं, वहाँ जानवर किस तरह से उसका ख्याल रख सकता है इस पर कोई सोच नहीं। और तो और अगर नुकसान का मुआवजा तय भी हो गया तो भी बजट नहीं है यह कह कर टाला जा सकता है।

11.16 वन्य प्राणियों के संरक्षण से उनकी तादाद बढ़ने से उस इलाके में फसलों की नुकसारी का मामला भी बड़ा गंभीर है जिस पर खास ध्यान नहीं दिया गया है। उदाहरण के लिये हाथी के झुंड तो बसाहतों पर हमला बोल देते हैं, घर और झोपड़ियाँ तोड़ डालते हैं और जतन से रखे हुए अनाज तक को खा जाते हैं। कुछ इलाकों में जंगली सुअरों जैसे जानवर को भी आरक्षित घोषित कर दिया गया है। सुअर की आबादी तो वैसे ही तेजी से बढ़ती है, आरक्षित होने से उसमें और भी तेजी आ जाती है। नतीजा यह है कि इन इलाकों में फसलों को बचाना मुश्किल हो गया है। और फसल के नुकसान की भरपाई के लिए कोई नियम नहीं है। इस हालत में लोगों के सामने यही सवाल है कि आखिर वे जिंदा कैसे रहें या तो वे लोग गैर-कानूनी ढंग से अपने जान-माल की हिफाजत करते रहे या जंगल से आज नहीं तो कल बाहर निकल जाय। वनों में जानवरों से तो वे अब तक लड़ते चले आए हैं। मगर उन लोगों के सामने यही सवाल है कि वे लोग बाहर के "दरिन्दों" से कैसे लड़ पाएँगें ? दूसरे बाहर निकलने पर वे करेंगे क्या, उनको मजदूरी भी नहीं मिली तो भीख माँगने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचेगा। इसलिये सब तकलीफें झेलते हुए भी वे वहीं किसी तरह से जिंदगी चलाते रहने के लिए मजबूर हैं।

<u>असली अपराधी अब भी स्वच्छन्द</u>

11.17 इस तरह अभयारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना से आदिवासियों की जिंदगी में तरह-तरह की बंदिशें लगती जा रही हैं। परन्तु वहीं बाहरी लोगों पर, जिनके कारण जानवर खतम हुए हैं, कोई असर नहीं। उनकी आसाइशों के लिये पहले तो नियम और कानूनों में ही कुछ न कुछ गुंजाइश रहती है - और जहाँ नहीं होती है वहाँ निकाल ली जाती है। उदाहरण के लिए राजस्थान के सरिसका राष्ट्रीय उद्यान के कोर क्षेत्र से जहाँ लोगों को निकालने की कोशिश जारी है वहीं उसके बीचोबीच पर्यटन केन्द्र की सुविधाएँ है। इस तरह आसूदा लोगों का अधिक से अधिक एक शौक खतम

हुआ तो उसकी जगह दूसरा शौक चालू हो गया। शिकारी नहीं तो सैलानी होकर आ गए। और जब किसी तरह बन में पहुँच गए तो फिर कई तरह के धंधे हो सकते हैं। उदाहरण के लिये कहते हैं कि ये लोग कई जगह अभयारण्यों से थोड़ी दूर पर निजी निवास बना लेते हैं और वहीं से आराम से शिकार खेलते हैं उनको कोई पूछने वाला नहीं है।

रिश्तों में बुनियादी अंतर की पहचान जरूरी

11.18 दुर्भाग्य से हमारे कानून में आदिवासी लोगों के और दूसरे लोगों के वन्य प्राणियों से संबंध की प्रकृति, उनकी सीमाओं एवं संभवनाओं के भारी अंतर को ध्यान में नहीं रखा गया है। आदिवासी के लिये वन्यप्राणी उसी व्यापक सृष्टि का एक अंग है जिसमें वह स्वयं भी शामिल है। कहीं-कहीं उनका परस्पर विरोधी भाव भी स्पष्ट है - वे उनका शिकार करते हैं पर दूसरी ओर वन्य प्राणी उसकी फसल नष्ट करते हैं और कभी-कभी उसके जीवन के लिये भी खतरा बन जाते हैं। पर फिर भी एक संतुलन है, उनकी अनिवार्यता उसे स्वीकार नहीं स्वयं-सिद्ध है। वह उनसे आत्मिक स्तर पर भी जुड़ा हुआ है। अधिकतर गोंडों के कुल नाम वन्य प्राणियों या जंगली पेड़ों से जुड़े होते हैं जो उनके लिये पवित्र होते हैं। उसकी निगाह में वन्यप्राणियों का प्रजनन भी उतना ही जरूरी है जितना मानव जाति का। इसलिए उस काल में शिकार नहीं की जाती है। यह जरूर है कि पारद जैसी प्रथा जो किसी समय हानिकारक नहीं रही होगी अब असंगत हो गई है उनमें बदलाव आना जरूरी है। परन्तु उनमें बदलाव न आने का मुख्य कारण है बाहरी दखलन्दाजी, जिसके कारण आदिवासी समाज का यह जिम्मेदारी भरा अहसास जाता रहा कि वह अपने इलाके का मुखिया है।

11.19 इसके विपरीत बाहरी लोगों का वन्य प्राणियों से औपचारिक नाता है। वह उनके जीवन के संगी नहीं हैं। वे या तो मात्र आखेट और मनोविनोद या जोखिम भरे खेल जैसी चुनौती हैं। किसी के लिये वे सिर्फ एक विशेष धंधा या व्यवसाय हैं। कुछ लोगों के लिये वे वैचारिक स्तर पर संवेदनापूर्ण प्रतिक्रिया पर आधारित प्रकृति की विरासत में अदृश्य सहभागी है। बाहर के सैलानी/धंधेबाजों का शिकार और प्रकृति की व्यवस्था के अभिन्न अंग के रूप में जीवन संघर्ष में रत आदिवासी और वन्य प्राणी की टकराहट दो नितांत अलग-अलग बातें हैं। उनमें कोई समान सूत्र है ही नहीं। परन्तु फिर भी कानून में आदिवासी के धनुष-बाण, कुल्हाड़ी और फंदे और बाहरी लोगों के बंदूक को एक ही धारा में एक जैसा स्थान मिला है। मालूम नहीं क्यों ? शायद कानून बनाने वालों को लगा होगा कि जब इन सभी उपकरणों से जानवर मारा जा सकता है तो क्यों दो अलग अलग दफाऐं बनाई जाय।

11.20 पर वन्य प्राणी संरक्षण कानून का मसौदा तैयार करने वाले और हमारे विधायक दोनों ही यह भूल गए कि दोनों में बुनियादी अंतर है। धनुष-बाण, तलवार-बल्लम और फंदे आदिवासी समाज की अपनी स्थिति में सहअस्तित्व मूलक जीवन-संघर्ष के लिये आवश्यक उपादान है। बंदूक आधुनिक आदमी के हाथ में प्राणियों के संहार का प्रतीक है। धनुष-बाण या भाले तलवार से शेर, चीते और भालू नहीं खतम होते हैं, न कभी खत्म हुए हैं । किसी आदिवासी ने किसी युग में अगर फंदे में फसाकर शेर मारा हो तो उसकी अमर कहानी बन जाती है। बस्तर में अबुझमाड़ के इलाके में बीसियों साल से एक शेर मारने की कहानी ही न जाने कितने तरह से कितने गाँवों में कही जा रही है। और उसी अबुझमाड़ मे शेरखोरी से कितने बार कितने गाँव बीरान हुए, कितने जानवर खा गया और शेर द्वारा कितने आदमी औरत और बच्चे मारे गये इसका कहीं कोई हिसाब नहीं। परन्तु उस लड़ाई में भी आदिवासी बचा रहा।

11.21 पर इस नई लड़ाई में जहाँ उसका फंदा गैर-कानूनी है, जंगल में कुल्हाड़ी ले जाना अपराध है - वह क्या करे ? उसको इस तरह बिना रस्सी के फंदे में फंद कर उजाड़ देना कहाँ तक न्यायोचित कहा जा सकता है। कानून सभी को आत्मरक्षा का अधिकार देता है। बंदूक के लाइसेंस आदमी को आदमी से आत्मरक्षा के लिये दिये जाते हैं। परन्तु जिन उपादानों से आदमी में मानव सभ्यता के प्रारम्भ से अपनी रक्षा की जीवन-संघर्ष जारी रखा वे ही आज उसके हाथ से छीन लिये गए हैं - वह कैसे अपना जीवन का संघर्ष करें उस आदिम अवस्था में यह सवाल भी कोई छेड़ना नहीं चाहता है। यह कानून मनुष्य के सबसे बुनियादी अधिकारी जीवन का अधिकार आत्मरक्षा का अधिकार, जीवन संघर्ष का अधिकार छीनता है - इसलिये वह मानवीय अधिकारों की भावना के खिलाफ है।

12

संसाधनों पर अधिकार - 5
संसाधनों का बिगाड़ - विनाश

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था मोटे तौर पर उसके संसाधनों की हालत और उनके उपयोग पर निर्भर है। आबादी की बढ़ोत्तरी और नई जरूरतों को पूरा करने के लिए भौतिक वस्तुओं के उत्पादन का प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव तेजी से बढ़ा है, बढ़ता जा रहा है. जिसके कारण संसाधन कम होते जा रहे हैं, उनका बिगाड़ भी बहुत हुआ है और कहीं-कहीं वे लगभग खतम जैसे हो गये हैं। संसाधनों के बिगाड़-विनाश का पहला असर आम लोगों पर खास तौर पर उन गरीबों की जिंदगी पर पड़ा है जो अपनी आजीविका के लिए उन पर सीधे-सीधे निर्भर हैं।

12.2 प्राकृतिक संसाधनों के बिगाड़-विनाश की प्रक्रिया में पहला प्रहार वनों पर ही पड़ता है। वनों के कटते जाने से न केवल लोगों की जिंदगी का आर्थिक आधार कमजोर होता है वरन् उसका पर्यावरण पर भी बुरा असर पड़ता था, इसके बारे में चिंता भी हो रही थी। फिर भी कितने जंगल कट गये इसके बारे में ठीक से कोई सही हिसाब न होने की हालत की गंभीरता का पूरा अहसास नहीं था। परन्तु जब से भू-उपग्रहों से धरती के फोटो आने लगे हैं, वनों के बारे में सही जानकारी मिलने लगी है। पहले यह माना जाता था कि हमारे देश के लगभग 23 प्रतिशत क्षेत्रफल में वन थे। यह जाहिर था कि कुछ वन बिगड़े हुए भी थे, परन्तु कितने थे बिगड़े वन, इसका ठीक अन्दाज नहीं था। अब उपग्रह तस्वीर के हिसाब से सिर्फ 11% इलाकों में वन हैं। यही नहीं, इन तस्वीरों से यह भी साफ है कि वनों का रकबा बड़ी तेजी से कम होता जा रहा है। इसलिये बचे हुए वनों को किसी भी कीमत पर बचाना और उनको बढ़ाना लाजमी हो गया है।

12.3 पर्यावरण की बिगड़ती हालत में सुधार के लिये पिछले दशक में कई तरह के प्रयास किए गए है - नया कानून बनाया गया और कुछ कार्यक्रम भी लिये गये हैं। परन्तु इसमें अभी तक सफलता बहुत ही सीमित है, कहीं-कहीं आदिवासी इलाकों में तो उनका उलटा असर पड़ा है। पर्यावरण और उससे संबंधित कानून और नीतियाँ लोगों की जिंदगी से जुड़ी हुई हैं। इसलिये वे तब तक सफल नहीं हो सकती हैं जब तक कि उस बिगाड़ के बुनियादी कारणों को न समझा जाय और उनको दूर न किया जाय।

बढ़ती आबादी का दुहरा दबाव

12.4 इस मामले में पहली बात तो सही है कि एक ओर आदिवासी इलाकों में और लोगों की तरह आदिवासी लोगों की भी आबादी बढ़ रही है। परन्तु इन लोगों के लिये खेती के अलावा और कोई व्यवसाय नहीं है। यही नहीं, अभी तक इन इलाकों में खेती के विकास के कार्यक्रमों में भी कोई खास सफलता नहीं मिली है। इसलिये ये लोग अभी भी परंपरागत खेती पर ही पूरी तरह से निर्भर हैं। परम्परागत खेती से ही बढ़ती आबादी की जरूरतें पूरी करने के लिये अधिक जमीन की जरूरत होती है। और खेती के लिये जमीन बढ़ाने के लिये उन लोगों को जैसा वे अब तक करते आये हैं, जंगल साफ करना और जमीन बनाना वही एक रास्ता दिखाई देता है।

12.5 परन्तु बात इतनी ही नहीं है। आजादी के बाद कई दूसरे कारणों से भी आदिवासी इलाकों में आबादी तेजी से बढ़ी है। उदाहरण के लिये सड़कों के बनने और आवागमन के साधनों में सुधार होने

से बाहर से आने वाले लोगों की तादाद में भारी बढ़ोत्तरी हुई। यह दो कारणों से हुआ। एक तो दूसरे इलाकों की आबादी में भी तेजी से बढ़त हुई है। दूसरे आदिवासी इलाकों में समृद्ध संसाधन होने से नई आर्थिक संभावनाएँ वहीं अधिक बनी हैं। इस तरह दूसरे इलाकों में आबादी का दबाव बढ़ने से वहाँ के लोग इन कम आबादी वाले इलाकों में ही कुछ गुंजाइश देखकर बड़ी संख्या में आकर बसते जा रहे हैं। सच तो यह है कि यही प्रक्रिया सदियों से चली आ रही है। आदिवासी लोग वन में खेती की जमीन बनाते थे। इन जमीनों को देखकर अधिक ताकतवर लोग या जातियाँ वहाँ पहुँच जाते थे। और किसी न किसी तरह उनकी जमीन हथिया लेते थे। आदिवासी बेसहारा होकर फिर से एक बार वन में आगे बढ़ कर खेती के लिये जमीन बनाने में लग जाता था।

12.6 जहाँ तक खेती की जमीन का सवाल है यही प्रक्रिया अभी भी कमोवेश उसी तरह से चल रही है परन्तु एक अंतर के साथ। अब कई जगह या तो वन खतम ही हो गए हैं। जहाँ वन हैं वहाँ आदिवासी उसमें घुस नहीं सकता है और घुसता है तो उसका कब्जा अवैध होता है। इसलिये अब जमीन छिन जाने पर वह या तो भूमिहीन हो जाता है या वन में अतिक्रामक।

12.7 इसी तरह आदिवासी इलाकों में नये अवसरों के पैदा होने से जो बदलाव आया वह पहले की इस प्रक्रिया से बहुत अलग किस्म का है। सबसे पहले तो जब से वनों की व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य बाहरी व्यवस्था की जरूरतों को पूरा करना और सरकार की आमदनी बढ़ाना हो गया तब से यह तथ्य कि आदिवासी लोगों की उसी वन से गुजरबसर होती है, भुला दिया गया। वानिकी से होने वाले लाभ में आदिवासी को सिर्फ मजदूरी ही हाथ आई। परन्तु इस थोड़ी सी अनियत मजदूरी से आदिवासी की जिंदगी पूरी तरह से नहीं चल सकती है इसके बारे में न किसी ने सोचा और न कोई कार्रवाई हुई। यही नहीं बाहरी जरूरतों के उपयोग के लिये वनों के दोहन से उसे मजदूरी के रूप में उस समय तो दो पैसे मिल गए, परन्तु उसके लिये वह जिस डगाल पर बैठा था उसका काटना जैसा हो गया। बाहरी जरूरतों के लिये वनों के दोहन से कहीं-कहीं तो वन खतम ही हो गए और कहीं-कहीं वे उसके काम के नहीं रहे या उसकी पहुँच के बाहर होते गए। दोनों ही हालत में उसकी अर्थ-व्यवस्था का आधार कमजोर हो गया। इस स्थिति में उसको अपनी जिंदगी चलाने के लिए खेती के लिए और भी ज्यादा जमीन तैयार करने के अलावा कोई चारा ही नहीं था और उसे जंगल काटने के लिए मजबूर होना पड़ा। संक्षेप में, नई व्यवस्था में वनों से सरकार की आमदनी बढ़ती गई परन्तु उसमें आदिवासी की सहभागिता न होने के कारण, उसे उसका लाभ तो मिला ही नहीं, उलटे उसकी जिंदगी का आधार कमजोर होता गया।

बागान और वन

12.8 बाहरी माँग के दबाव में देश के कई हिस्सों में जैसे कि उत्तर-पूर्व के इलाकों और पश्चिमी और पूर्वी घाट के जंगलों में चाय और कॉफी इत्यादि के बागान भी लगाये गये। इन बागानों को लगाने के लिये एक ओर जंगलों को साफ किया गया और दूसरी ओर बाहरी लोगों को वहाँ ले जाकर बसाया गया। इन बागानों के मालिकों का मुख्य उद्देश्य मुनाफा कमाना ही था। इसलिये उनकी नीति यही रही कि मजदूरों को उनके लाभ में से कम से कम हिस्सा दिया जाय। आज भी उत्तर-पूर्व के चाय बागान के मजदूरों की हालत दूसरी जगह के साधारण मजदूरों से भी गई गुजरी है। यही कहा जा सकता है कि वे किसी तरह गुजर बसर चला रहे हैं। अनेक बागानों में दुर्भाग्य से प्राथमिक शिक्षा तक की उपयुक्त व्यवस्था नहीं है। इन बागानों में आज भी लगता है कि अंग्रेजी राज के जमाने की व्यवस्था जैसी की तैसी बनी हुई है, जिसमें दो नस्लों के लोग हैं - एक अफसर और

दूसरे मजदूर। मालिक और अफसर राज करने वाली कौम हैं और मजदूर उनकी प्रजा जिनको किसी तरह से जिंदा रहने के लिये सुविधा दी जाती है।

12.9 इन बागानों में काम करने वालों की आबादी बढ़ती जा रही है। आज उन लोगों का अपने मूल स्थानों से कोई संबंध ही नहीं बचा है और न बागानों के बाहर स्थानीय अर्थव्यवस्था से ही उनका संबंध है। इसलिये इस बढ़ती आबादी के लिए कोई उपयुक्त निकास न होने के कारण उन्हें बागानों के बाहर वन में ही सहारा ढूँढ़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। इसके अलावा जो लोग पहले उन वनों में रहते थे जहाँ आज बागान हैं, वे भी वहाँ से विस्थापित हुए और उनको भी बागानों के बाहर के वन में खेती बनाकर गुजर करने के लिए मजबूर होना पड़ा। चूँकि इनमें से बहुत से लोगों के अधिकार कहीं लेखी में नहीं थे इसलिये न केवल उनकी अनदेखी हो गई वरन् उसके कारण वनों पर पड़ने वाला बोझ भी अनदेखा रह गया। यही प्रक्रिया आज भी नये पुराने बागानों के आस-पास बड़ी तेजी से चल रही है।

12.10 चाय और काफी बागानों के मामलों में एक और बात भी करना जरूरी है। बागानों सहित सभी तरह के पेड़ों के धंधे इस समय अच्छी आमदनी के धंधे हैं, जिसकी विस्तार से चर्चा हम आगे करेंगे। इस माहौल में एक ओर तो पुराने बागानों को बढ़ाने की कोशिश हो रही है और दूसरी ओर नये बागान भी लगाए जा रहे है जिनके लिये वनों में अतिक्रमण हो रहा है। उदाहरण के लिये कर्नाटक के चिकमंगलूर जिले तथा आसपास के इलाकों में बहुत बड़े पैमाने पर वनों में अनधिकृत कब्जा करके बागानों को बढ़ाया और लगाया जा रहा है। बागानों की भूमि के मामले में अधिकतम सीमा का कोई कानून नहीं है। इसलिए लोगों को यह उम्मीद है कि अगर वे एक बार बागान लगा देते हैं तो आगे-पीछे उन्हें उसकी मिलकियत मिल ही जायेगी, और फिर बागानों में भी जमीन की तरह या उससे भी आगे अहम सवाल मिलकियत का नहीं होता है जितना कि जमीन पर कब्जा कायम रखकर उससे लाभ उठाने का। अगर मालिक का बागान पर कब्जा बना रहे तो उससे होने वाली आमदनी से सभी को खुश रखा जा सकता है और उस जमीन/बागान पर अधिकार की लड़ाई भी ऊँचे से ऊँचे स्तर पर चलाई जा सकती है और उसे कितने ही सालों तक चालू रखा जा सकता है। चिकमंगलूर में इस तरह के न जाने कितने बागान हैं जिनके कारण वनों का भारी विनाश हुआ है, होता जा रहा है। कुछ बागान तो हजार - दो हजार या तीन हजार एकड़ तक के हैं जिनके मालिकों के सामने सभी लाचार हैं।

12.11 वनों की जगह बागान लगाकर रातोंरात लखपती होने के लोभ के कारण केरल में भी भारी पैमाने पर वनों का विनाश हुआ है। **जहाँ साधारण आदिवासी वनों को काटकर खेती की जमीन अपनी गुजर बसर के लिए बनाता था वहीं अब चतुर चालाक मध्यवर्गी लोग वनों में घुसपैठ** कर चाय, कॉफी या इलायची और लौंग के बागान लगा रहे हैं। इलायची और लौंग के बागानों के लगाने के लिए वन धीरे-धीरे खत्म होते जाते हैं। इस तरह उनसे लोगों को कुछ समय कई अच्छी खासी कमाई हो जाती है, परन्तु पूरा इलाका वीरान हो जाता है जिसकी उन्हें कोई चिंता नहीं। **इस तरह एक ओर तो जंगलों का भारी नुकसान हो रहा है। परन्तु उसके साथ ही जैसा सभी प्रक्रियाओं में होता है, इन इलाकों से वहाँ के मूल निवासियों को जो उनसे अपनी जिंदगी बसर कर रहे थे वहाँ से भागने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है।** ये लोग फिर वनों में ही कहीं दूसरी जगह खेती के लिये जमीन ढूँढते हैं जिससे फिर एक बार वन ही कटता है। दुर्भाग्य से हमारे शासन का पूरा ध्यान आदिवासियों के द्वारा वनों में खेती के लिये जमीन न बनाने देने पर ही केन्द्रित रहता है। जहाँ बड़े लोग तुरंत

कमाई के लिये वनों का विनाश कर रहे हैं उसकी ओर या तो ध्यान जाता ही नहीं है और जाता भी है तो किसी न किसी तरह से उनका मुँह बंद कर दिया जाता है।

उद्योगों, विस्थापितों और बाहरी मजदूरों का वनों पर प्रभाव

12.12 यही हालत औद्योगिक गतिविधियों की भी है। आदिवासी इलाकों में वहाँ पर मिलने वाले कच्चे माल के आधार पर कई तरह के कारखाने बनाये जाते हैं और उनकी खनिज सम्पदा के दोहन के लिए बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों की स्थापना होती रही है। परन्तु इस नई व्यवस्था में आदिवासी के लिये कोई खास स्थान नहीं रहता। वे लोग या तो नये व्यवसायों के लिए तैयार नहीं है या उनके पास उनके लिए उपयुक्त कौशल नहीं है। जैसा हम आगे देखेंगे कि सरकार को यह तक नहीं मालूम कि इन नई गतिविधियों के कारण कितने लोगों को विस्थापित होना पड़ा है। **यहाँ तो इतना ही कहना काफी है कि पहले तो आधुनिक बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों के लिए वनों की कटाई होती है और फिर उसके बाद चूँकि उनसे विस्थापित होने वालों के लिए उस अर्थव्यवस्था में कोई स्थान नहीं रहता, इसलिए उन विस्थापितों को भी जंगल में ही और आगे जाने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है जिससे और अधिक वन कटते हैं।**

12.13 वन्य क्षेत्रों में नये उद्योग-धंधों के लिए और यहाँ तक कि खानिकी के काम के लिए भी बाहर से लोगों को लाने के कारण वनों के बिगाड़-विनाश की प्रक्रिया का दुष्परिणाम कई गुना अधिक हो जाता है। बाहर से आने वाले मजदूर बहुतकर के गाँवों के ही रहने वाले होते हैं। ये लोग इन वन्य इलाकों में खेती के सिवाय दूसरी तरह के काम करने के लिए मजबूरी में आते हैं, परन्तु उनका असली लगाव खेती-किसानी से ही बना रहता है। दूसरे अभी भी आदमी के पास जमीन होना सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही तरह से बहुत बड़ी बात है। उसके लिए सभी तरह के लोगों में ललक है। बाहर से आने वाले मजदूर जब इन जंगली इलाकों में सरल लोगों के संपर्क में आते हैं तो उनकी यह ललक लोभ बन जाती है। पहले तो ये लोग किसी न किसी बहाने स्थानीय लोगों की जमीनें हथिया लेते हैं। दूसरे ये लोग छोटे अधिकारियों से सांठगांठ करके, जो बहुत करके उन्हीं के इलाकों से आते हैं, वनों पर भी अनधिकृत कब्जा कर लेते है। खेती की जमीन हो जाने पर वे जिस काम के लिए आते हैं उस काम को छोड़ देते हैं। इस हालत में उन कामों के लिए फिर से बाहर से दूसरे मजदूरों को लाया जाता है और इस तरह वही लोगों का आना जमीन बनाना और मजदूरी छोड़ देने का सिलसिला फिर से एक बार चालू हो जाता है।

12.14 इस तरह आदिवासी इलाकों में भारी संख्या में बाहर से आने वाले लोगों का तांता लगा हुआ है। इससे आदिवासियों की जमीन छिनती जा रही है। इस हालत में आदिवासी, जहाँ हो सकता है, जंगल काटकर जमीन बनाने के लिए मजबूर हैं। इस तरह इन इलाकों में सभी तरह की गतिविधियों का आखरी असर एक ही होता है वनों का खातमा। दुर्भाग्य से वनों के विनाश के ठीक पहले तक की पूरी प्रक्रिया तो विकास का एक अंग मानी जाती है और उस प्रक्रिया की जड़ पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाने का सोचा तक नहीं जाता है. जिस व्यवस्था के दुष्परिणामों से आतंकित होकर उस आदिवासी को जिंदा रहने के लिये मजबूरी में जमीन बनानी पड़ती है या पेड़ काटने पड़ते हैं, उसी व्यवस्था को उसी मजबूर व्यक्ति पर दूसरे हाथ से निर्मम प्रहार करने और उसे अपराधी करार देकर कड़े से कड़ा दण्ड देने में कोई संकोच नहीं होता।

वनों के राज्य की संपत्ति बन जाने के दुष्परिणाम

12.15 वन-भूमि पर बागान लगाने और उद्योगों की स्थापना का यह सिलसिला जो अंग्रेजी जमाने से शुरू हुआ था वनों के बारे में अंग्रेजी राज के सोच का प्रतीक है। उनकी निगाहों में जमीन और वन सहित सभी प्राकृतिक संसाधन सम्पत्ति थे। इसलिये कहीं वन निजी सम्पत्ति बन गए और कहीं राज्य की सम्पत्ति। सम्पत्ति के दो पहलू हैं। एक तो संपत्ति अपने आप में मूल्यवान होती है इसलिये उसका मालिक उसे बढ़ता देखना चाहता है। दूसरे, सम्पत्ति आमदनी का जरिया भी हो सकती है। इस तरह वनों के सरकारी संपत्ति हो जाने के बाद सरकार ने अपने नजरिये से वनों का प्रबंध करना शुरू किया जिससे वन बने रहें और उनसे आमदनी होती रहे। दुर्भाग्य से यह नजरिया बड़ा संकुचित था जिसमें वनों पर जिंदगी बसर करने वालों को भुला दिया गया और उनके द्वारा वनों का सामान्य उपयोग भी अखरने लगा। जैसे-जैसे वन आरक्षित होते गए, जिसका हम विस्तार से वर्णन कर चुके हैं, लोगों और वनों का अलगाव गहराता गया।

12.16 वनों पर एकाधिकार कर लेने पर सरकार ने उससे आमदनी बढ़ाने की ओर ध्यान दिया और बाजार में वनों की उपज की बिक्री की संभावनाओं की खोज और उन संभावनाओं के निरंतर विस्तार के प्रयास होने लगे। रेलों के लिए स्लीपर, जहाजों के लिए पट्टे, ठंड और गर्मी दोनों ही मौसमों के लिए आलीशान मकानों के लिए इमारती लकड़ी और उनको भरने के लिए अटूट फर्नीचर। उधर विश्वव्यापी उपभोगवादी लहर में तरह-तरह की नई वस्तुओं जैसे कागज, लुगदी और रेशे की माँग भी बढ़ती गई जिसको पूरा करने के लिये वनों का आँखें बंद करके दोहन होने लगा। आमदनी के लोभ में वनों का किस कदर बिगाड़-विनाश हुआ है इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। यही नहीं, उसे विकास की निशानी मान लिया गया जिसके लिये सब कुछ निछावर किया जा सकता था।

12.17 वनों का सबसे बड़ा नुकसान वनों के विकास के नाम पर हुआ। वनों के विकास के बारे में ऊपर से चाहे कुछ कहा जाता रहा हो परन्तु आयोजकों का ध्यान हमेशा आर्थिक लाभ-हानि पर ही रहा है। चाय, कॉफी आदि के बागानों के अलावा भी लगभग सभी जगह प्राकृतिक वनों को काटकर ऐसे पेड़ों के प्लांटेशन किए गये जो उस समय आर्थिक दृष्टि से उपयोगी माने जाते थे। इसमें प्राकृतिक संपदा की संपूर्ण संभावनाओं को तो नजरअंदाज किया ही परन्तु यह भी नहीं देखा गया कि लोगों के लिये उनका क्या उपयोग है। इससे प्राकृतिक वनों का विस्तार बहुत कम हो गया। यही नहीं, देश की सभी समस्याओं के समाधान के लिये औद्योगीकरण की अंधी दौड़ में वनोपज पर आधारित उद्योगों को भी भारी बढ़ावा दिया गया। इन उद्योगों में जानबूझ कर इस बात का ध्यान ही नहीं रखा गया कि उस उद्योग की लागत-लाभ में औद्योगिक गतिविधि का कितना योगदान है और कितना लाभ सिर्फ वन की उपज कौड़ी मोल मिल जाने से हो रहा है। सच तो यह है कि वनोपज पर आधारित प्रतिष्ठानों ने उद्योग के नाम पर जंगल की लूट करके भारी लाभ कमाया। इसी लोभ में वनोपज पर आधारित उद्योगों के लिये लीजों की भरमार हो गई और उद्योगपतियों ने उसका जम कर फायदा उठाया।

12.18 तत्काल लाभ के लोभ में जिन जंगलों पर ये उद्योग आधारित थे वे बने रहें इस तक की किसी को चिंता नहीं रही। इन प्रतिष्ठानों ने एक जगह के जंगल खत्म हो जाने पर दूसरी जगह के जंगलों को हथियाना शुरू कर दिया. उनका एक मकसद था कारखाना चलता रहे और वे मुनाफा कमाते रहे पूरी व्यवस्था

पर स्वार्थी तत्व इस कदर हावी हो गए कि आरा मशीन लगाना भी उद्योग मान लिया गया। एक बार आरा मशीन उद्योग की परिभाषा में आ गई तो वे पुण्य-प्रतिष्ठान हो गए जिनके साथ छेड़छाड़ नहीं की जा सकती थी। इसलिये मशीनें चलती रहें और उनमें लगे लोगों को काम मिलता रहे इसके लिये भी वनों की कटाई होती रही है। यह तर्क तो वैसा ही है कि फाँसी का तख्ता है, जल्लाद है, इसलिये फांसी लगाने के लिये आदमी भी होना ही चाहिये। इसी तर्क के आधार पर आज भी अंडमान में यह जानते हुए भी कि उष्णकटिबंधीय वन एक बार कटे तो हजारों साल में भी फिर नहीं उग सकते हैं, वनों की कटाई चालू है। यही नहीं, इन तथाकथित उद्योगों के लिये जब एक तरह के पेड़ खतम हो गए जिनसे अधिक लाभ मिलता था तो दूसरे पेड़ों का उपयोग शुरू हो गया। सबसे खेदजनक स्थिति तो आंध्रप्रदेश में हुई जहाँ आरा मिलों को चालू रखने के लिये कई इलाकों में वनों से आम का सफाया हो गया, जिससे आदिवासियों के पोषण पर भारी दुष्प्रभाव पड़ा।

12.19 इसी तरह तकनीक के उन्नत होते जाने से भी कई उद्योगों ने कई तरह के पेड़ों का उपयोग शुरू कर दिया। उदाहरण के लिये पहले सख्त लकड़ी का खास उपयोग कर लिया गया। इस तरह यातायात में सुधार और तकनीक के उन्नत होते जाने से लाभ तो उद्योगों को मिला परन्तु वनों का विनाश हुआ। इस सिलसिले में कागज के कारखानों ने खास तौर पर पूरे देश में ही जंगलों की तबाही की है।

12.20 वनों के सरकारी संपत्ति बन जाने से, उनसे समाज का रिश्ता टूट गया। इसलिए बन के बचाव-विकास की पूरी जिम्मेदारी बाहरी व्यवस्था की हो गई। प्रशासन जैसी औपचारिक व्यवस्था का काम करने का ढंग समाज के काम करने के ढंग से अलग होता है। उसमें सभी काम नेमी होते हैं, उसमें व्यक्तिगत दिलचस्पी की उम्मीद नहीं की जा सकती है। वनों के बारे में एक बात और भी है। उसके प्रबंध की व्यवस्था का परिणाम आमतौर पर बहुत दिनों में दिखाई देता है। इसलिए कोई प्रबंध व्यवस्था अच्छी है या खराब इस पर कोई राय तुरंत नहीं बनाई जा सकती है। दूसरे, औपचारिक व्यवस्था की कसौटी कागजी आंकड़े होते हैं जो मैदानी हालात से बिलकुल अलग हो सकते हैं। यही कारण है कि सेटेलाइट चित्रों के आने से पहले वनों का बिगाड़-विनाश होता जा रहा था, परन्तु सरकारी आंकड़ों के मुताबिक स्थिति कुछ और ही थी।

12.21 इसके विपरीत समाज का भोगा हुआ सत्य होता है। उसका अपना अनुभव युगों लंबा होता है, जिसमें किसी चलन की अच्छाइयाँ या बुराइयाँ समय के निरख से निकल कर स्थापित होती हैं। परन्तु औपचारिक व्यवस्था उसको अनदेखा कर सकती है, झुठला सकती है। बहरहाल औपचारिक व्यवस्था में कोई काम ठीक है या गलत यह केवल नियम और कानून के दायरे में तय किया जा सकता है जिसका वास्तविक स्थिति पर क्या असर पड़ता है इससे कोई सरोकार नहीं रहता।

12.22 आजादी के बाद सरकारी और सामाजिक संपत्ति के उपयोग के बारे में धीरे-धीरे जिम्मेदारी का माहौल नहीं रहा है। इसलिये जिसके जैसा मन में आया उसका उपयोग किया। उदाहरण के लिये बहुत समय तक किसी भी तरह की तकलीफ में पड़े लोगों को मदद करने या बसाने के लिए भी वनों को काटकर खेती के लिये जमीन देना सबसे सरल उपाय बन गया। इसी के चलते देश के विभाजन के बाद उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में विस्थापित लोगों को बसाने के लिए भी बड़े पैमाने पर वनों की कटाई की गई। इसी तरह से सिंचाई के बाँधों से विस्थापितों के लिये जंगल काटकर जमीन मुहैय्या कराई गई। समय-समय पर बढ़ती आबादी को देखते हुए भी वनों से ही खेती के योग्य जमीन निकाल कर उसका बंटवारा किया गया। इस माहौल में राजनीतिक दल भी वनों पर किसी से पीछे नहीं रहते। किसी दल ने भी कहीं भूमि हथियाओ आंदोलन चलाया तो कहीं

जंगल जलाओ का नारा दिया, और चुनाव के पहले लोगों को खुश करने के लिये लोगों को जमीन देने के वायदे से ज्यादा वजनदार और कौन सा वायदा हो सकता था। इसतरह जंगल काट कर जमीन बनती गई परन्तु लोगों की आर्थिक समस्या के दीर्घकालीन समाधान की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया। आज भी आदिवासी, जंगल की ओर ही, बेबसी में आशाभरी निगाह से देखता है।

12.23 उधर आजादी के बाद वनों की व्यवस्था में बदलाव के चक्कर में भी वनों का भारी नुकसान हुआ। जागीरदारों और जमीनदारों ने इस डर से कि सरकार वन कब ले लेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं और फिर उनको उसमें से क्या मिले, कौन जाने। इसलिये बहुत से लोगों ने निजी वनों को धड़ल्ले से काटकर स्वाहा बना लिया। जो थोड़े बहुत जंगल कानूनी पकड़ या परम्परा के कारण उनके पास रह गए उनको भी जल्दी से जल्दी खतम करके पैसा बनाने की फिक्र में हैं। इस माहौल में छोटे किसानों ने भी अपने पेड़ों को कटाकर पैसे बना लिये। उधर आदिवासी इलाकों में चतुर-चालाक लोगों ने आदिवासियों की जमीन पर अच्छे जंगलों को कौड़ी के भाव खरीद कर कटवा डाला।

12.24 जंगलों पर बढ़ते हुए शहर-कस्बों का भी काफी दबाव पड़ा है। पहले तो बसाहतों के लिए या उनके विस्तार के लिये जंगल कटे। इसके अलावा इन बढ़ती हुई बस्तियों का वनों पर दो तरह से असर हुआ। एक ओर बढ़ती हुई आबादी के लिये जलाऊ लकड़ी की जरूरत बढ़ी। दूसरे, वहाँ के मूल निवासियों की जमीन छिन जाने से वे लोग बेसहारा हो गये। अक्सर उनको नई व्यवस्था में कोई स्थान नहीं मिल पाया। इस हालत में उनको जंगल के अलावा और कोई आसरा नहीं रहा। इसलिए वे भी अपने गुजर बसर के लिए या तो जंगल में खेती बनाने या वहाँ से ही जलाऊ लकड़ी वगैरह इकट्ठा करने के लिये मजबूर हो गये। जैसे-जैसे बस्ती के पास के जंगल खत्म होते गए लकड़ी के लिए दूर-दूर के जंगलों का सफाया होता गया।

यातायात और वन विनाश

12.25 विकास के दौर में वनों के विनाश के लिये सड़कों का निर्माण सबसे बड़ा कारण बन गया है। या तो विकास के नाम से अच्छे और (भी अच्छे) राजमार्ग बनते जा रहे हैं अथवा स्वयं वनों के आर्थिक दोहन के लिये कच्चे-पक्के तरह-तरह के रास्तों का निर्माण किया जाता है। दोनों ही हालतों में एक तो वनों के भीतरी इलाकों तक ऐसे बाहरी लोग आसानी से पहुँचने लगते हैं जिनके लिये वन बयावान हैं, डरावने हैं या तुरंतसिद्धि का एक सरल सा साधन। इन लोगों का न उनसे कोई रागात्मक लगाव है और न वे उनके लिये पीढ़ी-दर-पीढ़ी या दीर्घकालीन हितों के आधार हैं। दूसरे सड़कें बनने से भारी और तेज रफ्तार वाले वाहनों का चलना भी संभव हो जाता है। इसलिये सड़कों का जाल बनते ही वनों में ऐसे अहितकारी तत्वों का समावेश हो जाता है जिनका सीधा संबंध आधुनिक व्यवस्था से होता है, जो उसकी रीति-नीति को पहचानते हैं और कड़े नियम कानून के बावजूद अपना काम किस तरह निकाला जाय यह भी जानते हैं।

12.26 दूसरी ओर स्थानीय समाज का नई व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है, उन्हें यह भी नहीं मालूम कि कौन सी चीज कानून के अनुरूप हो रही है कौन सी उसके खिलाफ। यह उनका अनुभव है कि बहुत सी गलत चीजें भी, जैसे जंगल की पूरी सफाई करके यूकिलिप्टस लगाना जिसके कारण पूरे जंगल खत्म हो गये या शहरों की माँग को पूरा करने के लिए लकड़ी की बेहिसाब कटाई, नियम कानून के मुताबिक सरकारी देखरेख में ही होती है। इसलिये उनके पास कुछ कहने सुनने या टोका-टाकी के लिये आधार ही नहीं है, और न अधिकार ही है। ऐसी हालत में सड़कें बनने पर वनों की बेतहाशा कटाई हुई है। वनोपज गलत निकास को रोकने में बेरियर नाकाम रहे हैं। आज बहुत कुछ प्राकृतिक वन वहीं बचे रहे हैं जहाँ राजमार्ग नहीं है। इस तरह विकास की प्रक्रिया

की परिणति वनों के विनाश-बिगाड़ के रूप में साफ तौर से यहाँ देखी जा सकती है।

वन विकास निगमों की स्थापना का प्रभाव

12.27 इस तरह जब वनों पर दबाव बढ़ रहा था उसी समय राष्ट्रीय कृषि आयोग ने इस पूरे मसले पर गहराई से विचार किया। उनकी चिंता यह थी कि वनों से आमदनी तो हो रही है लेकिन उनके विकास के लिए कोई खास पूँजी नहीं लगाई जा रही है। इसलिये वित्तीय संस्थाओं से वन विकास के लिये पूँजी मुहैय्या कराने की दृष्टि से वन विकास निगमों की तजबीज की गई। इस तरह वनों के विकास के मामले में लागत-लाभ के हिसाब के आधार पर एक नई शुरुआत हुई। इसमें दो बातें हुई। एक तो इन निगमों ने नये प्लांटेशन लगाने की तजबीज की जो सही अर्थों में वन नहीं कहे जा सकते हैं। दूसरे इनका कामकाज पूरी तरह से व्यापारिक होने से स्थानीय समाज का अलगाव और भी अधिक हो गया। इसलिये दुर्भाग्य से यहाँ भी बहुत से मामलों में बात उलटी ही हुई। इसकी बजाय कि बिगड़े हुए वनों में अधिक पूँजी लगाकर सुधारा जाता राज्य सरकारों ने वन विकास निगमों को जान बूझकर अच्छे वन दे दिए जिससे उन पर वन की काम योजना की बंदिश न रहे और उनकी कटाई कराके सरकार को अच्छी आमदनी हो जाय। जहाँ तक इन निगमों के मार्फत पूँजी मुहैय्या करने का सवाल था उसमें खास सफलता नहीं मिली। परन्तु बहुत सी जगह वनों को पूरी तरह से साफ करके नया प्लांटेशन लगाने के चक्कर में वन कट जाने के बाद उजाड़ हो गया और फिर वन वापिस नहीं आए।

वन और आदिवासी के बीच संबंधों का बाजारीकरण

12.28 वनों और स्थानीय समाज के बीच के आत्मीय संबंधों को अनदेखा करने और उनके अधिकाधिक बाजारीकरण के कारण वनों को बहुत नुकसान हुआ है जिनकी ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया है। संवेदनशील अधिकारियों/प्रबंधकों को उसका अहसास भी है पर औपचारिक व्यवस्था के काठ में फंस कर वे बेबस है और उस विसंगति को चलने देने के लिये मजबूर हैं। इसमें से आग से होने वाले नुकसान सबसे भयंकर है। पहले लोग वनों को अपना मानते थे, इसलिए आग लगते ही सब के सब उसे बचाने में जुट जाते थे। वे इसके लिये भी सचेत रहते थे कि कहीं किसी की चूक से आग न लग जाय। परन्तु अब जब सभी तरह के संबंध औपचारिक होते जा रहे हैं तो वनों को आग से बचाने के लिये भी अनौपचारिक संबंधों पर उतना जोर नहीं दिया जा सकता है। जब लोगों को पान-पत्ते के लिए भी वनों में जाने की इजाजत नहीं है तो उसकी रक्षा के लिए प्रशासन किस मुँह से उनसे किसी प्रकार की भी मदद माँग सकता है। जोर जबरदस्ती के आधार पर अगर मदद मिलती भी है तो वह उतनी कारगर नहीं हो सकती है। आखिर औपचारिकता ही निभानी है तो वह तो बिना कुछ किए-कराए भी निभाई जा सकती है।

12.29 यह साफ है कि इतने बड़े इलाके में वनों को आग से बचाने के लिए कोई भी औपचारिक व्यवस्था कारगर हो ही नहीं सकती। आग का नुकसान केवल संयोग से आग लगने के कारण ही नहीं होता है वरन् उसके बारे में लापरवाही और नासमझी के कारण भी होता है। उदाहरण के लिए महुआ बीनने के लिये पत्ते जलाना या साल बीज को अंकोरने के लिये आग का उपयोग भी वन में आग का कारण हो जाते हैं। कारण कुछ भी हो यह दुःखद स्थिति है। आग से जंगल का विनाश होता जा रहा है और हमारा प्रशासन केवल कुछ औपचारिक कारण बताकर अपने को संतोष कर लेता है। कहीं यह कह दिया जाता है कि आग से रक्षा करने के लिए पर्याप्त वित्तीय प्रावधान ही नहीं

है तो वह क्या करे ? कहीं अधिकारी उसका दोष आदिवासी पर मढ़ देते हैं। बहरहाल वनों का कैसा भी नुकसान होता रहे, अधिकारी अपनी जिम्मेदारी से बरी हो जाते हैं।

12.30 वनों की व्यवस्था में समाज की भागीदारी के अभाव के और भी कई दुष्परिणाम हैं। उदाहरण के लिए कई ऐसे वनोपज हैं जिनका अब तक कोई व्यापारिक उपयोग नहीं था। परन्तु अब उनके नये उपयोग होते जा रहे हैं, इस कारण उनकी कीमत बढ़ रही है। इस हालत में व्यापारी तुरंत लाभ कमाने की गरज से उनको अधिक से अधिक इकट्ठा करवाने की कोशिश करता है। स्थानीय समाज का इस व्यवस्था पर कोई नियंत्रण नहीं है। इसलिये इन इलाकों का आदमी अपने लिये कम से कम मेहनत करके अधिक से अधिक फायदा चाहता है। इसमें बाहरी लोग, उन्हें अगर कोई गलत काम भी करना पड़े तो उसके लिये भी उकसाते हैं, पीछे रहकर समर्थन भी देते हैं। जब तक लोगों को यह अहसास हो कि वे अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मार रहे हैं, बात बिगड़ जाती है।

12.31 तुरंत-लाभ के चक्कर में न जाने कितने वनों से न जाने कितनी तरह की जड़ी बूटियाँ खत्म होती जा रही हैं, उपयोगी वृक्ष खत्म होते जा रहे हैं। उत्तराखंड में लीसा निकालने के लिए चीड़ के वनों का सर्वनाश सुविदित है। इसीतरह से गोंद और धूप के लिए भी साल के पेड़ों को भारी क्षति हुई है। कोसा के दो गुच्छों को तोड़ने के लिये, जिनका बाजार में दो रुपया भी शायद न मिलता हो, भरे पूरे साल का पेड़ नासमझ आदिवासी काट डाले तो कोई आश्चर्य नहीं। अभी हाल ही में एक कम्पनी ने च्यवनप्राश बनाने के लिये बड़ी कीमत पर वनों से छोटे-छोटे आँवले भी खरीदना शुरू किया। जंगली आँवले के ऊँचे पेड़ों से छोटे-छोटे आँवले तोड़ने, उन पेड़ों पर चढ़ने की बजाय या और कोई तरकीब करने की बजाय लोगों ने पेड़ ही काट डाले। इसी तरह आसानी से अधिक से अधिक आंवला इकट्ठा करने के चक्कर में गढ़चिरौली और बस्तर जिले के बहुत से इलाकों में आँवले के पेड़ लोगों ने काट डाले जिसके फलस्वरूप इन जंगलों में एक साल में आँवला ही खत्म हो गया। इसी तरह से गत साल (1989) तेंदू पत्ते के लिए अच्छी कीमत मिलने से मध्यप्रदे में बहुत सी जगह, लोगों ने तेंदू के पेड़ों को ही काट डाला जिससे कि डर है कि अगले वर्ष तेंदू के पत्तों की उपज कम होगी।

12.32 बाजारीकरण और नासमझी का एक अत्यन्त खेदजनक उदाहरण साल के वनों का है। साल आदिवासी के पूरे जीवन और उसकी संस्कृति से जुड़ा है, उसका हर हिस्सा मूल्यवान है। साल के बीज से अपने ढंग से आदिवासी लोग तेल निकाल लेते थे परन्तु उसकी एक मर्यादा थी। तेल निकालने की नई तकनीक से साल के बीज का व्यापारिक मूल्य हो गया। उसके लिये अच्छे दाम मिलने के कारण उसे अधिक से अधिक जमा करने की कोशिश होती है और झाड़ू से बुहार कर इकट्ठा किया जाता है। इस कारण नये पेड़ उपजने के लिये जमीन पर उसके बीज भी नहीं बचते हैं। साल बीज की पंखुडियाँ निकालने के लिए उसे इकट्ठा करने की जगह पर ही आग से अकोरा जाता है। इससे जंगल को भारी नुकसान होता है, जिसका कहीं कोई हिसाब ही नहीं। बहरहाल सब का मतलब यही है कि जब औपचारिक व्यवस्था आदिवासी के हित के लिए भी कोई काम करती है उद्योग की अच्छी कमाई होती है, आदिवासी को भी कुछ पैसे मिल जाते हैं पर साल के वनों का विनाश होता है। इस तरह स्वयं आदिवासी अपना ही अहित कर बैठता है। इसमें बुनियादी खामी यही है कि आज की हालत में व्यक्ति का लाभ प्रधान हो गया है इसलिये औपचारिक व्यवस्था उससे होने वाली हानि को रोकने में असमर्थ है। इस स्थिति में यह सुनिश्चित करने के लिये कि व्यक्ति के हित और समाज के हित में टकराव न हो, वे एक रस बने रहे, इसके लिये यह जरूरी है कि व्यवस्था पर समाज का नियंत्रण रहे। अन्यथा सिर्फ औपचारिक रोकथाम और बाजार के बलों के चलते सामाजिक संपत्ति का विनाश होना अवश्यंभावी है।

महुए पर हकदारी किसकी ?

12.33 स्थानीय लोगों की हकदारी की अनदेखी सिर्फ वनों के आरक्षण में ही नहीं हुई है वरन् कई जगह दूसरे ताकतवर हितों के सामने भी सरकार और प्रशासन ने उसे अनदेखा कर दिया। इसका एक बड़ा ही खेदजनक उदाहरण राजस्थान के महुवे के पेड़ों के बारे में मिलता है। राजस्थान में जब जागीरदारी खत्म हुई तो जागीरदारी कानून से वानिकी को अलग रखा गया। इसका मकसद यह था कि अगर कहीं किसी जागीरदार ने कोई बगीचा लगाया हो तो उसका उस बगीचे पर अधिकार रहेगा। परन्तु चूंकि महुवे के वृक्ष भी फलदार वृक्ष हैं। इसलिये राजस्थान सरकार ने वानिकी की परिभाषा में महुवे के पेड़ को भी शामिल कर दिया। इसमें यह भुला दिया कि महुवे के पेड़ तो जंगलों में अपने आप उगते हैं और वह जंगलों में दूसरे फलदार वृक्षों की तरह ही एक वृक्ष है जिस पर आदिवासी लोगों की गुजर चलती है। कानून के इस गलत मान्यता के कारण राजस्थान के बड़े इलाकों में महुवे के पेड़ों पर अभी तक जागीरदारों का हक बना हुआ है। ये जागीरदार इन वनों से महुआ बीनने के लिए लोगों पर कर लगाते हैं। यही नहीं आदिवासियों की अर्थव्यवस्था पर उसका क्या प्रभाव पड़ेगा इसका बिना ध्यान रखे हुए वे उन्हें कटा भी सकते हैं। इसी तरह से मध्यप्रदेश वगैरह में भी कई जगह पुराने राजे महराजे और जमीनदार जागीरदारों ने जंगलों के फलदार वृक्षों पर अपना कब्जा बनाये रखा है जो सरासर अन्याय है।

आदिवासी पर विकास के उलट-प्रहारों का भार भी वनों पर

12.34 सामान्यतः यह सोचा जा सकता है कि जैसे विकास के इतिहास में दूसरे लोगों के साथ हुआ वैसे ही आदिवासी विकास की गति जैसे-जैसे तेज होती जाएगी उनकी वनों पर निर्भरता कम होगी और उस सीमा तक उनपर उनकी जरूरतों का सीधा बोझ कम होता जायेगा। राष्ट्रीय विकास के नाम पर आदिवासी अंचलों में लिये गये क्षेत्रीय विकास के कार्यक्रमों के दुष्परिणाम हम पहले ही देख चुके हैं। परन्तु खेद है कि आदिवासी इलाकों में खासतौर पर आदिवासी लोगों के विकास के लिए किये गये कार्यक्रम भी आदिवासी व्यवस्था के उलटे पड़े जिसके कारण वनों पर आबादी का भार कम होने की बजाय बढ़ता ही गया है। हुआ यह है कि आदिवासी क्षेत्रों में विकास के कार्यक्रम को बनाते समय उन लोगों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति को ध्यान में नहीं रखा गया। इसलिए उनसे बहुत कुछ जिस लाभ की अपेक्षा थी वह तो मिला ही नहीं, वरन् कई जगह भारी दुष्परिणाम भी हुए।

12.35 आदिवासी क्षेत्रों में बड़ी और मध्यम सिंचाई योजनाओं से आदिवासी लोगों को खासतौर से कठोर उलट-प्रहारों का सामना करना पड़ रहा है। सिंचित खेती और सूखी खेती, खासतौर से आदिवासी क्षेत्रों की खेती, के तौर-तरीके बिल्कुल अलग-अलग हैं। सिंचित खेती के लिए नई तकनीक ही नहीं वरन् जीवन का ही नया तरीका जरूरी होता है। जहाँ सिंचाई की छोटी योजनाएँ ली जाती हैं या कुएँ, तालाब बनवायें जाते हैं, वहाँ तो कुछ लाभ लोगों को मिला भी है। इसका खास कारण यही है कि इन कार्यक्रमों में बदलाव की रफ्तार तेज नहीं होती है। ऐसा नहीं है कि आदिवासियों को कहीं नुकसान हुआ ही न हो परन्तु उसका पैमाना व्यापक नहीं हो पाया। इसके विपरीत जिन इलाकों में बड़ी और मध्यम सिंचाई की योजनाएँ ली जाती हैं वहाँ बदलाव की रफ्तार बड़ी तेज होती है। इन योजनाओं की नीचे की सभी जमीनें एकाएक अधिक मूल्यवान हो जाती हैं परन्तु सभी आदिवासी इस नये बदलाव को संभाल नहीं पाते हैं। ऐसी हालत में वे सिंचाई का लाभ नहीं ले पाते हैं।

12.36 यही नहीं, बड़ी परियोजनाओं का एक और भी दुष्परिणाम होता है। उनके कारण नये अवसरों की जानकारी दूर-दूर तक फैल जाती है जिससे उनके लोभ में बाहर से बड़ी संख्या में लोग इन इलाकों में आ घुसते हैं। इसका सबसे दुःखद उदाहरण **कोरापुट** का है जहाँ पर सिंचाई की बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ ली गई हैं। यहाँ पर पहले तो कुछ आदिवासी लोग सिंचाई परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए। परन्तु उससे भी बड़ा विस्थापन उन परियोजनाओं के बन जाने के बाद जब सिंचाई के लिए पानी मिलने लगा तब से शुरू हुआ। विडम्बना यही रही कि सिंचाई का लाभ मिलने पर उन्हें अपनी जमीन को न संभाल सकने के कारण वहाँ से हटने के लिये मजबूर हो जाना पड़ा। इसप्रकार दोनों तरह की चपेट में आने के बाद उनके लिए अपनी जगह से हटने के बाद जंगल में जाकर फिर से अपनी परंपरा के अनुसार खेती करने के अलावा कोई चारा ही नहीं था।

12.37 यहाँ पर एक बात और भी कहना जरूरी है। राष्ट्रीय स्तर पर खेती के विकास के साथ जो मशीनों का उपयोग शुरू होता है उसका असर भी आदिवासी इलाकों पर बहुत बुरा पड़ा है, पड़ रहा है। प्रगत क्षेत्र के छोटे किसान अपनी खेती के अलाभकारी हो जाने से अपने खेतों को बड़े किसानों को देते जा रहे हैं जिन्हें बड़े किसान ट्रैक्टर इत्यादि से जोत सकते हैं। इस तरह एक ओर बड़े-बड़े फार्म स्थापित हो रहे हैं। परन्तु दूसरी ओर वे छोटे किसान उसी पैसे को लेकर पिछड़े क्षेत्र की ओर कूच कर देते हैं जहाँ सबसे नासमझ आदिवासी रहता है। उसके पास अच्छी जमीनें भी हैं जिनका वह मूल्य नहीं जानता, आज की तकनीक के संदर्भ में पूरा उपयोग भी नहीं करता है। और बाहरी लोग उनकी जमीन कहीं पैसे के बल पर और कहीं दूसरे हथकण्डे इस्तेमाल करके हथिया लेते हैं। आजादी के बाद आदिवासी इलाकों में बड़े-बड़े फार्मों की स्थापना इसी प्रक्रिया की अंतिम परिणति है। उदाहरण के लिए उत्तरप्रदेश के सोनभद्र जिले में वहाँ की स्थानीय स्थिति का फायदा उठाकर बाहरी लोगों ने हजारों एकड़ के फार्म बना लिये। यहाँ का आदिवासी कहाँ गया और अगर यही होता रहा तो आखीर में वह कहाँ जाएगा इसके बारे में भी मौन हैं। उसका अपना विकल्प साफ है। अपनी गुजर बसर करने के लिए जंगल में फिर से नई जमीन बनाना यही उसकी नियति है, यही उसकी मजबूरी भी है। हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में खेती के मशीनीकरण का यह दूसरा पहलू जिसका पूरा जोखिम आदिवासी पर ही पड़ रहा है, अनदेखा रह गया है। सच पूछो तो जानबूझ कर उसका जिक्र तक नहीं किया जाता है क्योंकि उससे निहित स्वार्थों को धक्का न भी लगे तो भी लज्जित होने की स्थिति तो आ सकती थी।

बिगड़ते वन, चुकता आधार और विकल्पहीन आदिवासी

12.38 इस तरह इन वन्य क्षेत्रों में जो भी हो रहा है, उसका वन और आदिवासी दोनों के लिये एक ही नतीजा हो रहा है कि वन छीजते जा रहे हैं और आदिवासी की जिंदगी का आधार चुकता जा रहा है। जैसे-जैसे संसाधन कम होते जा रहे हैं, उनका छीजना उतना ही तेज होता जा रहा है। आदिवासी के पास कोई और विकल्प न होने के कारण उसे जो कुछ है उसी का और भी अधिक सघन उपयोग करना पड़ रहा है जिससे संसाधनों की छीजन और भी तेज हो रही है।

12.39 एक और बात भी है। यह स्वाभाविक है कि जंगल में आदिवासी देख समझकर अच्छी जमीन पर ही खेती करता है। पर धीरे-धीरे बढ़ते दबाव के इलाकों में खेती योग्य अच्छी जमीन वनों में बची ही नहीं है। परन्तु फिर भी खेती की जमीन बढ़ाना आदिवासी की मजबूरी है। इसलिए वह जैसी भी जमीन मिलती है-हलकी, उबड-खाबड़ या पहाड़ी - इस पर खेती करना शुरू कर देता है।

ये जमीनें ज्यादा दिन साथ नहीं दे पाती हैं। पेड़ कट जाने से मिट्टी का कटाव तेज हो जाता है और धीरे-धीरे जमीन की उपज बहुत कम होती जाती हैं। बहुत सी जगह तो हालत इतनी खराब हो गई है कि बड़े-बड़े खेतो से भी दो जून रोटी तक नहीं मिल पाती है। उधर जंगल कम होते जाने से उनमें से कांदा फल या दूसरे लघु वनोपज भी नहीं मिल पाते हैं। वनों के आधुनिक प्रबंध में आदिवासी की उन पर निर्भरता का ध्यान ही नहीं रखा जाता है इसलिये अगर सागौन या यूकिलिप्टस का अच्छा वन हुआ भी तो उसका आदिवासी के लिये कोई उपयोग नहीं।

12.40 इस हालत में आदिवासी के सामने गुजारे के लिये दो ही रास्ते बच रहते हैं। कुछ लोग तो मेहनत मजदूरी करने के लिये देश छोड़ कर बाहर चले जाते हैं। ये लोग सिर्फ खेती के दिनों में ही देश वापिस आते हैं। दूसरे लोग जो बाहर नहीं आते हैं या नहीं जा सकते हैं उन्हें जंगल की ओर ही ताकना पड़ता है। वनों में जो कुछ भी मिल जाय उसे इकट्ठा कर बाजार में बेच कर वे अपना पेट पालते हैं। मध्यप्रदेश के झाबुआ, राजस्थान में प्रतापगढ़ या उड़ीसा में कालाहांडी जैसे कई इलाकों में बहुत से लोगों के लिये आसपास के जंगलों से लकड़ी काटकर बाजार में बेचना ही मुख्य धंधा बन गया। शाम की रोटी के लिए बेजार लोगों पर बंदिशों का कोई असर नहीं हो सकता। उसको बंदूक का भी कोई डर नहीं। उसके लिए आखिर रास्ता क्या है, भूखे मरे या बंदूक की गोली से मरे। सच तो यह है कि वन के स्थानीय कर्मचारी और कुछ वरिष्ठ अधिकारी भी उनकी इस मजबूरी को समझते हैं। वे उनकी इस तरह से गुजर बसर में बहुत ज्यादा छेड़छाड़ नहीं करते हैं।

12.41 जिंदगी की इस बेबसी की लडाई में आदिवासी मजबूरी में क्या क्या करता है, कैसे-कैसे रास्ते निकालता है, उसे सुनकर ही मन ग्लानि से भर उठता है। कहीं वह नदी के पार चांदनी रात में लकड़ी काटता है, रात को ही पानी में ढकेल कर तैराते हुए किनारे तक खींच लाता है। कहीं, वह शहर के किनारे पहुँचने तक बीहड़ रास्तों में रात के अंधियारे में ही सुरक्षित महसूस करता है। कहीं वह अधिक ढीठ हो गया है। जंगल के बीचों-बीच रेल को रोककर उसकी छतों पर लकड़ी रखकर पास के कस्बे की ओर चल देता है। और कहीं वह लकड़ी का गट्ठा कंधे पर बंहगी में लेकर तीन-तीन दिन पैदल चलता है। इन सब जोखिमों के झेलने के बाद उसे दो-चार रुपये नसीब होते हैं।

12.42 ऐसा नहीं कि जंगल की रखवाली के लिए तैनात सरकारी कारिंदों को यह कुछ नहीं मालूम। उनको उनके सभी रास्ते मालूम हैं और उनको उनकी मजबूरी भी मालूम है। वे उसकी टोह में रहते हैं। मौका देखकर उसको रास्ते में छेड़ते भी हैं। बहुत करके वह कुछ ले-देकर निपट लेता है। परन्तु अगर कहीं ज्यादा कड़ाई हुई तो पकड़े जाने पर जेल या पिटाई के डर से वह बेचारा गट्ठा छोड़कर जान बचाकर भाग निकलता है - भूखा प्यासा - इधर उधर सहमी निगाहों से देखता फिर से वहीं एक और गट्ठा लाने के लिये - इसी उम्मीद के साथ कि शायद इस बार वह इन दरिंदों की नजरों से बच जाय। परन्तु कहीं-कहीं उसके सिर पर भी आ जाती है। इस हालत में वह अपने पेट की आग बुझाने के लिये, अपनी जीविका की रक्षा के लिए तीर-कमान या टंगिया उठाने के लिये मजबूर भी हो जाता है - खून खराबा, जेल, यातना और फिर खुला विद्रोह,

12.43 इन इलाकों के चतुर-चालाक लोग इस घटनाचक्र को बड़े ध्यान से देखते रहे हैं। वे लोग आदिवासियों की मजबूरी को अच्छी तरह समझते हैं और उसका पूरा-पूरा फायदा उठाने का एक व्यूह बना लेते हैं। आदिवासी जब जंगल से जलाऊ लकड़ी लाता है तो उसे मिट्टी के मोल बेचनी पड़ती

है। यह सभी जानते हैं कि उसे मेहनत का मोल भी नहीं मिलता हैं। आज भी अगर रुपया दो रुपया रोज का पड़ जाय तो वह अपनी तकदीर सराहता है। उसमें सोचने की बात यह है कि इस सबसे आखिर फायदा किसको होता है ? **असली फायदा शहर-कस्बों में रहने वाले लोगों को होता है जिन्हें जंगल की लकड़ी उसकी ढुलाई की पूरी मजदूरी तक दिये बिना मुफ्त ही मिल जाती है।** उधर आदिवासी चोरी की जहमत उठाता है, जेल और पिटाई का जोखिम झेलता है, अंधेरी रात और चिलचिलाती धूप में कमरतोड़ बोझ ढोता है, तब भी दो रुपये रोज से ज्यादा नहीं पड़ता है और अपना पेट भी नहीं भर पाता है। इसका नतीजा यह होता है कि उसे और ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है और अधिक लकड़ी लानी पड़ती है। इस तरह जाहिर है कि जंगल का भी अधिक नुकसान होता है। जब किसी जंगल में सूखी लकड़ी नहीं बचती है तो आदिवासी हरे पेड़ डालियों को काटकर डाल आता है या पेड़ों के तने में काट (लगा) देते हैं जिससे वह सूख जाय। बाद में इसे वह सूखी लकड़ी की तरह ले जा सकता है।

12.44 उसकी इस हालत का बदमाश लोग फायदा उठाते हैं। वे लोग आदिवासियों को लोभ देकर अच्छी लकड़ी काटने के लिए उकसाते हैं। इसमें दो बातें होती हैं। एक तो जलाऊ की बजाय इमारती लकड़ी काटने पर आदिवासी को कम मेहनत में ज्यादा आमदनी होती है। दूसरे उसे जंगल के कारिंदों की झंझट से भी छुट्टी मिल जाती है। इसमें आदिवासी को तो दो रुपये की बजाय दस रुपये मिल जाते हैं परन्तु बदमाशों को सैकड़ों या हजारों रुपयों का फायदा हो सकता है। यही नहीं, आदिवासी थोड़ाज्यादा पैसा मिलने के लालच में इमारती लकड़ी काटता है और किसी भी जोखिम के लिए तैयार रहता है। इस हालत में, अगर कभी कोई फँसता है तो आदिवासी, उसी को जेल भुगतनी पड़ती है। बदमाश पर कोई आंच नहीं आती है।

12.45 कई जगह तो सरकारी कर्मचारी व्यापारियों से मिलकर इस धंधे में कुछ अपना हिस्सा भी मुकर्रर कर लेते हैं जिसमें सभी को फायदा ही फायदा कोई झंझट ही नहीं। यहीं नहीं, जब इस तरह से जंगल की कटाई होती है तो कस्बों में पढ़े लिखे लड़के तक जलाऊ के बहाने इमारती लकड़ी के गट्ठे बनाकर साइकिलों के कैरियर पर बांध कर ले आते है और दिन में सौ पचास रुपये बना लेते हैं। इसी तरह कई इलाकों में जंगलों के अंदर लकड़ी का कोयला बनाने का धंधा भी बड़े पैमाने पर चल रहा है। उसमें भी आदिवासी को दो रूपये ही मिलते हैं, जंगल का सफाया हो रहा है और कुछ लोग रातोंरात लखपति/करोड़पति बन रहे हैं।

12.46 आज हालत यह है कि बहुत से इलाकों में जंगल बचे ही नहीं हैं। उदाहरण के लिये राजस्थान में उदयपुर के आसपास पूरा इलाका वीरान लगता है। पेड़ों के खतम हो जाने के बाद अब यहाँ आदिवासी, पेड़ों की जड़ें खोदकर, उसे जलाऊ के रूप में या उनका कोयला बनाकर बाजार ले जाते हैं और किसी तरह गुजर कर रहे हैं। इसके बाद कल क्या होगा उन्हें नहीं मालूम ? इस तरह न केवल जंगलों को खतम हो जाने से पर्यावरण पर बुरा असर पड़ रहा है वरन् खुद आदिवासी की जीविका का आधार ही खतम हो गया है।

12.47 जब हम वनों पर अंदरूनी और बाहरी दोनों तरह के दबावों को देखते हैं तो एक बात साफ हो जाती है। जहाँ एक ओर वनों पर बढ़ती आबादी के अंदरूनी दबाव के कारण नुकसान को नकारा नहीं जा सकता वहीं उन अंदरूनी दबावों से वन कहीं भी अब तक न एकाएक खतम हुए हैं और न एकाएक खतम हो सकते है। अंदरूनी दबावों के कारण वनों के नुकसान की एक लम्बी प्रक्रिया होती है। परन्तु बाहरी दबावों का रूप इससे बिल्कुल भिन्न है। किसी भी इलाके के स्थानीय संदर्भ

में उनका आकार इतना बड़ा हो जाता है कि उनका साया जहाँ भी पड़ने लगता है वहाँ जंगलों का सफाया होता जाता है। **परन्तु इन बाहरी दबावों को या तो विकास के नाम पर जायज़ मान लिया जाता है अथवा उन्हें राजनीतिक या उसूलों का जामा पहना दिया जाता है या फिर निजी स्वार्थ के कारण उनको अनदेखा कर दिया जाता है। इसलिये जब भी वनों के विनाश की बात चलती है सबकी चर्चा का एक ही विषय होता है और वह है आदिवासी। बाकी सब कुछ भुलाकर पूरा दोष उसी पर मढ़ दिया जाता है।** इस माहौल में उसी पर बंदिशे लगाकर सरकार अपने मन को समझा लेती है कि वनों के बचाव-बढ़त की जिम्मेदारी पूरी हो गई।

12.48 **आदिवासियों के क्रियाकलापों पर बंदिशे लगाने से कोई खास लाभ नहीं निकला है, न निकल सकता है। वह जो कुछ करता है अपनी जरूरत के लिये करता है, आशाइशों के लिये नहीं। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जब तक समाज और व्यवस्था के बीच कोई तालमेल नहीं होता तब तक व्यक्ति पर व्यवस्था के अंकुश लगा सकने की संभावना नगण्य ही है। आदिवासी समाज अभी** भी एक जीवन्त कार्यकारी इकाई है और व्यक्ति जो भी करता है उसके लिये अगर समाज की **सजग सहमति न भी हो तो उसकी मौन सहमति तो होती ही है। इसलिये सामाजिक समर्थन के रहते व्यवस्था का अंकुश नाकाम हो जाता है।**

12.49 **परन्तु सबसे खेदजनक बात तो यह है कि समाज की अस्मिता को न मानकर उसके साथ उसकी सहमति के अनुसार काम न करने से उसके स्थानीय वनों से सीधा और प्रभावी संबंध की वास्तविकता को भी नकार दिया जाता है।** व्यवस्था की नजर में वन सरकारी हैं समाज को उससे कोई लेना देना नहीं है। परन्तु वन सरकारी है इसका तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक कि उस पर व्यवस्था का नियंत्रण समुचित और कारगर न हो। इतने विशाल दुर्गम इलाके में किसी तरह का औपचारिक नियंत्रण स्वयं अपने आप में पर्याप्त और कारगर हो नहीं सकता है। वनों को व्यवस्था के नियंत्रण में लाने और उसके प्रबंध को व्यवस्थित करने के लिये कई तरह के प्रयास हुए हैं। आजादी के बाद अमले में भी भारी वृद्धि हुई है। परन्तु वनो के विस्तार को देखते हुए आज भी वह नगण्य है और अधिक अमले के विस्तार से भी इस स्थिति में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आ सकता है।

12.50 चूँकि व्यवस्था का पूरा भरोसा अपने सीधे प्रबंध पर है, समाज उस प्रबंध व्यवस्था से कट जाता है। यही नहीं कुछ अपवादों को छोड़कर उसके द्वारा उसमें किसीप्रकार की दखलंदाजी भी अखरती है। ऐसी हालत में वनों की हालत **आज एक ऐसी सार्वजनिक संपत्ति की तरह हो गई है जिसका कोई देखने-सुनने वाला नहीं है और है भी तो बहुत दूर जिसकी उसके बारे में कोई खास भूमिका नहीं। इसलिए इस सार्वजनिक संपत्ति को जो चाहे जैसा उपयोग कर रहा है जो चाहे जैसा अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहा है।**

12.51 कहीं-कहीं स्थानीय समाज भी गैर-जिम्मेदारी का रवैया अपना सकता है, उसमें भी अलग-अलग हित हो सकते हैं। समाज की स्पष्ट भूमिका न होने से गैर-जिम्मेदारी के बर्ताव पर किसी प्रकार का अंकुश भी नहीं लग पाता है। इस तरह के व्यवहार का एक बड़ा ही खेदजनक उदाहरण पश्चिमी बंगाल के पुरुलिया जिले का है। कुछ इलाकों में नियोजित रूप से जंगल की लूट एक अरसे तक होती रही है। किसी गाँव के लोग एक दिन तय करते हैं कि अमुक जंगल को लूटना है। गाँव के सभी लोग निश्चित समय पर वहाँ पहुँच जाते हैं और पूरा जंगल काट डालते हैं। जो जितनी कटाई कर सकता है कर लेता है फिर लकड़ी को खुले आम बाजार में बेच देते हैं। इसमें कहीं-कहीं तो उन जंगलों पर गुजर बसर करने वाले लोगों का क्या होगा इसका भी कोई ख्याल नहीं रखा जाता है। गाँव के ताकतवर लोगों को कुछ तुरत-लाभ **हो जाता है, जंगल** खतम हो जाते है और उन पर जिंदगी बसर करने वालों का सहारा टूट जाता है।

12.52 इस तरह के कुछ गैर जिम्मेदारी के उदाहरण होते हुए भी आमतौर पर हालत यही है कि आदिवासी का वनों के प्रति अपनेपन का ही रवैया है। अगर कहीं उसे वन काटना होता है तो वह मजबूरी में अपनी जिंदगी चलाने के लिये उसकी ओर देखता है। परन्तु दूसरे लोग विकास के नाम पर या तुरत लाभ कमाने के लिये उसे तहस नहस कर रहे हैं जिसमें आदिवासी को या तो अनदेखा कर दिया जाता है या उसी को हथियार बना लिया जाता है। आदिवासी समाज इसको समझता है पर एक तो विकल्प न होने की मजबूरी। **दूसरी सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि जिम्मेदारी का अहसास हो भी कैसे जब उनकी भूमिका ही नहीं और उनकी कोई सुनता ही नहीं।** कहीं अगर वे पहल करते भी हैं जैसे बासवाडा में एक जगह लोगों ने जंगल के भीतर जमीन पर एक बड़े आदमी के अतिक्रमण को हटाने की कोशिश की तो उनको यह कह दिया गया कि तुम क्या डी।एफ।ओ। हो ? उनके द्वारा और ज्यादा जिद करने पर उन्हें नक्सलवादी करार दिया जाता है।

12.53 जंगल न कटने देने के लिये उत्तराखंड में **चिपको आंदोलन** हुआ, उसे दुनिया भर से समर्थन भी मिला। परन्तु इसके बावजूद जंगल कटाई की नीति और उसके प्रबंध में बदलाव नहीं आया। दूसरे स्वार्थ अधिक ताकतवर सिद्ध हुए हैं। जब बाँसवाड़ा, खम्मम या बस्तर में लोगों ने वनों की दुर्दशा देखकर और अपनी जरूरतें पूरी करने के लिये **उसमें फिर से पेड़ लगाने की बात की, पेड़ लगाए तो उसे औपचारिक रूप से वनभूमि पर अतिक्रमण माना गया और उस अतिक्रमण को हटाने के लिये लगे लगाए पेड़ों को विभाग की ओर से काट दिया गया।** खम्मम में जब लोगों ने वन विभाग के अधिकारियों के खिलाफ पेड़ काटने के लिये कानूनी कार्रवाई करने की चुनौती दी तब वन विभाग के द्वारा उन "अवैध पेड़ों" की कटाई रुक सकी। इसके लिये वन विभाग का तर्क यही रहता है कि लोग आज जिस जमीन पर पेड़ लगाएँगे, कल उसी के बहाने उस जमीन पर अपना स्वामित्व नहीं कायम कर लेंगे, इसकी खातरी कैसी हो सकती है। इसलिए लोगों से वनभूमि की रक्षा करने के लिये "अवैध पेड़" कटना भी जरूरी हो सकता है।

12.54 **इस तरह एक ओर तो वनों की बिना देखरेख की सार्वजनिक संपत्ति की तरह से लूट जैसी मची हुई है परन्तु दूसरी ओर स्थानीय समाज पर इतना अधिक अविश्वास है कि उनका वन में जाना यहाँ तक कि उजाड़ वन भूमि में पेड़ तक लगाना भी अपराध है। इसी अपनेपन और अविश्वास की कमी के कारण वनों की हालत बिगड़ती जा रही है, लोगों की जिंदगी का आधार छीजता जा रहा है, उसके सुधार के लिये कानून और औपचारिक प्रबंध नीतियों का सहारा लिया जा रहा है जिनमें बुनियादी विसंगति के दूर न होने के कारण कोई खास सफलता नहीं मिल पा रही है।**

आदिवासियों की भागीदारी के प्रयोग

(क) वन श्रमिक सहकारी समितियाँ

12.55 आजादी की लड़ाई के दौर में अंग्रेजों के द्वारा वनों पर कब्जा कर लेने का विरोध किया गया था और वनों से वहाँ के रहने वाले लोगों की जिंदगी बसर करने के अधिकार को आमतौर पर सिद्धांत रूप में माना गया था। इसी मान्यता के तहत आजादी के बाद वनों के प्रबंध और उसके लाभ में हिस्सेदारी का एक महत्वपूर्ण प्रयोग वन श्रमिक सहकारी समिति के रूप में किया गया। वैसे तो इस मामले में कई राज्यों में पहल हुई थी। परन्तु महाराष्ट्र और गुजरात में यह मुहिम काफी आगे बढ़ा। इस कार्यक्रम के अंतर्गत इन समितियों को जंगल काटने के ठेके दिये जाते हैं और उसमें जो शुद्ध लाभ होता है उसका एक हिस्सा, कहीं-कहीं 20 प्रतिशत, सहकारी समिति को मिलता था। शुरू

में इन समितियों ने बड़े उत्साह से काम किया। वनों की कटाई से ठेकेदारों के हट जाने से कई तरह की अनियमितताओं का खातमा भी हुआ। श्रमिकों को न केवल ठीक मजदूरी मिलने लगी परन्तु उसके साथ अच्छा बोनस भी मिल जाता था। इसका सबसे बड़ा लाभ हुआ स्थानीय नेतृत्व का उभार।

12.56 परन्तु यह आदर्श व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल पाई। एक तो उसका चालन धीरे-धीरे नेमी होता गया। दूसरे इन समितियों की आदिवासी मजदूरों से अलग अपनी ही एक नई पहचान बनने लगी। उसके प्रबंधकों का दर्जा भी अलग हो गया। इस प्रक्रिया में समितियों का प्रमुख उद्देश्य हो गया अधिक से अधिक लाभ कमाना जिसका सबसे सरल उपाय होता है मजदूरी में बचत। गुजरात के डाँग जिले में मेरे सामने हाल में ही (1988) मजदूरों ने प्रबंधकों के सामने-सामने अनेक शिकायतें की जिसमें लाभांश में घपलों के अलावा एक प्रमुख खेदजनक शिकायत थी न्यूनतम मजदूरी का न मिलना। श्रमिकों और प्रबंधकों के बीच अलगाव का इससे ज्यादा सटीक और स्पष्ट उदाहरण और नहीं हो सकता है।

12.57 हमारे देश के अधिकांश प्रयोगों की तरह इस मामले में भी लीक का पालन प्रमुख बन गया और उसकी भावना की अनदेखी हो गई । इस कारण इस प्रयोग की गतिशीलता खतम हो गई। उधर वनों के कम होते जाने से और वनों के प्रबंध में पर्यावरण के प्रति अधिक ध्यान देने से समितियों को मिलने वाला काम भी कम हो गया। समितियों में सदस्यता भी एक विशेषाधिकार जैसी हो गई जिसका गलत उपयोग भी होने लगा। इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम हुआ इन संस्थाओं के नैतिक अधिकार में कमी, जिसके कारण वे सरकार की अनुकम्पा पर निर्भर हो गई।

12.58 उधर वन विकास निगमों की स्थापना के बाद कई जगह निगमों ने वनों की कटाई का काम अपनी देखरेख में करना शुरू कर दिया। उनका कहना था कि जब ठेकेदारों से काम कराने की प्रथा थी तो समितियों को काम देना वाजिब था। परन्तु समितियाँ भी तो एक तरह की ठेकेदार ही थीं जिन्हें लाभांस में हिस्सा मिलता था। जब निगम स्वयं काम कराने को तैयार है तो किसी भी तरह के ठेकेदार की जरूरत कैसी ? अभी हाल में महाराष्ट्र ने समितियों को लाभांश देने की नीति में भी परिवर्तन किया है जो मूल भावना के विपरीत है।

12.59 वन श्रमिक सहकारी समितियों का महत्वपूर्ण प्रयोग जंगलों को काटने की हिस्सेदारी में रह गया। उसमें श्रमिकों को कुछ लाभ जरूर मिला। परन्तु उसकी मूल भावना अर्थात् वनों के रखरखाव में भागीदारी अनदेखी रह गई। अगर ठेकेदारों को वनों के कामकाज से निकालने के बाद वनों के रखरखाव और उनको समृद्ध बनाने के लिये स्थानीय समाज की हिस्सेदारी सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया होता तो आदिवासी और वन प्रबंधकों के बीच अविश्वास की भावना न होकर विश्वास और सदाशयता का निर्माण हुआ होता जो सभी के हित में होता।

(स) पश्चिम बंगाल का अरबारी प्रयोग

12.60 प्रशासन और लोगों के बीच भागीदारी का एक अच्छा प्रयोग पश्चिम बंगाल में हुआ है जिसका जिक्र करना उचित होगा। मिदनापुर जिले के अरबारी गाँव में स्थानीय अधिकारियों ने जंगल को बचाने के लिए लोगों को साथ लेकर काम करने का फैसला किया। अधिकारियों ने लोगों को यह वायदा किया कि अगर वे जंगल बचाने की जिम्मेदारी लेते हैं तो वनों से होने वाली आमदनी में उनकी भी हिस्सेदारी होगी। इस तरह की आपसी तौर पर की गई व्यवस्था में सफलता स्वाभाविक है। यह प्रयोग कई दूसरे गाँवों में भी शुरू हुआ और उसके परिणाम अच्छे निकले हैं। इसमें सबसे महत्वपूर्ण

बात यही थी कि यह पूरी व्यवस्था अनौपचारिक थी जिसमें स्थानीय समाज की पूरी-पूरी जिम्मेदारी थी और उसमें दूसरे किसी का भी - मुखिया या अधिकारी-हस्तक्षेप नहीं था। इस प्रयोग में भी पहला विवाद तब आया जब जंगल कटाई के लिये तैयार हुए। लोगों और प्रशासन के बीच कोई लिखित इकरार नहीं था, इस भागीदारी के लिये सरकार के भी कोई औपचारिक आदेश नहीं थे। मैं जब स्वयं एक गाँव में गया तो लाभांश में हिस्सेदारी का अर्थ क्या है इस पर अधिकारियों और लोगों के बीच बहस चल रही थी। अधिकारियों का कहना था कि उन्होंने लोगों को पाँचवा हिस्सा देने की सिफारिश की थी। परन्तु लोगों का कहना था कि हिस्सेदारी तभी सही मानी जा सकती है जबकि दोनों पक्ष बराबर हों। स्थानीय अधिकारी उनके तर्क का कोई समाधानकारक उत्तर नहीं दे पा रहे थे। परंतु वे कुछ कह भी नहीं सकते थे क्योंकि उन्हें सरकार आधा हिस्सा देने की बात मान लेगी इसका भरोसा नहीं था।

12.61 यहीं पर आकर सरकार और लोगों के नजरिये में फर्क और लोगों की जिंदगी से जुड़े बुनियादी सवालों को औपचारिक और कानूनी रूप में देखने की प्रवृत्ति के दुष्परिणाम साफ हो जाते हैं। यह जाहिर है कि इन इलाकों में औपचारिक ढंग से वनों की रक्षा संभव नही थी। ऊपर मैं "जंगल लूट" की प्रथा का जिक्र कर चुका हूँ जिसके सामने प्रशासन वनों को बचाने में लाचार हैं। वनों के रखरखाव में सबसे बड़ा सवाल और उद्देश्य वनों की समृद्धि का है। उससे होने वाली आमदनी का स्थान गौण ही नहीं बिल्कुल आनुषंगिक ही माना जा सकता है। यदि स्थानीय समाज अपने आसपास के वनों को बचाने और उन्हें समृद्ध करने में सफल हुआ है और उसको उसका पूरा लाभ भी दे दिया जाय तो राज्य को कोई हानि तो नहीं होती। इस मामले में जो भी लाभ हो रहा है वह तो लोगों की पहल के ही कारण संभव हुआ। और यदि लोगों को यह अहसास हो जाय कि वे वन उनकी अर्थ-व्यवस्था के अंग हैं तो वे हमेशा-हमेशा के लिए उनके रखरखाव और समृद्धि के लिये आतुर होंगे। हाँ, एक एहतियात जरूरी होगा कि कहीं किसी मौके पर निहित स्वार्थ समाज को उसके दीर्घकालीन हितों की अनदेखी करके तुरतसिद्ध के लोभ में फँसाकर वनों का खात्मा ही न करवा दे। वैसे जो यदि समाज को यह अहसास हो कि वनों के बारे में उसका निर्णय अंतिम है तो इसकी संभावना बहुत कम होगी। परन्तु आज की पेचीदी व्यवस्था में अपने आप अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने की संभावना को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। परन्तु इसके लिये शासन उचित व्यवस्था कर सकता है।

12.62 लाभांश की हिस्सेदारी के बारे में पहले तो ऐसा लगा कि शायद राज्य सरकार बराबर हिस्से का सिद्धांत मान ले। परन्तु 15 अगस्त 1989 को एक सरकारी आदेश निकला, जिसमें लोगों को चौथाई हिस्सा देने का फैसला किया गया जो मेरे मत में उचित नहीं है। इस आदेश में इस पूरी व्यवस्था को औपचारिक रूप भी दिया गया है। गाँव के स्तर पर वन संरक्षण समितियों का गठन किया गया है जिसमें गाँव के लोगों के अलावा मंडल के सदस्य और वन विभाग के अधिकारी शामिल हैं। यह औपचारिक व्यवस्था देखने में ठीक लगती है परन्तु वह पहले की अनौपचारिक व्यवस्था से एक अर्थ में बिलकुल अलग है। पहले की व्यवस्था में पूरे अधिकार अनौपचारिक रूप से ही सही, गाँव समाज के थे जिनका विभाग के अधिकारी आदर करते थे। लोगों को यह मालूम ही नहीं, इसका अनुभव भी था, कि उनका अपना निर्णय वन के रखरखाव के सभी मामलों में अंतिम होगा या उनकी सहमति के बिना कुछ नहीं होगा। उनकी सहमति ही उस सहभागी व्यवस्था की बुनियाद थी।
अब उसकी जगह पर जो औपचारिक व्यवस्था बनाई गई है उसमें निर्णय एक समिति के हाथ में

होगा जिसमें गाँव समाज के बाहर के तत्व भी शामिल हैं। हो सकता है कि यह समिति भी विवेक से काम ले और वनों के रखरखाव और बढ़त में सफल हो। परन्तु नई व्यवस्था में इस संभावना को भी नजरअंदाज नही किया जा सकता है कि समिति का फैसला गांव समाज की समझ के विपरीत हो। गाँव समाज के पास कोई ऐसा अधिकार नहीं है जिसमें वह समिति को अपना निर्णय मनवाने के लिये मजबूर कर सके। इस हालत में पूरी व्यवस्था पर गाँव समाज का नैतिक दबाव नहीं रहेगा और यह समिति इस बड़े दायित्व को निभाने में सफल नहीं हो पायेगी। मेरे मत में **वन के रखरखाव और बढ़त के मामले में गाँव समाज की जिम्मेदारी निर्णायक है और उसी को यह जिम्मेदारी दी जानी चाहिए। यही पश्चिमी बंगाल का बीस साल अनुभव भी है। वन प्रबंध समिति को गांव समाज के प्रति जिम्मेदार किया जाय और उसमें गाँव के बाहर के लोग केवल सलाहकार के रूप में रहें सदस्य के रूप में नहीं जिससे गाँव समाज यह अहसास कर सके कि उनका निर्णय ही अंतिम होगा।**

(ग) सामाजिक वानिकी

12.63 स्थानीय समाज की वनों के रखरखाव और समृद्धि में सहभागिता के लिये राष्ट्रीय स्तर पर एक बहुत बड़ा कार्यक्रम सातवें दशक से चालू किया गया है। इस कार्यक्रम की एक खासियत यह है कि लोगों की वनों पर अपनी दैनिक जरूरतों के लिये निर्भरता की वास्तविकता को इसमें स्वीकारा गया है। परन्तु इस के साथ ही एक दूसरी वास्तविकता यह भी है कि यदि वनों पर दबाव अभी जैसा ही बना रहा तो वन खतम होते जाएँगे। और यह दबाव तब तक नहीं कम होगा जब तक लोगों को अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिये कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं होगी। इसी पृष्ठभूमि में सामाजिक वानिकी का कार्यक्रम बनाया गया था। इस कार्यक्रम में लोगों के साथ मिलकर उनकी रोजमर्रा की जरूरतों को पूरा करने के लिये नये वन लगाने और आरक्षित वनों के बाहर बिगड़े वनों को सुधारने की तजवीज की गई है। धीरे-धीरे लोगों की रोजमर्रा की जरूरतों को जैसे जलाऊ लकड़ी रिहाईश के लिये बांस-बल्ली, औजारों के लिये लकड़ी, चराई वगैरह शामिल है, धीरे-धीरे सामाजिक वानिकी से पूरा किए जाने की उम्मीद की गई है। इससे कुछ समय के बाद आरक्षित वनों पर आबादी का कोई दबाव ही नहीं रहेगा।

12.64 देखने में यह सोच भला लग सकता है, परन्तु इसका मतलब काफी गहरा है। चूँकि आरक्षित वनों का प्रबंध पुराने तरीके से ही चल रहा है इसलिये इसका एक अर्थ यह भी है कि **अब आगे से आरक्षित वनों से स्थानीय लोगों की जरूरतें नहीं पूरी की जाएँगी और उन वनों से सिर्फ आधुनिक क्षेत्र की जरूरतें ही पूरी की जाएँगी। इस तरह-आरक्षित वन आधुनिक क्षेत्र के लिये और सामाजिक वानिकी स्थानीय समाज के लिये, - वनों के प्रबंध की दो नितांत अलग व्यवस्थाएँ प्रस्तावित हैं।** यह निर्णय न केवल सैद्धान्तिक स्तर पर दुर्भाग्यपूर्ण था वरन् व्यवहारिक रूप में भी उपयुक्त नहीं था। कोई योजना बनाने मात्र से तो काम हो गया यह माना नहीं जा सकता। परन्तु सामाजिक वानिकी का कार्यक्रम आ गया इसलिये आरक्षित वनों का प्रबंध कठोर होने लगा और लोगों की जरूरतें वहाँ से पूरी किये जाने पर बंदिशें कड़ी होती गई। जिन इलाकों में लोगों की जरूरतें हमेशा से आरक्षित वनों से पूरी होती रही है। उन्हें एकाएक उनसे अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिए सभी दूर मौके पर टकराव की स्थिति बन गई है।

12.65 इसके अलावा सामाजिक वानिकी के कार्यक्रम में भी लोगों की सहभागिता की औपचारिकता जरूर निभाई गई परन्तु उसकी असलियत कुछ और ही रही। इस कार्यक्रम में स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से काम कराया गया परन्तु **पंचायत समिति तो आम लोगों का पर्याय नहीं है।** इसलिये पहले

पहले तो बहुतकर सामाजिक वानिकी के कार्यक्रम स्थानीय जरूरतों के मुताबिक बने ही नहीं। दूसरे उसमें लोगों की राय का कोई ध्यान नहीं रखा गया और कई जगह तो आँख बंद करके खेती की जमीन और चारागाह तक में सामाजिक वानिकी शुरू की गई। आम लोगों का सामाजिक वानिकी से नजदीकी रिश्ता नहीं बन पाया। इसका परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक वानिकी से लोगों को तत्काल अड़चन आई, उसके दीर्घकालीन महत् उद्देश्यों के बावजूद लोगों से मौका मिलते ही पेड़ों तक को उखाड़ फेंका और जमीन पर फिर से कब्जा कर लिया। इस तरह यह नहीं कहा जा सकता है कि अब तक सामाजिक वानिकी में कोई खास सफलता हासिल हुई है।

12.66 आरक्षित वनों को धीरे-धीरे पूरी तरह से आधुनिक व्यवस्था की जरूरतों को पूरा करने के लिये अलग रखने का यह विचार पिछले दो दशकों से चल रहा था। परन्तु इसके साथ ही पर्यावरण की बिगड़ती हालत को देखते हुए वनों के बारे में विचारणा में एक बुनियादी बदलाव की जरूरत भी सामने आ रही है। अंग्रेजों ने जब से वनों पर अपना अधिकार कायम किया था वानिकी कार्यक्रम एक तरह से आर्थिक दृष्टि से फायदेमंद पेड़ों के प्लांटिशनों का पर्याय हो गया था। सभी दूर भरे पूरे प्राकृतिक वनों को काट कर आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान पेड़ लगाए जा रहे थे। आदिवासी लोग इस नीति का शुरू से ही विरोध करते रहे हैं। प्राकृतिक वनों से उनकी सैकड़ों जरूरतें पूरी होती थीं, हर पौधा उनके लिये मूल्यवान था। परन्तु सरकार के लिये उनका कोई मूल्य नहीं। इसी तरह जो पेड़ सरकार लगाती थी वे लोगों के लिए बेकार ही नहीं हानिकारक भी थे। सागौन में साया तक नहीं होती, यूकिलिप्टस के नीचे घास तक नहीं उगती। सरकार ने आदिवासियों की इन बातों की ओर जो ध्यान नहीं दिया परन्तु पर्यावरण के संबंध में एक बात साफ हो गई कि पर्यावरण में प्राकृतिक वनों का महत्व है वही उसके लिये निर्णायक है। इसलिए नई वन नीति में आर्थिक प्लांटिशनों को वनों की गिनती से बाहर कर दिया गया है। इसी तरह अभी तक वनों को औद्योगिक प्रतिष्ठानों की जरूरतें पूरा करने के लिये एक स्रोत माना जाता रहा है। यही नहीं उन्हें वनों की उपज रियायती दरों पर दी जाती थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, वनों की भारी तबाही इसी कारण हुई है। नई वन नीति में वनोपज पर आधारित उद्योगों को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिये वनों के बाहर आवश्यकता के आधार पर खुद वन लगाने की तजबीज की गई है। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

12.67 वन नीति के इस पूरे सोच में वनों से आदिवासी जीवन के अंतरंग रिश्ते को नजरअंदाज कर दिया गया। यह ठीक है कि नई बन नीति में आदिवासी लोगों की जरूरतों को पूरा करना और वनों की उपज पर उनके पहले हक की बात की गई है। परन्तु उसके साथ ही उसके लिए औपचारिक व्यवस्था और बाजारू संबंधों की बात करके उसे व्यवहार रूप में एक तरह से नकार ही दिया गया है। यही नहीं कानून और प्रशासन की व्यवस्था उस नीति से बिलकुल अलग है जो और भी सख्त होती जा रही है।

12.68 वन संरक्षण अधिनियम 1980 के लागू होने के बाद लोगों के सभी तरह के वनों के उपयोग पर एकाएक बंदिशे लगना शुरू हो गई। घने वनों के इलाके में भी लोग कंदमूलफल लेने के लिए अंदर नहीं जा सकते। उनमें जानवर चराने की मुमानियत हो गई। लोग कहते है कि वे पान-पत्ता या दातून तक वहाँ से नहीं ला सकते हैं। इन सबके बिना उनकी जिंदगी ही नहीं चल सकती है। इसका नतीजा, जैसा मैं कई बार जिक्र कर चुका हूँ एक ही है - कहीं घूसखोरी में इजाफा और कहीं टकराव। दूसरी और इन बंदिशों के कारण बहुत से इलाकों में विकास के जो थोड़े बहुत कार्यक्रम चल भी रहे थे वे भी एकाएक ठप हो गये। कहीं सिंचाई की योजना पूरी तैयार है परन्तु

वह इसलिए बंद कर दी गई कि उसकी डुबान में वन आ रहा है। कहीं पानी से लबालब भरे तालाब का उपयोग केवल इसलिए नहीं हो पा रहा है कि उसका निकास आरक्षित वन में से है। इसीतरह पहुँच सड़कें नहीं बन सकती थी, बिजली के तार नहीं डाले जा सकते हैं। और तो और, बच्चों के लिये स्कूल और मरीजों के लिए अस्पताल वन भूमि के अलावा और जमीन न होने की वजह से नहीं बनाए जा सकते। लोगों में इसके खिलाफ बड़ी तीखी प्रतिक्रिया हुई है। आदिवासी पंचों के राष्ट्रीय सम्मेलन में भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में यह स्वीकार किया था कि नई व्यवस्था से न वन बचे है न लोगों की तकलीफ दूर हुई है और न वन ही बढ़ रहे हैं।

12.69 संक्षेप में यह साफ है कि आबादी का अंदरूनी दबाव एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जो कि मानव सभ्यता के शुरू से ही चली आ रही है। जो समाज स्थिर खेती या उससे आगे की अर्थव्यवस्था में पहुँच चुके हैं वहाँ आबादी बढ़ने के साथ जिंदगी बसर करने के दूसरे धंधे भी मिल सकते हैं। लेकिन अभी आदिवासी की अर्थव्यवस्था स्थिर खेती तक भी ठीक-ठीक नहीं पहुँची है और कई जगह खेती से पहले की हालत में है। इसलिये जब तक आदिवासी को अपनी जिंदगी बसर करने के लिये दूसरे रास्ते सुलभ नहीं हो जाते हैं, और सुलभ होने से ही काम नहीं चलेगा। जब आदिवासी उसके लिये तैयार नहीं किया जाता तब तक उसके सामने जंगल में खेती बढ़ाने के अलावा और कोई चारा ही नहीं है। जहाँ तक वनों पर बाहरी माँगों के दबाव का सवाल है उनमें से बहुत सी माँगे जिंदगी की बुनियादी जरूरतें नहीं है इसलिए उनको कम किया जा सकता है, खतम भी किया जा सकता है। बहुत सी माँग तो उपभोगवादी लिप्सा की आग है जिसके लिये, न पर्यावरण की दृष्टि से और न मानवीय पहलू को देखते हुए, कोई औचित्य है।

12.70 वनों के विकास-बिगाड़ के समीकरण में आज मुख्य सवाल है पर्यावरण और आदिवासियों की जरूरतों में तालमेल का होना। यदि ऐसे किसी भी सोच के मुताबिक कोई योजना बनती है जिसमें आदिवासियों की आज की समस्याओं का हल न हो तो उसमें कामयाबी हो ही नहीं सकती। स्थानीय समाज की आज की आवश्यकताओं को पूरा करके ही हम पर्यावरण को बचा सकते हैं, उनके सहयोग से ही एक सुनहरे कल की रचना कर सकते हैं।

संसाधनों पर अधिकार - 6
वनों के मामले में इंसाफ का रास्ता

वनों पर अधिकार और उनके उपयोग को लेकर आदिवासियों और सरकार के बीच आज के टकराव की स्थिति को समझने और उसका संतोषजनक हल खोजने के लिए इस पूरे विषय को तीन संदर्भों में देखना जरूरी होगा - (1) आदिवासियों का हित (2) देश का विकास और (3) पर्यावरण का बचाव और सुधार। इसी तरह इस पूरे मामले को आज के कानून, संवैधानिक व्यवस्था, मानव अधिकार और सामाजिक न्याय के नजरियों से भी देखना जरूरी होगा। जहाँ ये सभी सैद्धान्तिक चर्चाएँ स्पष्टता के लिए जरूरी हैं परन्तु सबसे ज्यादा जरूरी है आज के उलझाव का तत्काल निकाल। कहीं ऐसा न हो जाय कि एक बार फिर यह मामला उसूलों की बहस और सरकारी फाइलों में अटक जाय। **अगर आदिवासी इलाकों की उलझन का कोई ऐसा व्यावहारिक हल तत्काल नहीं निकाला जाता है जो लोगों को मंजूर हो तो लोगों और सरकार के बीच इस टकराव में सब कुछ खत्म हो जायेगा, न जंगल बचेंगे और न आदिवासी के लिएही चैन से जिंदगी बसर करने का अवसर। देश के विकास में उनकी सहभागिता की बात एक अच्छा मंसूबा बनी रह जायेगी।**

देशहित और आदिवासियों का हित

13.2 जहाँ तक देश का हित और आदिवासी हितों का सवाल है, उसूलन इन दोनों में कोई अंतर हो ही नहीं सकता है। परन्तु फिर भी अगर संसाधनों पर अधिकार और उनके उपयोग को लेकर देशहित और आदिवासी हितों में उम्र से कोई भेद या टकराव हो भी तो हमें उसकी तह में जाना होगा। यह स्थितितभी हो सकती है जबकि नई अर्थव्यवस्था में उन संसाधनों से जीविका चलाने वालों के लिये उचित हकदारी का या तो ध्यान ही न रखा गया हो अथवा वे संसाधन इस हालत में ही न हो कि लोग उस हकदारी का फायदा उठा सकें। दोनों ही हालतों के लिये व्यवस्था अपनी जिम्मेदारी नहीं नकार सकती है - आखिर जब संसाधनों पर व्यवस्था का ही एकाधिकार है तो यह स्थिति बनी कैसे ? इसके लिये तीन कारण हो सकते हैं - बुनियादी उसूलों में भटकाव, आयोजन में गलती और कार्यक्रमों के अमल में गड़बड़ी।

13.3 हमारी आज की व्यवस्था में तीनों ही तरह के दोष हैं जिनके कारण देशहित और आदिवासियों के हितों में अलगाव उसूल में न होते हुए भी व्यवहार में दिखाई देता है। वैसे तो इस समय हमारी देश की पूरी व्यवस्था में ही गरीबों के हितों का संरक्षण नहीं हो पा रहा है परन्तु आदिवासी इलाकों में संसाधनों पर अधिकार के मामले में देशहित के बहाने भारी अन्याय भी हो रहा है। इस हालत को सुधारने के लिये यह जरूरी है कि नजरिया साफ हो और यह बात बेलाग रूप से स्वीकार की जाय कि सामाजिक न्याय को किसी भी हालत में अनदेखा नहीं किया जायेगा। इसके बारे में हम आगे भी विस्तार में चर्चा करेंगे।

पर्यावरण का बचाव-सुधार और आदिवासी

13.4 अब दूसरा सवाल है पर्यावरण के बचाव-सुधार और आदिवासी हितों का। क्या उनके बीच कोई विरोध है अथवा हो सकता है ? पर्यावरण के मामले में एक बात साफ है कि अगर पर्यावरण का इसी तरह से विनाश होता जायेगा तो आदमी की जिंदगी का आधार ही खत्म हो जायेगा। इसके

साथ ही यह भी साफ है कि जैसे-जैसे **प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव बढ़ रहा है पर्यावरण की हालत बिगड़ रही है। उसका सबसे पहला असर गरीबों पर पड़ रहा है।** उनकी जिंदगी का आधार पहले से आर्थिक, धीरे-धीरे **टूटता जा रहा है। इसका असर क्षेत्रीय स्तर पर खासतौर पर कई आदिवासी इलाकों में बहुत तेजी से बढ़ रहा है। उदाहरण के लिये, मध्यप्रदेश, राजस्थान और गुजरात के तिगड्डे भील इलाके में हालत यह हो गई है कि उन लोगों के अपने संसाधनों से साल में तीन महीने की भी गुजर नहीं हो पाती है।** इसलिये अगर इस इलाके के संसाधनों के बचाव और सुधार के लिए कोई काम किया जाता है तो उससे बचे-खुचे संसाधन सुधरने लगेंगे और उनसे लोगों का गुजारा धीरे-धीरे बेहतर होता जाएगा। इस तरह पर्यावरण सुधार का पहला फायदा गरीबों को ही मिलेगा।

13.5 यह कथन अपनी जगह पर सही हो सकता है परन्तु इसमें दो बातें हैं। पर्यावरण के बिगड़ने का गरीबों पर असर हो रहा है और बहुतेरों को तो पेट भर खाने के भी लाले पड़ रहे हैं। परन्तु इसके साथ ही हमारे देश में आज एक ऐसा आसूदा वर्ग भी है, जो अब बहुत छोटा नहीं है, जो इस तरह फलफूल रहा है मानों उसकी कोई सीमा ही नहीं है। सभी तरह के उपभोग का आधार तो प्राकृतिक संसाधन ही हैं। इसलिये एक दुहरी स्थिति बन गई है - एक ओर प्राकृतिक संसाधनों के बिगाड़-बिनाश से लोगों को दो जून भोजन मिलना भी कठिन है और दूसरी ओर उन्हीं संसाधनों से आसूदा वर्ग को सभी तरह की भोग सामग्री इफरात से मुहैय्या हो रही है - यही नहीं उसी को और भी इफरात से मुहैय्या करते रहने की हरचंद कोशिश है क्योंकि उसी को विकास का पर्याय मान लिया गया है।

13.6 इस अनमेल दुहरी स्थिति का एक ही कारण है। आज की व्यवस्था के नियंत्रक उसे इस तरह से चला रहे हैं जिससे संसाधनों पर इस आसूदा वर्ग का अधिकार हो गया है और उनकी हर चंद कोशिश यही है कि आगे भी किसी न किसी तरह से वह अधिकार बना ही न रहे वरन् बढ़ता जाय। इस तरह जब थोड़े से लोगों का संसाधनों पर अधिकार बढ़ता जा रहा है तो स्वाभाविक है कि दूसरे अधिक लोगों के लिए थोड़े से संसाधन ही बचे रहें। हमारे देश में आजादी के बाद असमानता लगातार बढ़ती जा रही है। **बढ़ती असमानता का एक ही अर्थ है संसाधनों पर आसूदा वर्ग की जकड़ का मजबूत होना और उन्हीं संसाधनों का गरीबों की पहुँच के बाहर होते जाना। सच पूछा जाय तो गरीब की गरीबी का कारण यही है कि उसको थोड़े संसाधनों पर गुजारा करना पड़ रहा है।** इसके साथ ही उनकी संख्या बढ़ रही है और गुजर-बसर के लिये कोई और साधन न होने से उन बचे-खुचे संसाधनोंपर ही भार बढ़ता है जिससे उनका बिगाड़ और भी तेजी से होता जा रहा है।

13.7 दूसरे, सोचने की एक और बात भी है। आखिर गरीब की जरूरतें कितनी हैं ? अगर संसाधनों पर गरीबों के कारण दबाव की कोई बात करता है तो सवाल उठता है वह दबाव हैं किस रूप में और किसलिये ? यही न, कि किसी तरह से उसका पेट भर जाय। आखिर यह तो हर इन्सान ही नहीं हर प्राणी का बुनियादी अधिकार है। क्या किसी को इसके लिये भी संसाधनों के उपयोग से वंचित किया जा सकता है ? गरीब की बेबसी समझ कर अगर कोई रास्ता निकल सके तो उससे गरीब को क्या कोई इंकार हो सकता है ? जब तक कोई ऐसा रास्ता नहीं मिलता है, तब तक वह जो उसकी समझ में आता है करता रहेगा। उसे, जोर-जबरदस्ती ताकत स्तेमाल करके, भूखों मरने की नौबत तक पहुँचा कर दूसरा रास्ता खोजने के लिये मजबूर करना न न्याय है न मानवता और न सही प्रशासन ही।

13.8 इसके विपरीत दूसरी ओर आसूदा लोग क्या कर रहे हैं, उनका पर्यावरण पर दबाव किसलिये है ? खाने पीने और शरीर धारण की तो उनको चिंता ही क्या - भूख क्या होती है यह वे जानते

ही नहीं। यही नहीं सुविधापूर्ण जीवन बिताने के लिये भी बहुत सी माँगे पूरी हो जाने के बाद भी संतोष नहीं है। उन्हें और अधिक सुविधाओं की ही नहीं, गैर-जरूरी उपभोग की लालसा भी सता रही है जिसकी आज कोई सीमा ही नहीं है। हमारे देश के आसूदा लोग पश्चिमी देशों की नकल में मशगूल हैं। उन्हें इस बात का ध्यान तक नहीं है कि इन देशों ने पहले तो पूरी दुनिया के संसाधनों पर अपना कब्जा जमा लिया और फिर उनका निर्मम उपयोग करके भोगवादी व्यवस्था कायम की है। हमारा आसूदा वर्ग आज उसी लहजे में देश के संसाधनों का निर्मम उपभोग कर रहा है। परन्तु इसका नतीजा किसी दूसरे देश को भोगने की बजाय अपने देश के नागरिकों को ही भोगना पड़ता है।

13.9 यह एक कटु सत्य है कि हमारे संसाधनों के खत्म होने का मुख्य कारण है बढ़ती असमानता और उपभोगवाद। परन्तु दुर्भाग्य से जब पर्यावरण के बचाव-सुधार की बात आती है तब उस विनाशकारी उपभोगवाद का कहीं जिक्र तक नहीं आता। उसकी बजाय सब नसीहतें गरीब को दी जाती हैं जो किसी तरह से अपना पेट पाल रहा है। उसी पर सब तरह की बंदिशें लगाने की बात भी होती है। विडम्बना यह है कि दुनिया में ही नहीं हमारे देश में भी पर्यावरण की बात आसूदा लोग ही करते हैं, वे ही कर सकते हैं। वैसे तो ये लोग बात मानव के अस्तित्व की करते है। परन्तु सच पूछा जाय तो उनकी आज की चिंता यही है कि किसी तरह से उनकी वातानुकूलित सुविधाएँ बनी रहें, आशाइशें और भी बढ़ती रहें, जिससे दूसरे मुल्कों से आशाइशों की होड़ में कहीं हेठी न हो जाय। दूसरी ओर, गरीब की एक ही चिंता है कि किसी तरह से आज के दिन दो जून नहीं तो एक समय तो भरपेट खाना मिल जाय। उसके लिये तो वही भगवान है, वही पर्यावरण है, वही सब कुछ है। भूखे आदमी से यह उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह आगे सौ साल, दस साल या सालभर के बाद क्या होगा उसकी चिंता में आज की बात भूल जाय ? उसकी तो चिंता आज की है। और आज की चिंता मिटाने के लिए जो कुछ उससे बन पड़ेगा वह करेगा। उसे कल की चिंता भी बेमानी लगती है।

13.10 **नियति ने [व्यवस्था का ही दूसरा रूप] गरीब का भविष्य तो छीन ही लिया। इसीलिए गरीब की भाषा में भविष्य काल ही नहीं होता है वह वर्तमान में जिंदा रहता है। अब अगर उसका वर्तमान भी छिन रहा हो तो वह क्या करे ? जिंदगी के भंगुर अवशेष को भी बचाने का उसको अधिकार नहीं है क्या ? इस हालत में कुछ भी वर्जित नहीं माना जा सकता है।** कहा भी है, भूख कौन **सा पाप नहीं करा सकती ।**

<u>पर्यावरण का असली दुश्मन - उपभोगवाद</u>

13.11 पर्यावरण के बचाव-सुधार के लिए सबसे बड़ी जरूरत उपभोगवादी व्यवस्था पर अंकुश लगाने और प्राकृतिक संसाधनों पर हकदारी में इंसाफ की है। अगर गरीब को प्राकृतिक संसाधनों में हकदारी मिल जाती है तो वह उनसे आज का काम चला लेगा। जब उसका आज का काम चल जाएगा तब वह जब शाम को फारिग होकर बैठेगा और यह भी सोच सकेगा कि उसके बाल-बच्चों का भी काम चलता रहे। अगर उसे लगता है कि अगली पीढ़ी के हितों का किसी तरह से नुकसान हो रहा है, तो उसे चिंता होगी और उसका सुधार करेगा। इस तरह आज की अपनी समस्याओं से जूझता गरीब आदमी ही अपने पर्यावरण का सबसे बड़ा समर्थक बन सकेगा।

13.12 गरीब आदमी विशेषकर आदिवासी प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ है। उसे, अपने किये का अपने परिवेश पर क्या असर होता है, पूरी तरह से मालूम है। नगालैंड और मिजोरम में झूम खेती

करने वाले को कई इलाकों में अब उसी पहाड़ी पर तीन-चार साल में ही लौट आना पड़ता है। वे देख रहे हैं कि उन खेतों में उपज बहुत कम हो गई है। उन्हें यह भी अहसास है कि अगर इसी तरह चलता रहा तो कुछ दिन बाद खेतों में सिर्फ कंकड़, पत्थर ही रह जायेंगे। और फसल के नाम पर उन्हें वहाँ कुछ भी नहीं मिलेगा। परन्तु उसके सामने कोई चारा ही नहीं है। अगर उसको कोई रास्ता मिल जाय तो कोई कारण नहीं है कि वे उसे न अपनायें।

13.13 आसूदा लोगों की बात इससे बिल्कुल अलग हैं। प्राकृतिक संसाधनों से उनका नाता सीधा नहीं होता है - उनकी हकदारी व्यवस्था की हकदारी के माध्यम से होती है। उनकी सामूहिक हकदारी का प्राकृतिक संसाधनों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका उनको व्यक्ति के रूप में पहले तो अहसास ही नहीं होता है और अगर अहसास होता भी है तो सैद्धान्तिक स्तर पर। इसलिये उनके निजी हित और सामूहिक हित में तालमेल जरूरी नहीं है। वह अपनी गलत निजी जीवन पद्धति को यह कह कर समझा लेते हैं कि अगर राज्य उसे ठीक न समझे तो पाबंदी लगा दे, वे पाबंदी को मान लेंगे। परन्तु जब तब उपभोग के जो रास्ते खुले हुए हैं, दुनिया में सभी उपभोग कर रहे हैं, तो उससे अपने को क्यों वंचित करें।

13.14 इस विसंगतियों भरे माहौल में आसूदा लोगों की जिन जरूरतों के लिए पर्यावरण का विनाश हो रहा है वे जिंदगी की जरूरतें नहीं हैं, बनावटी जरूरतें हैं। क्या बनावटी जरूरतों के लिये पर्यावरण को दाव पर लगाया जा सकता है ? इसका जवाब साफ है - "नहीं"। इसलिये उन पर तुरंत बंदिश लगना चाहिये। इस विनाशकारी उपभोग के कारण ही आज हमारे देश का पर्यावरण नाजुक हालत में पहुँच गया है। **पर्यावरण को बचाने के लिये यह जरूरी है कि हमारे देश में हमारे संसाधनों को देखते हुए सामान्य उपभोग का स्तर क्या हो सकता है इसको साफ तौर पर तय किया जाय और कौन से उपभोग पर्यावरण के लिये विनाशकारी होंगे और सामाजिक दृष्टि से अन्यायी होंगे, उसे भी तय किया जाय।** यदि अनावश्यक उपभोग पर अंकुश लग जाता है तो एक तो संसाधनों पर दबाव कम हो जाएगा दूसरे उससे गरीबों को भी राहत मिलेगी। मुझे उम्मीद है कि इस मुद्दे पर राष्ट्रीय स्तर पर गम्भीरता से बहस होगी जिससे विकास के नाम पर पनपते उपभोगवाद की वेदी पर गरीबों की न्यूनतम आवश्यकताओं की भी बलि नहीं चढ़ाई जाएगी और प्राकृतिक संसाधन जो सभी नागरिकों की समान विरासत है सभी की आज की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद ही दूसरे किसी उपयोग में लाये जायँगे। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखा जायेगा कि आज के उपभोग की दौड़ में कहीं आने वाली पीढ़ियों का हक न छिन जाय।

अधिकार, जरूरतें और कानून

13.15 पर्यावरण के व्यापक सवाल के बाद हम वन और आदिवासियों के बीच संगत संबंधों की संभावना पर विचार करेंगे। इस विकल्प की खोज में हमें वनों के कानूनी आधार और उनसे जुड़े हुए जिंदगी और संवैधानिक अधिकारों के सवालों से शुरुआत करनी होगी। हम देख चुके हैं कि **पहले** तो बहुत से मामलों में जो आज की कानूनी व्यवस्था के मुताबिक भी लोगों को अपने अधिकार नहीं मिल पा रहे हैं। **दूसरे** कहीं-कहीं नये कानून गलत लागू कर दिये गए हैं जिससे लोगों के अधिकार खत्म मान लिए गए हैं। **तीसरे** कुछ ऐसे इलाके भी हैं जहाँ कोई विकल्प न होने से लोगों को जिंदगी चलाने के लिए कानून का उल्लंघन करना पड़ रहा है। परन्तु सबसे खेदजनक बात तो यह है कि अधिकतर आदिवासी लोग आज का कानून सही तरह से लागू किया जाय इसी की लड़ाई लड़ रहे हैं। उनकी जायज माँगों की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता है, उनकी फरियाद भी सुनी नहीं

जाती है। इसीलिए जब कोई और रास्ता ही नहीं रहता तो टकराहट की स्थिति पैदा हो जाती है।

13.16 अभी हाल ही में (1989) मैं गढ़चिरौली गया था। मैं जीप से जा रहा था। रास्ते में एक आदिवासी मिला जिसे मैंने जीप पर बैठा लिया। उससे बातचीत में नक्सलवादियों का, जिन्हें वे लोग दादा कहते हैं, जिक्र आया। मैंने उससे पूछा कि दादा लोगों के कैसे हाल है ? उसने कहा "दादा लोगों के आ जाने से कम से कम इतना तो हुआ - सरकारी मारपीट खत्म हो गई अब हमें पुलिस या गारड कोई परेशान नहीं कर सकता।"

13.17 क्या इससे कोई बड़ी विडम्बना हो सकती है ? कितनी शर्मनाक स्थिति है कि वह प्रशासन, जिस पर आदिवासी इलाकों के लोगों की रक्षा का भार है, उनके लिए सबसे बड़ा बोझ और उत्पीड़न का यंत्र बन जाय। और इन कानून के नुमाइंदों से राहत उनको ऐसे लोगों से मिले जिनको हमारी जायज व्यवस्था अपराधी करार देती है और जिनका सफाया करने के लिये वह अपनी अपनी पूरी ताकत लगा रही है । और टकराव की शुरुआत खास तौर पर वन के प्रबंध को लेकर ही सब दूर शुरू हुई। उसी की रक्षा में प्रशासन कड़े से कड़ा कदम उठाता गया। आज वनों की बात एक तरफ रह गई और मुद्दा लोगों और राज्य के बीच टकराव का बन गया। वनों के मामले में अब वन के अधिकारियों के प्रभाव की तो बात क्या, उनका वनों में घुसना भी संभव नहीं है। वहाँ अतिवादियों का वर्चस्व है और उनके साये में आदिवासी आजाद होने का अहसास कर रहा है।

13.18 वनों और आदिवासियों की स्थिति के बारे में एक बात यह भी साफ है कि हर राज्य की ही नहीं हर आदिवासी इलाके की स्थिति बिल्कुल अलग-अलग है। इसलिये इन समस्याओं को राज्य सरकार या केन्द्र सरकार के स्तर से निर्देशों के आधार पर नहीं सुलझाया जा सकता है। हर इलाके की समस्या को उसी स्तर पर समझदारी और सदाशयता से ही सुलझाया जासकता है। उसके लिये कुछ बुनियादी उसूल पहले से बनाना जरूरी होगा जिन्हें राष्ट्रीय स्तर पर ही बनाया जा सकता है अन्यथा स्थानीय अधिकारी व्यवस्था के कानून और प्रक्रिया के जाल में फँसे रह सकते हैं। सैद्धान्तिक उद्घोषणाओं के बावजूद, जैसी अब तक होता रहा है, स्थिति में सुधार नहीं होगा - वरन् जैसी अब तक बिगड़ती रही है उससे भी तेजी से आगे बिगड़ती जाएगी जिसके उदाहरण अब खोजने की जरूरत नहीं है, भोगी हुई वास्तविकता के रूप में सबके सामने है।

13.19 जहाँ तक वनों के मामले में बुनियादी उसूलों का सवाल है उसमें पहली बात पर्यावरण की आती है, जिसके बारे में हम उम्र चर्चा कर चुके हैं। आदिवासी पर्यावरण का कायल है। सच तो यह है कि उसकी पूरी जिंदगी ही पर्यावरण के उसूलों पर टिकी हुई है। यह अलग बात है कि पर्यावरण क्या है, वह यह नहीं जानता। परन्तु दुर्भाग्य से बड़े लोग जो पर्यावरण की बात करते हैं उसकी जिंदगी को नहीं समझते। पर्यावरण की रक्षा की बुनियाद आदिवासी की जिंदगी हो सकती है और कुछ नहीं। शुरुआत वहीं से करनी पड़ेगी।

13.20 अब दूसरी बात है कानून की। कानून के अंतर्गत कई नियम बने हैं। वनों की रक्षा के लिए सन् 80 का कानून आदिवासी इलाकों के लिये भाग्य की लकीर जैसी बन गया है। इसके तहत वानिकी के अलावा और किसी काम के लिए वन की भूमि का उपयोग नहीं हो सकता हैं। इस कानून में वन भूमि से मतलब उस भूमि से है जहाँ पर या तो वन है या जहाँ पर वन विभाग का अधिकार है। यह सब जानते हैं कि वन भूमि का आधे से ज्यादा हिस्सा ऐसा है जिसमें या तो पेड़ ही नहीं है और अगर कुछ जंगल बचा है तो बिगड़ा हुआ।

13.21 वन आदिवासी की जिंदगी का आधार है। वनों के आरक्षण के बाद भी उनसे उनका यह नाता टूटा नही है। हम देख चुके है कि पिछला शताब्दी मे अंग्रेजो ने जब वनो का आरक्षण शुरू किया था तो वहाँ के मूल निवासियों को जोर-जबरदस्ती या लोभ-लालच देकर बाहर निकाला गया था। उनके साथ यह सरासर अन्याय हुआ था। **आजादी के बाद अंग्रेजों के जमाने में किये गये सभी तरह के अन्यायों को खत्म करने की कोशिश की गई। यही नहीं, राजा-महाराजाओं और अंग्रेजी राज के लौह ढाँचे के सदस्यों के साथ अन्याय न हो जाय इसकी भी चिंता हमारे संविधान बनाने वालों को रही थी और उनके जायज ही नहीं नाजायज विशेषाधिकारों तक को संविधानिक संरक्षण दे डाला जिन्हें बाद में निकालना पड़ा। परन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि देश के लगभग पाँचवे हिस्से में निवास करने वाले सबसे भोले, सबसे अनजान लोगों के साथ जो घोर अन्याय अंग्रेजी जमाने में हुआ था उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। जमींदारियाँ खत्म हो गई, जागीरदारियाँ खत्म हो गई परन्तु वनों पर जो सरकार ने जबरदस्ती अधिकार कर लिया था और जिन पर आदिवासी युगों से जी रहा था, उन पर सरकार का अधिकार जैसा का तैसा ही बना रहा। इन "सरकारी जमीनदारियों" में क्या हो रहा था, इसकी ओर किसी ने देखा तक नहीं।** इन सरकारी जमींदारियों से केवल उत्तरपूर्व में वनों के कुछ इलाके छूट गए थे जिनमें वन की व्यवस्था का अधिकार लोगों का रहा आया था। संविधान की छठी अनुसूची में ऐसे वनों का प्रबंध स्थानीय समाज को सौंपा गया था।

13.22 आदिवासियों के साथ अन्याय न हो और उसके हितों की रक्षा हो इसके लिए हमारे संविधान में पूरी व्यवस्था की गई है। संविधान लागू होने के बाद की घोषित नीतियों में भी आदिवासियों के साथ न्याय हो इसकी चिंता रही है। इसके अलावा संविधान में ही राज्यपाल को आदिवासियों के संरक्षण की जिम्मेदारी सौंपी गई और उसके निभाने के लिये इन्हें असीम अधिकार भी दिये गये। **दुर्भाग्य से राज्यपालों ने भी अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाई, अपने अधिकारों का उपयोग नहीं किया और वनों के मामले में आदिवासियों के साथ होने वाला अन्याय चलता रहा। यही नहीं, वनों के प्रबंध के लिये और भी कड़े कानून बनाये गये जिसके कारण व्यवस्था का अन्याय और भी गहराता गया और आदिवासी इलाकों में सभी ओर टकराव की स्थिति बन गई है।**

<u>जिंदगी का अधिकार, वनों के कानून और उनकी संविधानिकता</u>

13.23 हमारे संविधान में और प्रजातांत्रिक व्यवस्था में नागरिक के जीवन का अधिकार सबसे बुनियादी है। आदिवासी लोगों की जिंदगी वनों से जुड़ी है। वनों के बिना उनकी जिंदगी जिंदगी ही नहीं इसलिये जब वे लोग अपनी जिंदगी के बारे में इस तथ्य को कहते हैं और वनों से उनके परंपरागत संबंधों के बने रहने देने का इसरार करते हैं तो वे किसी नये अधिकार की बात नहीं करते हैं। वे लोग कागज कारखानों और ठेकेदारों के उन इकरारनामों की जैसी बात भी नहीं करते, जिनसे इन नये सरमाएदारों को जंगलों का सफाया करने का लाइसेंस मिल जाता है जिनके आधार पर उनके हितों पर आँच आते ही वे कभी अधिकार, कभी पूँजी और कभी रोजगार के नाम पर अदालतों से राहत माँगते हैं। उनके पाखंड को सब जानते हैं पर फिर भी उनको वनों का विनाश करते रहने का लाइसेंस मिल जाता है।

13.24 इसके विपरीत जब आदिवासी अपने युगों से चले आ रहे रिश्ते की बात करते हैं तब वह अनसुनी कर दी जाती है या उनसे उसका प्रमाण माँगा जाता है। वन और आदिवासी युगों से किस

तरह से जुड़े हुए हैं उसे सिद्ध करने के लिए कहीं किसी तरह की गवाही की जरूरत नहीं है। परन्तु किसी विडम्बना, उनके इस रिश्ते को सिद्ध करने के लिए कागज चाहिये, गवाह चाहिये। कागज और गवाही तो नई व्यवस्था का अंग है - उसका अस्तित्व तो स्वयं सिद्ध है। इसलिये कहाँ से लाए वह उस प्रमाण को जो उसकी अपनी व्यवस्था में है ही नहीं।

13.25 वनों के आज के कानून आदिवासियों के इस जिंदगी के अधिकार के खिलाफ हैं। यह ठीक है कि ये कानून नये नहीं हैं। परन्तु आजादी के पहले कार्यकारी रूप में इन कानूनों का कोई खास मतलब नहीं था। आदिवासी लोग दूर-दराज के इलाकों में रहते थे। वे प्रशासन की प्रभावी-परिधि के बाहर थे। मगर आजादी के बाद जैसे-जैसे दूर-दराज के इलाकों में भी प्रशासन की पकड़ कड़ी होती गई। इन कानूनों का असली विकराल रूप लोगों को साफ दिखाई देने लगा। प्रशासन का यह रूप लोकतांत्रिक चेतना के बिलकुल ही विपरीत है।

13.26 परन्तु व्यवस्था के चलन में इस तरह की विसंगति का आना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। पुरानी व्यवस्था उपनिवेशवादी थी जिसमें लोगों के अधिकारों का महत्व नहीं था। और इसी तरह की विसंगतियों को दूर करने के लिये ही संविधान में कार्यपालिका को इतने व्यापक अधिकार दिये गये थे। अगर इस बात को ध्यान में रखकर संविधान की भावना के अनुरूप कार्रवाई की जाती तो ये विसंगतियाँ बिना एक दिन की देरी किये भी समाप्त हो जाती। इस तरह की विसंगतियों की समाप्ति जनजातियों के सदस्यों के लिये यह एक बुनियादी अधिकार है जिसकी आज तक अवहेलना होती रही है। इसके लिये सबसे महत्वपूर्ण कारण यही रहा है कि हमारी कार्यपालिका ने जिस पर आदिवासियों के संरक्षण का दायित्व है, अपनी जिम्मेदारी ही नहीं निभाई। यहाँ यही सवाल उठता है कि क्या हम इसे न्याय कह सकते हैं जहाँ व्यवस्था जिम्मेदारी निभाए और उससे आदिवासियों के हक ही खत्म हो जायें। यह एक बुनियादी विसंगति है, गलत है।

13.27 आदिवासी लोगों के वनों से गुजर करने की परम्परा मानवीय अधिकार है। यह अधिकार स्वयं-भू है जिससे कानून की परिभाषाओं से न सीमित किया जा सकता है न बांधा जा सकता है। सच तो यह है कि इस अधिकार को संविधान भी न सीमित कर सकता है और न बांध सकता है। सौभाग्य से हमारे संविधान ने इस अधिकार को बिना किन्हीं सीमाओं के पूरी मान्यता दी है। इसलिये अगर आज कोई कानून लोगों के इस बुनियादी मानवीय अधिकार के रास्ते में आता है तो वह असंवैधानिक है।

13.28 आदिवासी हितों और कानून के बीच टकराव का वन संरक्षण अधिनियम से बढ़कर और कोई उदाहरण नहीं मिल सकता। आदिवासी पंचों के राष्ट्रीय सम्मेलन (1989) में पूरे समय एक ही बात गूँजती रही - वन संरक्षण अधिनियम के लागू होने से उनके विकास की बात तो दूर, जिंदगी बसर करना भी मुश्किल हो गया है। वन में बसे गाँवों के लिए न स्कूल बन सकता है, न अस्पताल, सड़क नहीं बनाई जा सकती, सिंचाई की नहर नहीं निकल सकती, और तो और अगर अकाल पड़ जाय तो उनको राहत देने के लिए कोई काम भी नहीं खुल सकता है। इतने बड़े कानून की जरूरत इसलिए पड़ी कि जंगल साफ होते जा रहे हैं, उनको बचाना जरूरी है। परंतु जंगलों के ठेकेदार ए.के. 47 लेकर खुले आम वनों का निर्मम विनाश कर रहे हैं। उन पर तो व्यवस्था का कुछ बस चलता नहीं, या उनकी ओर से जानबूझकर आँखे ही फेर ली जाती हैं। परन्तु सबके पापों की पूरी गाज पड़ती है आदिवासी पर, उसकी जिंदगी के अधिकार पर।

13.29 यह विसंगति इतनी साफ है कि स्वयं पूर्व प्रधानमंत्री को खुले अधिवेशन में स्वीकार करना पड़ा। इस विसंगति को समाप्त करने के लिए एक उच्चस्तरीय कमेटी बनाई गई। परन्तु वह कमेटी बड़े-बड़े उसूलों में उलझ गई और अपनी रिपोर्ट भी नहीं पेश कर पाई। उधर देश भर के आदिवासी पंचों ने जिंदगी के सादा से जो सवाल विज्ञान भवन के विशाल सभा भवन में रखे थे वे उसी तरह से न जाने कहाँ-कहाँ घूम रहे हैं अपने जवाब खोजते हुए।

संविधान के दायित्व निभाने में भी झिझक

13.30 इस कानूनी विसंगति को दूर करने के लिए अभी हाल ही में महाराष्ट्र सरकार ने पहल की। राज्य सरकार के मत में यह कानून आदिवासी के हितों के खिलाफ था। इसलिये राज्य सरकार ने संविधान की पंचम अनुसूची में राज्यपाल को दिये गये अधिकारों का प्रयोग करते हुए अपने राज्य के अनुसूचित इलाकों के लिये उसमें संशोधन करने का फैसला किया। परन्तु दुर्भाग्य से वनों के रहवासियों की आवाज और **उनका पक्ष इतने कमजोर पड़ते हैं कि राज्य सरकार इतने बड़े अन्याय को दूर करने के लिए संविधान में दिये गये राज्यपालों के अधिकारों का उपयोग करने में भी हिचक गई । कहीं राज्य सरकार कोई ऐसा काम न कर बैठे जिससे व्यवस्था मचल जाय इसलिये उसने केन्द्रीय सरकार की राय माँगी । और कैसी यह विडम्बना है कि केन्द्रीय सरकार, जिस पर आदिवासी हितों की रक्षा करने की सबसे बड़ी और अंतिम जिम्मेदारी है, उसने भी राज्य सरकार को इन अधिकारों का उपयोग न करने के लिए राजी कर लिया ।** अगर उनकी इस राय के साथ केन्द्राय सरकार ने कोई ऐसा काम किया होता जिससे आदिवासियों का जिन समस्याओं को देखते हुए उन विशेष अधिकारो का उपयोग करने का सोचा गया था उनका समाधान हो गया होता तो भी एक बात थी । परन्तु प्रधानमत्री का घोषणा के बावजूद और राज्यपाल का अपने अधिकारों को उपयोग कर उनको राहत देने के लिए निर्णय के बावजूद उस कानून की दाब में आज तक आदिवासी उसा तरह से कराह रहा है । व्यवस्था, संविधान या मानवीय अधिकार कौन है उस्ताद, कौन जाने ? परन्तु यह साफ है कि आदवासा इलाके का आज कि स्थिति को देखते हुए वनों के कानून असंवैधानिक है। इसलिये आदिवासी इलाकों मे विसंगति को समाप्त करने के लिये एक नया कानूनजरूरी है जिसमें पर्यावरण राष्ट्रहित के साथ-साथ वनों पर परंपरा से निर्भर आदवासियों की जिंदगी का अधिकार भा अधिक वजना नही तो समान तत्व तो माना ही जाना चाहिये ।

अंतरिम कार्रवाई

13.31 वन संबंधी कानूनों के संविधान की भावना के अनुरूप न होने के तथ्य को स्वीकार करते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि इस मामले में कितनी जल्दी और किस सीमा तक बदलाव लाया जा सकता है जिससे वह विसंगति पूरी तरह से समाप्त हो सके। इस बदलाव का निहित स्वार्थ कहीं उसूलों की आड़ लेकर कभी राष्ट्रहित के बहाने और कहीं व्यावहारिकता की दुहाई देकर सब तरह से विरोध करेंगे। मेरा यह मंतब्य कि ये कानून संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है, भावना और आदर्शवादिता की अभिव्यक्ति करारनदे दिया जाय और विसंगति जैसी की तैसी बनी रहे। इसलिये यह जरूरी होगा कि हम इस पर विचार करें कि क्या आज के इस "असंगत" कानून के दायरे में भी कुछ किया जा सकता है और प्रशासन कुछ ऐसे कार्यक्रम बना सकता है जिससे लोगों को कुछ राहत तो मिले। इस संबंध में तीन सवाल हैं, जमीन, लघु वनोपज और जंगलों का प्रबंध, जिन पर तत्काल और व्यापक चर्चा तथा उसके आधार पर निर्णायक कदम उठाना उचित होगा। सबसे पहले हम वनों के प्रबंध से चर्चा प्रारम्भ करेंगे।

13.32 वन आदिवासियों की जिंदगी से जुड़े हुए हैं। इसलिये वनों के बने रहने में और उनके समृद्ध होने में अगर सबसे अधिक किसी को दिलचस्पी हो नहीं लगाव हो सकता है तो आदिवासियों को। इसलिये वनों के प्रबंध में आदिवासी समाज की न केवल सहभागिता होनी चाहिए वरन् उस मामले में उसका वर्चस्व होना चाहिये। इसमें एक बात को अलबत्ता ध्यान में रखना होगा। आज की हालत में यह भी हो सकता है कि साधारण आदिवासी बाहरी लोगों के दावपेंच न समझ पाए और उनके भुलावे में आकर अपना नुकसान कर बैठे। यह भी हो सकता है कि आदिवासी लोगों से ही कुछ चतुर चालाक लोग अपने स्वार्थ के लिए गाँव के आम लोगों को भी गलत रास्ता बता दें। उत्तर-पूर्व के कई इलाकों में वनों का विनाश इन्हीं कारणों से हुआ है। इसलिये सिद्धांत रूप में स्थानीय समाज और वन प्रबंध के दो अलग-अलग पहलू हों जिनके लिये अलग व्यवस्था भी होना जरूरी है। प्रथम समाज के भीतरी संबंधों और वनों पर उनके अधिकार के मामलों में गाँव समाज पूरी तरह से स्वायत्त होना चाहये। इस पर किसी तरह का कोई बाहरी नियंत्रण नहीं होना चाहिये। गाँव समाज के बाहरी दुनिया के संबंध भी दो तरह के हो सकते है। पहला यह कि गाँव के लोगों का अपने संसाधनों को बचाये रखने का और उनको बाहर न जाने देने का अधिकार बुनियादी माना जाना चाहिए। इस मामले में न उनसे अधिक अच्छी किसी की जानकारी हो सकती है और न किसी का लगाव ही। इसलिये इस मामले में उनके किसी निर्णय को बदलने का किसी को अधिकार नहीं होना चाहिये। हमारे देश में विख्यात चिपको आंदोलन का भी यही संदेश है।

13.33 दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि गाँव समाज के लोग भी अपने संसाधनों को तुरंत लाभ के लोभ में बाहरी लोगों को देने की बात सोच लें। ऐसा फैसला समाज के दीर्घकालीन हित में नहीं होगा। इस तरह के निर्णयों पर कुछ बंदिशें लगाई जा सकती हैं। परन्तु उनमें भी यह एहतियात बरतना होगा कि कोई निर्णय ऊपर से इकतरफा न थोप दिया जाय। इन निर्णयों की प्रक्रिया में भी लोगों की भागीदारी होना चाहिये। ऐसा होने से वे लोग भी बाहर के रीतिनीति को समझ सकेंगे और धीरे-धीरे विवेक के आधार पर अपने निर्णय स्वयं लेने लगेंगे।

13.34 अंत में तीसरी संभावना यह भी हो सकती है कि समाज के भीतर के निहित स्वार्थ प्रशासकीय अधिकारी और बाहरी लोग सब मिल कर कुछ ऐसा कर बैठें जिसमें वन का विनाश हो जाय। इस तरह की संभावनाओं का कोई कानूनी या प्रक्रियात्मक काट नहीं हो सकता है। आज तो पूरा नियंत्रण सरकारी तंत्र के हाथ में है परन्तु उससे बचाव संभव नहीं हो पा रहा है। किसी तरह के गलत कामों को रोकने के लिये लोगों की सहभागिता से बढ़कर और कोई काट नहीं हो सकता है। लोगों की सहभागिता का सबसे बड़ा गुण है कि लोग कार्य और कारण का संबंध अगर आज न भी पहचाने तो कल पहचानेंगे। इस तरह गलती मालूम होने पर सुधार की गुंजाइश होगी। जैसे-जैसे लोगों को बाहर की बातों की समझ बढ़ेगी वे इस तरह की गलत बातों पर भी नजर रख सकेंगे। इससे समाज और संसाधन दोनों का ही हित सधेगा।

लघु वनोपज

13.35 जहाँ तक लघु वनोपज का सवाल है इसके तीन पहलू हैं -नीति, कानून और व्यवहार। जहाँ तक नीति का सवाल है केन्द्रीय सरकार ने इस मामले में दो सिद्धांतों को माना है और राज्य सरकारों को उन पर अमल करने के लिए कई बार कहा है। पहला सिद्धांत यह है कि लघु वनोपज

पर आदिवासियों का अधिकार होना चाहिये। इसका मतलब यह है कि उन पर राज्य सरकार कोई रायल्टी न लगाए। दूसरा उसूल यह है कि लघु वनोपज की खरीद-फरोख्त की व्यवस्था इस प्रकार से की जाय जिसमें कि आदिवासी को लघु वनोपज का पूरा बाजार मूल्य मिल जाय। इसके लिये यह जरूरी है कि खरीद-फरोख्त के सभी खर्चों का भार राज्य सरकार उठाये।

खरीद-फरोख्त का भार व्यवस्था पर

13.36 सबसे पहले हम दूसरे उसूल पर थोड़ा सा विचार करेंगे। आदिवासी इलाकों में भी सरकार का लम्बा चौड़ा अमला है। इसके अलावा हाल के दिनों में न जाने कितनी पुलिस इन इलाकों में भर गई है। इस सब अमले का भारी बोझ आखिरकार राष्ट्र या राज्य की संचित निधि पर ही पड़ता है। आखिर में यह सब खर्च होता तो आदिवासी के नाम पर ही। परन्तु विडम्बना यह है कि आज आदिवासी इलाकों में सभी दूर इसी प्रशासन और आदिवासी के बीच सीधे-सीधे टकराव की हालत नहीं तो कम से कम तनाव तो है ही। अगर आदिवासी से उसके मन की बात पूछी जाय तो वह यही चाहेगा कि उसके साथ इससे बड़ा कोई उपकार नहीं होगा कि उसके इलाके से प्रशासन हटा लिया जाय और उसे अपनी जिंदगी अपनी तरह से जीने के लिये व्यवस्था करने की आजादी मिल जाय। ऐसी हालत में इस खर्चे को आदिवासी हित में तो नहीं कहा जा सकता है। दूसरी ओर आदिवासी की माली हालत सुधारने के लिए इससे कारगर दीगर कोई उपाय नहीं हो सकता कि खरीद-फरोख्त में जो शोषण हो रहा है उसको खतम कर दिया जाय। इसलिए सरकार के सभी तरह के कामकाज में सबसे उपयोगी और तुरंत फल देने वाली खरीद फरोख्त की व्यवस्था ही हो सकती है। इसलिए इस व्यवस्था पर खर्च को तो सरकार को वहन करना चाहिये उसे आदिवासी पर डालना ठीक नहीं है।

13.37 इस मामले में भी मैं फिर से संविधान की व्यवस्था का उल्लेख करना चाहूँगा। उसके अनुसार यदि सरकार किसी काम को आदिवासी के हित के लिए जरूरी मानती है तो उसके लिए आवश्यक राशि भारत सरकार की संचित निधि पर चार्ज रूप मानी जाना चाहिये और उसे केन्द्रीय सरकार को मुहैय्या कराना चाहिये। **अगर कोई एक मद जो आदिवासी व्यवस्था के लिये सबसे जरूरी है हितकर भी है तो वह है उपयुक्त विपणन व्यवस्था। इसलिये इस भार को भारत सरकार के द्वारा वहन न करने का कोई औचित्य नहीं है।**

13.38 आदिवासी क्षेत्रों में विपणन व्यवस्था का एक और पहलू भी है। आदिवासी इलाकों में छितरी आबादी और दुर्गम होने के कारण माल के लाने ले जाने के अलावा खरीद-फरोख्त का उम्मरी खर्च बहुत आता है। अगर जंगल-पहाड़ के रहवासियों को उनके इलाके दुर्गम होने के कारण विपणन पर होने वाले अधिक खर्च का भार उठाना पड़े तो व्यापारी और सरकार में अंतर ही क्या रहा ? आदिवासी इलाकों की कठिन स्थिति के कारण जो समस्याएँ आती हैं उन्हें हल करना ही तो सरकार का फर्ज है। उनके लिये संविधान के प्रावधानों का भी स्तेमाल होना ही चाहिये। इसकी अनदेखी करना संविधान की व्यवस्था की अनदेखी करना है। **खेद है कि एक ओर खरीद-फरोख्त की व्यवस्था का भार आदिवासी पर लाद दिया जाता है जिससे उसे अपनी उपज का पूरा लाभ नहीं मिलता। दूसरी ओर उसके हित के लिये विकास और प्रशासन के सुधार के नाम से न जाने कितने अनावश्यक मदों पर खर्च होता रहता है जिसका सही मायने में उससे कोई सरोकार नहीं। नीति और व्यवहार, न्याय और संविधान सभी दृष्टियों से विपणन व्यवस्था का पूरा खर्च सरकार को ही उठाना चाहिये।**

मध्यप्रदेश में तेंदू पत्ता नीति एक बुनियादी सवाल

13.39 पिछली साल (1989) मध्यप्रदेश में लघु वनोपज के स्वामित्व के बारे में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण

निर्णय लिया गया था, जो उल्लेखनीय है। वह निर्णय और उसका क्रियान्वयन आगेके लिए रास्ता और उसमें आने वाली बाधाओं को भी दिखाता है। राज्य सरकार ने अब तक की लीक से हटकर लघु वनोपजों पर आदिवासी लोगों का पूरा अधिकार मान लिया। इस तरह सिद्धांत रूप में आदिवासी वनोपज को इकट्ठा करने वाला मजदूर न होकर उसका मालिक बन गया। यद्यपि कुछ तकनीकी व्यावहारिक कारणों से इस फैसले को तत्काल औपचारिक कानूनी रूप नहीं दिया गया, परन्तु सरकार ने पूरी कार्रवाई इस बुनियादी फैसले की भावना के अनुरूप करने का तय किया । इस निर्णय की एक आवश्यक परिणति है कि लघुवनोपज पर सरकार की रायल्टी नहीं हो सकती है। मध्यप्रदेश में लघुवनोपज पर रायल्टी से अच्छी आमदनी होती है। इसलिये इस निर्णय के वित्तीय प्रभाव को सहन योग्य बनाने के लिये लघु वनोपज पर रायल्टी को दो चरणों में खत्म करने की तजबीज की गई। तेंदू पत्ते को छोड़ कर सभी लघु वनोपज पर रायल्टी तत्काल समाप्त कर दी गई। परन्तु तेंदू पत्ते पर उसे धीरे-धीरे कम करके खतम करना तय किया गया।

13.40 इस सिद्धांत के मान लेने से सरकार का नजरिया बिल्कुल ही बदल गया। पिछली रिपोर्ट में मैंने लिखा था कि किसप्रकार से तेंदू पत्ते की कीमत को लेकर सब ओर असंतोष था, दक्षिण बस्तर में तेंदू पत्ते के भाव को लेकर ही नक्सलवादी खास तौर से बीच में पड़े और लोगों का सरकार से टकराव होता रहा। मध्यप्रदेश में राज्य के इस निर्णय के बाद इस टकराव के लिये उसूलन कोई गुंजाइश नहीं रही। अब सवाल इस उसूल को अमली जामा पहनाने का था। इस सिलसिले में पहली बात तो यह तय हुई कि जब पत्ता लोगों का है तो क्यों न उनको अधिक से अधिक कीमत जब वे पत्ता तोड़कर लाते हैं, उसी समय दे दी जाय। मगर इस सिद्धांत से लोगों को कितना फायदा मिल सकेगा इसका कोई अंदाज नहीं था। इसलिये एहतियात बरतते हुए सरकार आगे बढ़ी। तेंदू पत्ते की खरीदी का भाव पिछले साल आठ रुपये प्रति हजार था। पहले उसे बारह रुपये किया गया। परन्तु कुछ समय बाद उसे पंद्रह रुपये प्रति हजार कर दिया। यही नहीं, चूँकि तेंदू पत्ते आदिवासियों की सम्पत्ति हैं इसलिए उनके खरीदने के बाद भी जब तक वे बिक नहीं जाते वे उसी की अमानत रहेंगे। उन पर बिकने के बाद जो फायदा होगा वह भी उसी का होगा। इस तरह तेंदू पत्ते का शुद्ध लाभ उसकी अमानत और रोका हुआ भुगतान था जिसे बोनस कह कर बाँटने की तजबीज की गई।

13.41 बताया जाता है कि राज्य की वित्तीय स्थिति को देखते हुए सरकार ने तेंदू पत्ते पर इस साल भी एक और तो रायल्टी और सेल टैक्स लगाया और दूसरी ओर लाभ का कुछ हिस्सा विकास कार्यक्रमों के लिये उपयोग करने का फैसला किया। इसके बावजूद अलग-अलग क्षेत्रों में आदिवासी को 36 रु० से 58 रु० प्रति हजार के हिसाब से बोनस मिलना तय हुआ था। चुनाव के कारण यह बोनस तत्काल नहीं बट सका। चुनाव के बाद 10 रु० की एक किश्त दे दी गई है। इस तरह जहाँ पहले आदिवासी को सिर्फ 8 रु० मजदूरी के लिये भी लड़ाई करनी पड़ी थी, बिक्री दर में रायल्टी और तमाम कटौतियों के बावजूद 8 रु० की बजाय 51 रु० से लेकर 73 रु० तक की पात्रता हो गई। यदि ये कटौतियाँ भी न की जाती तो उसे आठ रु० की बजाय सौ रु० से भी अधिक की आमदनी हो जाती। बताते हैं कि बस्तर में एक आदिवासी परिवार को तेंदू पत्ते तोड़ने से मजदूरी के रूप में इस साल लगभग 3 हजार रु० की औसतन आमदनी हुई है। पूरा बोनस मिलने पर प्रति परिवार कुल आमदनी 10 हजार रु० से कम नहीं होगी। इस तरह मध्यप्रदेश में जहाँ जंगल अभी बचे हैं वहाँ इस साल अकेले तेंदू पत्ते से आदिवासियों को इतनी आमदनी हो सकती है जो कि गरीबी की रेखा से बहुत ऊँची है। **इस तरह यह साफ है कि अगर आदिवासियों को लघु वनोपज पर ही पूरे अधिकार दे दिया जाय तो उनकी आर्थिक समस्या का बहुत कुछ समाधान हो जायेगा। इसके साथ ही वे यह भी अहसास कर सकेंगे कि जंगल उनके हैं, उनके प्रबंध में वे सहभागी हैं।**

ऐतिहासिक अन्याय की समाप्ति का स्वागत, पर अभिनन्दन की बात नहीं।

13.42 वनोपज के मामले में मध्यप्रदेश में आदिवासियों को "मजदूर की जगह मालिक" का दर्जा देने की घोषणा उनके प्रति घोर ऐतिहासिक अन्याय को समाप्त करने का पहला महत्वपूर्ण कदम था। इस घोषणा का एक ओर भारी स्वागत हुआ है, यहाँ तक कि उसे क्रांतिकारी कदम तक कहा गया है। परन्तु दूसरी ओर उसके बारे में भारी मतभेद भी रहे हैं। यह स्वाभाविक था क्योंकि नई नीति से लगभग दो सौ करोड़ रुपये की भारी रकम, जो चंद व्यापारी हथिया लिया करते थे और जिसके बारे में सही तौर पर अंदाज तक नहीं था, उनके हाथ से छिन गई। इस नीति का स्वागत करते हुए भी मैं उसकी "क्रांतिकारी" कदम के रूप में प्रस्तुति को एक विडम्बना ही कहूँगा। उसे क्रांतिकारी कहने में हमारी आज की अत्यन्त खेदजनक मानसिकता झलकती है। क्या स्वयं राज के द्वारा अनजान लोगों के प्रति किये जा रहे अन्याय की समाप्ति के फैसले को क्रांतिकारी कह कर क्रांतिकारी चेतना का माखौल नहीं है ? क्या इस कदम से आज तक होने वाले अन्याय की तपन कम हुई मानी जा सकती है? क्या उसमें यह मानसिकता भी नहीं झलकती है कि कमजोर वर्गों के हितों के मामले में अन्यायी व्यवस्था भी चालू रह सकती है चाहे इससे संविधान की अवहेलना ही क्यों न हो रही हो ? यही कारण है कि इस घोर अन्याय को मिटाने की दिशा में छोटा सा पहला कदम भी निहित स्वार्थों को भी गवारा नहीं हुआ और लगता है कि यह **"क्रांतिकारी" घोषणा भी अन्य क्रांतिकारी घोषणाओं की तरह न केवल अर्थहीन हो गई वरन् उसके वुजूद को भी नकारने का प्रयास हो रहा है।**

दायित्व, विश्वास और औपचारिकता

13.43 मुझे खेद के साथ यह कहना पड़ रहा है कि इस घोषणा के तत्काल बाद ही उसको प्रभावहीन बनाने और आखीर में नकारने के लिये कई तरह के प्रतिगामी बल क्रियाशील हो गए। एक मत यह है कि इस महत्वपूर्ण निर्णय को औपचारिक रूप तुरंत इसलिये नहीं दिया गया था चूँकि यह आशंका थी कि निहित स्वार्थ हमारी न्यायिक व्यवस्था की पेचीदगी का गलत लाभ उठाकर उस निर्णय को किसी तरह टलवाने में न सफल हो जाय। यह निर्णय ऐसे समय पर लिया गया था जब सबसे बड़ा सवाल उसको लागू करने के लिए प्रशासनिक व्यवस्था करना था जिससे कि लोगों को अधिक से अधिक फायदा मिल सके। बहरहाल इसके बारे में राज्य शासन से पूरी जानकारी अभी नहीं मिल पाई है। इसलिये इस पर विस्तार से चर्चा नहीं करूँगा। परन्तु फिर भी कुछ तथ्य स्पष्ट हैं जिनको प्रस्तुत करना जरूरी है।

13.44 इस नीति के बारे में पहला तथ्य तो यह कि "मजदूर से मालिक" की घोषणा अधिकारिक रूप से तत्कालीन मुख्यमंत्री ने की थी और उसे कई बार दोहराया था और उसका जिक्र विधानसभा में भी आया था। अभी यह साफ नहीं है कि वे कौन से तकनीकी कारण थे कि उसे औपचारिक रूप नहीं दिया गया। परन्तु यह तथ्य कि राज्य सरकार ने "मजदूर से मालिक" का महत्वपूर्ण निर्णय लिया था यह स्पष्ट है। मेरे मत में आदिवासी हितों के मामले में, संविधान में जिनका सब कुछ एक तरह से राज्य की सदिच्छा पर छोड़ दिया गया है, औपचारिकता का महत्व नहीं है, निर्णय की भावना ही प्रमुख है। इसलिये राज्य का यह फर्ज हो जाता है कि जो भी निर्णय लियाजाय उसकी भावना के अनुरूप पालन किया जाय। राज्य रूपी आदिवासी हितों का अभिभावक किसी भी तरह की औपचारिकता की आड़ लेकर आदिवासियों के हितों की अनदेखी नहीं कर सकता और अगर ऐसा होता है तो उससे बड़ी खेद की बात और कुछ हो नहीं सकती। सच तो यह है कि उस हालत में लोगों के संविधानिक अधिकारों की रक्षा तक के मामले में राज्य विश्वास का पात्र ही नहीं रह जाएगा।

13.45 वैसे तो जैसा मैं बार-बार कह चुका हूँ कि हमारी व्यवस्था की विधा ही अन्यायी है। अपरोक्ष रूप से कानून और प्रक्रिया की आड़ में गरीबों के प्रति अन्याय होता ही रहता है। परन्तु जब वही

अन्याय खुलकर होने लगे और दिये हुए वचन भी वापस ले लिये जायं या नकार दिये जायं, तो स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। वह हमारी व्यवस्था में न्याय के प्रति आस्था के ढहने की अंतिम सीढ़ी होगी।

13.46 रिपोर्ट लिखने (अप्रैल 1990) तक मिली जानकारी के मुताबिक "मजदूर से मालिक की घोषणा" के बाद भी सरकार ने तेंदू पत्ते पर रायल्टी लगायी। उस पर बिक्री कर भी लगाया गया। **कैसी विडम्बना है कि आदिवासी अपने वनों में से दिनभर मेहनत करके दस-बीस रुपये का पत्ता इकट्ठा करे और जब सरकार को बेचे तो वही सरकार जो उसके कल्याण के लिये कटिबद्ध है उसकी पसीने की कमाई या उसकी उस थोड़ी सी पूँजी पर बिक्री कर लेने में नहीं हिचके।** यही नहीं, राज्य शासन ने तेंदू पत्ते के शुद्ध मुनाफे में से कुछ राशि आदिवासी विकास के लिये निकाल ली. इसमें पहली सोचने की बात तो यही है कि आदिवासी के हाथ में सीधा पैसा पहुँचे और उसकी आमदनी बढ़े इससे बड़ा विकास का कौन सा काम हो सकता है ? गरीब से एक रुपया छीनकर पाँच पैसे का लाभ (दोनों ओर की प्रशासनिक कटौतियों को देखते हुए इससे अधिक लाभ की संभावना नहीं है) दिलाने की बात में कौन सा तुक है ? यहाँ एक दूसरा बुनियादी सवाल भी है। जब आदिवासी मालिक है तो उसकी राशि में से कटौती करके विकास के लिए पैसा निकालने का सरकार को अधिकार ही कहाँ है ? अगर आदिवासी विकास के लिए राशि की जरूरत है तो उसे उपलब्ध कराना राज्य और केन्द्र का संविधानिक दायित्व है।

13.47 लोगों के बुनियादी हकों के इस अहम सवाल पर राज्य सरकार क्या रुख लेगी अभी यहीं साफ नहीं है। तेंदू पत्ता इकट्ठा होने के बाद पूरा साल गुजर गया। नई सरकार भी आ गई और तेंदू पत्ते का फिर से वख्त भी आ गया। परन्तु अभी भी लाभांश की दूसरी किस्त का, जो सरकार के पास लोगों की अमानत है, वितरण नहीं हुआ है। यही नहीं, जब मैंने अनौपचारिक रूप से पूछताछ की तो बताया गया कि "सरकार ने मजदूर से मालिक के बारे में निर्णय लिया ही नहीं था।" इस आशय का सरकारी विज्ञापन गलती से चला गया था जिसको उसने औपचारिक रूप से नकार भी दिया था। इसलिए तेंदू पत्ते पर रॉयल्टी खतम करने का या आदिवासी के मजदूर से मालिकाना अधिकार का कोई सवाल ही नहीं है। इस साल (1990) के लिये मजदूरी अलबत्ता 15 रु० से बढ़ाकर 25 रु० कर दी गई है।

सवाल मूल्यों और विश्वसनीयता का

13.48 मध्यप्रदेश में तेंदू पत्ते के मामले में उम्मर के घटनाक्रम से कई तरह के बुनियादी उसूलों और मूल्यों के सवाल हमारे सामने आ खड़े होते हैं। जब राज्य की व्यवस्था के भीतर लोगों के जायज अधिकारों के बारे में इस तरह उतार-चढ़ाव आये उस समय उन अधिकारों की रक्षा करने के बारे में राज्य के दायित्व को किस प्रकार निभाया जा सकता है। जाहिर है कि इस मामले में आदिवासी कल्याण से संबंधित मंत्री जिनकी नियुक्ति संविधान में अनिवार्य है, आदिवासी हितों की रक्षा करने में असमर्थ रहे। राज्य सरकार ने व्यवस्था के अन्याय को स्वीकार करते हुए आदिवासी को मजदूर से मालिक के रूप में मानने का फैसला कर भी लिया परन्तु उसकी औपचारिकता पूरी नहीं की गई थी। इसलिये इस मामले में न्यायालय की शरण भी नहीं ली जा सकती है। जैसा मैं पिछली रिपोर्ट में कह चुका हूँ कि आज आदिवासी लोगों को संविधानिक संरक्षण केवल इसलिये नहीं मिल पा रहा है क्योंकि राज्यपाल ने अपना कर्तव्य नहीं निभाया। संविधान के अंतर्गत नियुक्त आयुक्त की बात

का कोई वजन नहीं, आदिवासी की तरह ही वह भी बस संविधान की दुहाई दे सकता है। इसलिये संविधान की अवहेलना हो रही है इसका एक स्पष्ट उल्लेख करने के बावजूद उस पर गौर करना या न करना राज्य की मर्जी पर मुनहस्सिर है।

13.49 तेंदू पत्ते के मामले में आदिवासी के मजदूर की बजाय मालिक रूप को मानने का निर्णय होने के बाद राज्य के द्वारा उन पर रायल्टी लगाना अनैतिक है। उसके लाभ में से विकास कार्यों के लिये राशि की कटौती करना अनुचित है और उसके लाभ को वितरित न करना खयानत है। तेंदू पत्ते की बिक्री से मिली पूरी राशि आदिवासी के हाथ में देना राज्य का कर्तव्य है। यही नहीं, मजदूर से मालिक रूप **स्वीकार करने की घोषणा के बाद फिर से उसको मजदूर का दर्जा देना हमारी पूरी संविधानिक व्यवस्था का मखौल है जिसमें राज्य पर विश्वास के साथ आदिवासी के हितों के संरक्षण का भार सौंपा गया है।** यह विडम्बना है कि आज आदिवासी अपने अधिकारों के बारे में अनजान है, उसके प्रतिनिधि भी अनजान हैं। पर वह व्यवस्था जो अपने की युक्तियुक्त और न्यायसंगत मानती है जिसमें शब्दों के पीछे भावनाओं के बारे में नीतिग्रंथों में और न्यायालयों की गंभीर उद्घोषणाओं के अंबार लगे हुए हैं, कितनी सरलता से अपने उस पवित्र दायित्व को अनदेखा करके औपचारिकता की आड़ में उस अन्याय को, जो विदेशी राज ने क्रूरतापूर्वक लोगों पर थोपा था, फिर से थोपने का सोच सकती है। क्या राज्यपाल और राष्ट्रपति इस औपचारिक जाल को काट कर, देने की व्यवस्था करेंगे जिससे उनको मालिकाना हक वापिस करने का वह न्यायपूर्ण निर्णय नकारा न जा सके और हमारे सामाजिक न्याय के इतिहास में कलंक बन कर न रह जाय।

न्याय के लिये अपील

13.50 लघु वनोपज पर अधिकारों के बारे में अगर सही तौर पर कानूनी बात ही की जाय तो यह साफ है कि जब जंगलों का आरक्षण हुआ था उस समय कानून में दी गई प्रक्रिया के मुताबिक फैसलों के तहत आदिवासियों को लघु वनोपज पर अधिकार दिया गया था। ढेबर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में वन नीति की समीक्षा करते हुए यह कहा था कि ये अधिकार पहले तो सिर्फ रियायतें रह गईं, बाद में वे रियायतें भी खत्म सी हो गईं। जैसा ऊपर कहा गया है कि मध्यप्रदेश में तो इस गलती को सुधारने के लिये एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया था परन्तु लगता है कि फिर से न्याय के ऊपर औपचारिकता हावी हो गई है। इसी तरह से बिहार सरकार ने भी लघु वनोपज पर आदिवासी का मालिकाना हक स्वीकार किया जिसकी राज्यपाल ने अपने भाषण में (जनवरी 1990) घोषणा की परन्तु उस पर भी आगे अमल नहीं हुआ। दूसरे राज्यों में इस बारे में अब तक कोई पहल नहीं की गई है।

13.51 **जब लघुवनोपज को संग्रह करने का अधिकार लोगों का वनों के आरक्षण के समय माना गया था तो राज्य सरकारों का यह दावा कि उन पर उनका अधिकार है और वे उस पर रायल्टी लगा सकते है । आज के कानून के तहत भी सही नहीं माना जा सकता है। उनका यह अधिकार जोर-जबरदस्ती का अधिकार है। इसलिये आज की कानून के तहत लोगों को लघुवनोपज पर अपना अधिकार जताने का अधिकार है और राज्य सरकार का यह फर्ज है क वह उनके दावे को माने और लघु वनोपज की उनको पूरी कीमत मिले इसकी व्यवस्था करे।** मुझे उम्मीद है कि मध्यप्रदेश और बिहार ने आदिवासियों के लघु वनोपज पर अधिकार को मानते हुए उस पर रायल्टी खतम करने का फैसला किया है। उस पर अमल होगा और दूसरे राज्य भी उसे मानेंगे। अगर राज्य सरकारें अभी भी इस मामले में कोई हीला हवाला करते हैं तो केन्द्रीय सरकार का फर्ज हो जाता है कि वह उनको निर्देश दे कि वे गलत काम न करे और उनके अधिकारों का आदर करें।

जमीन का सवाल और समाधान का रास्ता

13.52 अब आखिरी सवाल है जमीन का। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, कि जमीन और जंगल लोगों की जिंदगी का आधार हैं। जिंदगी का अधिकार बुनियादी है। आदिवासी इलाके में उनके इस जिंदगी के अधिकार के साथ जो खिलवाड़ किया जा रहा है वह खत्म होना चाहिये। इसके साथ ही जंगल बचे रहें इसके लिए भी जो भी एहतियात जरूरी हों उन्हें बरता जाय। परन्तु यह एहतियात सरकार की ओर से आदिवासियों पर दमनचक्र के रूप में न होकर उनकी सहभागिता और उनकी समझ के आधार पर होना चाहिये।

13.53 जमीन के पेचीदे सवाल को, आज की मैदानी हालत को स्वीकार करते हुए वहीं से शुरुआत करके सुलझाने की जरूरत होगी। इसके बारे में कानूनी गलतियों और कमियों तथा व्यवहारिक पहलुओं पर हम पहले ही विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। जब वर्तमान कानूनी ढाँचा, जो स्थानीय हालात को बिना देखे उन्मर से लाद दिया गया है, उसी को आधार मान कर कार्रवाई की जायेगी तब तक सभी कोशिशें नाकामयाब रहेंगीं। जंगल कटते जायेंगे पर्यावरण का विनाश होता जाएगा और विकल्पहीनता की हालत में लोगों की जिंदगी का आधार खतम होता जाएगा. इसलिए लोगों की आज की समस्या का समाधान और आने वाले समय के लिये पर्यावरण का बचाव कैसे हो इनको एक ही उद्देश्य मानकर उसके लिये कानून, नियम और व्यवहार सभी में जरूरत के मुताबिक बदलाव करके कार्रवाई की जाय तभी इस विकराल समस्या का संतोषजनक समाधान हो पाएगा।

समाधान की अंतहीन खोज

13.54 जमीन के मामले को सुलझाने के लिए सबसे पहले तो हमें आज की मैदानी हालत से शुरुआत करना होगी। आदिवासी इलाकों में बढ़ते दबाव के कारण जंगल में खेती का फैलाव सदा से स्वाभाविक रूप से होता रहा हैं। परन्तु वनों के संरक्षण के बाद यह फैलाव कानून के खिलाफ रहा है। पर फिर भी लोगों की जिंदगी के लिये जरूरी होने से और उनके लिये कोई दूसरा विकल्प न होने, वनों में नौतोड़ जमीनों देर-सबेर जोतने वालों के नाम की जाती रही हैं - सरकारों के सामने भी इसके अलावा कोई रास्ता नहीं था। कानून का एक ही असर हुआ है, लोगों को थोड़ा बहुत डर बना रहता है। इसलिये जब तक वे लोग सब ओर से लाचार ही नहीं हो जाते हैं - सभी तरह की भटकन के बाद ही, जंगल काटने का जोखिम लेकर, उसके लिये जेल तक की यातना भुगत कर, अपनी जिंदगी चलाने की सोचते हैं।

13.55 इस तरह वन की जमीन पर कब्जा करने का लगातार सिलसिला रहा आया है। आजादी के बाद आदिवासी इलाकों में जमीन के मामले को सुलझाने की बार-बार कोशिशें हुईं। **हर बार यही फैसला होता रहा कि जो लोग जंगल में जमीन जोत रहे हैं वह उनको दे दी जाय बशर्ते कि वे उसके पात्र हों। दूसरे शब्दों में अगर उसने जमीन होते हुए भी सिर्फ अपना हक कायम करने और जायदाद बनाने की गर्ज से जमीन हथियाने की न कोशिश की हो।** इसके लिये एक तारीख भी तय की जाती रही है कि अमुक तारीख या उसके पहले जमीन जोतने वाले को ही जमीन दी जायेगी। **इसके साथ ही यह भी घोषणा की जाती रही कि जंगल की जमीन पर खेती आगे से किसी भी हालत में नहीं बढ़ने दी जाएगी। इस मामले में सरकार की ओर से वह अंतिम रियायत कही जाती थी। परन्तु आदिवासी की रोजी रोटी की मूल समस्या का समाधान न होने से वह अंतिम बार कभी नहीं आया - जंगल में खेती बढ़ती गई और घोषणाएँ होती रहीं।**

और अब 1980 की अंधी दीवार

13.56 यह सिलसिला सन् 1980 तक इसी तरह चलता रहा। लेकिन सन् 1980 में कानूनी स्थिति में एक बुनियादी बदलाव आया। इस साल वन संरक्षण अधिनियम पास हुआ था जिसके तहत राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार से बिना पूछे आरक्षित वनों को वानिकी के अलावा दूसरे किसी भी काम के लिए उपयोग करने की इजाजत देने का अधिकार ही नहीं रहा। इसके साथ-साथ केन्द्रीय सरकार ने भी एक नीति बनाई जिसके मुताबिक आगे से खेती के लिए किसी भी हालत वन भूमि न देने का फैसला किया गया।

13.57 कई राज्यों में इस अधिनियम के आने के पहले, जंगल की भूमि पर खेती को नियमित करने के निर्णय लिये जा चुके थे, घोषणाएँ भी हो चुकी थीं, और उनके पट्टे देने की प्रक्रिया भी चल रही थी, सब कार्रवाई एकाएक रोक देनी पड़ी और अभी तक रुकी हुई है। इसके कारण हालत बड़ी पेचीदी हो गई है। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश में सन् 1978 तक के कब्जों की जमीनें आदिवासियों को देने का तय हो गया था। इस घोषणा के दस साल बाद भी लोग अधर में लटके हुए हैं। वे सभी आदिवासी जो 1978 या पहले से जमीनें जोत रहे हैं कानूनी तौर पर अतिक्रामक हैं। उधर केन्द्रीय सरकार बराबर दबाव डालती रही है कि वनों से सभी तरह के अतिक्रमण खत्म किये जायं। इसी तरह राजस्थान में सन् 1971 तक, महाराष्ट्र में सन् 1976 तक के कब्जों को नियमित करने के फैसले हैं। दूसरे राज्यों में भी यही हाल है।

13.58 गैर कानूनी कब्जे, नया कानून और केन्द्र के निर्देश वन विभाग के अधिकारियों के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। वे लोग सरकार के पुराने निर्णयों को ही और सभी तरह के अधिकारों को भी अनदेखा कर जो व्यक्ति भी वन में खेती कर रहा है या वहाँ बसा हुआ है उसको बाहर निकालने की कार्रवाई कर रहे हैं। इसी बात को लेकर पूरे आदिवासी इलाके में भारी असंतोष है। सरकार और आदिवासियों के बीच में टकराव भी है। लोग सरकार को उनके अपने फैसलों का हवाला देकर कार्रवाई करने को कहते हैं। अधिकारी केन्द्रीय सरकार और नये कानून की बात कह कर चुप हो जाते हैं। कुछ लोग अदालतों में जाते हैं जहाँ उन्हें कुछ समय के लिये राहत मिल जाती है। परन्तु सब लोग तो अदालत जा नहीं सकते इसलिये साल दर साल समस्या जहाँ की तहाँ अटकी रहती है, संघर्ष और टकराव की जड़ें और भी गहरी होती जाती है।

निर्णय और कार्रवाई - फासला ही फासला

13.59 राज्य सरकारें जब भी इस उलझे मामले को सुलझाने के लिये वन भूमि पर लोगों को अधिकार देने की बात करती हैं और कार्रवाई शुरू करती हैं तो दो बातें होती हैं। एक तो जमीन पर कब्जे को मान्य करने की निर्धारित तारीख हमेशा साल दो साल पहले की होती थी। फिर सरकार के फैसले पर इलाके में अमल की कार्रवाई शुरू होने तक काफी समय गुजर जाता था। और वह कार्रवाई खतम कब होगी इसका तो कोई हिसाब ही नहीं - दस साल पंद्रह या बीस साल भी बीत जायं तो कोई ताज्जुब नहीं।

13.60 दूसरे सरकार के फैसले के बाद भी खेती के फैलाव की प्रक्रिया तो बंद होती नहीं है। कुछ न कुछ लोग जरूरत के मुताबिक खेती की जमीन बढ़ाते रहते थे। इस तरह समस्या के समाधान के लिये इस अंतिम निर्णय के बाद भी मौके पर दो तरह के कब्जे मिलते हैं - एक निर्धारित तिथि के पहले के और दूसरे बाद के । दो चार साल का समय गुजर जाने के बाद निर्धारित तिथि के पहले और उसके बाद के कब्जों के बारे में फैसला करना कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है। कुछ

कब्जे नियमित हो जाते हैं और कुछ नियमित नहीं हो पाते हैं जिनके बारे में लोग अपना दावा करते हैं। इस तरह सभी अभियानों के बाद गांव के स्तर पर भी अतिक्रमण का मामला उलझा रहता रहा है।

13.61 इस प्रक्रिया की एक खासियत यह है कि इसमें अतिक्रमण की लिस्ट सरकारी कर्मचारी बनाते हैं और उनके अनुसार कार्रवाई शुरू होती है। ये लिस्टें बहुत करके लोगों को मान्य नहीं होती हैं। सभी लोग अपने कब्जों के बारे में यही दावा करते थे कि उनका कब्जा पुराना ही है। इस हालत में तरह-तरह की धांधलियों की गुंजाइश रहती है। चतुर लोग मिलजुल कर नये कब्जों के भी पट्टे ले लेते थे। दूसरी ओर गरीब और नासमझ पुराना कब्जा होने पर भी पट्टे नहीं पा पाता था। इसलिये असंतोष बना रहता था। इस तरह वन भूमि के मामले को सुलझाने के लिये उच्च-स्तरीय महत्वपूर्ण निर्णय और उसके मुताबिक लम्बी चौड़ी कार्रवाई के बावजूद सफाई नहीं हो पाई। हमेशा जमीन पर अतिक्रमण जारी रहता रहा और सरकार के सामने बार-बार वे ही समस्यायें उसी रूप में आती रहीं। कभी-कभी जब तक समाधान के नजदीक आते दिखाई दिये तब तक कहीं किसी ओर से वन भूमि पर कब्जा करने का मुहिम चालू हो जाता है, किए कराए पर पानी फिर जाता है और फिर सरकार को नये सिरे से उस पर सोचने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है।

इकतरफा कार्रवाई का असमाधान

13.62 इस प्रक्रिया की सबसे बड़ी खामी यही रही है कि यह पूरी प्रक्रिया हमेशा एकतरफा होती रही है। सरकारी कर्मचारी अपनी तरह से सूची बनाते हैं, और जब तक लोग कोई दूसरा प्रमाण पेश न करें उसी लिस्ट को अंतिम मान लिया जाता है। किस जमीन पर खेती कितने दिन से हो रही है और उस पर कब्जा किसका है इसके बारे में सबूत के बारे में भी बहुत सी उलझने हैं। ये उलझने जैसे जैसे समय बीतता है और भी बढ़ती जाती हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भूमि पर कब्जों की ये फहरिश्ते सही हैं। यह इत्मीनान के साथ कहा ही नहीं जा सकता है उस कारण आमतौर पर लोग जानबूझ कर अपना नाजायज हक कायम करने के लिये भी उनके बारे में एतराज करते रहते हैं। बहरहाल मामला उलझा रहता है और उन फहरिश्तों पर सरकारी करकुनों के अलावा कोई भरोसा नहीं करता। मामला सुलझाने की कोशिश नाकामयाब हो जाती है।

दोनों ओर की सहभागिता और सहमति की अनिवार्यता

13.63 इसलिये जमीन के मामले को आज की हालत जैसी है वहीं से हल करने की शुरुआत करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। इसके लिए पहली बात है जमीन की आज की नोइयत की साफ तस्वीर उतारना। इसमें दो बातें खास हैं - एक किस जमीन पर आज के दिन खेती हो रही है और दो वह जमीन कौन जोत रहा है। उन दोनों मुद्दों पर जब तक गाँव के लोगों की ओर से सहमति नहीं होती है तब तक पूरी कार्रवाई नाकाम रहेगी। यह कार्रवाई ठीक हो इसके लिये दो बातें जरूरी होंगी। पहले तो यह कार्रवाई खुले में आप लोगों के सामने हो जिससे लोग जाने और समझें कि क्या हो रहा है। दूसरे इस कार्रवाई के लिये उस इकाई को आधारभूत लिया जाय जैसे कि बसाहत, पारा या फलिया जिसमें लोग एक दूसरे को जानते हों और स्थानीय वास्तविकता से वाकिफ हों। इकाई जितनी बड़ी और औपचारिक होती जायेगी सही बात जानना उतना ही कठिन होता जाएगा। इसलिये प्रत्येक रहाइश में लोगों की बैठकें की जायँ, उसमें खुले आम चर्चा हो, मौके पर जाकर नोइयत देखी जाय और उसके आधार पर लिस्ट बनाई जाय। यह जरूरी है कि यह लिस्ट सरकारी कर्मचारी और गाँव

के लोग दोनों की ही सहमति से बने। इसलिए उस लिस्ट में सिर्फ मौके की नोइयत दर्ज हो इसमें किसी की राय का सवाल नहीं है। सरकारी कर्मचारी और गाँव के लोग दोनों तरफ से उस लिस्ट की तस्दीक होकर अंगूठे या दस्तखत किए जायं जिससे कि वह आज की हालत के लिए एक प्रमाण बन जाय जो दोनों पक्षों को मान्य हो।

13.64 अब दूसरा सवाल आता है इस जमीन पर लोगों के अधिकारों का। यह मामला उलझा हो सकता है और उसके कई पहलू भी हैं। इसलिये इस मामले को एक एक करके धीरे-धीरे हल करने की जरूरत होगी। हकों के बारे में दो बातें खास हैं - **एक** मौके पर कब्जा तथा खेती और **दूसरा** है उस जोत के कानूनी रूप। इस बारे में कानूनी मसले काफी पेचीदे हैं और जैसा हम पहले कह चुके हैं कि कानून खुद सही हो, यह भी जरूरी नहीं है। इसलिये पहले कानून की बात को साफ करना जरूरी होगा।

हकों का निर्धारण - पहला कदम

13.65 वनों में खेती की जमीन और बसाहतों के कानूनी पहलू पर हम पहले विस्तार में चर्चा कर चुके हैं जिसकी आधारभूत मान्यताओं के मुताबिक ही लोगों के अधिकारों के बारे में फैसला करना न्यायसंगत होगा। इसके लिये सबसे पहले तो आज के इस सरकारी सोच को बदलना होगा जिसके मुताबिक इन सभी लोगों को जो आरक्षित वन में खेती कर रहे हैं या बस रहे हैं, अतिक्रामक मान लिया जाता है। फिर इन सभी मामलों को एक ही तरह से निपटने की कोशिश की जाती है। आरक्षित वनों में खेती और बसाहतों के मामलों को मोटे तौर पर चार हिस्सों में बाँटा जा सकता है-

1. आरक्षण के पहले के हक

13.66 खेती और बसाहतों में बहुत से मामले ऐसे हैं जिनमें लोगों के हक वनों के आरक्षण के पहले के हैं परन्तु उन्हें अभी तक कई कारणों से अनदेखा किया जाता रहा है। ये लोग किसी भी हालत में अतिक्रामकों की श्रेणी में नहीं आते हैं। इनमें बहुत सी आदिम जनजातियाँ, झूमियाँ और वे सभी लोग शामिल हैं जिनके इलाकों में आरक्षण की कार्रवाई बिना उनके अधिकारों को देखे हुए पूरी की गई है। इनको वनों से बाहर निकालने का सवाल ही नहीं उठता।

2. आरक्षण की अधूरी या अनियमित प्रक्रिया वाले इलाके और लोग

13.67 दूसरी श्रेणी में वे सभी मामले आते हैं जिनमें वनों के आरक्षण की प्रक्रिया चालू है या जहाँ प्रक्रिया पूरी हो चुकी है लेकिन बहुत समय गुजर गया है लेकिन अभी तक अंतिम रूप से उन वनों को आरक्षित घोषित नहीं किया गया है अथवा जहाँ आरक्षण की प्रक्रिया में कोई बुनियादी कमी रह गई है जिससे लोगों के अधिकारों के बारे में सही फैसला नहीं हुआ है। इन सभी मामलों में लोगों को अतिक्रामक कहना गलत होगा। अगर यह सिद्ध होता है कि आरक्षण की कार्रवाई गलत हुई या उनके हकों को नजरअंदाज किया गया है तो उनके हकों को निर्धारित करने के लिए फिर से कार्रवाई की जाना उचित होगा। दुर्भाग्य से उन सभी मामलों में लोगों को न्यायालय के हस्तक्षेप से ही राहत मिलती है अन्यथा चाहे उनका पक्ष कितना भी सबल क्यों न हो, उसे नजरअंदाज ही किया जाता है। अगर स्थानीय स्तर पर यह स्पष्ट है कि कानूनी प्रक्रिया का पालन नहीं हुआ है तो उसी के आधार पर लोगों के हकों के बारे में फिर से जाँच करके उन्हें न्याय दिया जाय। इसके लिए न्यायालयों के हस्तक्षेप की प्रतीक्षा नहीं की जानी चाहिए।

3. **कानून और नियम के अनुसार दिये गये विवादास्पद पट्टे इत्यादि**

13.68 ऐसे अनेक मामले हैं जिनमें लोगों को किसी भी कानून या नियम के मुताबिक कोई स्थाई या अस्थाई पट्टे दिये गये हैं परन्तु वे वन विभाग को मान्य नहीं हैं। इन सभी मामलों में लोगों को अतिक्रामक कहना और उनके खिलाफ किसी तरह की कार्रवाई गलत है। विधिवत् पट्टों के आधार पर उनके अधिकारों को तदर्थ रूप से मान्य किया जाना चाहिये। इस बीच संबंधित विभाग आपस में विवाद को तय कर लें और लोगों को अंतिम रूप से उनके अधिकार दे दिये जायं।

4. **अनधिकृत कब्जे**

13.69 अंतिम श्रेणी उन सभी मामलों की है जिनमें लोग वनों में अनधिकृत रूप से कब्जा करके जिंदगी बसर कर रहे हैं। ये लोग कानूनी तौर पर अतिक्रामक हैं। परन्तु इनमें भी मोटेतौर पर दो श्रेणियाँ कही जा सकती हैं। एक वे जिनके बारे में राज्य सरकारों ने हक देने का फैसला कर लिया है परन्तु उनको अब तक कई कारणों से हक नहीं दिया जा सका है। दूसरे वे मामले जिनमें लोगों को आज के कानून या प्रक्रिया के तहत हक नहीं मिल सकता है। जिन लोगों को आज की व्यवस्था के अंतर्गत हक दिया जा सकता है उनके मामलों को तो बिना देरी किए निराकरण कर ही देना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही उन लोगों के बारे में भी जो आज अनधिकृत रूप से खेती कर रहे हैं और जिन्हें हक नहीं दिया जा सकता है, तत्काल कार्रवाई करना जरूरी होगा।

13.70 इस दूसरी श्रेणी के मामलों में, जिनमें लोगों को अधिकार नहीं दिए जा सकते हैं, दो तरह के मामले हैं। पहले वे मामले हैं जिनमें भूमि संबंधी तकनीकी कारणों से खेती के लिये पट्टा देना संभव नहीं है। उदाहरण के लिये बहुत ढालू जमीन पर खेती का अर्थ होगा मिट्टी का कटाव और कुछ सालों के बाद उसके कुछ न हो सकने की स्थिति में पहुँच जाना। दूसरे वे मामले हैं जिनमें व्यक्ति को भूमि पाने की पात्रता नहीं है। इन लोगों के पास या तो पहले से ही बहुत जमीन है और मौके का फायदा उठाकर और भी कब्जा बढ़ा लिया है। इस संबंध में मैं उन मामलों की ओर खास तौर से ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा जिनमें बड़े-बड़े लोगों ने चाय या कॉफी के बागानों के लिए बेशुमार जमीन पर अनधिकृत कब्जा कर रखा है। इन कब्जों को दूर करने के लिए तो तत्काल कार्रवाई होनी ही चाहिए। यही नहीं, अगर इनके कब्जे खत्म होने के बाद जमीन का पहले का उपयोग ही चालू रखना उचित हो तो उसमें गरीब लोगों को हिस्सेदारी दी जाय। उदाहरण के लिए सभी बड़े-बड़े बागानों को, उनमें काम करने वालों को, सामूहिक रूप से दे दिया जाय जिसमें हर व्यक्ति एक छोटे से टुकड़े की देखभाल के लिए जिम्मेदार हो। इसकी व्यवस्था के बारे में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

13.71 इस तरह कानूनी और व्यवहारिक रूप से एक और वे लोग हैं जिनका जमीन पर हक है परन्तु वे अभी तक माने नहीं गये हैं। इन लोगों को अतिक्रमण की श्रेणी में रखना उचित नहीं है। दूसरे सिरे पर वे लोग हैं जिन लोगों ने संपत्ति बनाने या भारी मुनाफा कमाने के लिये अतिक्रमण किए हैं। इन लोगों को वन में बने रहने का कोई औचित्य नहीं है। इनको तत्काल वहाँ से बेदखल किया जाय। इन दोनों सिरों के बीच में वे लोग हैं जो वन में जोत खोदकर मजबूरी में अपना जिंदगी बसर कर रहे है। इनके मामलों के निपटारे के लिये केवल कानूनी पहलू न देखकर मानवीय अधिकारों की बात पर भी विचार करना होगा ।

समाधान-जिंदगी के अधिकार का संदर्भ

13.72 कब्जे के कानूनी रूप को तय करने में समय लग सकता है- कहीं-कहीं वह बहुत लम्बी प्रक्रिया भी हो सकती है जैसा कि हम उत्तर प्रदेश के सोनभद्र के बारे में देख चुके हैं। परन्तु आज के कब्जे

का कानूनी रूप कुछ भी क्यों न हो, परन्तु अगर कोई व्यक्ति किसी जमीन पर खेती करके अपनी जिंदगी चला रहा है, चलाता आ रहा है तो उस जमीन से उसको हटाने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। वह खेती उसकी जीविका का साधन है, इसलिये उस भूमि का उपयोग उसके जीने के अधिकार से जुड़ा हुआ है उसके अलावा आदिवासी इलाके में संविधानिक अधिकार और उसके साथ बुनियादी मानवीय अधिकारों के भी सवालात हैं। भूमि सहित संसाधनों के मामले में आज के कानून खुद संविधान की भावना से संगत नहीं हैं। इसलिए तत्काल कानूनी मामले की उलझन में न पड़ कर यह मानकर चलना जरूरी होगा कि जो जमीन जोत रहा है, उसको उसे जोतते रहने का अधिकार है। **उसके कब्जे से तभी छेड़छाड़ की जा सकती है, जब तक बुनियादी उसूलों के तहत जो प्रक्रिया अपनाई जाय, जैसा कि मैं पहले तजवीज कर चुका हूँ। यह ठीक है कि जमीन पर कब्जा बने रहने का उसका कानूनी हक न माना जाय।** परन्तु उसको जिंदगी बसर करने के लिये जो आज कर रहा है उससे तो न रोका जाय। इसलिये इस कार्यनीति के तहत दो बातें तुरंत की जानी चाहिएँ। पहली यह कि राज्य सरकारें यह आदेश तुरंत पारित करें कि आदिवासी को उसकी जोत की जमीन से नहीं हटाया जाएगा। दूसरी यह कि वनों की जमीन के सभी मामले जो किसी भी अदालत में क्यों न चल रहे हों, वे वापिस ले लिये जाँय।

साल-दर-साल का टकराव और आँख-मिचौनी

13.73 अदालत में चल रहे मामलों के संबंध में कुछ तथ्यों का जिक्र करना उचित होगा। जंगल की जमीन के मामलों में अक्सर होता यह है कि जमीन जोतने का समय आने के कुछ समय पहले तक सब ओर शांति जैसी बनी रहती है। जमीन में जोत से थोड़ा सा पहले एक ओर आदिवासी खेती की तैयारी शुरू कर देता है। परन्तु दूसरी ओर वन विभाग वाले भी वह खेती न कर सकें इसके लिए अपनी कार्रवाई शुरू कर देते हैं। इस कार्रवाई के साथ वे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि आदिवासी जमीन जोतेगा जरूर क्योंकि वह तो उसकी जिंदगी का सवाल है। उनकी ओर से खेती में रोक टेक दो कारणों से होती है। एक तो वे अपना कर्तव्य निभाने या ऊपर से निर्देशों के पालन के लिए यह कार्रवाई की जाती है। परन्तु दूसरा कारण जो अधिक महत्वपूर्ण है, यह है कि इस समय आदिवासी की सबसे बड़ी मजदूरी होती है, खेती नहीं करे तो खाएगा क्या, इसलिए वह कुछ भी करने को देने-लेने को तैयार रहता है।

13.74 बहरहाल जो भी हो, आदिवासी जमीन जोतता है, उसे उसके लिए कहीं मुर्गी-दारू देनी पड़ती है कहीं लाठी-डंडे सहने पड़ते हैं और कहीं जेल भी जानी पड़ती है। वह इन सभी के लिये तैयार रहता है, साल-दर-साल का किस्सा है। कहीं-कहीं तो वे यह भी सोच लेते हैं कि चलो घर में एक आदमी जेल में ही सही, औरत कमा लेगी। कुछ लोग अपने मामलों को लेकर अदालत भी पहुँच जाते हैं। कभी-कभी उन्हें वहाँ से राहत भी मिल जाती है। उनकी चीख-पुकार सुन कर सरकार भी आदेश दे देती है कि "खेतों में फसल न हटाई जाय।" इस तरह कुछ समय कुछ कुहराम के बाद शांति हो जाती है। परन्तु फिर अगले साल वही पूरा सिलसिला फिर से ठीक उसी तरह चालू हो जाता है। खेद है कि इस सिलसिले को खतम करने के लिये किसी भी स्तर से कोई कार्रवाई नहीं की गई। यह लोगों के साथ अन्याय है। **इस विवाद को अंतिम रूप से खतम करने के लिये लोगों के आज के कब्जे को जैसा है वैसा मानना जरूरी है, और उसके मामले में सभी तरह की कानूनी कार्रवाई भी खतम होनी चाहिये।** जब तक यह नहीं किया जाता तनाव बना रहेगा और तनावपूर्ण वातावरण में कोई समाधानकारक हल निकालना असंभव है।

गाँव समाज से करार

13.75 अनधिकृत कब्जों से छेड़छाड़ न करने की पेशकश अराजकता और खेती के लिये वनों की अंधाधुंध कटाई के लिये खुली छूट न बन जाय इसका ध्यान रखना बहुत जरूरी होगा। छेड़छाड़ न करने की पेशकश आज की उलझी स्थिति, जिसमें अधिक क्या सारा दोष व्यवस्था का है, से निकलने के लिये पहला जरूरी कदम है। सच तो यह है कि यह कदम जंगल और जमीन के मामले को भावनात्मक और टकराव वाले माहौल से निकाल कर स्वस्थ परस्पर विश्वास के परिवेश में लाने की पूर्व-शर्त है। यह स्पष्ट है कि वनों की बचाव-बढ़त उनकी समृद्धि पर्यावरण और देश के हित में होने के साथ लोक हित के लिये जरूरी है - उसके बचाव-बढ़त का पहला लाभ आम आदमी को ही मिलेगा। परन्तु यह तभी हो सकता है जब वनों की व्यवस्था में लोग सहभागी हों, इसे उनके हाथों में सौंप दिया जाय। जमीन के उलझे मामले को सुलझाने के समय ही इस तरह का फैसला कानूनी तौर पर न भी हो सके तो भी कम से कम व्यवहारिक रूप में तो हो ही जाना चाहिये। जंगल की व्यवस्था में लोगों की सहभागिता का दायित्व आने पर ही लोगों से यह उम्मीद की जा सकती है। उनका व्यवहार जिम्मेदाराना हो। उसी समय लोग समझेंगे कि जंगल उनकी जिंदगी का आधार बन सकते हैं। एक बार यह स्पष्ट हो जाय तो वे खुद भी जंगल में खेती नहीं बढ़ायेंगे, न दूसरों को बढ़ाने देंगे। आपस में मिलजुलकर आज का गुजारा चलाने के लिए दूसरे विकल्प ढूँढ़ सकेंगे। हाँ, इसमें सरकार की मदद की जरूरत होगी, उसे भी वनों में रहने वाले लोगों के लिये वैकल्पिक आर्थिक आधार पर गंभीरता से सोचना होगा।

13.76 इस तरह जमीन के मामले को सुलझाने के लिये सरकार और गाँव समाज के बीच आपसी समझ, सदभाव और आगे के लिए स्पष्ट दृष्टि जरूरी होगी। इसके लिये शुरुआत दोनों के बीच एक तरह के अनौपचारिक करार से की जा सकती है। एक ओर सरकार वायदा करे कि आगे के लिये आपसी समझ के आधार पर कार्यनीति के तय होने तक वह लोगों की आज की खेती के बारे में उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं करेगी। दूसरी ओर गाँव समाज यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी ले कि जंगल में आगे खेती न बढ़ेगी। इस करार का आधार गाँव समाज और सरकार के द्वारा मिलकर बनाई गई खेती की फहरिश्त बन सकती है। **इस कार्रवाई से जमीन को लेकर सरकार और लोगों के बीच आज का टकराव खतम हो जायेगा। एक तरह से दोनों ओर से यह "युद्ध-विराम" की घोषणा जैसी होगी, पूरे इलाके में तत्काल शांति हो जायेगी।** और आगे के लिये कार्रवाई करने का अवसर मिल सकेगा। तत्कालिक शांति को स्थाई बनाने के लिये जरूरी होगा कि आदिवासी इलाकों में संसाधनों के उपयोग और आदिवासियों के जिंदगी बसर करने के लिये मिलजुल कर दीर्घकालीन योजना बनाई जाय।

संसाधनों के उपयोग के लिये दीर्घकालीन योजना

13.77 वन और भूमि के उपयोग के बारे में दीर्घकालीन योजना के लिये लोगों के साथ बैठकर बात करना जरूरी होगा। पहले वर्ग में वे जमीनें होंगी जो खेती के लायक हैं और जिन पर खेती करने से पर्यावरण को नुकसान नहीं होता है। इन जमीनों को खेती के लिए स्थाई रूप दे देना ही उचित होगा। इसके बाद दूसरे वर्ग में वे जमीनें आती हैं जिन पर बहुत दिनों तक खेती चल ही नहीं सकती है। इसलिये इन जमीनों पर अगर अभी खेती हो भी रही हो, तो वह पर्यावरण के लिए हानिकारक है, इस हालत में उसूलन यह मानना ही उचित होगा कि उस पर खेती नहीं होनी चाहिये। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होगा कि उस पर खेती करने वाले को खेती करने से तुरंत रोक दिया जाय। ऐसी जमीन पर खेती करने वालों को उस जमीन के उपयोग के पेड़ लगाने जैसे दूसरे तरीके बताए

जायं और उसके लिये सोच समझ कर कार्यक्रम बनाये जाय। इस संबंध में मैं आगे विस्तार में चर्चा करूँगा। अगर जमीन पेड़ों के काबिल भी नहीं है तो उस आदमी की जिंदगी बसर करने के लिए कुछ दूसरी वैकल्पिक व्यवस्था की जाय।

वैकल्पिक आधार के लिये जिम्मेदारी

13.78 इन सभी सिद्धांत के मामलों में एक बात शुरू से ही साफ होना चाहिये कि **जब तक आदिवासी को अपनी जिंदगी बसर करने के लिये ऐसा कोई दूसरा रास्ता नहीं मिल जाता जो वह अपनी मर्जी से और खुशी-खुशी अपनाने के लिये राजी हो उसको किसी भी जमीन से हटने के लिये नहीं कहा जाना चाहिये।** इसके लिये सिर्फ कार्यक्रम बना लेना भर काफी नहीं है। जब हम जमीन से किसी को हटाने की बात करते हैं तो उस आदमी की जिंदगी का सवाल है उस आदमी के अधिकारों का सवाल है। आदिवासी इलाकों में आदिवासी समाज के संसाधनों के उपयोग संबंधी अधिकारों का भी सवाल है। आखिर वह आदमी यह जानते हुए भी कि उसे मजदूरी के बराबर भी आमदनी नहीं हो पाएगी, शायद पेट भरने के लिये भी अनाज न पैदा हो पाये, इन विषम स्थितियों में कमरतोड़ मेहनत करना क्यों है ? यही न कि उसके सामने कोई विकल्प नहीं है। इसलिए वह अपनी समझ के मुताबिक पत्थर में से तेल निकालने की कोशिश करता है। नियोजित विकास की हालत में उसकी यह मजबूरी प्रशासन और व्यवस्था की हार या गफलत है, उसके लिये उसे दोषी नहीं माना जा सकता है। उसे तो उसकी सूझबूझ और मेहनत के लिये यश मिलना चाहिये। बहरहाल यह जरूरी है कि उसे कोई विकल्प दिया जाय जिसे वह स्वीकार कर सके । इसलिए जरूरी होगा कि हर व्यक्ति के मामले में समाज के स्तर पर लोग आपस में मिल बैठकर फैसला करें । जब तक इस तरह की कोई व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक राज्य को नैतिक अधिकार नहीं है कि वह उससे कहे कि वह कोई गलत काम कर रहा है। वह अपनी जिंदगी बसर करने के लिए जो ठीक समझता है जो कर सकता है कर रहा है। **अगर राज्य उसको और कोई विकल्प नहीं दे सकता है, तो वह अपनी समझ के मुताबिक जो ठीक समझता है वह करता रहेगा। यह उसका बुनियादी संविधानिक अधिकार है।**

आदिवासी इलाकों के लिये रोजगार की विशेष व्यवस्था

13.79 आज जो जमीन जोत रहा है उसी के जोतते रहने से भी आदिवासी की समस्या का स्थाई समाधान नहीं होगा। इसलिए आदिवासी इलाकों के लिए विशेष व्यवस्था करनी पड़ेगी। यह व्यवस्था हर इलाके की उसकी अपनी स्थिति के अनुसार ही करनी होगी। एक बात साफ है । यह **सभी जानते हैं कि अगर आदिवासी को दो जून रोटी मिल जाती है तो वह जंगल तो काटता ही नहीं और काम भी बंद कर देता है।** वन के अधिकारियों का भी सही दूर यही अनुभव है कि जहाँ काम खुल जाता है वनों की अवैध कटाई पर तुरंत असर पड़ता है। इसलिए जंगल बचाने के लिए एक ही रामबाण उपाय है- इन इलाकों में रहने वालों के लिए रोजगार की व्यवस्था करना।

13.80 बहुत से राज्यों में रोजगार गारंटी की योजनाऐं हैं। परन्तु विडम्बना यह है कि जहाँ रोजगार सबसे ज्यादा जरूरी है और जिससे पर्यावरण का बचाव भी होगा वहाँ उसका लाभ नहीं पहुँच पाता है। महाराष्ट्र जैसे राज्य में भी गढ़चिरौली के दूरदराज के इलाके में तीन साल तक मुतवातिर सूखा पड़ने के बाद भी राज्य सरकार कोई काम नहीं चला सकी। जब सरकार ने अभाव का मुकाबला करने के लिये वहाँ अनाज की दूकानें खोली तो लोगों ने पूछा, कि यह अनाज खरीदेगा कौन, और कैसे इस पर भी रोजगार की व्यवस्था नहीं हो पाई क्योंकि सभी प्रयास किसी न किसी औपचारिकता में अटक गए। इसका मूल कारण यही है कि सामान्य कार्यक्रमों का आदिवासी इलाकों की विशेष स्थिति को बिना

जाने समझे वहाँ पर लागू करने की प्रवृत्ति। इससे उबरने के लिए यह जरूरी होगा कि कार्यक्रम दूरदराज के आदिवासी इलाकों से ही शुरू किया जाय और वहाँ के लिए विशेष रोजगार योजना बनाई जाय।

संगत व्यवस्था की पुनःस्थापना

13.81 संक्षेप में, वनों के बिगाड़-विनाश की, जगह बनाव-विकास की प्रक्रिया लोगों की सहभागिता से स्थापित की जा सकती है। इसके लिये सबसे पहले आज के टकराव की स्थिति को समाप्त कर आपसी समझ का वातावरण तैयार किया है। जो जहाँ है उसकी स्थिति को समझा जाय और उसके लिये वैकल्पिक व्यवस्था की जाय। आदिवासी इलाकों में तो यह राज्य का विशेष दायित्व भी है और इन इलकों में पैसा भी बहुत खर्च हो रहा है - मगर गैर जरूरी बातों पर और सबसे पिछड़े क्षेत्रों में तो वह भी नहीं पहुँचता। जरूरत है इस प्रक्रिया को उलटने की। काम वहाँ से शुरू किया जाय जहाँ सबसे अधिक जरूरत है, जहाँ वनों पर सबसे अधिक दबाव है। अगर इन इलाको में ऐसे काम लिये जते हैं जिनसे संसाधनों का बचाव-विकास हो तो उसका पहला फायदा भी आदिवासी को ही मिल सकता है बशर्ते कि उसे जानबूझ कर वंचित न रखा जाय। उसी में वनो का हित है और आदिवासी का भी। राज्य, व्यवस्था और व्यवस्था में लगे लोगों के नजरिये में बुनियादी बदलाव की जरूरत है। यह नई व्यवस्था क्याहो इस पर हम आगे विस्तार में चर्चा करेंगे।

14

संसाधनों पर अधिकार - 7

बिगड़े जंगल, पड़ती और अनुपजाऊ भूमि
उनका सुधार-सह-न्यायसंगत उपयोग

जब ताकतवर लोगों और सरकार ने अच्छे प्राकृतिक संसाधनों पर अपना हक जमा लिया तो गरीब आदमी जो कुछ बच रहा उसी पर गुजारा करने के लिए मजबूर हो गया और उसमें से उसे जो कुछ मिला उसी पर संतोष करना पड़ा। इन बचे-खुचे संसाधनों से जब दो जून रोटी मिलना भी कठिन हो गई तो वह साधन-सम्पन्न लोगों के यहाँ मजदूरी करने के लिए मजबूर हो गया। इस तरह गरीब के लिए या तो अनुपजाऊ भूमि पर खेती या दूसरों की खेती पर मजदूरी या बचे संसाधनों से जो कुछ मिल जाय उस पर गुजारा करने के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं बच रहा।

बिगाड़ के लिए दोषी कौन ?

14.2 हम उम्मर देख चुके हैं कि आजादी के बाद इस मामले में अधिसंख्य गरीबों की हालत और भी खराब होती गई है। गाँव में बचे संसाधनों पर तगड़े लोगों ने धीरे-धीरे अपना कब्जा बढ़ा लिया, बढ़ाते जा रहे हैं। इसलिए गरीबों के लिए जगह और भी कम होती जा रही है। दूसरे गरीब लोगों को घाटे की व्यवस्था से पार पाने के लिये जो कुछ भूमि या सम्पत्ति उनके पास थी उससे भी हाथ धोना पड़ रहा है, किसी किसी के लिए तो अपनी आजादी और अस्मत तक बेचने की मजबूरी आ पड़ती है। और फिर उन्हें या तो उन्हीं सिमटते और बिगड़ते संसाधनों पर जैसे-जैसे गुजारा करना पड़ता है या फिर व्यवस्था में और कहीं रोजी-रोटी के लिए भटकना पड़ रहा है। उन शेष संसाधनों पर गुजारा करने वालों और उनसे दूसरी जरूरतें पूरी करने वाले लोगों की भी संख्या में बढ़ोत्तरी होते जाने से संसाधनों की हालत दिनोंदिन खराब होती जा रही है। **इस तरह आज हमारे देश के सामने एक बड़ा सवाल खड़ा हो गया है कि अगर ऐसा ही चलता रहा तो हमारे संसाधन बहुत दिन तक नहीं चल पाएँगे जिससे गरीबों की जिंदगी का ही नहीं, सभी की जिंदगी का आधार खत्म हो जाएगा।**

14.3 इस तरह संसाधनों पर अधिकार और उनके उपयोग को लेकर गरीबों के लिये और उसके साथ ही देश के लिये भी बड़ी गंभीर स्थिति पैदा हो गयी है। एक बात जिसका अहसास तो है पर कही नहीं जा रही है वह यह है कि आसूदा लोग जो इन संसाधनों पर गैर-वाजिब हक बना बैठे हैं, उनको संसाधनों के बिगाड़-विनाश की कोई चिंता नहीं है। हाँ, वे लोग संसाधनों का विनाश हो रहा है इसका शोर सबसे अधिक मचाते हैं, परन्तु उसके लिये दोष गरीबों के सिर पर मढ़कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। और कर्तव्य निभाने के अहम में डूबे वे लोग फिर निर्द्वन्द होकर अपना मतलब सिद्ध करने की तरह-तरह की जुगतों मे लग जाते हैं और संसाधनों का बिगाड़-विनाश और भी तेज हो जाता है।

संसाधनों का सुधार - प्रमुख उद्देश्य

14.4 संसाधनों के मामले में मोटे तौर पर दो सवाल उठाए जाते हैं - **पहला** पर्यावरण को बचाने के लिए बिगड़ते संसाधनों को फिर से बहाल करने का और **दूसरा,** सभी संसाधनों का आर्थिक विकास के लिए अधिक से अधिक उपयोग करने का जिससे कि राष्ट्रीय सकल उत्पादन बढ़ सके। इसके लिए कई तरह के उपायों पर विचार किया जाता रहा है। परन्तु ऐसा लगता है कि इसके बारे में अब तक सभी दूर आसूदा लोगों के नजरिये से ही काम लिया गया है जिसमें राष्ट्रीय हित की बात तो होती है

परन्तु सच में उनका अपना हित ही सधता है। गरीब लोगों का हित, जिनमें हरिजन और आदिवासियों का बाहुल्य है, अनदेखा रह जाता है। उनकी हालत की ओर किसी का ध्यान ही नहीं हैं। इस एकतरफा कार्रवाई का उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर बहुत ही बुरा असर पड़ रहा है।

14.5 जैसा पहले कहा जा चुका है कि भारत जैसे प्राचीन देश में कोई खाली जगह हो ही नहीं सकती। आज जिस जमीन या संसाधन पर किसी का निजी हक नहीं है उससे भी कोई न कोई व्यक्ति रोजी रोटी के लिए अटका हुआ है। हाँ, यह जरूर है कि इन लोगों का कानूनी हक नहीं है। इसीलिए ये सभी संसाधन सरकार और बड़े लोगों की निगाह में खाली मान लिये जाते हैं। और चूँकि खाली जगह की मिल्कियत सरकारी है इसलिए सरकार उनका जैसा चाहे वैसा उपयोग कर सकती है।

राष्ट्रीय अभियान - सभी की सहभागिता

14.6 इसी सोच के आधार पर पर्यावरण को सुधारने और संसाधनों को और अधिक उत्पादी बनाने के लिए सरकार कई तरह के कार्यक्रम बना रही है। ये कार्यक्रम बिगड़े वनों और पड़ती और अनुपजाऊ भूमि पर लिये जा रहे हैं। इन तीनों वर्गों में कुल मिलाकर देश की पूरी जमीन का आधे से ज्यादा हिस्सा आ जाता है। अगर हम इस हिसाब में से बिगड़े वनों को निकाल दें तो कम से कम एक तिहाई क्षेत्रफल पड़ती और अनुपजाऊ भूमि की श्रेणी में आ जाएगी।

14.7 इस तरह यह जाहिर है कि इन समूचे बिगड़े संसाधनों के सुधार और उसके अच्छे से अच्छे उपयोग की योजना बनाना एक बहुत बड़ा काम है। इसलिए कहा यह जा रहा है कि इतने बड़े काम को एक राष्ट्रीय अभियान के रूप में लेना होगा और उसके लिए जिसका भी साथ और जितना सहयोग मिल सकता हो, उसका स्वागत होना चाहिए। इतने बड़े और राष्ट्रीय महत्व के काम में इस बहस में पड़ने की जरूरत नहीं है कि उसमें फायदा किसको होगा। ऐसा माना जाता है कि इस काम में जगह की कमी नहीं है, काम में हिस्सा लेने वालों की कमी है। इसमें गरीब और अमीर सभी के लिए जितनी वे चाहें उतनी जगह बन सकती है। इसलिए अगर अमीर भी इस कार्यक्रम में आते हैं तो वे गरीब का हिस्सा नहीं छीनेंगे, गरीब भी उसमें अपनी ताकत के अनुसार शामिल हो सकते हैं। दूसरे अगर अमीर लोग भी इस कार्यक्रम मे आते हैं तो उसका लाभ आखिरकार गरीबों को ही मिलेगा, वे ही तो मेहनत करेंगे।

उद्योगों की सहभागिता के लिए पेशकश

4.8 पड़ती भूमि और बिगड़े जंगलों के सुधार के कार्यक्रमों में कई तरह के बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों ने बड़े पैमाने पर हिस्सा लेने की पेशकश की है। इनमें सबसे पहले तो कागज, रेयन और लुगदी के कारखानों जैसे प्रतिष्ठान हैं जिनको अब तक कच्चा माल जंगलों से मिलता रहा है। इनका कहना है कि जंगल लगभग खतम हो गए हैं और अब कच्चा माल उनसे नहीं मिल पा रहा है। जहाँ थोड़ा बहुत कच्चा माल है भी, वहाँ सरकार पर्यावरण की खातिर आगे माल निकालने की इजाजत देने में आनाकानी कर रही है। इसलिए वे सरकार से माँग कर रहे हैं कि उनको बिगड़े वन या पड़ती भूमि दे दी जाए, जिसमें वे जरूरी पेड़-पौधे लगाकर अपना काम चला सकें।

14.9 इन प्रतिष्ठानों की यह बात उम्र से देखने में तो ठीक सी लगती है। इसके अलावा उनके इस सुझाव को इस तरह भी पेश करने की कोशिश की जाती है जैसे कि वनों से कच्चा माल न देकर अगर उनको अपना खुद इंतजाम करना पड़े तो उनके साथ गैर-इंसाफी नहीं तो उनकी वाजिब रियायतों में कमी तो हो ही रही है। आगे चलकर जब ये उद्योग अपनी लागत लगाकर अपने लिए कच्चा माल पैदा करेंगें तो उन्हें जंगल से अब तक जिस दाम पर माल मिलता रहा है उससे कहीं ज्यादा भाव

पड़ेगा। इस तरह इन उद्योगों को अब तक जो रियायतें मिल रही थीं वह खतम हो जाएगी। आगे से उन्हें कच्चे माल के लिए पूरी कीमत चुकाना पड़ेगी। उद्योग का पूरा काम-काज सही लागत-लाभ के हिसाब के आधार पर चलेगा। इसलिये आज की दुनिया में जब कोई किसी अधिकार को छोड़ना नहीं चाहता है तब यही बड़ी बात है कि ये उद्योग बदलते हालात को समझ कर अपनी ओर से खुशी-खुशी एक वैकल्पिक व्यवस्था को पेश कर रहे हैं। इस व्यवस्था के बारे में एतराज खड़ा करने की बजाय स्वागत किया जाना चाहिये।

14.10 और इन प्रतिष्ठानों का यह तर्क हमारी व्यवस्था सहज ही स्वीकार कर लेती है। कुछ प्रतिवादों को छोड़कर इसी नीति के तहत पड़ती भूमि और बिगड़े वनों की लीजें उद्योगों को अपने लिये अलग-थलग बागान लगाने के लिए दी जा रही है। इसीप्रकार की एक बहुत बड़ी लीज (लगभग 30000 हेक्टेयर) कर्नाटक में दी गई है जिसमें कुछ वन भूमि है और कुछ पड़ती भूमि है। कर्नाटक में आम लोगों की ओर से, जिनमें अधिकतर गरीब हैं, इस लीज का कड़ा विरोध हो रहा हैं। उनका कहना यह है कि इसी जमीन से उनकी जिंदगी चलती है। इसलिए वे उन संसाधनों पर से अपना हक छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं और उन पर वे कारखाने का कब्जा नहीं होने देंगे। इस लीज के बारे में आगे चर्चा करूँगा, यहाँ पर हम उसके सैद्धांतिक पहलू पर ही विचार करेंगे।

संसाधनों के उपयोग में लोगों के अधिकार

14.11 पड़ती भूमि की किसी प्रतिष्ठान को लीज देने से अंत में हम जन सामान्य के उन संसाधनों से जिंदगी चलाने के अधिकार के सवाल पर पहुँच जाते हैं। क्या लोगों का केवल इसलिए कि उनके अधिकार कागज पर लिखे नहीं हैं, संसाधनों पर कोई अधिकार नहीं है ? क्या संसाधनों से जिन लोगों की जिंदगी की जरूरतें परंपरा से पूरी होती रही हैं, उनको नजर-अंदाज कर उन्हें दूसरे काम के लिये दिया जा सकता है ? हो सकता है कि जब उन संसाधनों पर अधिक लागत लगेगी तो उन से उत्पादन पहले से ज्यादा हो और इस तरह देश की अर्थव्यवस्था को फायदा हो। परन्तु यहाँ फिर सवाल लोगों की हकदारी और सामाजिक न्याय का आ जाता है। संसाधनों के नये विकसनशील उपयोग से किस को लाभ मिल रहा है और किसको हानि हो रही है ? क्या संसाधनों के नये उपयोग से होने वाले लाभ में उस आदमी की भी कोई हिस्सेदारी होगी या नहीं जो कि आज उससे अपनी जिंदगी चला रहा है ?

14.12 यह साफ है कि जब कोई पड़ती भूमि या बिगड़े जंगल उद्योग को मिल जाएँगें तो उसका पूरा लाभ उद्योग को मिलेगा। उससे कुछ मजदूरों को मजदूरी भी मिल सकती है। उसमें यह भी व्यवस्था हो सकती है कि नई पैदावार का कुछ अंश स्थानीय समाज को मिले। परन्तु जो आदमी आज उससे जिंदगी चला रहा है उसके बारे में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि उसको हानि कम और लाभ अधिक होगा। इसका मतलब यही हुआ कि इस आदमी की जो थोड़ी बहुत आमदनी हो रही थी वह छिन जाएगी। अगर किसी को कहीं कुछ रोजगार मिल जाए तो यह उसका भाग्य। मगर इसकी कोई खातरी नहीं है। उन संसाधनों से निश्चित लाभ तो उन्हीं लोगों को मिलेगा जो उनमें पूँजी लगा सकते हैं। इन कार्यक्रमों से उत्पादन बढ़ सकता है जिसे आज तरक्की मान लिया जाता है। परन्तु उसके साथ ही वे संसाधन गरीब से छिन जाते हैं या उसकी पहुँच के बाहर हो जाते हैं इस तरह इस व्यवस्था में बहुत से गरीबों के साथ अन्याय होना लाजमी है। यही हो रहा है। परन्तु गरीब इस अन्याय को सहने के लिए तैयार नहीं हैं। इसलिए वे आंदोलन कर रहे हैं, उनके खिलाफ लड़ रहे हैं।

पेड़ लगाने के दूसरे कार्यक्रम

14.13 जिस सोच के आधार पर उद्योगों को बागान लगाने के लिए जमीन दी जा रही है उसी के मुताबिक कई तरह की दूसरी संस्थाओं तथा लोगों को भी पर्यावरण बचाने और पेड़ लगाने के कार्यक्रमों में शामिल किया जा रहा है। इस कार्यक्रम के लिए बैंकों से कर्ज की व्यवस्था भी हो रही है। इसमें गरीबों के लिए भी कुछ खास कार्यक्रम बनाए गए हैं, जिनमें कर्ज के अलावा अनुदान भी है। इन कार्यक्रमों में जमीन की लीज या खास तरह के पेड़ पट्टे भी दिये जा रहे हैं। इस जमीन पर लोग केवल पेड़ लगा सकते हैं। उनका हक पेड़ों पर होगा, जमीन पर नहीं।

सामाजिक न्याय और दूसरे उद्देश्यों में संगति

14.14 इन सभी कार्यक्रमों के इन उद्देश्यों से, कि हमारे देश के पर्यावरण का सुधार हो और सभी प्राकृतिक संसाधन अधिक उत्पादी हो जाय, कोई मतभेद नही हो सकता है। परन्तु पहला सवाल तो यही है कि क्या जिस तरह से ये बागान लगाए जा रहे हैं वे सचमुच में पर्यावरण के लिए हितकर हैं और उस उपयोग से भूमि सचमुच अधिक उत्पादी हो जाती है। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि इस नस्ली बागान नए सोच के मुताबिक अब वन के दर्जे में ही नहीं आते हैं (देखिये पृष्ठ 77) इस तरह के बागान क्या सचमुच अधिक उत्पादी है इस सवाल पर हम आगे चर्चा करेंगे। यहाँ पर हमें पहले इस बात पर विचार करना होगा कि क्या पर्यावरण सुधार और अधिक उत्पादी उपयोग से सामाजिक न्याय के अहम सवाल को अलग किया जा सकता है ? और फिर क्या पर्यावरण-सुधार और संसाधन-विकास में गरीबों के हितों को कुचलना या उन्हें नजर-अंदाज करना जरूरी है ? अथवा इन उद्देश्यों को पूरा करने के साथ-साथ सामाजिक न्याय भी सुनिश्चित किया जा सकता है और गरीबों को उत्पादन व्यवस्था में हिस्सेदार बनाया जा सकता है।

गरीबों के प्रति समर्पण - कितना वास्तविक

14.15 गरीबों की हिस्सेदारी की बात तो इन कार्यक्रमों में भी स्वीकार की जाती है। उदाहरण के लिए कर्नाटक पेपर फ्लप लिमिटेड के मामले में उत्पादन का एक हिस्सा स्थानीय लोगों के उपयोग के लिए आरक्षित है। इसी तरह से दूसरे कार्यक्रमों में भी गरीबों के लिए आरक्षण है। परन्तु किसी कार्यक्रम में केवल समाज या गरीबों के लिये कुछ आरक्षण कर देने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि समाज या गरीबों के हितों की रक्षा हो ही जाएगी या उसमें सामाजिक न्याय की अनदेखी नहीं होगी। अक्सर जिन कार्यक्रमों में औपचारिक रूप से गरीब और गैर-गरीबों के लिये अलग-अलग जगह मुकर्रर होता है उनमें गैर-गरीब ही पूरा लाभ हथिया लेते है। हाँ, गरीबों को कुछ छुटपुट लाभ मिल जाता है अथवा व्यूह रचना के रूप मे सोच समझकर उन्हें कुछ फायदे दे दिये जाते हैं जिससे उनको वक्त मौके पर सामने खड़ा किया जा सके और कार्यक्रम को गरीबों के प्रति समर्पित किया जा सके। उदाहरण के लिए एक संस्था को 10 हजार हेक्टेयर और 1000 गरीब लोगों को 500 हेक्टेयर जमीन देकर एक कार्यक्रम को गरीबों का कार्यक्रम साबित किया जा सकता है जबकि असलियत इसकी बिल्कुल ही उलटी है।

14.16 पश्चिम बंगाल को छोड़कर लगभग दूसरे सभी राज्यों में आज यही हो रहा है। पेड़ के पट्टों के कार्यक्रम में कमजोर वर्गों के लोगों के लिए जगह तो है परन्तु उसमें उन्हें असलियत में क्या मिलेगा इसके बारे में स्थिति साफ नहीं है। उदाहरण के लिये राजस्थान में ग्रामग्राहियों में 50 प्रतिशत हरिजन/आदिवासी के लिये प्रावधान है परन्तु उनको कितनी जमीन मिलेगी इस बारे में नियम खामोश है। यही नहीं, राज्य के नियमों के मुताबिक गरीब को एक हेक्टेयर जमीन ही मिल सकती जबकि

दूसरों को दो से पांच और संस्थाओं को उससे भी ज्यादा जमीन की पात्रता है। इसके लिये तर्क यह दिया जाता है कि गरीब अधिक जमीन मिलने पर करेगा क्या, उसके पास तो खाने को भी नहीं तो उसमें लगाने के लिये पूँजी कहाँ से लायेगा। इस तरह सुविधाजनक नियमों और भुलावे वाले तर्कों के बीच अगर बड़े लोग मौके की सभी जमीन हथिया कर बड़ी-बड़ी "नई जागीरें" बना लें तो कोई ताज्जुब की बात नहीं होगी।

14.17 पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के ये सभी कार्यक्रम हमारी व्यवस्था की मूल अन्यायी प्रवृत्ति का प्रतिफल हैं जिन्हें सभी तरह के तर्क देकर, यहाँ तक कि गलत और धोखेवाली अवधारणाओं का इस्तेमाल करके भी उचित ठहराया जा रहा है। यही नहीं, शुद्ध व्यक्तिगत लाभ के लिए बड़े सिद्धांतों के नाम पर न केवल अन्यायी प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल रहा है वरन् जिन महान राष्ट्रीय उद्देश्यों - पर्यावरण-सुधार और संसाधनों के उत्पादी उपयोग की दुहाई दी जा रही है और उनकी दृष्टि से भी अहित ही हो रहा है। इसके लिए कुछ बुनियादी बातों पर विचार करना होगा।

उद्योगों की बागानी अर्थ-व्यवस्था का असली रूप

14.18 सबसे पहले हमें उद्योगों को कच्चा माल पैदा करने के लिए बागान लगाने के लिये भूमि की लीजों की सही प्रकृति और हिसाब-किताब को समझना होगा। कहने को तो यह कहा जा सकता है कि उद्योग के लिए बागान लगाना एक तरह से पेड़ों की खेती है जिससे वह अपना कच्चा माल पैदा करेगा। उद्योग के लिये अन्य कारबारों की तरह पेड़ उगाने में भी लागत लगाएगा। इस तरह सभी को फायदा होगा- लोगों को रोजगार मिलेगा, उद्योगों को कच्चा माल और उद्योगपति का आर्थिक लाभ।

14.19 परन्तु बागानों की अर्थव्यवस्था इतनी सीधी सादी नहीं है जिसे लागत-लाभ के इस सतही तर्क के आधार पर उचित ठहराया जा सके। बागान अर्थात् पेड़ उगाने की अर्थव्यवस्था में मेहनत मजदूरी बहुत कम, सिर्फ बरायनाम, लगती है। आमतौर पर एक बार पेड़ लग जाने पर रखवाली के अलावा और कुछ खास काम ही नहीं होता है। बागान या पेड़ों की खेती और वनों के विकास में सबसे बड़ा काम तो उनकी रखवाली करना है, उनकी पैदावार तो मूलतः प्रकृति की देन है, उसमें व्यक्ति का योगदान तो नगण्य है।

14.20 **आजादी के बाद निजी जंगलों के राष्ट्रीयकरण में यही उसूल था कि किसी व्यक्ति को ऐसे संसाधनों पर निजी मिल्कियत का हक नहीं है जिससे होने वाली उपज के लिये मेहनत करने की जरूरत न हो।** न्यायपूर्ण सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में हर व्यक्ति को अपनी मेहनत के फल पर ही पूरा हक हो सकता है। परन्तु अगर किसी जागीरदार के पास हजारों हेक्टेयर वन है तो उसके लिये वह संपत्ति रूप है जिससे उसे बिना मेहनत के करोड़ों रुपयों की आमदनी हो सकती है। यह ठीक है कि इन संसाधनों के रख-रखाव और विकास पर कुछ लागत लगती है, कुछ मेहनत भी लगती है। और यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक बागानों या वृक्ष-खेती में भी ऊँची तकनीक, अधिक मजदूरी, भारी लागत और नये संगठन की भी जरूरत होती है। इस तरह यह कारबार भी खेती की तरह लागत-लाभ वाला कारबार कहा जा सकता है। परन्तु इस तर्क में पेंच है जिसको साफ करना जरूरी है।

14.21 यह तर्क हमारे देश में आसूदा लोगों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर हक कायम करने की एक गहरी साजिश का हिस्सा है। बागान या वृक्ष-खेती को आमतौर पर जिस तरह पेश किया जाता है उससे लगता है कि वह लागत-लाभ वाला एक साधारण सा कारबार है। परन्तु उसमें लागत-लाभ क्या है इसकी अवधारणा ही दोषपूर्ण है, उसे जानबूझ कर ऐसा बनाया गया है जिससे गरीब उस कारबार में घुस ही न पाये। बागानों या वृक्ष-खेती से कच्चा माल पैदा करने में असली लागत कुछ होती

ही नहीं है। परन्तु इस तथ्य को छुपाने के लिए उस पर तरह-तरह के ज़रूरी गैर-ज़रूरी खर्चे दिखाकर यह भी बताने की कोशिश की जाती है कि वह सच में व्यवसायिक काम-काज है। इसलिये बागान के कारोबार में उद्योगपतियों की लागत न केवल बहुत कुछ गैर-जरूरी होती है वरन् पर्यावरण, उत्पादन और सामाजिक न्याय तीनों ही तरह से देश के हित में नहीं हैं।

संसाधनों के विकास का असली आधार

14.22 सबसे पहले हम उद्योगों या आसूदा लोगों को पड़ती भूमि और बिगड़े वन देने से संसाधन विकास या संसाधनों के अच्छे उपयोग के दावे के बारे में विचार करेंगे। इसमें पहली बात तो यही विचारणीय है कि जमीन के हर टुकड़े में न जाने कितनी तरह के पेड़ उगते रहते हैं जिनके बारे में आज भी पूरी जानकारी नहीं है। परन्तु फिर भी हर जगह वहाँ के रहने वाले लोग सदियों के अपने अनुभव के आधार पर उनमें से बहुत सी चीजों का उपयोग जानते हैं, करते है। जैसे-जैसे हम प्रगत क्षेत्रों से वनों की ओर बढ़ते जाते हैं, लोगों की पूरी जिंदगी ही स्थानीय संसाधनों के उपयोग पर मुनस्सिर होती जाती है। आदर्श रूप में प्रकृति का हर उपहार का - फत्ती, फल, जड़ - उसकी जिंदगी के लिए अनमोल हैं।

14.23 मगर उसी जंगल या जमीन के बारे में सरकार या उद्योगपति का नजरिया बिलकुल उलटा होता है। उनके लिये उस पूरी पादप-संपदा में उन्हीं वस्तुओं का मूल्य है जो उनके लिये "उपयोगी" हों। वे समूचे प्राकृतिक संसाधनों को सिर्फ लागत-लाभ के नजरिये से देखते है। एक जमाने में जब आधुनिक व्यवस्था के लिये बांस का कोई उपयोग नहीं था, वन विभाग के द्वारा उसे खर-पतवार करार दे दिया गया था। आम आदमी के लिये बांस तब भी बहुमूल्य था और आज भी है। उद्योगपति के लिये जमीन और जंगल में पैदा होने वाली किसी चीज का कोई मतलब ही नहीं, जब तक उसमें मुनाफा न हो। इसीलिये सरकार जंगलों से सिर्फ इमारती लकड़ी काटती रही है। उसकी नजर में वहाँ के फल-फूल, लता-गुल्मों का कोई मूल्य नहीं था। इसी तरह उद्योगपति को कच्चे माल के रूप में जो कुछ चाहिए, उसी का मोल है, बाकी सब बेमतलब।

14.24 इस औद्योगिक व्यवस्था में हरचंद यही कोशिश रहती है, जो कि स्वाभाविक है, कि उनकी पैदावार की झल्ली में उनकी अपने मतलब की चीजों के अलावा कोई और चीज रहे ही नहीं। इसीलिए प्राकृतिक वनों को काटकर एक-नस्ली बागान लगाए जाते रहे हैं जिनका वहाँ के निवासियों ने कड़ा प्रतिरोध तक किया। **बागान और वृक्ष-खेती के सभी कार्यक्रम बुनियादी तौर पर प्रकृति की ताकत के खिलाफ लड़ाई है। किसी इलाके में प्रकृति अपनी ओर से जो कुछ दे रही है उसको सिर्फ इसलिए बेकार मान लिया जाता है क्योंकि उससे मुनाफा नहीं कमाया जा सकता है।** इस तरह से इन कार्यक्रमों में प्रकृति के देन के एक बहुत छोटे से हिस्से का ही स्तेमाल होता है और दूसरी ओर तथाकथित उपयोगी वस्तुओं की पैदावार बढ़ाने के लिये प्रकृति से मुतवातिर लड़ाई चलती रहती है। ये सभी खर्चे गैर-जरूरी हैं परन्तु कारबार लागत में शामिल कर लिये जाते हैं। **जाहिर है कि बागान या वृक्ष-खेती सही अर्थों में प्राकृतिक संसाधनों की पैदावार बढ़ाते नहीं है, वरन् उसे घटाते हैं।**

14.25 अगर यही संसाधन आम आदमी के अधिकार में हो तो बात बिलकुल ही बदल जाती है। आम आदमी, जिसके पास थोड़ी-सी भी जमीन हो, उसका सोच ही अलग है। वह उसमें होने वाली हर चीज को देखता है, परखता है और उसका उपयोग करता है। वह पेड़ लगाता है, परन्तु पेड़ों के साथ कुछ और पौधे भी लगाता है। वह उस जमीन पर अपने आप उगने वाली घास-फूस का भी उपयोग करता है। वह एक कोने में बकरी तो दूसरे कोने में मुर्गी पालता है। वन में रहने वाला

वनवासी भी यही करता है। **इस तरह से संसाधनों से उत्पादन और उनके उपयोग की दृष्टि से इससे बढ़कर और कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती कि संसाधन ऐसा व्यक्ति संभाले जो खुद उसका उपयोग करे।**

14.25 **हमारी अर्थ-व्यवस्था का चालू गणित अधूरा ही नहीं, गलत भी है। उसमें आम आदमी की जरूरतों का कोई हिसाब ही नहीं है।** अगर कोई पैदावार बाजार में बिकने नहीं जाती है तो उसके मूल्य की बात दूर उसका कोई वुजूद ही नहीं माना जाता है। आम आदमी की जरूरतें अगर किन्हीं संसाधनों से सीधे-सीधे पूरी होती हैं तो उस उत्पादन का कोई मोल ही नहीं। **इसी तरह के आधे-अधूरे और गलत लागत के हिसाब में उद्योगपतियों की "नई जागीरों" में पैदावार अधिक होती है और गरीब आदमी की बाड़ी में कुछ दिखाई ही नहीं देता है। और यह साबित कर दिया जाता है कि उद्योगपति ही संसाधनों का सही उपयोग कर रहे हैं, देश का और गरीब का हित भी उसी में है।** आखिर गरीब को भी कुछ मजदूरी तो मिल ही जाती है। **परन्तु अगर हम उत्पादन के पूरे हिसाब को देखें, गरीब आदमी को जो लाभ मिल सकता है उसको भी हिसाब में लें तो आसूदा लोगों की जागीरों की तुलना में गरीब की बाड़ी की पैदावार कहीं अधिक निकलेगी, इतनी अधिक कि उनका कोई मुकाबला ही नहीं हो सकता।** यही नहीं, पर्यावरण बचाव के लिये भी गरीब आदमी की हिस्सेदारी में सीधा और परोक्ष दोनों ही तरह से कहीं अधिक फायदा हो सकता है।

14.27 **सच तो यह है कि इसी गलत सोच की वजह से विकास के दौर में लाभ-हानि का सही हिसाब तक नहीं हुआ, उससे गरीबों पर क्या बीती है उसका अहसास तक नहीं है।** खेती की जमीनें बढ़ीं, बागान लगाए गए, उनसे होने वाले लाभ को राष्ट्रीय उत्पादन में शामिल किया गया - वह उत्पादन बाजार व्यवस्था का अंग बन गया। संसाधनों के इस नये उपयोग के साथ उनकी मिल्कियत या उनके उपयोग का एकाधिकार कुछ लोगों को मिल गया। परन्तु उन्हीं संसाधनों से जिन लोगों को कंद-मूल-फल के रूप में जीवन का आधार बना हुआ था, वह उनसे छिन गया। आज देश के भौगोलिक क्षेत्रफल के 23 प्रतिशत हिस्से पर वन की बजाय 11 प्रतिशत हिस्से पर ही वन रह गया है। इसका पर्यावरण पर बुरे प्रभावों की बात तो बहुत होती है परन्तु उस 12 प्रतिशत भूखंड से लोगों को कितना खाने को मिलता था जो अब उन्हें नहीं मिलता है, इसका कहीं कोई हिसाब नहीं। इसी तरह वनों में वन्य प्राणियों के अंधाधुंध संहार से उन जातियों के लोप होने के जोखिम की बात तो कही जाती है। परन्तु उन्हीं वन्य प्राणियों के सहज आखेट से साधारण लोगों को जो प्रोटीन मिलता था और अब नहीं मिलता है उसका कोई हिसाब नहीं।

14.28 विकास का लाभ आधुनिक व्यवस्था को या उसके कुछ छोटे से लोगों को मिला परन्तु अधिसंख्य लोगों से उनका कांटा और उनका शिकार छिन गया। राष्ट्रीय उत्पादन के आंकड़ों में खाद्य सामग्री के उत्पादन में बढ़ोत्तरी दिखाई देती है। शायद बाजारी व्यवस्था से गरीबों को मिलने वाली मात्रा में भी बढ़ोत्तरी हुई हो। पर उनके खाने का स्तर नीचा और कहीं-कहीं बहुत नीचा हो गया इसका कहीं हिसाब नहीं। उनके मुँह से छीनी गई वस्तुओं के बारे में कोई अहसास तक नहीं है।

लागत के हिसाब की असलियत

14.29 अब अगर हम बागान या वृक्ष-खेती की लागत का हिसाब लगाएँ, जिसके बहाने आसूदा लोगों को यह विशेष दी जा रही है, तो भी हालत उलटी ही नजर आएगी। जैसा पहले हम कह चुके हैं कि जमीन के हर टुकड़े से कोई न कोई गरीब जुड़ा हुआ है। अगर उस जमीन को अधिक अच्छे उपयोग के लियेभी किसी दूसरे को दे दिया जाता है तो नये मालिक को पहला काम तो यही करना

पड़ेगा कि वह उस गरीब को उस जमीन का पहले जैसा उपयोग न करने दे, उसे उस जमीन पर आने ही न दे। प्राकृतिक संसाधनों के वैकल्पिक उपयोग के लिये यह कशमकश सदा से चली आ रही है। आदिवासी को वन भूमि पर खेती के लिए जंगली जानवरों से रक्षा करनी पड़ती है। दूसरी जगह लोगों को जमीन के नौतोड़ करने के बाद जानवरों के चरवाहों से जूझना पड़ता है। एक-फसली इलाके में सिंचाई का साधन हो जाने पर सिंचित खेती करने वालों के लिये दूसरे गाँव वालों के जानवरों से बचाव ही प्रमुख समस्या होती है।

14.30 **परन्तु परिवर्तन की सभी प्रक्रियाएँ बड़ी धीमी होती हैं। दूसरे इन मामलों में कशमकश समाज** के ही विभिन्न वर्गों के बीच होती है और उसका मिल बैठ कर निराकरण भी होता रहा है। परन्तु जब किसी संसाधन पर एकाएक सरकार, उद्योगपतियों और आसूदा लोग का कब्जा हो जाता है और उसका वैकल्पिक उपयोग योजनाबद्ध तरीके से किया जाने लगता है तो संसाधन के उपयोग में बदलाव एकाएक होता है। इसलिए इस तरह के किसी भी कार्यक्रम में पहला और सबसे जरूरी काम यही होता है कि उस जागीर की उन लोगों से किसी तरह रक्षा करना जो उसके पहले उनसे अपनी जिंदगी चलाते रहे हैं। इसलिए पड़ती भूमि पर बागान लगाने के पहले ही उसके चारों ओर खाइयां खोदी जाती हैं, तार लगाये जाते हैं और जब साधारण तारों से बचाव नहीं हो पाता है तो फिर उनमें बिजली दौड़ाई जाती है। इन सभी कार्यक्रमों में सुरक्षा के मद पर सबसे ज्यादा लागत आती है। उसके बिना कोई कार्यक्रम सोचा ही नहीं जा सकता है। परन्तु कितनी भंगुर होती है यह घेरा-बंदी बिना लोगों की सहभागिता के - यह देखने के लिये कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं. मीलों लम्बी खाइयों में कहीं एक जगह दो फिट चौड़ा भराव और हजारों ऊँचे-ऊँचे खंभों में किसी एक का ढ़ीला तार, और बन जाता है जानवरों का रास्ता उस दीवार के पार। और अगर अधिक कड़ाई हुई तो अंतिम रास्ता अतिवादी समर्थन को नियंत्रण, पूरी व्यवस्था ही चरमरा जाती है।

14.31 दुर्भाग्य से यह अन्यायी व्यवस्था इतनी स्वाभाविक सी लगती है कि उसकी विसंगति विसंगति ही नहीं लगती। इस कारण इन कार्यक्रमों में गरीब आदमी के साथ किसी न किसी रूप में संघर्ष चलता ही रहता है। और उस संघर्ष की कीमत विकास के लिए लागत के रूप में आँकी जाती है। यहीं पर एक बुनियादी सवाल आता है कि क्या गरीब से संघर्ष विकास प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है ? क्या इस संघर्ष पर किया गया निवेश जरूरी है और वह निवेश सच में विकास के लिए निवेश है ? क्या इन्हीं संसाधनों के उपयोग के लिये इस तरह तजबीज नहीं हो सकती है, जिसमें उस गरीब को, जिसे उन संसाधनों से अभी तक जिंदगी चलाने के लिए कुछ मिल जाता था, कुछ और मिल जाय? **मानवीय व्यवस्था का एक अटल सत्य है - जनसामान्य की लहर के विरुद्ध कोई अवरोध टिक नहीं सकता। सभी दीवारें चाहें कितनी भी पुख्ता क्यों न हों देर-सवेर उस लहर के रेले में, ध्वस्त हो जाती हैं, उनका नामोनिशान भी नहीं रहता, शेष रह जाती है जन चेतना और जन-मानस।** नये विकास के लाभ में जन-सामान्य की हकदारी ही उसका सबसे बड़ा बचाव है, फिर किसी और बचाव की जरूरत ही नहीं रहती। उस हालत में सामाजिक न्याय के अलावा शुद्ध लागत-लाभ की दृष्टि से भी ये कार्यक्रम लागत में भारी कमी हो जाने से और भी अधिक लाभदायी हो सकते हैं।

सर्चीले कार्यक्रम और सिमटता विस्तार

14.32 पड़ती भूमि और बिगड़े जंगलों के सुधार और उपयोग के बारे में एक और पहलू भी है जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया है। हालांकि बहुत सी जगह खेती के लिए उपयोगी न होने पर भी भूमि पर खेती की जा रही है। परन्तु फिर भी अधिकांश पड़ती जमीन खेती के लिए उपयोगी न होने के

कारणही अभी तक खेती से बची हुई है। इसके खेती के लिए अनुपयोगी होने के दो कारण हैं। या तो जमीन की किस्म ही अच्छी नहीं है या फिर वहाँ पानी का अभाव है। अब यदि इन इलाकों के लिये कोई कार्यक्रम राष्ट्रीय हित में बनना हैं तो वे कार्यक्रम ऐसे होने चाहिये जिससे समूची पड़ती भूमि और बिगड़े वन अथवा सभी संसाधनों का अच्छा से अच्छा उपयोग हो सके। इसके लिये लागत इतनी कम होना चाहिये कि कार्यक्रम खराब से खराब जमीन पर भी लेने पर लागत-लाभ का हिसाब ठीक हो अर्थात् लाभ लागत से ज्यादा हो।

14.33 हम ऊपर देख चुके हैं कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों के कार्यक्रमों की प्रकृति ऐसी है कि उनमें पड़ती जमीन से जितना लाभ लिया जा सकता है उससे लाभ बहुत कम मिल पाता है - एक छोटा सा अंश ही। इसी तरह से गरीबों से संघर्ष के संदर्भ में रखवाली का अनावश्यक बोझ ही इतना पड़ जाता है कि लागत बहुत अधिक हो जाती है। यही नहीं, इस तरह के अधिकांश कार्यक्रमों पर कई तरह के और भी खर्चे शामिल किए जाते हैं, जिन्हें जरूरी नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए इन कार्यक्रमों में पानी के लिए व्यवस्था भी अनिवार्य जैसी मानी जाती है। इसके लिए तर्क यह दिया जाता है कि अगर पानी नहीं मिलेगा तो पेड़ सूख जायेंगे। परन्तु इसका अर्थ यह भी तो हुआ कि वृक्ष खेती के कार्यक्रम भी वहीं लिये जा सकते हैं जहाँ पर पानी की व्यवस्था हो सके।

14.34 जाहिर है कि जहाँ पानी की व्यवस्था हो सकती है ऐसे इलाके बहुत थोड़े हैं। पानी जहाँ मिल सकता है वहाँ लोग खेती करेंगे, उसी में उनको अधिक से अधिक मेहनत करने का अवसर मिलता है। भूमि पड़ती इसीलिए है कि वह खेती के काबिल नहीं और पानी का साधन नहीं। इस तरह पानी की अगर जरूरत मान ली जाय तो इन कार्यक्रमों में काम का दायरा बहुत ही संकुचित हो जाता है। इसी कारण बड़े प्रतिष्ठान या आसूदा लोग जब इन कार्यक्रमों में आगे आते हैं तो वे अच्छी से अच्छी जमीन लेने की कोशिश करते हैं। और अच्छी भूमि न मिलने पर पर्यावरण सुधार के बड़े-बड़े सिद्धांत बघारने के बावजूद वहाँ से कन्नी काट लेते हैं - सीमान्त भूमि से लोहा लूझे। अब तक का यही अनुभव रहा है। और इस तरह लागत-लाभ के आधार पर अधिकांश सीमांत भूमि पर वृक्ष-खेती के कार्यक्रम भी लाभदायक न होने से नहीं लिये जा सकते है। यही नहीं, आसूदा लोगों के ये खर्चीले कार्यक्रम गलत मानदण्ड स्थापित कर देते हैं। इसलिये सीमांत जमीन के लिये अगर कोई परियोजना बनाई भी जाय तो बैंकों की दृष्टि में वे अधूरी होती हैं - खर्च अधिक लगने पर वे लाभकारी नहीं रह जाती। इसलिये दोनों ही हालतों मे वे बैंक के समर्थन के काबिल ही नहीं रहती।

14.35 **अगर आसूदा लोगों का यह तर्क कि पेड़ों की खेती उन्हीं जगहों पर की जाये जहाँ पर पानी उपलब्ध है, साधारण किसान अपनी खेती के लिए भी मान ले तो हिन्दुस्तान में अधिकांश किसान खेती कर ही नहीं सकेंगे।** पानी की कमी और बरसात की गड़बड़ी का जोखिम तो हिन्दुस्तान का साधारण किसान उठाता ही है। जिन इलाकों में पानी कम होता है वहाँ की भूमि पर खेती न करके पेड़ लगाने के लिए सबसे बड़ा तर्क तो यही हो सकता है कि पेड़ों की खेती में पानी की कमी के कारण नुकसान का जोखिम कम होता है। खेती के लिए मौसम के अनुसार पानी की जरूरत होती है। अगर साल में पूरा पानी पड़ भी जाय, परन्तु उसका फैलाव सही नहीं हो, तो भी खेती चौपट हो सकती है।

14.36 परन्तु यह स्थिति पेड़ के साथ नहीं है। पानी न होने पर भी पेड़ बने रहते हैं। अगर सूखे की साल में बढ़त कम होगी तो अच्छी साल में बढ़त ज्यादा हो जाती है। यह जरूर होता है कि अगर पौधा लगते ही पानी की कमी हो जाय तो वह सूख सकता है। परन्तु पानी कम होने या पानी

न होने का जोखिम न लेने के कारण पेड़ न लगाने की बजाय पानी की घटा-बढ़ी का जोखिम लेकर पेड़ लगाना ही अधिक तर्कपूर्ण है - हमारे देश की स्थिति में वही एक मात्र विकल्प है। इस साल पौधा सूख भी गया तो अगली साल फिर कोशिश हो सकती है - पाँच साल में तीन साल तो सूखाग्रस्त इलाकों में भी ठीक पानी की उम्मीद की जा सकती है। और उम्मीद पर ही दुनिया, खासतौर पर हमारे किसान की दुनिया कायम है। अगर देश में पर्यावरण का संतुलन हमें फिर से कायम करना है तो घटिया से घटिया जमीन पर भी वनस्पति वापिस लानी होगी और उसके लिये पानी की घटा-बढ़ी की जोखिम लेना ही होगा। आखिर उन्हीं स्थितियों में वन अपने आप पनपते हैं, बढ़ते हैं। इसी प्रक्रिया को आदमी की पहल के आधार पर ही बढ़ाना होगा।

14.37 इसी तरह से बड़े प्रतिष्ठानों के कार्यक्रमों में, जैसा हम पहले देख चुके हैं, प्रकृति की पूरी ताकत का स्तेमाल न करके कुछ चुने हुए पेड़ लगाने का प्रयास किया जाता है। अगर इसकी बजाय जमीन में उपलब्ध जड़-समूह की संभावनाओं का पूरा उपयोग किया जाय तो बिना किसी लागत के अधिक से अधिक पेड़-पौधे पैदा हो सकते है। चुने हुए पेड़ उद्योग के लिए लगाए जाते हैं, परन्तु प्राकृतिक वनोंसेआम आदमी की अर्थ-व्यवस्था को ताकत मिलती है। **कैसी विसंगति है कि बागान जिनमें समग्र रूप से देखने में थोड़ा सा लाभ ही होता है, इनके लिए ज्यादा निवेश की जरूरत होती है जब कि प्राकृतिक वन जिनमें समग्र रूप से लाभ बहुत ज्यादा होता है उनके लिए निवेश की बहुत थोड़ी जरूरत होती है। परन्तु चूँकि वह थोड़ा लाभ उद्योगपतियों का होता है इसलिए वे उसके लिए ज्यादा निवेश भी करने में पीछे नहीं हटते हैं। दूसरी ओर जहाँ लाभ गरीबों का होता है पहले तो उसका कहीं हिसाब-किताब ही नहीं होता। इसलिए समग्र दृष्टि से अधिक लाभ होते हुए भी उसमें थोड़ा सा निवेश भी अपव्यय माना जाता है।**

14.38 इस तरह परियोजनाओं और कार्यक्रमों में लागत-लाभ का हिसाब बिल्कुल ही बेतुका है जिसमें केवल आसूदा लोगों के हितों का पूरा ध्यान रखा जाता है और राष्ट्रीय हित और गरीबों के हित की बिल्कुल अनदेखी हो रही है। **इन कार्यक्रमों पर भारी निवेश को जरूरी मानकर यह सिद करना संभव हो जाता है कि इस तरह के कार्यक्रम केवल बड़े लोग ही कर सकते हैं और उनको ही इसकी जिम्मेदारी दी जा सकती है। और गरीबों को उसमें से अलग हटना संभव हो जाता है। यही नहीं इन कार्यक्रमों का विस्तार भी अच्छे इलाकों तक ही सीमित रह जाता है जिसके बारे में किसी की कोई चिंता नहीं।** और अगर सीमित विस्तार की बात आती भी है तो कह दिया जाता है कि जब संभव ही नहीं तो किया क्या जाय ? परंतु संभावना की परिभाषा ही ऐसे की जाती है कि अच्छे संसाधनों पर आसूदा लोगों का वर्चस्व कायम हो जाता है। इस तरह यह पूरी प्रक्रिया राष्ट्रीय संसाधनों पर अधिकार और उनके उपयोग से गरीबों को दूर रखने की एक गहरी साजिश है, जिसमें राष्ट्रीय हित को भी अनदेखा कर दिया गया है।

लाभों के लिये लम्बे समय की प्रतीक्षा का बहाना

14.39 इन कार्यक्रमों में गरीबों को शामिल करने के खिलाफ एक और बात भी कही जाती है। इन कार्यक्रमों में यह मानकर चला जाता है कि उनसे आमद्रनी लागत लगाने के बहुत दिनों के बाद होती है। इस स्थिति में क्या गरीब आदमी लागत लगाने के बाद आमदनी के लिये इतने दिन इंतजार कर सकता है ? लगता है इसका कोई जवाब ही नहीं है। और इसलिए यही सोच सही मान लिया जाता है कि पड़ती जमीन ऐसे लोगों को ही दी जाय जो पूँजी लगा सकते हैं और उसमें से आमदनी होने तक पाँच-सात साल इंतजार कर सकते हैं। चूँकि आसूदा लोगों के अलावा और कोई ऐसा कर नहीं सकता है, इसलिए लाचारी में यह जिम्मेदारी उन्हीं को उठानी पड़ती है राष्ट्रीय हित में।

14.40 इस तर्क का भी एक ही मकसद है - गरीब को किसी भी हालत में संसाधन न मिलने देना। दूसरी दलीलों की तरह ही यह दलील भी थोथी है। यहाँ भी असली सवाल नजरिये का है। **हमारी अर्थ-व्यवस्था का पहला सत्य है कि गरीब जहाँ भी है अपनी मेहनत से अपनी गुजर करता है, उसे कोई दूसरा रोटी देने वाला नहीं है।** अगर ऐसे व्यक्ति को जो कहीं न कहीं से मेहनत करके अपना पेट भर ही रहा है, किसी नये कार्यक्रम में शामिल किया जाय तो उसकी हालत में सुधार ही होगा। जब तक वह खुद न चाहे तब तक उसके दूसरे काम में तो कोई फर्क पड़ेगा नहीं। इसके साथ ही, अगर पड़ती जमीन के कार्यक्रम ठीक तरह से बनाए जाय तो उनमें उसे जो मेहनत करनी पड़ेगी उसकी उसे मजदूरी मिल सकती है। इस तरह उसकी कुल आमदनी के बढ़त ही होगी। इस हालत में लम्बे समय तक इन्तजार की बात करना निरर्थक है।

14.41 एक बात और भी है। गरीब और उसके परिवार के पास अगर कुछ इफरात है तो वह उनकी मेहनत है। जिस मेहनत से ही वह गुजर करता है, उसे वह अपने काम में भी लगा सकता है। आज के हालात ऐसे नही है कि गरीब लोगों के पास फादिल वक्त न हो और वह भी अपने काम के लिये । हर परिवार में मेहनत-मजदूरी करने के बाद भी कुछ न कुछ समय निकल सकता है जिसे वह अपने लिये संसाधन बनाने में उपयोग कर सकता है। और इन परियोजनाओं में बहुत से काम ऐसे होते हैं जिन्हें उद्यमी मजदूर लगाकर ही कर सकता है परन्तु मजदूर के लिए उनको करने के लिए अलग से आदमी या मेहनत की जरूरत नहीं । जमीन की रखवाली तो परिवार के खेत पर रहने-बसने से ही हो जाएगी या बाल-बच्चे खेलते-कूदते करते रहेंगे। वैसे तो इस तरह के काम के लिये पैसा की जरूरत ही नहीं है, आखिर काम उसका अपना है। परन्तु अगर उसको इस सभी कामों के लिए मजदूरी की व्यवस्था हो जाय तो सोने में सुहागा, उसकी आमदनी में थोड़ी और बढ़त हो जाएगी।

14.42 पड़ती भूमि पर वृक्ष-खेती से आमदनी होने के लिए पाँच-साल के लिये इंतजार की बात सही है परन्तु उद्योगपतियों या आसूदा लोगों के नजरिये से। चूँकि से लोग जमीन को अक्सर एक सिंगल फसल के लिये उपयोग में लाते हैं, यह उनके लिये सही भी है। उस जमीन से आमदनी की दूसरी संभावनाएँ उनके लागत-लाभ के हिसाब में खरी न ही उतरती । परन्तु गरीब का अर्थशास्त्र अलग है। जमीन मिलते ही वह उसे दूसरे दिन से ही कई तरह के कामों के लिये उपयोग कर सकता है। पेड़-पौधों का भी ऐसा चयन किया जा सकता है जिससे उसको चार-छः महीने में ही कुछ आमदनी होने लगे। यह ठीक है कि आमदनी की पूरी संभावना पाँच-सात साल में ही उभरेगी। परन्तु उस बीच वह अपने श्रम का भी तो दूसरा उपयोग करता रहेगा। **इस तरह गरीब के लिये पेट भरने के लिए पाँच-सात साल इंतजार करने की बात नहीं है। हाँ जब पड़ती भूमि से पाँच-सात साल के बाद पूरी आमदनी होने लगेगी तो उसकी स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन होगा। तब वह साधनहीन न रहकर साधन सम्पन्न व्यक्ति हो जायेगा। और इस तरह वह भी नये विकास में बराबरी का हिस्सेदार बन जाएगा।**

कार्यक्रम की असली बनावट

14.43 किसी भी कार्यक्रम में बुनियादी तौर पर चार चीजों की जरूरत होती है जमीन, श्रम, पूँजी और संगठन। पड़ती भूमि या बिगड़े वनों से संबंधित कार्यक्रमों में जमीन सरकार देती है और मेहनत मजदूर की होती है। इसलिए सवाल बच रहता है पूँजी और संगठन का। उद्योगपति या आसूदा लोगों के इन कार्यक्रमों में शामिल करने की पेशकश इस बिना पर की जाती है कि वे पूँजी लगाएँगे और उसके लिये जरूरी संगठन-व्यवस्था भी करेंगे। इस तर्क पर थोड़ा गहराई से विचार करने की जरूरत है।

14.44 पहले पूँजी के सवाल को ही ले लें। उद्योगपतियों को भी पूँजी या तो सरकार से अथवा बैंकों से मिलती है। सच तो यह है कि नियोजित विकास में, खासतौर पर गरीबों के विकास के मामले में पूँजी को बुनियादी नहीं माना जा सकता है। और पड़ती भूमि पर पेड़ लगाने के काम में तो अगर हम अनावश्यक खर्चों को निकाल दें तो मेहनत के अलावा कुछ खास पूँजी की जरूरत ही नहीं है। इसतरह उद्योगपति भी जब पूँजी लगाता है तो उसके दो ही मद होते हैं--अनावश्यक खर्च और मजदूर की मजदूरी। अगर मजदूर को अपना काम करने के लिए मजदूरी का इन्तजाम हो जाय तो पूँजी की कोई खास जरूरत ही नहीं रहती।

14.45 जब आसूदा लोगों और आम आदमी के कार्यक्रमों में पूँजी के मामले में इतनी बड़ी असमानता है तो विकल्प साफ है। एक और बात भी है। आसूदा लोगों के कार्यक्रम में न केवल पूँजी की बहुत ज्यादा जरूरत होती है वरन् उसका लाभ बहुत समय के बाद मिलता है। परन्तु गरीबों के मामले में उसका लाभ तुरंत या बहुत थोड़े समय में शुरू हो जाता है। यही नहीं, आसूदा लोगों के कार्यक्रम में अधिकांश पूँजी औद्योगिक वस्तुओं के लिये जरूरत होती है जबकि गरीबों के कार्यक्रम में पूँजी सीधी मजदूरी के रूप में जाती है। दोनों ही तरह से आसूदा लोगों के कार्यक्रमों में निवेश के अहितकारी प्रभाव हो सकते हैं, मुद्रा-स्फीति हो सकती है इसलिये उसको सीमित रखना जरूरी होगा। परंतु गरीबों को कार्यक्रम में कितनी भी पूँजी लगाने पर भी किसी दुष्परिणाम की संभावना नहीं है। उलटे जितना अधिक निवेश होगा अर्थ-व्यवस्था उतनी ही संतुलित होगी और इस तरह निवेश के लिये कोई वित्तीय सीमा ही नहीं रह जाती, कार्यक्रम को कितना भी बढ़ाया जा सकता है। **इस तरह थोड़ी पूँजी की जरूरत वाले गरीबों के कार्यक्रमों के लिये आवश्यक पूँजी का इंतजाम करने की सरकार या बैंकों से उम्मीद की जा सकती है। इस तरह इन कार्यक्रमों में आसूदा लोगों की पूँजी में हिस्सेदारी का कोई खास मतलब नहीं है।**

14.46 अब रहा पड़ती भूमि के सुधार के लिये संगठन व्यवस्था का सवाल। इसमें भी उद्योगपतियों और आसूदा लोगों के संगठन-अनुभव का अगर कोई उपयोग हो सकता है तो वह बड़े-बड़े कार्यक्रमों में बाहरी संबंधों के बारे में। पेड़-पौधों के बारे में तो आम आदमी को ही सब मालूम है। इसलिये अगर बड़े-बड़े कार्यक्रम न लेकर थोड़ी-थोड़ी जमीन पर गरीब लोगों के लिए छोटे-छोटे कार्यक्रम बनाये जायं तो बड़े पैमाने पर संगठन की जरूरत खत्म हो जाती है। इस तरह यह साफ है कि पड़ती जमीन या बिगड़े वनों के कार्यक्रमों में किसी भी कारण से उद्योगपतियों या आसूदा लोगों का होना जरूरी नहीं है। यही नहीं, उनकी भागीदारी कार्यक्रमों के लिये अहितकर है। हम पहले देख चुके हैं कि आसूदा लोगों के होने से ये कार्यक्रम अनावश्यक रूप से बहुत मंहगे बन जाते हैं। **पहले** तो उनमें न संसाधनों का पूरा उपयोग होता है और न प्रकृति की ताकत का ही पूरी तरह से फायदा उठाया जाता है। **दूसरे** इन कार्यक्रमों में आम आदमी से भी टकराव लाजमी है। इस तरह प्रकृति और आदमी दोनों से ही संघर्ष होता है जिसका नतीजा यह होता है कि **ये कार्यक्रम बहुत खर्चीले हो जाते हैं। दुर्भाग्य यह है कि इन्हीं खर्चीले कार्यक्रमों को आदर्श मान लिया गया है और फिर इनके लिए बड़ी-बड़ी रकमों की जरूरत दिखाकर यह कह दिया जाता है कि गरीब इतने खर्चीले कार्यक्रम को कैसे कर सकता है?**

14.47 गरीब के कार्यक्रम का हिसाब बिल्कुल ही अलग होता है। गरीब को अगर संसाधन दे दिये जाय और उसे इसका इत्मीनान हो जाय कि उसमें जो कुछ होगा, उस पर उसका अधिकार होगा

तो लगभग बिना किसी खर्च के ही अपना काम कर लेगा। पेड़ों और वनों के मामले में उसका अनुभव बड़ा कड़ुआ है। उसे अपने खेत पर खड़े पेड़ का उपयोग करने का भी हक नहीं है। जंगल में जो परेशानी होती है उसका तो कहना ही क्या। इन कार्यक्रमों की सफलता के लिए आम आदमी में सरकार के वायदे और नियत के बारे में विश्वास पैदा करना सबसे बड़ी जरूरत है, वही सबसे बड़ी नियामत भी हो सकती है।

भीमारम का अनूठा और आदर्श प्रयोग

14.48 अनुपजाऊ और पड़ती भूमि पर पेड़ लगाने का एक बड़ा ही अनूठा प्रयोग आंध्रप्रदेश के आदिलाबाद जिले के भीमारम के आस-पास के इलाके में हुआ है। यहाँ पर अधिकतर भूमि खेती के लिये अनुपजाऊ है । आम आदमी जंगल में मेहनत-मजदूरी करके ही अपना पेट पालता था। कुछ साल पहले इस गांव में कुछ लोगों ने अनुपजाऊ भूमि का अच्छा उपयोग करने की गरज से उस पर आम लगाने का विचार किया। गांव के सब लोगों ने मिलकर यह भी तय किया कि इस कार्यक्रम में गाँव के हर आदमी को शामिल किया जाएगा। इसलिए जिन लोगों के पास जमीन थी उन्होंने अपनी जमीन पर और भूमिहीनों के लिए सरकारी जमीन दिलाकर उस पर आम के बाग लगाना शुरू किया गया।

14.49 इस कार्यक्रम के लिए लोगों को कोई खास लागत की जरूरत नहीं महसूस हुई। चूंकि गाँव के सभी लोग कार्यक्रम में शामिल थे इसलिए पेड़ों की रखवाली सभी की जिम्मेदारी हो गयी और उसके लिए किसी तरह के खर्चेकी जरूरत नहीं हुई। गांव के गड़रिये की बकरियों के कारण अलबत्ता कुछ परेशानी हो सकती थी। परन्तु चूँकि वह भी इस कार्यक्रम में शामिल था उसने अपनी बकरियां बेच दी और भेड़े पालना शुरू कर दिया। इसी तरह पेड़ लगाने मे आखिर मेहनत ही कितनी लगती है और फिर काम अपने घर का। गांव के सभी लोगों ने तय किया कि मजदूरी पर जाने से पहले सवेरे जल्दी उठकर अपने पेड़ों की देख-रेख भी अपने घर के काम की तरह से करेंगे। इसलिए आम लगाने के लिए मजदूरी के अलग से खर्च की जरूरत ही नहीं हुई। हाँ, उन्हें पेड़ों की पौध और उनकी खाद बाहर से लेनी पड़ी। इसके लिए उन्होंने 100 रुपया प्रति एकड़ की दर से एक बैंक से कर्ज ले लिया।

14.50 यह कार्यक्रम पहले तो सबसे अधिक बेकार जमीन पर लिया गया जिसमें कुछ होता ही नहीं था। पेड़ लग जाने के बाद चार साल में जब लोगों को आमदनी होने लगी तो पहले जो अनुपजाऊ जमीन थी वह अधिक मूल्यवान हो गई। इसके विपरीत गांव में पहले जिस जमीन को उपजाऊ माना जाता था। इस नये प्रयोग के बाद वह कम लाभ वाली हो गई। इस हालत में लोगों को उस "अनुपजाऊ" जमीन पर थोड़ी सी आमदनी के लिये भारी मेहनत करना अखरने लगा। इसलिए दूसरे दौर में उन लोगों ने गांव की अपेक्षाकृत अच्छी जमीनों पर भी पेड़ लगाने शुरू कर दिया।

14.51 यह सरल सा कार्यक्रम पूरी तरह सफल हुआ। उसके असफल होने का कोई कारण ही नही था। सफलता का अपना अलग ही संदेश होता है। इस सफलता को चारो ओर के लोगों ने अपनी आंखों से देखा और उसकी खबर पूरे इलाके में फैल गई। बाद में सरकारी विभागों ने भी उसे आगे बढ़ाया। सच तो यह है कि सरकार के आ जाने से इस कार्यक्रम में भी ऋण और अनुदान आ गया जिसके कारण उसकी गति थोड़ी धीमी हुई। परंतु फिर भी अब तक इस इलाके में लगभग 15 हजार हेक्टेयर अनुपजाऊ जमीन में आम, काजू, बेर इत्यादि के पेड़ लग चुके हैं। जिस जमीन में कुछ नहीं होता था या 100-200 रुपये प्रति एकड़ आमदनी होती थी उसमें लगभग 10 हजार प्रति एकड़ की आमदनी हो रही है। जो कल तक साधारण मजदूर था आज उसकी आमदनी कम से कम दस हजार रुपये सालाना है। इस इलाके में आज सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस बड़ी आमदनी का सही उपयोग किस तरह से किया जाय।

4.52 भीमारम का यह तजुर्बा आदर्श है,परन्तु अकेला नहीं, पश्चिम बंगाल, गुजरात और राजस्थान में भी कई छोटे-बडे सफल प्रयोग हुए हैं· इसके पहले हम मिदनापुर के अरबारी प्रयोग का जिक्र कर ही चुके हैं· (पृष्ठ 114) परन्तु देश के स्तर पर इन सफल प्रयोगो की ओर खास ध्यान नही दिया जा रहा है· उनको अपवाद कह कर टाल दिया जाता है· दूसरी ओर आसूदालोग पर्यावरण, उद्योग और विकास के नाम पर बडी-बडी परियोजनाएँ बनाकर तरह-तरहकी बातें बनाकर सब तरह के संसाधनों पर किसी तरह अपना कब्जा जमाकर नई जागीरे कायम करने का अथक प्रयास कर रहे हैं· **बडी परियोजनाओं में सभी का हित सधता है· इसलिए मैदानी हकीकत, लोगों का विरोध और सही राष्ट्र हित सभी कुछ अनदेखा करके भी उन्हें आगे बढ़ाया जा रहा है·**

कर्नाटक पेपर फ्लप लिमिटेड का एक गलत उदाहरण

4.53 पड़ती भूमि और बिगडे वनों के उद्योग के लिये उपयोग और उसके गलत परिणामो का एक महत्वपूर्ण उदाहरण कर्नाटक में मिलता है· कर्नाटक राज्य मे पडती जमीन की दो बहुत बडी-बडी लीजें औद्योगिक प्रतिष्ठानों को दी गई - एक मैसूर पेपर मिल को और दूसरा कर्नाटक पेपर फ्लप लिमिटेड को इन दोनों उद्योगों को तीस-तीस हजार हेक्टेयर जमीन देने का अनुबंध किया गया है· कर्नाटक पेपरफ्लप लिमिटेड के लिये प्रस्तावित भूमि अधिकतर सी और डी जमीने थी· (सी और डी जमीने आरक्षित वनों के बाहर राजस्व विभाग के प्रबंध में आने वाली कुछ जमीनें हैं·) जाहिर है कि इन जमीनों पर साधारण लोग अपनी आम जरूरतो के लिये निर्भर रहते आये हैं· कर्नाटक पेपरफ्लप लिमिटेड को यह लीज देने की जरूरत इसलिए पडी कि राज्य सरकार ने पहले मैसर्स हरिहर पोलीफाइवर को स्थापना के समय उसे 2 लाख टन कच्चा माल हरसाल देने का वायदा किया था· वनों के खतम होते जाने से और वनो के प्रबंध के संबध मे नई सोच के संदर्भ में राज्य सरकार ने यह तय किया कि उद्योग के कच्चे माल की जरूरत को पूरा करने के लिये उस उद्योग को ही अपना कच्चा माल पैदा करने के लिए व्यवस्था करने के लिये कहा जाय· इस उद्देश्य से एक नई कम्पनी कर्नाटक पेपरफ्लप लिमिटेड की स्थापना की गई जिसमें राज्य सरकार का 51 प्रतिशत हिस्सा है· इस तरह संयुक्त क्षेत्र की इस कंपनी का मुख्य उद्देश्य है मैसर्स हरिहर पालीफाइवर के लिये कच्चा माल पैदा करना·

4.54 कम्पनी को जमीन का चालीस साला पट्टा देने का अनुबंध 1977 मे हुआ था· लीज के लिये जमीन, जहाँ तक सम्भव हो, बिल्कुल ही अनुपजाऊ "सी" और "डी" जमीन में से ही दी जानी थी· सी और डी जमीनें न मिलने के हालात में बिगडे जंगलों की जमीन भी दी जा सकती थी· इस अनुबंध के अनुसार कम्पनी को पाँच प्रतिशत पेड जलाऊ और चारे के लिए लगाना जरूरी है· जलाऊ लकडी को कम्पनी स्थानीय दरो के मुताबिक वन विभाग को बेचेगी और वन विभाग उसे अपनी ओर से आगे लोगों को बेचेगा· इसके अलावा पेडो की कटाई के बाद जो फुनगी और टहनियां बचती हैं, उनको कम्पनी वहीं छोड देगी जिनको वहाँ के लोग अपनी जरूरत के लिए उपयोग कर सकते हैं· इस जमीन पर सकल उत्पादन का साढे बाहर प्रतिशत हिस्सा कम्पनी सरकार को कर के रूप मे देती रहेगी·

4.55 इस अनुबंध के मुताबिक जैसे-जैसे सरकार ने जमीने देना शुरू की और उसके बारे मे लोगो को मालूम हुआ, वैसे-वैसे लोगों की ओर से कडा विरोध आने लगा· कई जगह कम्पनी के द्वारा जमीन ले लेने से लोगो की चरागाह की जमीने खतम हो गई· फिर उनके चारो ओर खाइयां खोदी जाने लगी जिससे उनमें न आदमी जा सके न जानवर· जहाँ उनकी सीमा गाँव की सीमा से बहुत नजदीक थी लोगों को भारी परेशानी होने लगी· कम्पनी ने अपने काम की धुन में न लोगों की तकलीफों को देखा और न क्षेत्र की वास्तविकता की ओर ही कोई ध्यान दिया· इसके विवाद के कागजों से स्पष्ट है कि बहुत सी जगह तो

कम्पनी ने अपनी ओर से इकतरफा कार्रवाई करके जमीनों पर अनाधिकृत रूप से कब्जा कर लिया गया बहरहाल स्थानीय लोगो के हाथ से बिना उनसे पूछे, बिना उनको सुने उनका संसाधन छिनता जा रहा है क्योंकि वह जमीन सरकारी दर्ज है, उसका वे कड़ा प्रतिरोध कर रहे हैं.

14.56 कागज पर देखने में सरकार और कम्पनी का अनुबंध भला सा लगता है. उसमें लोगों के हितों की चिंता की गई है यह भी झलकता है. परन्तु इसमें कई बातें भुला दी गई. सबसे पहली बात तो यही है कि जब सरकार किसी गांव की जमीन किसी कंपनी को देने का तय करती है तो उस हालत में यह तो गाँव के लोग ही बता सकते थे कि कौन सी जमीन दी जा सकती है और कौन सी नहीं. जिस तरह से सरकार ने यह अनुबंध किया और जमीन दी गई उससे साफ है कि इस बात पर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया कि जहाँ जमीन दी जा रही है वहाँ भी कुछ लोग रहते हैं और उनकी भी कोई जरूरतें हैं, इनके अधिकारों की बात तो बहुत दूर रही.

14.57 दूसरी बात जो इस प्रकार के अनुबंधों में अक्सर होती है वह है आंकडों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति और संभावित लाभ-हानि की निरपेक्ष समीक्षा के बारे में उदासीनता. लोगों की लाभ हानिके बारे में पहली बात तो यही है कि लोगों से संसाधन छिन तो जाएगा आज और उसका लाभ मिलेगा सब पेड लगकर बडे हो जाएंगे और उनकी कटाई का नम्बर आयेगा. दूसरी अहम् बात हैं "किसकी हानि होगी?" और "किसको लाभ मिलेगा?" जैसा मैं कई बार पहले कह चुका हूँ कि सभी मामलो में सबसे अधिक हानि तो गरीब लोगों की ही होती है. इस मामले में हो सकता है इसका कुछ लाभ स्थानीय समाज को मिल जाय, पर उससे गरीब की समस्या तो नहीं हल हो जाएगी. फिर जिस आदमी के पास न जमीन है, न जानवर है और संभवतः वही स्थानीय संसाधनों पर आज सबसे अधिक अवलंबित है, वह तो इस नए संदर्भ में उनसे बिलकुल ही कट जाएगा. उसके पास जानवर न होने से, अगर अनुबंध के मुताबिक कभी आगे चारे के पेड लगाए भी गये तो उनसे कभी कुछ फायदा होगा इसकी भी आशा नहीं की जा सकती. आज जंगल से कंदमूल लाकर या जलाऊ इकट्ठा करके वह अपना काम चलाता है, वह तो तुरंत बंद हो जाएगा पर आगे भी उसको नई व्यवस्था से लाभ मिलने की कोई उम्मीद नहीं है. नई व्यवस्था में जलाऊ लकडी सरकारी तौर पर बेची जाएगी और उसका भाव भी सरकार तय करेगी. ऐसी हालत में लकड़हारा और आम आदमी दोनों ही पिट जाएँगे. लकड़हारा तो उन इलाकों से लकड़ी ला ही नहीं पायेगा पर आम गरीब को भी अभी जलाऊ लाने के लिए सिर्फ मेहनत करनी पड़ती है, दाम नहीं देना पड़ता है. अब आगे उसे दाम देने होंगे, वह भी सरकारी हिसाब से, कहाँ से लाएगा वह उनको खरीदने के लिए दाम ?

14.58 **उद्योग के साथ सरकार का यह पूरा इकरारनामा ही एक तरह से नई व्यवस्था की अहमवादिता और आम आदमी के प्रति उसकी तिरस्कार की भावना का प्रतीक है.** उद्योग पेड़ काटकर उनकी फुंनगी और डगाले लोगों के लिये छोड़ देगें.."भोज के बाद जूठन, कंगालो के भोज के लिये ." पांच प्रतिशत पेड़ जलाऊ और चारे के लिये होंगे. पर कैसे मिलेंगे लोगों को वे, कौन जाने,अभी तो जलाऊ और चारे के पेड़ लगाना भी नहीं शुरू हुए हैं, सब बात कागज पर ही है. सरकार को सकल उत्पादन का साढे बारह प्रतिशत भूमि के किराए के एवज मे मिलेगा. इस बटवारे मे आखिर कौन सा सिद्धांत अपनाया गया है लोगों को 5 प्रतिशत सरकार को 12.50 प्रतिशत और शेष 87.50 प्रतिशत कम्पनी का. आखिर वन सम्पदा के निर्माण में कम्पनी की ओर से योगदान ही क्या है? यही न, कि सरकार की मदद से लोगो को बिदा उनकी संपदा पर कब्जा कर लेना और फिर तरह-तरह के अनावश्यक खर्चे दिखाकर यह सिद्ध करना कि कम्पनी ने उत्पादन किया.

14·59 पश्चिमी घाट में प्रकृति उदार है। उद्योग के बहाने इतनी विशाल प्राकृतिक संपदा को हथिया कर [illegible] रियासत कायम करने और कहाँ ऐसा उदाहरण मिल सकता है। एक गांव के बाद दूसरे गांव के लोगों के अपने गुजर-बसर के संसाधन छिनते जा रहे हैं महज इस कारण कि उनका अधिकार कहीं लिखा नहीं है। उन समाजों का, वहाँ के गरीबों का इन इकरारनामों में कहीं वुजूद ही नहीं। आखिर प्राकृतिक सम्पदा पर इन गांव समाजों के अधिकारों को छीना कैसे जा सकता है ? उनसे तो उनकी जिंदगी चलती है। अगर यह मान भी लें कि इन संसाधनों का उद्योग और विकास के लिए उपयोग जरूरी था तो क्या यह भी जरूरी था कि उसका पूरा लाभ पूँजीपति को मिल जाय ? उन गांव समाजों को, उन लोगों को जो उन संसाधनों पर निर्भर थे इस उद्योग में भागीदार बनाने में क्या कठिनाई थी ?

14·60 संसाधनों के उपयोग और विकास के लाभों में भागीदारी के मसले को लेकर हमारे देश में आज एक तरह की "चुप्पी की साजिश" चल रही है। उस पर बात न करना ही प्रतिरक्षा का सबसे अच्छा उपाय है अन्यथा बात करते ही कहीं उद्योगपतियों का पूरा खेल ही खुल जाए। अगर सरकार, स्थानीय समाज और उद्योग के बीच विकास के लाभों की सही और तर्कपूर्ण हिस्सेदारी तय की जाती है तो स्थानीय संसाधनों से होने वाले लाभ पर समाज के अधिकार को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है। उस हालत में उद्योगों को शुद्ध औद्योगिक गतिविधियों के लाभ से ही अपने को संतोष करना पड़ेगा। यह स्थिति आज उन्हें स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि वे बिना मेहनत के लाभ के आदी हो गए हैं। ईमानदारी का लाभ तो सीमित ही हो सकता है, उससे उन्हें संतोष नहीं। ये लोग अभी तक वनों से कौड़ी मोल कच्चा माल लेते रहे और अनापशनाप मुनाफा बनाते रहे हैं। अब उसी के बहाने 30 हजार हेक्टेयर का पट्टा - मुनाफे का मुनाफा और एक नई जागीर की मिल्कियत अलग।

14·61 इस तरह यह साफ है कि उद्योगों को इस तरह पड़ती भूमि देने की पूरी व्यवस्था ही जनविरोधी है। इन इकरारनामों में गरीबों खासतौर से अनु0जातियों के हितों का ध्यान नहीं रखा गया है। उनके जिंदगी के अधिकार से खिलवाड़ किया गया है। इस पूरी व्यवस्था को **सतम करके संसाधनों पर स्थानीय अधिकार स्वीकार करते हुए** एक वैकल्पिक न्यायपूर्ण व्यवस्था अविलम्ब कायम की जानी चाहिए जिससे स्थानीय समाज खास तौर से गरीब लोग उस औद्योगिक गतिविधि में बराबर के हिस्सेदार हो। राज्य का यही नैतिक कर्तव्य ही नहीं, वरन् सांविधानिक दायित्व भी है।

सामाजिक न्याय और पर्यावरण सुधार का सही रास्ता

14·62 इस तरह यह साफ है कि पड़ती जमीन और बिगड़े जंगलों के बारे में उद्योगपतियों और आसूदा लोगों को शामिल करने के कार्यक्रम देश के अधिसंख्य गरीबों के खिलाफ एक बड़ी साजिश है। यह ठीक है कि ये संसाधन बिगड़ते जा रहे हैं। गरीब लोग आज जो कुछ थोड़ा बहुत उनसे निकाल पा रहे है वह भी बहुत दिनों तक नहीं चलेगा। परन्तु केवल इसी कारण गरीब का हक छीन लिया जाय, यह किसी भी तरह वाजिब नहीं है। इन संसाधनों का बिगाड़ जरूरी नहीं है - आज लोगों की सहभागिता से उन्हें सवारा जा सकता है। **आज विज्ञान और तकनीक के बढ़ते कदमों से यह मुमकिन हो गया है कि जिस जमीन पर आज कुछ नहीं हो रहा है उसमें भी इतना कुछ तो पैदा हो ही सकता है कि साधारण आदमी की जिंदगी बसर करने के लिये एक छोटा-सा जमीन का टुकड़ा भी काफी हो जाय।** परन्तु सवाल यही है कि वह कौन सी प्रविधि अपनाई जाय जिससे विज्ञान और तकनीक की यह ताकत गरीब के हाथों को मजबूत करने के काम आये ?

14·63 मैंने पिछली रिपोर्ट में साफ शब्दों में कहा था कि वे सभी व्यवसाय जिनमें अब तक गरीब अपने तौर-तरीकों से काम करते आ रहे, नई तकनीक के आने से उनके हाथों से निकलते जा रहे हैं, छिनते

जा रहे हैं। यही नहीं, विकास की सभी नई संभावनाएँ, जो परम्परागत पेशों में लगे लोगों को मिल सकती थीं, वे आसूदा लोग हथियाते जा रहे हैं । सभी तरह के उत्पादन के साधनों पर उनकी मिल्कियत छाती जा रही है और पुराना कारीगर अब सिर्फ मजदूर बनता जा रहा है । दुर्भाग्य से विज्ञान और तकनीकी पैसे वालों की घेरे में हैं । वैज्ञानिकों और तकनीशियनों से भी शायद अनजाने में, और निहित स्वार्थों के साथ मिलकर, गरीबों को नये विकास में भागीदारी का हक नहीं मिलने दिया और उनका भारी अहित कर दिया ।

14·64 वहीं हालत पड़ती जमीन और बिगड़े जंगलों की है । अभी तक इन संसाधनों की ओर किसी का ध्यान इसलिए नहीं गया था क्योंकि ये या तो अनुपजाऊ थे या दूर-दराज के इलाकों में थे । इसलिए अगर गरीब उनसे जुड़ा हुआ अपनी जिंदगी बसर कर रहा था तो किसी को कोई एतराज नहीं था । परंतु अब नये दौर में जब इन संसाधनों से भारी लाभ मिल सकता है तब सभी की आंखे उन पर लग गई हैं । ये संसाधन गरीबों के लिये जिंदगी गुजारने का सहारा है । परन्तु दुर्भाग्य से उनका कोई औपचारिक अधिकार नहीं हैं । इसलिए सरकार उनके मामले में जैसा चाहे कर सकती है । आसूदा लोग विकास के बहाने और कानून की आड़ लेकर अपना हक जमाने की कोशिश कर रहे हैं ।

गरीब की एकमात्र आशा और अंतिम अवसर

14·65 इतिहास के इस नाजुक मोड़ पर एक ऐसा मौका आया है जब गरीब जिन संसाधनों पर आज तक, चाहे मुफ्लिसी की हालत मे ही क्यों न सही, गुजर-बसर के लिए आश्रित था परन्तु जिन पर उसका अधिकार नहीं था, उनका ऐसा नया उपयोग संभव है जिनसे वह अच्छी जिंदगी बिता सके। अगर उनका इन संसाधनों से जिंदगी चलाते रहने का हक मान लिया जाता है तो उनके पास भी कुछ अपना कहने को हो सकता है।

14·66 **इसके लिए जरूरी यह होगा कि पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के कार्यक्रमों से उद्योगपतियों और आसूदा लोगों को बिलकुल बाहर रखा जाय। ये कार्यक्रम उन लोगों की बुनियाद पर बनाए जाँय जो अपने हाथ से मेहनत करने को तैयार हो।** आसूदा और गरीब इन दोनों के सह-अस्तित्व का तर्क खुले तौर से अस्वीकार किया जाय। पड़ती भूमि पर व्यक्ति के अधिकार को उसके उपयोग तक ही सीमित रखा जा सकता है, आखिर वह तो अपनी जिंदगी चलाना चाहता है। उन संसाधनों के सुधार-विकास के लिये वित्तीय, तकनीकी और संगठन समर्थन पूरी तरह से सरकार दे। और यदि इन प्राकृतिक संसाधनों के उत्पादन की उद्योग को जरूरत हो तो हाथ से काम करने वालों को उस उद्योग में सहकारी के रूप में सम्मिलित किया जाय। इस तरह गरीब आदमी राष्ट्रीय विकास में सहभागी हो सकेगा। परंतु अगर किसी भी वजह से, निहित स्वार्थों के दबाव या भुलावे में आकर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में गरीब की सहभागिता का यह मौका भी उसके निकल जाता है तो वह तो जहाँ का तहाँ भी नहीं रह पायेगा। अगर आज की नीतियां चलती रहीं तो पड़ती भूमि और बिगड़े वनों का उसका वह झीना सा सहारा भी छिन जायेगा और दूसरी ओर नये जागीरदारों और नये जमींदारों की एक नस्ल पैदा हो जाएगी जो हमारी पूरी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर छा जाएँगे। इस तरह जमींदारी और जागीरदारी का एक नया युग शुरू हो जायेगा। हाँ, उसका रूप दूसरा होगा। इसके आसार साफ दिखाई दे रहे हैं, इसलिये विशेष सावधानी और तत्काल प्रभावी कार्रवाई की जरूरत है।

14·67 पड़ती भूमि और बिगड़े वनों के ये सीमांत संसाधन ही गरीब की अंतिम आशा है और उसके लिए एकमात्र अवसर भी अगर समय रहते वैज्ञानिक प्रगति और वित्तीय संसाधनों के समर्थन से चंद लोगों द्वारा संसाधनों की लूट नहीं रोकी गई तो गरीब के लिये आशा का वह दीप बुझ जाएगा और स्वाभिमान के साथ जिंदगी बिताने का अंतिम अवसर उसके हाथ से हमेशा-हमेशा के लिए निकल जाएगा। परंतु इस गंभीर संकट में भी एक आशा की किरण है, शायद वह इस अन्याय को स्वीकार न कर सके।

15

संसाधनों पर अधिकार - 8

पानी

अभी तक पानी हवा की तरह सभी को आसानी से मिलने वाला संसाधन रहा है· इसलिए जिंदगी में उसके असीम महत्व के बावजूद उस पर अधिकार की बात पर ध्यान देने की जरूरत ही नही महसूस हुई· दूसरे पानी का उपयोग पीने के लिये और खेतों की सिंचाई के लियेही संभव था· इसी तरह पानी के उपयोग के लिये अपने हाथ की मेहनत और साधारण तकनीक की ही जरूरत थी जो सभी के पास थी· इसका नतीजा यह था कि एक तो संसाधन के रूप मे पानी की कमी नहीं थी· दूसरे पानी के संसाधन पर पैसे की ताकत से अधिकार नहीं कायम हो सकता था· सभी अपनी जरूरत के मुताबिक अपनी मेहनत के आधार पर उसका उपयोग कर सकते थे· जिसे अपने खेत में पानी लगाना होता, वह खेत मे बांध बना लेता, कुँआ खोद लेता या नदी-नाले से पानी उलीच कर या नाली बना कर सिंचाई कर लेता· कुछ राजा और जमीनदारों ने सिंचाई की योजनायें भी बनाईं जिनमे काफी लागत लगाकर पानी इकट्ठा करके या अन्यथा एक जगह से दूसरी जगह योजनाबद्ध तरीके से ले जाया गया· परन्तु इस तरह की योजनाएँ अपवाद रही·

पानी के उपयोग में पूँजी का प्रवेश

15.2 पानी के बरतने में नई तकनीक के उपयोग से पानी के उपयोग के सामाजिक पहलू में भारी बदलाव आया है· पंप मशीन आ जाने से धरती के अंदर से पानी बहुत गहराई से भी निकाला जा सकता है· इससे पानी का उपयोग किसी व्यक्ति की हाथ की मेहनत की बजाय उसकी मशीन की ताकत पर निर्भर हो गया· पानी के उपयोग का अधिकार अनायास पूँजी वालों के हाथ में चला गया· जमीन के नीचे पानी खेत की सीमाओं से तो बंधा नहीं है वह तो एक रस बहता रहता है· सभी इलाकों में सिंचाई के लिए कुंआ और इंजन पंप के स्तेमाल होते जाने से धरती मे पानी की सतह जैसे-जैसे नीचे होती गई वैसे-वैसे पानी हाथ की ही मेहनत पर निर्भर व्यक्ति की पहुँच के बाहर होता गया·उसके बाद जो जितनी बड़ी मशीन लगा सकता है वह उतना पानी निकाल सकता है और अपने उपयोग में ले सकता है· यही नहीं कहीं-कहीं तो धरती से पानी इतना अधिक निकाल लिया गया कि उसका भंडार ही खत्म हो गया·

15.3 पानी के उपयोग में पूँजी का महत्व हो जाने से पानी के उपयोग का सामाजिक संदर्भ भी बदल गया· और उसका गणित लागत-लाभ का गणित हो गया· उदाहरण के लिए कई जगह लोगों ने जो कुछ थोड़ा बहुत पानी जमीन में मिला उसे अच्छी आमदनी देने वाली फसलों के लिए निकाल कर भारी मुनाफा कमा लिया· परन्तु दूसरी ओर उसी इलाके में लोगों को पीने के पानी के लिए भी लाले पड़ गये·राष्ट्रीय जलनीति में पीने के पानी को सबसे उँची प्राथमिकता जरूर दी गई है परन्तु वह अभी केवल विचार ही है· पानी के उपयोग में सामाजिक न्याय का अभी उपयुक्त रूप नहीं उभरा है· **इसलिए सही बात तो यही है कि धरती के भीतर के पानी पर अधिक पैसे वालों का अधिकार हो गया है**· उधर हमारे देश में खेती का विकास बहुत कुछ सिंचाई से ही जुड़ा हुआ है· इसलिए जो किसी तरह पानी पर अधिकार जमा लेता है उसको दूसरे फायदे भी ज्यादा मिल जाते हैं· इस तरह समाज में आसूदा लोगों की ताकत कई गुना बढ़ गई है· दूसरी ओर छोटा किसान, जिसे अपने बल बूते पर थोड़ा बहुत

पानी मिल जाता था उससे अब वह भी छिन गया है· उसके सामने धीरे-धीरे और कोई चारा ही नहीं रहता कि वह खेती छोड़कर मजदूरी करे·

बड़ी सिंचाई योजनाएँ और पानी पर अधिकार

15.4 इसी तरह से धरती पर बहते पानी का उपयोग करने के लिए बड़ी-बड़ी सिंचाई योजनाओं के बनने से पानी पर अधिकार और उसके उपयोग के बारे मे बुनियादी बदलाव आया है· सिंचाई की बड़ी योजना बनने का पहला नतीजा तो यही होता है कि धरती के ऊपर बहने वाला पानी, जिस पर अब तक जिस जमीन पर पानी बरसे उसका या समाज का अधिकार था, उस पर व्यवस्था का अधिकार हो जाता है· बांध में पानी इकट्ठा होने के बाद उसके बटवारे पर भी व्यवस्था का ही अधिकार हो जाता है जो फिर उसकी मर्जी के अनुसार होता है· इस बटवारे में जो लोग सिंचाई योजना के लाभ क्षेत्र में रहते हैं उनको भारी लाभ मिलता है लेकिन दूसरी ओर इन योजनाओं के बनने मे कुछ लोगों का घर-बार, खेत-खलिहान सब कुछ चला जाता है· यही नहीं, नदी पर बांध बन जाने से उसके साधारण रास्ते के निचले हिस्से में जिन लोगों को पहले पानी का फायदा मिलता था उनको पानी नहीं मिलता है और उनकी परपरागत अर्थ-व्यवस्था चौपट हो जाती है· इसके अलावा कई मामलों मे पानी के बहाव में बदलाव या स्काव्रट आने से मछलियों की आमद या तो खतम ही हो जाती है या बहुत कम हो जाती है· उदाहरण के लिये फरक्का बांध बनने के बाद गंगा में मछलियों की आमद में भारी कमी हो गई है और हजारों मछुवारे, जो पहले गंगा में मछली मारकर गुजर-बसर करते थे, अपनी आजीविका खो बैठे हैं·

बड़ी योजनाओं के ग्रहण क्षेत्र के लोगों के अधिकार

15.5 बड़ी सिंचाई योजना के बारे में एक और बात है जिसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है· जब बड़े बांध बनाए जाते हैं तो यह जरूरी हो जाता है कि उस बांध को उसके ऊपरी इलाके से पूरा पानी मिलतारहे· अधिकतर बड़े बांधों का ऊपरी इलाका पहाड़ी और जंगली है और इनमें से अधिकांश इलाकों में आदिवासी रहते हैं· इन बड़ी सिंचाई योजनाओं का लाभ तो बहुत कुछ गैर-आदिवासी मैदानी इलाकों को मिलता है·

15.6 संसाधनों का अगर एक जगह उपयोग न हो रहा हो तो दूसरी जगह उसका उपयोग हो जाय, यहाँ तक कोई उज्र नहीं हो सकता है· परन्तु इन परियोजनाओं मे एक सवाल यह आता है कि बड़े बांधों और उनकी नहरों को नदी के ऊपरी हिस्से से पानी मिलता रहे इसको सुनिश्चित कैसे किया जाय· इसके लिये कहीं-कहीं अधिग्रहण क्षेत्र में वहाँ बरसने वाले या वहाँ से गुजरने वाले पानी के उपयोग पर पाबंदी लगाई जा रही है· उदाहरण के लिए महाराष्ट्र में कानून है कि किसी भी बांध के ऊपरी इलाके में 15 प्रतिशत तक पानी ही वहाँ के लोगों को अपने उपयोग के लिये मिल सकता है· इसी राज्य के नासिक जिले में, जहाँ कई बांध बन गये हैं, उन बांधों में से उसके आसपास रहने वाले लोगों को इंजन पंप लगाकर सिंचाई के लिए पानी भी नहीं मिल सकता है जब कि वही पानी दूरदराज के लोगों के लिए लम्बी-लम्बी नहरों से ले जाया जाता है· आज की व्यवस्था मे यह जरूरी हो सकता है परंतु इसे इंसाफ नहीं कहा जा सकता है·

15.7 यहाँ पर एक बुनियादी उसूल का सवाल है· ठीक है कि आज की व्यवस्था के मान से आदिवासी इलाके पिछड़े हैं· इसलिये जो पानी जहाँ गिरता है उसका वहाँ उपयोग नही हो पा रहा है, या लोग उपयोग कर नहीं पा रहे हैं· परन्तु अगर कल को उन लोगों को उस पानी के उपयोग की जरूरत महसूस होती है तो यह तो उनका नैसर्गिक अधिकार बनता है और उन्हें उसके उपयोग से कैसे वंचित

रखा जा सकता है· यह साधारण सा तर्क बड़ी सिंचाई योजनाओं में इसलिये मानने में कठिनाई होती है क्योंकि उनमें भारी लागत लगती है और उसको व्यर्थ नहीं होने दिया जा सकता है· **इसतरह आखिर में हम बड़ी परियोजनाओं के माध्यम से पैसे की ताकत पर संसाधनों पर अधिकार जमता देखते हैं· इस विसंगति को दूर करने के लिये पूरे कानूनी ढाँचे में ही बदलाव की जरूरत है·**

पानी के उपयोग का आधार - पैसे की ताकत, मुनाफा या सामाजिक न्याय

15.8 पानी के प्रबंध के साथ-साथ अगला महत्वपूर्ण सवाल है उसके उपयोग के लिये लोगों के अधिकार का· पानी के उपयोग के बारे में आज के चलन में भी कई तरह की आपत्तियाँ हैं· जमीन के भीतर के पानी पर पैसे वालों ने अपना अधिकार जमा लिया है· उनके लिए पानी का पानी के रूप में कोई मोल नहीं होता है· नीचे से पानी निकालने पर जो लागत आये वही पानी का मोल है· दूसरी ओर, जहाँ नहरों या दूसरे सरकारी साधनों से सिंचाई होती है उनमें पूरी लागत सरकार की होती है· इसमें भी पानी का पानी के रूप में कोई मोल नही है· अगर पानी के मोल का सवाल उठता भी है तो अधिक से अधिक पानी को इकट्ठा करके खेत तक देने की व्यवस्था पर आये खर्च के बारे में ही सोचा जाता है· सिंचाई के लिये पानी के उपयोग पर कर लगाकर सिंचाई परियोजना की पूरी लागत धीरे-धीरे किसानो से वसूल की जा सकती है· परन्तु कई कारणों से सिंचाई की दर इतनी कम होती है कि इन परियोजनाओं के रख-रखाव का खर्च वसूल करना भी संभव नहीं हो पाता है· इसलिए सरकारी सिचाई योजनाओं से लोगो को पानी लगभग बिना कीमत जैसा ही मिल जाता है·

15.9 बहुत थोड़े दामों में सिंचाई के पानी की व्यवस्था पहले पहल अधिक अनाज उपजाने के लिए सरकार की मदद से शुरू हुई थीं जो बाद में परिपाटी और फिर एक निहित स्वार्थ बन गई· इसके कई परिणाम अच्छे नहीं हुए हैं· सिंचाई की खेती में जिन्स का फैसला आज की हालत में उसके लागत-लाभ के हिसाब पर निर्भर है· बिना मोल के पानी मिलने पर तुरत-सिद्धि की मानसिकता घर कर लेती है· नतीजा यह होता है कि सबसे बढ़िया सिंचाई की जमीनों मे कही अफीम पैदा की जा रही है, कही तम्बाकू, कहीं मूँगफली और कहीं गन्ना· इस तरह पानी जैसे महत्वपूर्ण संसाधन के उपयोग में एक विरोधाभासी स्थिति पैदा हो जाती है· जब देश में पानी की कमी है तो उसका उपयोग व्यक्तिगत लाभ की बजाय राष्ट्रीय हित और समाज की कसौटी पर करना उचित होगा· इस स्थिति में उसूलन पानी उन फसलों को दिया जाना चाहिये जिनमें कम से कम पानी से लोगों को खासतौर से उपेक्षित वर्गों को अधिक से अधिक उपज का लाभ मिल सके·

15.10 अभी तक हमारे देश की खेती व्यवस्था में मैदानी इलाके केन्द्र में रहे हैं· कृषि का पूरा विकास वहीं पर केन्द्रित है· इन इलाकों में भी अब तक बहुत कुछ गेहूँ, चावल और नकद फसलों पर ही ध्यान दिया गया है, उन्हीं के लिये नई तकनीक पर जोर है और उन्हीं के लिये सब तरह का निवेश भी जुटाया जाता रहा है· पानी जहाँ से भी हो सके जैसे भी हो सके इन इलाकों को मुहैय्या करना एक स्वयंसिद्ध जैसा मान लिया गया है· वहाँ के लोगों को अनर्जित लाभ की एक बार चाट लग जाने पर उसे अधिकार के रूप में माँगने में कोई हिचक नहीं· व्यवस्था भी उन्ही का साथ देती है - यही सरल है और सुगम भी·

15.11 दूसरी ओर वे लोग जिनकी जमीन कमजोर है या सीमांत किसान है उनसे बहुत से लोग मोटा अनाज पैदा कर सकते हैं· इन लोगों को न सिंचाई का फायदा मिलता है और न नई तकनीकों का ही· इस ओर कोई ध्यान भी नहीं दिया गया है कि अगर इन फसलों में एक पानी भी मिल जाय तो उससे अधिक पानी चाहने वाली फसलों के मुकाबले बहुत अधिक उपज हो सकती है· और बहुत अधिक

लोगों को भी फायदा हो सकता है· इसीतरह जहाँ पानी की सबसे अधिक कमी है वहाँ पर थोड़ा सा पानी भी मिल जाय तो पेड़ लगाये जा सकते हैं जिसका पर्यावरण और उपज दोनों ही दृष्टियों से सबसे अधिक फायदा हो सकता है· उदाहरण के लिए कई परियोजनाओं में पानी की नहरें दस-बीस-पचास किलोमीटर तक उबड़-खाबड़, बंजर इलाकों मे होकर निकलती है और उनका पानी आखीर में जहाँ समतल अच्छी जमीन होती है गेहूँ, चावल या गन्ना जैसे जिन्सों को लेकर उपयोग किया जाता है· इन नहरों के आस-पास के इलाकों में पानी लगाकर पेड़ों की खेती क्यों नही की जा सकती है ? ये उबड़-खाबड़ इलाके पिछड़े हैं अधिकतर आदिवासी इलाके है - अभी वहाँ की संभावनाओं की तो क्या लोगो की कराहती जरूरतों तक पर कोई तवज्जह नही है· अभी इन इलाकों का उपयोग वहाँ के संसाधन बटोर कर प्रणत क्षेत्रों की माँग पूरी करना है· **इस तरह साफ है कि सिंचाई के लिये पानी के उपयोग के बारे में पूरी विचारणा में ही बुनियादी परिवर्तन की जरूरत है· जो संसाधन जरूरत की तुलनामें कम है उसका प्रति इकाई लाभ अधिक से अधिक होना चाहिये·** यह नीति अपनाने से पानी के बटवारे में भी बदलाव आयेगा, वह अधिक लोगों को मिल सकेगा जिससे सामाजिक न्याय अधिक होगा·

पानी पर समान अधिकार - पानी पंचायत

15.12 पानी पर लोगों के अधिकार के बारे में महाराष्ट्र के कुछ इलाकों में एक क्रांतिकारी पहल हुई है जिसका उल्लेख करना जरूरी है· पूना के पास के बहुत से इलाके में पानी कम बरसता है जिसके कारण सूखा अक्सर पड़ता है· वहाँ की जमीन पर पेड़ भी नहीं बचे है जिससे जो कुछ पानी गिरता है वह भीजमीन में न जाकर पूरा का पूरा बह जाता है· इस समस्या से निपटने के लिए वहाँ के कुछ लोगो ने यह तय किया कि वे जो भी पानी बरसता है उसको रोकेंगे और उसका अच्छा मे अच्छा उपयोग करेंगे·

15.13 इस फैसले को अमल में लाने के लिए लोग जब योजना बनाने लगे तो एक खास बात यह आई कि सूखे का गाँव के सभी लोगों पर असर पड़ता है· इसलिए सूखे से निपटना कुछ लोगों की जिम्मेदारी नहोकर पूरे समाज की जिम्मेदारी होना चाहिए· इसलिए गाँव समाज के सभी लोगों को उसमें हाथ बंटाना जरूरी दिखाई दिया· परन्तु पानी रोकने की जरूरत स्वीकार करने के बाद सवाल आया उससे काम लेने के बारे में अधिकारों का· जहाँ तक पानी से आम लोगो के निस्तार का सवाल है पानी रुक जाने पर सभी को लाभ मिलेगा· परन्तु निस्तार के अलावा खास तौर से खेती में पानी का फायदा तो उन्ही लोगों को मिल सकता है- जिनके पास जमीन है· गाँव मे जमीन का बटवारा बहुत ही असमान है - किसी के पास बहुत जमीन है, किसी के पास थोड़ी है और किसी के पास कुछ भी नहीं· इसलिए अगर सूखे की समस्या से निपटने के लिए सब लोग हाथ बटाते हैं, तो रुके हुए पानी का लाभ सभी को समान नहीं मिलेगा·

15.14 यहाँ पर कुछ लोगों ने एक नई बात सोची· उन्होंने सोचा कि सूखे से निपटने की कार्रवाई के साथ जमीन पर असमान अधिकार की बात को न छेड़ा जाय· उससे गांव में फूट पड़ सकती है और पूरा कार्यक्रम ही खटाई में पड़ सकता है· परन्तु जिस पानी को, गाँव के सभी लोग मिल कर रोकने की योजना बना रहे हैं उस पर तो सभी का समान अधिकार हो सकता है· यह बात लोगों को समझने में कठिनाई नही हुई· इस उसूल को मानने के बाद संबंधित गांवों में लोगों ने अपने-अपने गाँव के लिए एक पानी पंचायत की स्थापना की· इस प्रयोग में शामिल अधिकतर गांवों मे उद्‌वहन सिंचाई की योजनाएँ बनाई गई· इन योजनाओं मे कई तरह के स्थानीय भेद हैं· परन्तु मोटेतौर पर उन सब मे यह माना गया है कि **इन योजनाओं में सिंचाई के पानी पर गांव के सभी लोगों का बराबर अधिकार है· इसलिए भूमिहीन अपने हिस्से का पानी या तो किसी दूसरे जमीन वाले को बेच सकता है या किसी जमीन वाले**

के साथ मिल कर उसके खेत पर अपने पानी का उपयोग करके खेती कर सकता है और उससे होने वाले लाभ का वे लोग आपसी बंटवारा कर सकते हैं। पानी पर अधिकार के इस नये सोच का सभी ओर स्वागत हुआ है। परन्तु उसके प्रयोग के इलाके मे भी जिस तेजी से उसे आगे बढ़ाना चाहिये था नहीं बढ़ पाया है।

पृथ्वीपुर में भी एक पहल

15.15 पानी के उपयोग को लेकर गुजरात राज्य के साबरकांठा जिले के पृथ्वीपुर गाँव (विजयपुर तहसील) की एक पहल भी उल्लेखनीय है। इस गांव में सभी लोग आदिवासी हैं। पानी की कमी है। यहाँ के लोगों ने आपस में बैठकर एक कुंआ खुदवाने का तय किया - सभीने उसके लिए मजदूरी में बराबर की हिस्सेदारी दी। परन्तु कुंए के लिये कुछ नकदी लागत की भी जरूरत होती है, उसके लिए उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि वे उन्हे सामूहिक रूप से उसके लिये मदद कर दें। परन्तु प्रशासन के लिये सामूहिक रूप से उन्हे मदद देना संभव नहीं हुआ। इस पर लोगो ने अपने में से एक व्यक्ति के नाम से कुँए के लिए मदद लेने का फैसला किया। आपस में उनका यह फैसला भी स्पष्ट था कि उस व्यक्ति का सिर्फ नाम स्तेमाल किया जाएगा - **उसे मिलने वाली मदद पूरे समाज की होगी, कुँए पर अधिकार समाज का रहेगा और उसकी देनदारी समाज की होगी। इस तरह कुंए का काम आपस में मिलजुल कर सरकार की मदद से पूरा किया गया।**

15.16 इस कुएँ के पानी के उपयोग के बारे में भी समाज ने एक अनूठा फैसला किया। खरीफ में तो पानी की जरूरत नही होती है इसलिये सभी लोग पहले जैसे ही अपने-अपने खेतो पर खरीफ की फसलें लेते रहेगे। रबी की फसल इस गांव में बिलकुल नहीं होती थी जो अब कुआं बनने से संभव हो गई। परन्तु इसमें दो बातें थीं - एक तो कुएं में इतना पानी नहीं था कि पूरे गांव में सिंचाई हो सके। दूसरे कुएं के नीचे जहाँ उसका पानी सिंचाई के लिये जा सकता है सभी लोगों की जमीनें नहीं है। **सिंचाई का कुआं बन जाने से सिंचाई का नया साधन बना जिसे बनाने में पूरे गांव ने ही सहयोग किया था। इसलिए उससे होने वाला लाभ भी सभी को मिले, यही उचित माना गया। गांव समाज ने तय किया किकुएं से सिंचाई करके रबी की फसल गांव के सब लोग मिल जुल कर करेंगे। सिंचित जमीन पर औपचारिक रूप से नाम किसी का भी हो, रबी की फसल के लिये उस पर सब का समान अधिकार होगा।**

15.17 **इस तरह इस गांव में कई महत्वपूर्ण बातें हुई। पहले तो सरकार की व्यक्तिगत विकास अवधारणा को अमान्य करके उसे अपने स्तर पर ही सामूहिक विकास अवधारणा का रूप दे दिया। दूसरे पानी पर न्यायपूर्ण अधिकार के साथ भूमि के न्यायपूर्ण उपयोग के लिये समाज ने पहल की। विकास के लाभ में गांव के सभी लोग समान रूप से सहभागी हो सके। सिद्धांत रूप से यह प्रयोग पानी पंचायत की प्रक्रिया से एक कदम आगे है।**

आगे का संभव रास्ता

15.18 पानी पंचायत और पृथ्वीपुर के इन प्रयोगों में एक खास सोच यही रहा है कि इस काम को लोगों ने अपनी ताकत से किया है और बाहरी सहायता या तो ली ही नही गई है और जहाँ ली गई है वहाँ दूसरे दर्जे पर रही है। इसलिये यहाँ पहली बात है लोगों की अपनी पहल, अपना योगदान। इसलिये इस योजना में शुरू से ही सभी लोगों की सहभागिता रही और लोगों ने मिलकर अपने विवेक के अनुसार जो कुछ लाभ उससे हुआ उसका न्यायपूर्ण बटवारा कर लिया, उसमें कोई खास दिक्कत महसूस नहीं हुई।

15.19 परन्तु इन प्रयोगों के विपरीत जब सरकार की ओर से सिंचाई की कोई योजना बनती है तो सोच बिलकुल अलग होता है। **पहले तो अभी तक सरकारी योजनाओं में पानी के बटवारे में सामाजिक न्याय**

को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये यह सोच ही नहीं है· सिंचाई योजनाएँ भी हमारी विकास की आज के उस सोच का हिस्सा है जिसमें व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा को प्रधान माना गया है और उत्पादन पहले और सामाजिक न्याय बाद में आता है· सिंचाई से उत्पादन बढ़ेगा बस इतना ही काफी है· हाँ, कहीं-कहीं जैसे आदिवासी उपयोजना के अंतर्गत उन सिंचाई योजनाओं को प्राथमिकता दी जाती है जिनमें अधिकांश लाभान्वित जमीन आदिवासियों की हो· इसी तरह से पानी का लाभ अधिक लोगो को मिल सके इसके लिये महाराष्ट्र में गन्ने की खेती के लिये बारह महीने पानी देने की गारंटी की बजाय थोड़े समय तक ही पानी देने का नियम बना है जिसका आसूदा किसान विरोध कर रहे हैं·

15.20 इस तरह सरकारी सिंचाई की योजनाओ में सिंचाई के लाभ के बंटवारे को लेकर भारी प्रतिस्पर्धा होती है· पहले तो लोग अपने-अपने इलाकों के लिये सिचाई योजनाएँ बनवाने की कोशिश करते हैं· पैरवी के अलावा उनकी ओर से उनमें किसी तरह की लागत की जरूरत नही है - जहाँ योजना बन जाय वहाँ लाभ ही लाभ होता है· एक बार इलाके के लिये योजना बन गई तो फिर उस लाभ के बटवारे के लिये प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है· जिस ओर से नहर या कुलावा निकल जाय उसी का भाग्य बदल जाता है· इस हालत में यह मान लिया जाता है कि कुछ लोगों को लाभ मिलेगा कुछ को नहीं मिलेगा· इसमें कोई कुछ कर भी तो नही सकता है· इसलिये जिसको भी किसी तरह से एक बार लाभ मिलने की बात आ गई तो वह चाहे बड़ा किसान हो या छोटा उसको अपना अधिकार मान लेता है· चूंकि किसी को कुछ अपनी जेब से देना नहीं होता है, इसलिये अपने अधिकार लेने की बात हो जाती है· लाभ मिलने वाला अपना लाभ किसी तरह से बंटने देना नहीं चाहेगा·

15.21 सच तो यही है कि हमारी सभी परियोजनाओं में ही यही हाल है· बड़ी परियोजनाओं में, जिनमें लाभ क्षेत्र के लोगों को भारी मुनाफा है, वे भी उन लोगों तक के लिये जिनका सब कुछ डुबाकर उनको फायदा होता है, कुछ करने के लिये तैयार नहीं रहते, उनको राहत देना सरकार की जिम्मेदारी है· यही नहीं इस मामले में कोई कानून बनाने की बात तक नहीं हुई है· हाँ, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में इसके लिए कानून बने हैं परन्तु उसके अमल के बारे में तो जितना कम कहा जाय उतना अच्छा· खेती के लिए पानी के उपयोग में सामाजिक न्याय की अवधारणा का **समावेश जरूरी है· पहले तो जहाँ पानी धरती पर गिरे उसके उपयोग पर पहला अधिकार उस व्यक्ति का होगा· जब उस पानी को रोककर या निकाल कर उपयोग की बात आये तो पहला अधिकार स्थानीय समाज का होगा· पानी पंचायत और पृथ्वीपुर के प्रयोग इसके लिये आदर्श के रूप में लिये जा सकते हैं·**

<u>पानी पर जिंदगी बसर करने वालों का अधिकार</u>

15.22 पानी के संसाधनों पर अधिकार का एक दूसरा पहलू भी है और यह है मछुवारे जैसे लोगों का जो उसी से अपनी जिंदगी चलाते रहे हैं· इस मामले में भी पहले की स्थिति काफी सरल सी थी· पानी का संसाधन के रूप में प्रयोग के लिये इन लोगों की अपनी मेहनत और अपनी तकनीक ही काम आती थी। मछुआरे मछली मारने में सिद्धहस्त हैं और पानी में जाने का जोखिम भी उठा सकते हैं· समुद्र के किनारे स्थिति और भी सरल थी· यहाँ पानी के संसाधन विस्तृत थे· उसके उपयोग के बारे में कोई खास प्रतिस्पर्धा नहीं थी· जो जितनी मेहनत करना चाहे उसको उतना मिल सकता था·

15.23 पानी से संबंधित व्यवसायों में नई तकनीक के प्रयोग से स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हुआ है· उदाहरण के लिए इंजनवाली नावों के आने के बाद जिन संसाधनों पर साधारण मछुआरों का अधिकर था, उन पर ऐसे लोगों का अधिकार कायम होता गया है जो पूँजी लगाकर बड़ी नाव रख सकते थे· इन पूँजी वाले लोगों का सोच भी अलग रहता है· उनके लिये पानी और मछली जीविका का साधन नहीं हैं·उनके लिए मछली मारना लागत-लाभ वाला अनेक उद्योगों में से एक उद्योग है· उनकी पूँजी एकबार निकल आये तो उसके बाद कितने दिन लाभ मिले उन्हें इसकी भी कोई चिंता नहीं है· इसलिए बहुत सी जगह इस बात का भी ध्यान नहीं रखा गया कि मछली इतनी न मारी जाय जिससे कि उनकी

नस्ल ही खत्म हो जाय· **नतीजा यह हुआ कि कई जगह नई तकनीक और बड़ी नावें आने से मछलियों के सकल उत्पादन में गिरावट आई है**· इस बारे में नीति में अभी हाल में कुछ बदलाव आया है परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि पानी के संसाधनों पर साधारण मछुआरों के अधिकार की समस्या का निराकरण हो गया है·

नदियों के मल्लाह - विकास का उलट-प्रहार

15.24 नदियों के किनारे रहने वाले और उनसे गुजर करने वाले मल्लाहों की समस्यायें विशेष रूप से उल्लेखनीय है· मल्लाह या केवट जाति के लोग नदियों से कई तरह से गुजर बसर करते रहे हैं· साधारण तौर पर ये लोग नदी से मछलियाँ मारते हैं, नदी में बाढ़ आने पर नाव चलाते हैं और लोगों को नदी के पार उतारते हैं, बाढ़ घट जाने पर घाटों की देखभाल करते हैं· कई नदियों में दूर-दूर तक नावों पर सामान की ढुलाई भी होती रही है· ये लोग बाढ़ उतरने के बाद नदी के किनारे की जमीन मे खास तरह की फसलें भी कर लेते हैं·

15.25 मल्लाहों की जिंदगी पर विकास के कई तरह के उलट-प्रहार पड़े हैं· सबसे पहले तो कई कारणों से नदियों में मछलियों की तादाद कम होती गई है, कहीं प्रदूषण की समस्या है तो कहीं बैराज या बांध बन जाने से उनकी आमद ही कम हो गई· यही नहीं, कई जगह नदियाँ भी जमींदारों का हिस्सा थी· इसलिए उनमे मछलियों के लिए भी जमींदारों को कर देना पड़ता था· जमींदारियाँ खतम हुई पर तब भी सब जगह पानी को मुक्ति नहीं मिली·

गंगा मुक्ति आंदोलन

15.26 इस मामले में बिहार में हो रहा **गंगा मुक्ति आंदोलन** खासतौर से उल्लेखनीय है· बिहार में जमींदारी खतम होने के साथ-साथ नदी के जल पर जमींदारों के अधिकार खत्म हो गए· परन्तु भागलपुर जिले के कुछ इलाके (कहलगांव) के जमीनदारों ने उसे नहीं माना और मामले को अदालत में ले गए· उच्च न्यायालय के फैसले के अनुसार जमीनदारी खतम करने का कानून पानी पर लागू नहीं माना जा सकता है· बिहार सरकार ने कानून की मंशा के मुताबिक उसमें शाब्दिक संशोधन करने की बजाय उच्चतम न्यायालय में अपील दायर कर दी· इस कानूनी उलझाव से जमींदारों को गंगा के पानी पर अपना अधिकार बनाए रखने में सफलता मिल गई·

15.27 पानी पर जमीनदारी की इस अन्यायी व्यवस्था के चलते रहने के खिलाफ मछुआरों ने 1982 में गंगा की मुक्ति के लिये एक मुहिम चलाया· इस मुहिम के तहत कहलगाँव के आस-पास के मछुआरों ने लगभग तीन साल पहले अपनी ओर से **गंगा मुक्ति** की घोषणा कर दी और जमीनदारों को टैक्स देना बंद कर दिया· जैसा कि मैं दूसरे संसाधनों के बारे में कह चुका हूँ जहाँ ससाधनों का उपयोग लोगों के जीवन के आधार से जुड़ा हुआ है वहाँ उसको उपयोग करते रहने का उनका संविधानिक अधिकार बन जाता है· सरकार के द्वारा इस जीवन के अधिकार की रक्षा के लिए पहल न किए जाने पर उनका यह कदम उचित ही है और संविधान की मान्यताओं के अनुरूप है· मुझे खुशी है कि अभी हाल ही में राज्य सरकार ने भी पानी पर जमींदारी हकों को खतम करने के लिये एक कानून बनाया है· यह कानून अभी तक (8 मई 1990) लागू नहीं हो पाया है· मुझे उम्मीद है कि वह तुरंत लागू किया जायेगा·

15.28 परन्तु गंगा मुक्ति आंदोलन जो जमींदारी के सवाल को लेकर शुरू हुआ था वह अब और भी व्यापक और बुनियादी सवालों से जुड़ गया है· गंगा नदी में मछली मारने के लिए नई तकनीक (कपड़ा जाल) का प्रयोग करने से और अंधा व्यवसाईकरण (अंडा-जीरा का छाँकना) से मछलियो का वंश ही नष्ट

हो सकता है· इसी तरह से रसायनिक खाद और कीट नाशक दवाओं का भी मछलियों पर कुप्रभाव पड़ रहा है· फरक्का बराज के बनने से समुद्र से हिल्सा, झींगा और अन्य मछलियों की आमद ही रुक गई है· आम आदमी की जिंदगी एक दूसरे से न जाने कितने तरह के धागों से जुड़ी हुई है· जब विकास की प्रक्रिया में इन सबका ख्याल नहीं रखा जाता है तो कौन कह सकता है कि संतुलन बिगड़ कर वह विकास कहाँ पर कहर ढ़ा दे·

15.29 यह तो रही नदी की मछलियों की बात परन्तु नदी पर निर्भर मल्लाहों की अर्थव्यवस्था दूसरे प्रभावों से भी एक-एक करके टूटती गई है· विकास के साथ माल ढुलाई नदी की बजाय सड़क से होने लगी· इससे मल्लाहों का बड़ी-बड़ी नावों से माल ढोने का धंधा चौपट हो गया· इस बदलाव में किसी के किसी तरह के अधिकार की बात ही नही आती· इसलिए उनकी ओर किसी को देखने की जरूरत नहीं हुई·

15.30 उधर कई राज्यों ने स्थानीय संस्थाओ को नदियों के घाटों पर कर लगाने का अधिकार दे दिया गया है· इसका मतलब यह हुआ कि लोगों को नाव से पार उतारकर अपनी आजीविका चलाने वाले मल्लाहों का अधिकार जाता रहा· घाट ठेकेदारों के कब्जे में आ गए और केवट-ठेकेदारों के मजदूर बनकर रह गये· ठेकेदारों ने बड़ी-बड़ी नावें बनवा ली, नदी पर इन बड़ी नावों के पुल बन गए और नदी को पार करने के लिये नाव लो या पुल, ठेकेदारों को टिकिट पक्का हो गया· इस पूरी व्यवस्था में नदी की उतराई मे केवटों का हक जाता रहा और अब उनकी एक ही नियति रह गई है ठेकेदारों की मजदूरी·

15.31 नदियों के कछार मे जमीन पर लोगो के हक का भी वही हाल हुआ· कहीं पुराने जमीनदारों ने उस पर कब्जा कर लिया, कहीं दूसरे लोगों ने· नदी के किनारे के केवट सब कुछ बेबस देखते रहे हैं·नदी के संसाधनों पर इस प्रकार से अधिकार खतम होने से मल्लाहों की अर्थव्यवस्था टूट गई है· वे लोग बड़ी तकलीफ से गुजर रहे हैं गंगा मुक्ति आंदोलन इस पूरे व्यापक आयाम को लेकर आगे बढ़ रहा है· उसी की तरह दूसरी नदियों पर भी मल्लाह अपने जिंदगी के अधिकार की लड़ाई कर रहे हैं - जो सच में संविधान मे दिये गये सामान्य नागरिक के आजीविका के अधिकार की लड़ाई है·

आदिवासी इलाकों के नदी-तालाब

15.32 आदिवासी इलाकों में मछुआरे या केवट जैसी कोई अलग जाति नहीं है· वहाँ समाज के सभी लोग अन्य संसाधनों की तरह छोटी-छोटी नदियों और तालाबो के संसाधनों का भी मिल जुलकर उपयोग करते रहे है· परन्तु नई व्यवस्था में इन परपरागत अधिकारो की अनदेखी की गई है· कई राज्यों में नदी-तालाबों को उसूलन स्थानीय संस्थाओं के लिए आमदनी का साधन घोषित कर दिया है· पहले-पहल वनों पर सरकारी अधिकार की तरह नदी तालाबों पर संस्थागत अधिकार का लोगो के लिये कोई खास मतलब नहीं था· शुरू में इन संसाधनों के परंपरागत उपयोग में कोई छेड़छाड़ भी नहीं हुई· परन्तु धीरे-धीरे हालात बदलते गए· इसके दो कारण थे· एक तो स्थानीय संस्थाओं को अपना खर्च चलाने के लिये आमदनी बढ़ानी पड़ी और उसके लिए उन्होंने नदी तालाबो को नीलाम करना शुरू कर दिया· इसके अलावा कई जगह संसाधनों के विकास के लिये नये कार्यक्रम बनाने की बात भी उठी है तो उसके लिये सहकारी समितियाँ गठित की गई· जिससे वे उनमें पूँजी लगाकर उनसे उत्पादन और आमदनी बढ़ा सकें·इन दोनों ही हालत में पानी के संसाधनों पर आधुनिक संस्थाओं का अधिकार हो गया·

15.33 सहकारी समिति और ग्राम पंचायत दोनों ही औपचारिक संस्थाएं है और संस्था के रूप में उनकी लोगो से एक अलग पहचान है· उनका तत्कालिक उद्देश्य तो बहुत जगह आमदनी बढ़ाना हो जाता

है, लोगों को सीधा फायदा कितना मिलता है, वह उनके लिये गौड हो जाता हैं· इसतरह ये संस्थाएँ एक निहित स्वार्थ बन जाती हैं और साधारण लोगों के अधिकार पर प्रश्नवाचक चिन्ह लग जाता है·

15.34 औपचारिक संस्था और आम लोगों के बीच में कई जगह टकराव की स्थिति भी आ जाती है· इसका सबसे बुरा उदाहरण-बिहार के संथाल परगना का है जहाँ पर कि स्थानीय समाज और औपचारिक संस्थाओं के बीच तालाब की मछलियों पर अधिकार को लेकर भारी तनाजा हुआ· जब ठेकेदारों ने जोर जबरदस्ती की तो लोगो ने जम कर प्रतिरोध किया· इस तरह कानून और व्यवस्था की स्थिति बन गई, गोलीबारी हुई और 13 लोग मारे गये· तालाब का मामला उस समय के लिये दब गया, ठेकेदार पीछे हट गए, आगे साल नीलामी नहीं हुई· यहाँ उसी साल से शहीदो की यादगार में एक मेला भरता है· परंतु तालाब पर हकों के मामले पर कोई औपचारिक फैसला लोगों के हक में नही हुआ है, इस बारे में कुछ सोचा भी नहीं गया है·

बड़े जलाशय - राजस्थान का जय समन्द

15.35 **नदी** तालाबों से मछलियों के उपयोग का यह मामला पूरे आदिवासी क्षेत्र में ही लोगो में असंतोष का कारण बना हुआ है· परन्तु जहाँ बड़े जलाशय बन जाते है तो स्थिति और भी असंगत हो जाती है·इसमें राजस्थान के जयसमन्द में मछलियों के कारबार को व्यवस्थित करने का मामला उल्लेखनीय है· इस पर सरकारी निगरानी का सबसे बड़ा असर यही हुआ है कि वहाँ की मछली का ठेका होने लगा और ठेकेदार अपने मुनाफे के लिए मछली कलकत्ते जैसे दूर-दूर तक के नगरों में ले जाकर बेचने लगे· सरकार की भी आमदनी बढ़ी· परन्तु इसमें सबसे बड़ा घाटा स्थानीय समाज को हुआ जिनके लिये मछली नदारद हो गई, उसका मिलना दूभर हो गया· बिचौलियों की समाप्ति की गरज से इस कारबार की व्यवस्था सहकारी संस्था को सौंप दी गई· परन्तु उस मामले की बुनियादी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया· सहकारी संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य तो आखिर व्यापारिक ही था· हाँ, अभी हाल ही में वहाँ के मछुआरों की मजदूरी जरूर कुछ बढ़ी है·

15.36 संसाधनोंके प्रबंध के मामले में बुनियादी सवाल फिर वही आता है कि क्या उन संसाधनों को भी, जिनसे लोगों के खाने-पीने की वस्तुएँ मिलती हों और जिन पर उनका परम्परागत रूप से अधिकार भी माना जाता रहा हो, प्रबंध को बदल कर पूरी तरह से व्यापारिक बनाया जा सकता है· यह स्पष्ट है किऐसा करना न्याय-संगत नहीं है लोगो की मांग पर बस्तर के दुधावा बाँध मे इस बारे में एक व्यवस्था बहुत समय पहले की गई थी जो उल्लेखनीय है·पहली बात तो यह मानी गई थी कि इन संसाधनों का उपयोग स्थानीय समाज की देख-रेख में ही होना चाहिये· दूसरे उत्पादन पर अधिकार स्थानीय समाज का ही रहे और उसके उत्पादन की खपत, जहाँ तक संभव हो, उसी इलाके में ही हो· बाहर केवल उतनी ही मछली भेजने की व्यवस्था होनी चाहिये जो वहाँ के लोगों की जरूरत से अधिक हो·

15.37 मोटे तौर पर 50 प्रतिशत से ज्यादा उपज बाहर नही जानी चाहिये· इसमें भी नदी-तालाब से बिलकुल सटे हुए इलाकोंके लोगों का खास तौर पर ध्यान रखना होगा· उन लोगो को अपने उपयोग के लिये मछली निकालने के लिए विशेषाधिकार होना चाहिये· इसमें बच्चों के पोषण का खास ध्यान रखा जा सकता है· उदाहरण के लिए मध्यान्ह भोजन की पूरी योजना ही इन संसाधनों की उपज से जोड़ी जा सकती है· **इस तरह उसूलन पानी जैसे संसाधन के उपयोग की व्यवस्था समाज के हाथ होनी चाहिये· यदि कहीं उसका प्रबंध औपचारिक संस्थानों को दिया भी जाय तो इस हालत में भी औपचारिक संस्थाओं को अपना पूरा काम-काज स्थानीय समाज की देखरेख में करने की बाध्यता होनी चाहिये·**

बड़े प्रतिष्ठान और पानी पर अधिकार

15.38 पानी जैसे जीवन के लिए आवश्यक संसाधन पर अधिकारों के मामले में बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के बनने से, उनके लिए पानी के उपयोग और उनके द्वारा छोड़े गये पानी से गुणात्मक परिवर्तन आ जाता है· जहाँ पर बड़े कारखाने लगाए जाते हैं, बिना साफ किया हुआ पानी नदी में छोड़ दिया जाता है· इस तरह लोगों में पीने के पानी के साधन खतम हो जाते हैं· आदमियों के पीने के लिये तो कुछ प्रबंध हो भी जाता है परन्तु जानवरों का क्या होगा, इसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता है· कई जगह जानवर तरह-तरह की बीमारियों के शिकार हो जाते हैं और लोगों की अर्थव्यवस्था चरमरा जाती है·

15.39 इसी तरह बड़े-बड़े नगर अपनी पानी की जरूरतों के लिए दूर-दराज के इलाकों से पानी इकट्ठा करके ले जाते हैं इस कारण पानी के साधारण बहाव से जिन लोगों का काम चलता था साधनहीन हो जाते है· यही नहीं सड़कों के बनने से पानी का बहाव बदल जाता है· जिन खेतों में पहले पानी इफरात में मिला करता था वे सूखे रह जाते हैं· इस तरह कहीं-कहीं लोगो की जिंदगी ही दूभर हो जाती है·

15.40 राजस्थान में जयसमन्द के आस-पास के लोग एक महत्वपूर्ण सवाल उठा रहे हैं कि आखिर जिस जलाशय को उनके पूर्वजों ने बनाया, जिसकी नींव में उनका बलिदान छुपा हुआ है उसके पानी को उनकी बिना राय के बढ़ते हुएशहरों की संभावित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कैसे ले जाया जा सकता है· क्या बड़े शहरों का उसी तरह बढ़ते रहना जरूरी है ? क्या यह संभव नहीं कि जहाँ संसाधन हैं, वहीं विकास का प्रयास किया जाय ? इन सभी सवालों का एक ही जवाब है कि पानी जैसे **संसाधन पर नियंत्रण जितना केन्द्रित होता जाएगा उतना ही ताकतवर लोगों का उस पर अधिकार जमता जायेगा और साधारण लोग उसके मुहताज होते जाएँगे· प्राकृतिक संसाधनों पर समाज का अधिकार ही न्यायसंगत व्यवस्था की आधारशिला बन सकता है, वही उसकी एक अनिवार्य शर्त भी है·**

16

विस्थापन - 1
सामान्य व्यवस्था

विस्थापन के दो आदिम रूप

अभी तक हम आम लोगों के संसाधनों पर अधिकार और उनके उपयोग के बारे में कानून, नियम और परम्पराओं की बात कर रहे थे। इन सब में अहम् मुद्दा यही था कि लोगों से उनकी जिंदगी का आधार ही छीना जा रहा था। कहीं पर छीनने वाले ताकतवर लोग हैं, कहीं आसूदा वर्ग और कहीं खुद सरकार या उसके प्रतिष्ठान। यह सिलसिला वैसे तो न जाने कब से चल रहा था। अनुसूचित जातियों के लोग जिनके बल पर ही बहुत कुछ आज भी खेती-किसानी का काम चल रहा है कभी न कभी तो जमीन के मालिक रहे होंगे। किसी न किसी जमाने में उनकी जमीनें ताकतवर वर्गों ने छीनी होगी। जमीन छिन जाने के बाद भी वे लोग अलबत्ता गाँव की अर्थव्यवस्था में बने रहे, उनकी एक खास जगह भी बनी रही और उनको मेहनत के बदले में उपज का एक हिस्सा कम ही सही फिर भी मिलता ही रहा। संसाधनों पर अधिकारों में श्रेणियाँ बन गईं पर सब लोग एक ही व्यवस्था के अंग बने रहे।

16.2 आदिवासी लोगों के मामले में व्यवहार इससे बहुत भिन्न हुआ। ये लोग जंगलों और पहाड़ों में जी तोड़ मेहनत कर खेती के लिए जमीनें बनाकर अपनी जिंदगी बसर करते थे। परन्तु जैसे-जैसे उनके इलाके सरसब्ज और सुगम होते जाते थे दूसरे लोग वहाँ पहुँच जाते और धीरे-धीरे उनकी जमीनों पर जबरदस्ती कब्जा कर लेते और सब तरह का जोखिम झेलकर उस इलाके को आदमी के लिये जीतने वाला आदिवासी हार कर आगे बढ़ जाने के लिए मजबूर हो जाता था। आदिवासियों के विस्थापन का यह सिलसिला सदियों से चलता रहा है और अभी भी जारी है। **इस विस्थापन में न कोई कानून था और न कायदा। एक ही सवाल था हर जगह कि कौन अधिक ताकतवर है। ताकतवर आदमी और शक्तिशाली समाज ही जमीन और संसाधन के मालिक बन गये।** दीगर लोगों में से जमीन के वे ही मालिक रह पाये जहाँ ताकतवर लोगों की पहुँच नहीं थी या जिस जमीन को वे चाहते नहीं थे।

16.3 विस्थापन का एक नया दौर अंग्रेजों के जमाने से शुरू हुआ जिसमें राज्य ने प्राकृतिक संसाधनों पर अपना अधिकार जमाना शुरू किया। हमारे देश का सबसे बड़ा विस्थापन लोगों के अधिकारों की अनदेखी करके जमीन के मामले में तरह-तरह के बिचौलियों-जमींदार, जागीरदार, इत्यादि लाकर राज्य की सत्ता स्थापित करके हुआ। परन्तु इसमें अधिकतर लोग अपनी जगह बने रहे। लोगों को अपने मूल स्थानों से हटने के लिये मजबूरी भरा पहला बिकराल विस्थापन पिछली शताब्दी में वनों का कानून बनने के बाद आदिवासी इलाकों में शुरू हुआ। वह सिलसिला आज भी जारी है।

16.4 संसाधनों पर राज्य का अधिकार होने से समाज का अधिकार जाता रहा। अंग्रेजों ने राज्य का अधिकार कायम रखते हुए कुछ संसाधनों पर लोगों को निजी हक भी दे दिये। परन्तु जो हक दिये गये हों वे वापिस भी लिये जा सकते थे। अंग्रेज कानून के कायल

थे इसलिए हकों के देने और लेने के लिए भी कानून बनाए गए। संसाधनों को वापिस लेने के बार में उस समय जो कानून और नियम बने थे कमोवेश वे ही कानून आज भी लागू हैं।

संसाधन, सम्पत्ति और उसका मोल

16.5 यहाँ पर एक सबसे अहम बात यह हुई है कि हमारे देश में जमीन सहित सभी संसाधनों का रूप ही बदल गया। अंग्रेजों ने जब इन पर राज्य का अधिकार कायम किया तो उन्हें संपत्ति का रूप मिल गया। इस तरह जब उन पर लोगों को हक दिये तो वे लोग एक तरह से उस संपत्ति के मालिक बन गये। **इस नये सोच में हमारे देश की इस परंपरा को नजरअंदाज कर दिया गया कि संसाधन लोगों की जिंदगी के साधन थे, सम्पत्ति नहीं।** जब जमीन सहित सभी संसाधन संपत्ति बन गये तो उसको लेने के लिये जो कानून बना (भूमि अधिग्रहण अधिनियम, 1894) उसमें संपत्ति का मूल्य आंकने और चुकाने की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था वैसी ही नेमी थी जैसे कि संपत्ति को खरीदते समय का मोल-भाव या कर न चुकाने पर जमीनदारी का नीलाम। इस व्यवस्था में यह भुला दिया गया कि **आदमी की जिंदगी के आधार का कोई मोल नहीं हो सकता है। यहीं से सब विसंगतियों की शुरुआत होती है, जिनका फल आज आम आदमी को भुगतना पड़ रहा है।**

जमीन देने के लिए इच्छा और अनिच्छा

16.6 जमीन को लेने के कानून के बारे में एक और दूसरी बात भी देखने वाली है। उस समय माना यह गया था कि अगर किसी को अपने निजी काम के लिए जमीन की जरूरत है तो उसमें कानून को बीच में आने की कोई जरूरत नहीं है। जो जिससे जमीन लेना चाहे सीधे-सीधे बातचीत करके आपस में तय कर लें। यही हमेशा से होता आया है। वैसे तो यही तरीका उन मामलों के लिए भी ठीक रहता जहाँ जमीन की निजी काम की बजाय सार्वजनिक काम के लिए जरूरत होती। आखिर अगर सरकार या किसी और व्यक्ति को किसी भले काम के लिए जमीन की जरूरत है तो उस मामले में भी जिससे जमीन लेना है उससे बातचीत करके तय किया जा सकता है।

16.7 परन्तु इसमें एक अड़चन हो सकती है। अगर जिसकी जमीन लेनी है वह आदमी राजी नहीं है तो सार्वजनिक काम रुक सकता है। निजी काम होने पर तो आदमी सब तरह की कोशिश करता है, परन्तु सार्वजनिक काम में थोड़ा सा बहाना मिल जाय तो उसे छोड़ देने में किसी को कोई दिक्कत नहीं होती। उलटे यह होता है कि चलो छुट्टी मिली। इसलिए ऐसे मामलों के लिए जिनमें जमीन किसी जनहित के लिये ली जा रही हो, इस कानून में विशेष व्यवस्था की गई है। सच तो यह है कि "जनहित" ही इस कानून का एक प्रमुख आधार है।

16.8 शुरू में भूमि अधिग्रहण कानून के उपयोग की कोई खास जरूरत नहीं पड़ी। सरकार को कुछ चंद गिने-चुने कामों के लिए जमीन की जरूरत होती थी जैसे कि रेल और सड़क या स्कूल और अस्पताल। उस जमाने में जमीन पर कोई खास दबाव भी नहीं था। इसलिए अगर किसी से उसकी जमीन ले भी ली गई तो उसको दूसरी जगह जमीन मिल सकती थी। छोटे-मोटे कामों के लिए इतनी जमीन भी नहीं ली जाती थी जिससे लोगों को अपनी जगह से हटने के लिए मजबूर होना पड़े। **वे लोग वहीं के वहीं अपनी पुरानी अर्थव्यवस्था में बने रहते थे। सब किसी को जनहित के लिए अपनी जमीन देने के लिये मजबूर होना पड़ता था तो समाज का भी कुछ फर्ज बन जाता**

था। उस हालत में आपस में मिल-बैठकर उनके लिए इंतजाम हो जाता था। इसलिए जमीन के मामले बहुत ही आसानी से हल हो जाते थे। मुआवजे का पैसा एक तरह से उस व्यक्ति के लिए पुरानी अर्थव्यवस्था में ही अपने लिए जगह बना लेने के लिए साधनमात्र था जिससे उसको मिलकर पूरी व्यवस्था संगत बन जाय।

16.9 जमीन के इन मामलों में एक और खास बात थी। अंग्रेजों की बनाई गई व्यवस्था में जमीन जोत कर गुजर-बसर करने वाले जमीन के मालिक नहीं थे, उसके मालिक थे बड़े-बड़े जमीनदार और जागीरदार इसलिए जब इन जमीनों को किसी काम के लिए, लिये जाने का सवाल आता था तो जमीन के मालिक के लिए उसकी कोई खास अहमियत नहीं थी । जैसे जमीनदारों की जमीनें तरह-तरह के दीगर कारणों से बिकती थी, उसी तरह यह भी बिक्री का एक और मामला था। उस जमीन पर खेती करने वाले का पहले तो कोई हक ही नहीं था और अगर कोई हक था भी तो बिक्री के बाद जमीनदार के हक के खतम होने के साथ वह भी खतम हो जाता था। खेती करने वाला इस वाकये को एक और विपत्ति मान कर कहीं दूसरी जगह रोजी-रोटी की तलाश में चला जाता था। उनके लिए वह भी कोई अनहोनी बात नहीं थी, उस समय जमीनदारों की जुल्म-ज्यादतियों की भी कोई कमी नहीं थी। **इसीलिए उस जमाने में जहाँ कभी बड़े पैमाने पर जमीनें ली गई वहाँ विस्थापन की बात सुनने को ही नहीं मिलती थी। जैसे आदिवासी को जंगलों से कानून के सहारे हकाल दिया गया, वैसे ही इन जमीनों पर गुजर बसर करने वाले भी कानून के सहारे हकाल दिये जाते थे। सच तो यह है उस जमाने में हकालने की भी जरूरत नहीं थी क्योंकि उन्हें मालूम था कि वहाँ से हटने के अलावा उनके पास और कोई चारा ही नहीं था। कानून उनके खिलाफ था। इस तरह, अंग्रेजों के जमाने में जमीनों का लेन-देन उनके मालिकों के बीच बिना खास परेशानियों के चलता रहा। जमीन जोत कर अपनी जिंदगी चलाने वाले के लिए जमीन छोड़ने की मजबूरी और तमाम मुसीबतों के साथ एक और छोटी सी मुसीबत की तरह थी, जो वह अपना भाग्य मानकर सहन कर लेता था।**

आजादी के बाद एक नया दौर

16.10 आजादी के बाद लोगों के विस्थापन के तौर-तरीकों में एक नया मोड़ आया। पहले तो जमीन की हकदारी के मामले में बुनियादी फेर-बदल हुए। जागीरदार-जमींदार खत्म हो गए। "जो जोते उसकी जमीन" के सिद्धांत को आमतौर पर मान लिया गया जिससे लोगों में अपने हकों के बारे में जागरूकता आई। दूसरी ओर हमारे देश में नियोजित विकास का दौर शुरू हुआ। इसके तहत तरह-तरह की छोटी-बड़ी योजनायें चालू हुई। उन सब के लिए जमीन की जरूरत थी। चूँकि ये सभी काम देश के विकास के लिए किये जा रहे थे, उन्हें "जनहित" का दर्जा देने में किसी को कोई ऐतराज नहीं हो सकता था। **इसलिए जहाँ भी जरूरत होती पुराने कानून का सहारा लेकर जनहित के लिए बड़े पैमाने पर लोगों से जमीनें लेने का एक नया सिलसिला आजादी के बाद चालू हुआ जिसकी रफ्तार लगातार बढ़ती रही है, आगे भी इसी तरह बढ़ते जाने की संभावना है।**

परियोजनाएँ और विस्थापन - तीन स्थितियाँ

16.11 विस्थापन की दृष्टि से ये परियोजनाएँ मोटे तौर पर तीन प्रकार की कही जा सकती हैं। **पहले** कुछ ऐसी परियोजनाएँ हैं जैसे कि सिंचाई और बिजली के लिए बांध जिनमें एकबारगी संबंधित परियोजना के लिए जरूरत के मुताबिक जमीन ली जाती है। इसलिए इन परियोजनाओं में जमीन के लेने के

बाद विस्थापन एक बार होता है। उसके बाद उस परियोजना के बनने के बाद उनके आसपास ऐसा कोई कामकाज नहीं होता जिससे लोगों को वहाँ से हटना पड़े। **इस तरह इन परियोजनाओं में पूरा विस्थापन सीधा-सीधा और एकबारगी होता है।** दूसरे कुछ ऐसी परियोजनायें हैं जैसे औद्योगिक प्रतिष्ठान, जिनकी अपनी जरूरत के लिये थोड़ी सी जमीन ली जाती है जिससे कुछ लोग विस्थापित होते हैं। परन्तु उद्योग लग जाने के बाद भी विस्थापन का सिलसिला जारी रहता है। उस उद्योग के आसपास धीरे-धीरे कई तरह के दूसरे काम शुरू होते हैं और उनके सहारे बाहर के लोगों का आना लगा रहता है। ये लोग किसी न किसी तरह से आसपास की जमीनों पर कब्जा जमाते जाते हैं। उनके दबाव के सामने वहाँ के मूल निवासी वहाँ से हटने के लिये मजबूर हो जाते हैं। इस तरह इन मामलों में **सीधा विस्थापन कम होता है परन्तु बाद का विस्थापन उससे कहीं ज्यादा होता है।** तीसरे कुछ ऐसी परियोजनाएँ, जैसे किसी बड़ी सड़क का निर्माण जिनसे सीधा विस्थापन तो नाममात्र को होता है परंतु विस्थापन का असली सिलसिला बाद में शुरू होता है। धीरे-धीरे सड़क के आसपास की जमीन पर बाहर के लोग आकर कब्जा करने लगते हैं और फिर उसके सहारे छोटी और बड़ी बसाहतें बनना शुरू हो जाती हैं। इन बाहरी लोगों के दबाव के सामने वहाँ के लोग, विशेषकर आदिवासी इलाके में, टिक नहीं पाते हैं और उनको मजबूर होकर वहाँ से भागना पड़ता है।

16.12 अलग-अलग तरह की परियोजनाओं से होने वाले विस्थापन के तौर-तरीकों को समझना इसलिए जरूरी है कि जब भी विस्थापन की बात होती है तो वह बात आमतौर पर परियोजनाओं से संबंधित सीधे विस्थापन तक ही सीमित रह जाती है। लेकिन उन्हीं परियोजनाओं से जुड़े बाद के विस्थापन की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। यह बाद वाला विस्थापन किसी की जिम्मेदारी ही नहीं होता। इसलिए परियोजनाओं से सीधे विस्थापितों के लिए तो कभी-कभी कुछ किया भी जाता है पर बाद का विस्थापन दैवी विपत्ति की तरह ही बन कर रह जाता है। इन लोगों को विकास के सबसे कठोर उलट-प्रहार को बिना किसी की मदद के सहन करना पड़ता है। उसमें वे टूट जाते हैं, मिट जाते हैं पर किसी का उनकी ओर ध्यान तक नहीं जाता।

"जनहित" कैसा और कितना ?

16.13 आजादी के बाद विकास के नये दौर में पहली बात तो यह हुई कि जिस किसी को जो कुछ करने की तबियत आई उन सबको विकास का नाम दे दिया गया। **एक बार विकास का तमगा मिल गया तो यह देश की तरक्की के लिए जरूरी मान लिया गया। वह काम जनहित भी बन गया। जनहित क्या है इस पर आज तक कभी कोई बहस नहीं हुई और** न कानून में **इसको परिभाषित करने की कोशिश की गई। नतीजा यह हुआ कि सरकारी अधिकारी या सरकार जिस बात को ठीक समझे उसे जनहित करार दे सकता है।** किसी काम को "जनहित" में होने की मान्यता मिल जाने पर उसके लिए कानून के मुताबिक जमीन ली जा सकती है। इसलिए जमीन लेने का कानून सब तरह के कामों के लिए आसानी से स्तेमाल करना मुमकिन हो गया। इसलिए आज बड़े बांधों से लेकर खनिज और औद्योगिक प्रतिष्ठानों, नई बस्तियों और यहाँ तक कि सैलानियों के लिए पर्यटन स्थल बनाने तक के लिए लोगों से जनहित में कानूनन जमीन ली जा रही है।

मुआवजा ही एकमात्र अधिकार

16.14 चूँकि जमीन को सम्पत्ति मान लिया गया है इसलिए जब जमीन ली जाती है तो उसके बारे में एक ही सवाल उठता रहा है वह है मुआवजे का। मुआवजा उसकी कीमत पर निर्भर होता है।

इसलिये यह सवाल हो जाता है कि उसकी कीमत कैसे आंकी जाय।

16.15 इसीलिए मुआवजा आंकने के लिए सभी तरह के नियम, कानून बनते रहे हैं। मुआवजे को लेकर अदालत भी फैसले देती रही है। अभी हाल के सालों में भूमि अधिग्रहण कानून में मुआवजे के बारे में कुछ नई धाराएँ खासतौर से शामिल की गई हैं। उदाहरण के लिये अनिवार्य रूप से जमीन खरीदी से लोगों को जो असुविधा होती है उसके लिए कुछ अधिक मुआवजे का हक दिया गया है। इसी तरह अगर मुआवजे के भुगतान में अगर देरी हो तो उसके लिए ब्याज। किसी भी आदमी से जमीन छिन जाने पर मुआवजे के अलावा किसी को और कोई हक न कभी रहा और न अभी भी है।

मुआवजा क्या है ?

16.16 जमीन का मुआवजा क्या होना चाहिये इसके बारे में भी कई तरह का सोच चलता आ रहा है। सबसे पहले तो जमीन के लगान को ही मुआवजे का आधार मानकर सरल सा हल खोज लिया गया। यही आधार जमीनदारी उन्मूलन के समय भी माना गया था। जमीनदारी के लिये मुआवजे के सिद्धांत को किसान की जमीन को लेने के लिये प्रयोग की विसंगति साफ थी पर उसकी ओर बहुत समय तक ध्यान नहीं दिया गया। परन्तु बाद में धीरे-धीरे जमीन की बाजार में कीमत को मुआवजे का आधार माना जाने लगा। जब बाजार भाव में भी कई तरह की विसंगतियाँ सामने आईं तो भूमि से होने वाली आमदनी का पूँजी-मूल्य निकाल कर मुआवजा आंकने का तरीका अपनाया जाने लगा। इसमें आमतौर से शुद्ध वार्षिक आय की 15 गुनी राशि को जायज मुआवजा माना जाता रहा है।

16.17 मुआवजा आंकने के इन सभी तरीकों में एक समान बुनियादी खामी बनी रही है जो जमीन के सम्पत्ति रूप से जुड़ी हुई है। साधारण आदमी के लिये जमीन उसकी जीविका का साधन है। उदाहरण के लिये जब भूमि से होने वाली शुद्ध आय का हिसाब खेती की सकल आमदनी में से लागत और व्यक्ति के श्रम के मूल्य को निकाल कर किया जाता है, तो एक तरह से वह उस जमीन की रायल्टी या उससे वह आय होती है जो भूमि के मालिक को अपना श्रम बिना लगाए मिल सकती है। यह जमीन का संपत्ति रूप है, इसी में जमीनदार की दिलचस्पी थी। परन्तु खेती करने वाले किसान के लिये इसका खास महत्व नहीं है। जमीन उसके लिये जीविका का साधन है जिसका आधार उसकी अपनी मेहनत। वह अपनी पसीने की कमाई पर जीता है। शुद्ध आय के आधार पर या जमीन के बाजार मोल के आधार पर दिया गया मुआवजा इस बुनियादी सवाल को नजर-अंदाज कर देता है और यही अन्याय की जड़ है।

16.18 कहा यह जा सकता है कि आखिर जमीन ले लेने पर भी उस व्यक्ति को अपना श्रम कहीं दूसरी जगह उपयोग कर मजदूरी करने से तो कोई रोकता नहीं है। परन्तु यह तर्क तभी माना जा सकता है जब मेहनत करके गुजर-बसर करने की असीम संभावनाएँ हों। दूसरे किस तरह की मेहनत, यह भी तो एक अहम सवाल है। काम के अवसर का प्रकार न केवल उस व्यक्ति की काम करने की दक्षता से संबंधित है वरन् उसका पूरा व्यक्तित्व, मान और मर्यादा सब कुछ उस पर निर्भर है। किसान हमारी परंपरागत व्यवस्था में सबसे ऊपर है, वह अपनी सही अस्मिता का किसानी में ही अहसास करता है। और फिर वह कुछ और कर भी तो नहीं सकता - अनियत मजदूरी उसके आत्माभिमानी मन को छेद डालती है। इन्हीं सब कारणों से आज हमारा किसान उन जमीनों से भी बंधा हुआ है जिनमें हिसाब लगाने पर उसे अपनी मजदूरी भी नहीं मिलती। पर स्वाभिमान के साथ दो पैसे की आमदनी को वह दूसरे की चाकरी की मुहर से अधिक मूल्यवान मानता है, वही उसकी प्रतिष्ठा है और वही उसकी थाती है।

16.19 परन्तु हमारी सरकार के मुआवजे के हिसाब में ऐसे खेत से शुद्ध आय ऋणात्मक लगी अर्थात् अगर वह किसान उतनी ही मेहनत कहीं और करता तो उसको ज्यादा पैसे मिल जाते। उसकी खेती घाटे का सौदा है, इसलिये उस जमीन का कोई मूल्य नहीं, उसका मुआवजा कैसा ? कभी कभी तो उसकी भावनाओं से अपरिचित लोग, विनोद में ही सही यह तक कह जाते हैं "जमीन चली गई अच्छा ही हुआ, उस बंधन से छुटकारा मिल गया, आजाद होकर वह कहीं भी अब काम कर सकता है, इसके लिये मुआवजा कैसा ? **इसीलिये जब इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर इस मानसिक परिवेश में किसी किसान की जिंदगी रूप समूचे खेत को, जिसकी मेड़ टूटने पर वह मरने-मारने के लिये तैयार हो जाता है, सौ दो सौ रुपयों के सिक्के फेंक कर राज्य की सत्ता के साये में उससे छीन लिया जाता है, तो उस पर प्राणांतक आघात होता है, बेवसी में कुछ कर नहीं पाता, आत्महत्या तक के लिये आमादा हो उठता है। परन्तु सत्ताधारी पक्ष को उसमें कहीं अन्याय की साया तक नहीं दिखाई देती, न्याय के चश्मे से उन्हें सब कुछ उचित, न्यायसंगत और यही नहीं उस व्यक्ति के लिये हितकर भी दिखाई देता है। कैसा है यह कानून, कैसी है यह व्यवस्था- आइये इस मरणान्तक प्रक्रिया के कुछ जीते जागते उदाहरण देखें, जिसकी चपेट में मानव जिन्दा लाश बन कर रह गया है।**

विस्थापन - एक करुण गाथा

16.20 लोगों से जमीन लेने और उनके विस्थापन की कहानी आम आदमी के अधिकारों की अनदेखी, कानून के तहत अन्याय, निरे वायदे और झूँठी आशाओं की कहानी है। राज्य और उनके नुमाइंदों ने और उनकी आड़ में सभी तरह के कानून को मनमाने ढंग से लागू किया है। और इतना ही नहीं उनका खुल्लमखुल्ला दुरुपयोग भी किया।

16.21 उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले की कहानी बड़ी करुण है। इस इलाके में लोगों से रिहंद जलाशय के लिए वहाँ की सबसे उपजाऊ जमीन, जिसकी लोग आज भी जब याद करते हैं तो उनका मन भर आता है, ले ली गई। इस पिछड़े इलाके में जमीन पर हकों के दस्तावेजों की हालत बड़ी खराब थी जिसका नतीजा उन लोगों को आज भी भुगतना पड़ रहा है। पहले तो बहुत सी जमीनें लोगों के नाम पर चढ़ी ही नहीं थीं इसलिए उनके लिए तो कोई कानून था ही नहीं और बहुत से लोगों को वैसे ही बिना कुछ लिये-दिये मजबूरन भागना पड़ा। जिन लोगों का नाम जमीनों पर था भी उनको मुआवजा वरायनाम मिला। कहते हैं कि इन लोगों को लगान का बीस गुना यानी एक एकड़ के लिए 80 रुपये से 20 रुपये तक मुआवजा मिला। जमीन और संसाधनों पर राज्य व अधिकार तो अंग्रेजों ने ही साफतौर से कायम कर दिया था। इसलिए उनके जमाने में उसके खिलाफ किसी को कुछ कहने का सवाल ही नहीं खड़ा हुआ। परन्तु आजादी के बाद भी राज्य का रूप तो वैसा ही बना रहा और उसके अधिकार भी वैसे ही बने रहे। इसलिए यहाँ के लोगों के लिए मुआवजे के रूप में जो कुछ मिला उसको लेकर भागने के अलावा और कोई चारा ही नहीं था।

16.22 इस इलाके में एक अच्छीबात थी कि इस इलाके में जंगल बहुत थे। दूसरे, आजादी के बाद नई सरकार ने, कानून में चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, लोगों की तकलीफों को सुना और उन्हें दिलासा भी दिलाई। सरकार को यह भी मानना पड़ा कि आखिर लोगों को खाने-कमाने के लिये कुछ तो चाहिए ही। इसलिए सरकारी तौर पर लोगों को यह कह दिया गया कि जहाँ तुम चाहो जंगल में जमीन देख लो और बस जाओ। मुआवजा इतना कम मिला था कि कहीं दूसरी जगह जमीन

खरीदने का सवाल ही नहीं था। इसलिए लोगों को आसपास जहाँ कहीं अच्छी जमीन दिखाई दी, जरूरतनुई तो जंगल साफ करके वहाँ बैठ गए। इस तरह उनका मन तो रोता रहा पर फिर भी वे किसी तरह फिर से रोजी रोटी चलाने लगे ।

16.23 परन्तु उस जमीन पर उनके हक का सवाल साफ नहीं हुआ। कहीं उनको पट्टा मिला, कहीं नहीं मिला। जहाँ पट्टा मिल गया वहाँ पर भी आज फिर से सवाल उठाया जा रहा है कि वह जमीन, जंगल में है या राजस्व खाते में। मतलब यह कि अपने घरों से निकाल दिये जाने के 40 साल बाद भी इन लोगों का कोई ठौर-ठिकाना नहीं है।

16.24 इस इलाके में अगर कोई जाता है तो लोग पुराने वायदों की याद दिलाना नहीं भूलते हैं। **रिहंद जलाशय के शिलान्यास के लिए जब पंडित जवाहर लाल नेहरू वहाँ गये थे तो उन्होंने खुली आम सभा में यह कहा था कि रिहंद के कारण जिनको निकलना पड़ रहा है उनको फिर से बसाया जाएगा, रिहंद से जब बिजली पैदा होगी, तो सबसे पहले उनके घर पहुँचेगी उनका कोई घर आज की तरह अंधेरे में नहीं बना रहेगा, हर घर में बिजली पहुँचेगी और उसके साथ नई रोशनी भी। वे लोग देश के विकास में हिस्सेदार होंगे। रिहंद बन गया, वहाँ बिजली पैदा हो रही है और न जाने कहाँ-कहाँ तक पहुँच रही है। लेकिन जिन लोगों को उसके लिए उजड़ना पड़ा है, उनके घर और झोपड़ियों में बिजली की बात तो दूर, अभी तक उनको यह भी यकीन नहीं है कि वे जहाँ बसे हैं वहाँ रह भी सकते हैं या नहीं।**

कुछ रियायतें मिली पर हक नहीं

16.25 विस्थापन के और उदाहरण यहाँ देने की खास जरूरत नहीं है। सभी जगह कहानी वही है। लोगों को मुआवजा के अलावा जमीन के बदले में और कुछ मिलने का अधिकार ही नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं कुछ और लाभ देने के वायदे किए गए और लाभ मिले भी। आमतौर पर गाँव के उजड़ने पर नई बसाहतों को बनाने की जिम्मेदारी सरकार ने ली। कुछ औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उजड़ने वालों के हर परिवार में से एक व्यक्ति के लिए नौकरी की व्यवस्था या उसमें प्राथमिकता भी दी गई। परन्तु विस्थापन का अधिकार केवल मुआवजे तक ही बना रहा। बाकी जो कुछ किया गया वे सब रियायतें थीं। इसलिए उजड़ने वाले को कहीं क्या मिलेगा यह देने वाले की दया-दृष्टि पर ही निर्भर रहा। यही कारण है कि अभी हाल के सालों में केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना से उजड़ने वाले परिवारों के लिये नौकरी देने की हिदायत रद्द कर दी है।

16.26 यहाँ पर एक बात खास देखने की है। शुरू-शुरू में परियोजनाएँ थोड़ी सी थीं। कई जगह सरकारी जमीन और जंगल भी काफी थे। वैसे भी आबादी का उतना दबाव नहीं था, खास कर उन इलाकों में जहाँ परियोजनाएँ ली जा रही थीं। **और सबसे बड़ी बात यह थी कि आजादी के बाद विकास की पहली लहर में न्याय का भी ख्याल था। इसलिए कानून में मुआवजे की ही बात होने के बावजूद कई परियोजनाओं में पुनर्वास की कोशिशें की गईं। कहाँ तक सफलता मिली यह दूसरी बात है।** राजस्थान में कडाना बांध के लोगों को बसाने के लिए दूर-दूर तक जंगल साफ करके जमीनें बनाई गईं, इसी तरह कर्नाटक में तुंगभद्रा में पुनर्वास भी बड़े पैमाने पर हुआ।

नये दौर में विस्थापन

16.27 परन्तु धीरे-धीरे हालात बदलते गए। एक ओर परियोजनाओं की तादाद बढ़ती गई। दूसरी ओर सरकारी जमीन और जंगल कम होते गये और उन पर आबादी का भी दबाव बढ़ता गया। हाल के सालों में जंगल को किसी भी और काम के लिए काटने पर पूरी पाबंदी लग गई है। उधर

विकास परियोजनाओं का भी माहौल बदला है। एक तो अब वे नई-पुरानी हो गई हैं इसलिए उनके कामों में पहले जैसी सभी स्तरों पर निजी दिलचस्पी की बजाय "चलता है" जैसा नेमी रूप ही उभरता गया है। दूसरे शुरू में परियोजनाओं की स्थापना के साथ पुनर्वास के वायदे हुए, कोशिशें भी हुईं, कुछ सफलता भी मिली। परन्तु फिर भी उनसे अधिकतर प्रभावित लोगों को खास फायदा नहीं हुआ, उनका सब कुछ लुट गया, वे सचमुच ही उजड़ गए और उनकी दास्तानें भी नई-पुरानी हो गईं। उनकी हालत को देखकर लोग अफसोस जरूर जाहिर करते रहे, परन्तु धीरे-धीरे संवेदना छीजती गई, उसका असर भी खतम होता गया है। **और जब किसी समस्या का समाधान नहीं होता है, सिद्धांत की आड़ लेनी पड़ती है तब "विकास विनाश के गर्भ से ही जनमता है," "विकास की कीमत किसी न किसी को तो चुकानी ही होगी" कह कर बात टल जाती है। आज इन्हीं सिद्धांतों का नाम लेकर विकास के कदम बढ़ते जा रहे हैं — — — लोग उजड़ रहे हैं।**

16.28 विस्थापन के इस नये दौर की हालत पहले की हालत से बिल्कुल अलग है। अब न केवल कुछ चंद लोगों को वरन् पूरे के पूरे गाँव और पूरे के पूरे समाजों को अपनी बाप-दादों की जगह छोड़नी पड़ रही है और फिर अनजान और अजनबी दुनिया में भटकने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। खेद है कि विस्थापन के इस नये पहलू पर अभी तक गंभीरता से विचार तक नहीं हुआ है। इसके कारण गाँव के गाँव और समाज के समाज बिखर जाते हैं, लोगों से उनकी जिंदगी का सहारा छिन जाता है और वे कहीं के नहीं रहते हैं। इसका सबसे अधिक प्रभाव तो आदिवासी इलाकों पर पड़ा है जिस पर हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे। परन्तु समस्या गैर-आदिवासी इलाकों में भी विकराल है। इसलिए उसके बारे मे यहाँ भी कुछ और बात करना जरूरी है।

16.29 नये दौर में एक तो बड़ी परियोजनाओं की भरमार है। दूसरे अब कुछ परियोजनाएँ तो इतनी बड़ी हैं कि उनसे एक दो गाँव नहीं, सैकड़ों गाँव और लाखों लोगों को हटने के लिए मजबूर होना पड़ता है। अब जमीन और जंगल तो रहे नहीं जहाँ अगर गाँव के गाँव बसना चाहें तो जगह मिल जाय। यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की है। जब कोई गाँव उठता है तो लोगों की जमीनें ही नहीं छूटती हैं, उनके साथ उनके अपने परिवेश, उस इलाके के पूरे संसाधनों से ही नाता टूटता है। उनके आपस के आर्थिक संबंध खत्म हो जाते हैं। अपनी "जन्मभूमि" से निकलने के बाद हर विस्थापित अकेला रह जाता है।

16.30 इस विस्थापन की विभीषिका के बीच आज कानून से मुआवजा भी तो उन्हीं को मिल सकता है जिनका जमीन पर हक है। अंग्रेजी राज की विरासत और आज के हालात तो यही हैं कि **गाँव की अधिकतर जमीनें कुछ चंद लोगों के पास हैं। बहुसंख्यक लोगो के पास एक तो जमीन की मिल्कियत है ही नहीं और है भी तो बहुत थोड़ी। ये लोग या तो बड़े लोगों की जमीन पर काम करते हैं** अथवा वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों पर या समाज में तरह-तरह के दूसरे काम करके किसी तरह से अपनी गुजर-बसर करते है। **इस तरह जिन लोगों की जमीनें पहले तो अन्यायी सामाजिक व्यवस्था ने हड़प ली थी, उसके बाद उन्हीं लोगों का रहा-सहा सामाजिक संसाधनों पर हक अंग्रेजी राज की व्यवस्था ने साफ कर दिया। इन अधिकारहीन लोगों में अधिकतर हरिजन और कहीं-कहीं आदिवासी भी हैं।** फिर भी वे उस अन्यायी व्यवस्था में ही जीते थे। कैसी विडम्बना है कि जिस **देश में अन्यायी व्यवस्था खत्म करके समाजवादी व्यवस्था कायम करने का संकल्प लिया गया हो उस संकल्प के चालीस वर्ष के बाद जब गाँव उजड़ता है और समाज बिखरता है तब इन अधिसंख्य लोगों का क्या होता है इसके बारे में कानून चुप है, व्यवस्था सामोश है और अन्य किसी** को भी उनसे कोई सरोकार **नहीं। यह स्थिति न केवल अन्यायपूर्ण है वरन् अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को**

संविधान में दिये गये संरक्षण की अवहेलना भी है। इसलिए हमारी संवैधानिक व्यवस्था तथा सामाजिक न्याय के संदर्भ में विस्थापन की समस्या पर पूरी तरह से नये सिरे से विचार करना जरूरी है।

16.31 **विस्थापन की समस्या के मोटे तौर पर तीन पहलू हैं - एक कानूनी, दूसरा सामाजिक न्याय का और तीसरा व्यवहारिक।** सबसे पहले कानूनी पहलू पर विचार करना उचित होगा।

विस्थापन के लिए कानूनी ढाँचा

16.32 कानून की बात करते हुए सबसे पहली बात तो यह खटकती है कि हमारे देश में कानूनों की भरमार है जो आम आदमी की समझ के बाहर है। कई मामलों में तो वह पस्त है। परन्तु जहाँ विस्थापन हो रहा है, जहाँ लोगों की जिंदगी का हक ही छिन रहा है उसके बारे में कोई ऐसा कानूनी ढाँचा नहीं है जिसमें कि उन लोगों की पूरी समस्या पर विचार किया जा सके, उसका समाधान हो सके।

16.33 **विस्थापित आज जिन समस्याओं से जूझ रहे हैं और उन्हें न्याय नहीं मिल पा रहा है उसकी दो जड़े हैं। पहली जड़ है हमारे साधारण कानून की यह मान्यता कि जमीन सहित सभी संसाधन राज्य की संपत्ति हैं।** आज के कानून के अंतर्गत जब जमीन ली जाती है तो जमीन के संपत्ति रूप पर विचार होता है और उसी के आधार पर विस्थापितों की जिंदगी के सवालों का निपटारा कर दिया जाता है। जमीन के अलावा दूसरे संसाधनों के बारे में भी वही बात है। जिन लोगों के जितने अधिकार राज्य ने स्वीकार किए हैं उनके आगे किसी भी आदमी का कैसा भी हक बनने का सवाल ही नहीं उठता चाहे वह आज से नहीं युगोंसे भी उन्हीं पर पूरी तरह से जिंदा क्यों न हो। **इस तरह इस कानूनी ढाँचे में वे सब लोग विचार के बाहर ही रह जाते हैं जिनका कोई संपत्ति संबंधी अधिकार संसाधनों पर नहीं बनता है।**

16.34 **परियोजनाओं से प्रभावितों की मुसीबत की दूसरी जड़ है स्वयं भूमि अधिग्रहण अधिनियम। यह कानून एक तरह से कहने को जमीन के मामले में राज्य और नागरिकों के बीच के रिश्ते सही रहें इसके लिए न्यायायिक आधार है।** परन्तु इस कानून में आज के हालात को देखते हुए कुछ बुनियादी **खामियाँ हैं जिसकी वजह से लोगों को न्याय मिलने की बजाय उसी के कारण अन्याय का शिकार होना पड़ता है।**

16.35 भूमि अधिग्रहण कानून में दो मुख्य बातें हैं जिनके आधार पर सभी मसले हल होते हैं।

पहली बात है "जनहित" की। इस कानून के मुताबिक राज्य किसी भी जनहित के काम के लिए किसी की जमीन ले सकता है। **दूसरी बात है, जमीन के सम्पत्ति रूप की। इस कानून के तहत किसी आदमी की अगर जमीन ली जाती है तो उसके बदले में उसको केवल मुआवजे का ही हक है। इन दोनों बुनियादी बातों पर गहराई से विचार करना जरूरी है।**

जनहित - कुछ और पहलू

16.36 जैसा हम पहले देख चुके है कि आज के कानून के मुताबिक सरकार या उसके अधिकारी जिस किसी बात को भी जनहित कह दें वही जनहित हो जाएगा। जनहित के सवाल को जब भी गंभीरता से उठाया जाता है तो बुनियादी मुददे को टाल कर बड़े हल्के-फुल्के ढंग से कह दिया जाता है कि क्या सरकार को किसी भी काम के लिए जमीन लेने का अधिकार होना ही नहीं चाहिए ? सरकार के जमीन लेने के अधिकार के पक्ष में राष्ट्रीय सुरक्षा के उदाहरण पेश कर दिए जाते हैं। और फिर विजय की मुद्रा में, परन्तु बड़े सीधे-सादे ढंग से सवाल कर दिया जाता है कि क्या केवल इसलिए कि कुछ लोग अपनी जमीन देने के लिए तैयार नहीं हैं, राष्ट्रीय सुरक्षा के कामों को

छोड़ा जा सकता है ?

16.37 सत्ताधारियों की दृष्टि में इस सवाल का जवाब साफ है। राष्ट्रीय सुरक्षा के काम तो करने ही होंगे। और राष्ट्रीय सुरक्षा के रास्ते में किसी भी और बात को आड़े नहीं आने दिया जा सकता है। **परन्तु ये लोग इस विवादहीन सवाल की आड़ में एक और बहुत ही बुनियादी सवाल का जवाब भी दे देते हैं कि सरकार को जनहित के बारे में निर्णय लेने का अंतिम अधिकार है और जनहित के बारे में आज का कानून वाजिब है। जनहित के मामले में अंतिम फैसला सरकार और उसके अधिकारियों पर छोड़ा जा सकता है।**

16.38 यहीं पर आकर तर्क का कुतर्क हो जाता है, जिसे समझना जरूरी है। चूँकि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए जमीन लेना जरूरी है, इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि एक कानून ऐसा बनाया जाय जिसमें सरकार को एक ही तरीके से सभी तरह के कामों के लिए जमीन लेने का अधिकार मिल जाये। उदाहरण के लिये सैलानियों के लिए पर्यटन स्थल बनाना राष्ट्रीय सुरक्षा **नहीं** है और उसे जनहित कहना भी गलत है। परन्तु पर्यटन स्थल बनाने के लिये आदिवासियों तक की जमीन इसी कानून के तहत उनकी इच्छा के खिलाफ और जोर जबरदस्ती करके ले ली जाती है। इस तरह **सीधे-सादे लोगों के प्रति सरासर अन्याय भी जनहित के लबादे में ढक जाता है। इससे यह साफ है कि सुरक्षा संबंधी तर्कों के बावजूद आज का कानून, जिसमें सरकार जिसको चाहे जनहित कह दे, ठीक नहीं है। अगर सरकार चाहे सुरक्षा के मामलों के लिये अलग से कानून बना ले परन्तु** जनहित के नाम पर खुद कुछ करने की खुली छूट मुनासिब नहीं है। उससे लोगों के हक खतम होते हैं जो इन्साफ के हक में नहीं है।

जमीन का सम्पत्ति-रूप संविधान की अवहेलना

16.39 दूसरा सवाल है, जमीन के सम्पत्ति का। भूमि अधिग्रहण कानून में जमीन को सम्पत्ति माना गया है। परन्तु क्या यह बात ठीक है ? इस मामले में कानूनी और संविधानिक स्थिति भी साफ नहीं है। इसीलिए तमाम गड़बड़ियाँ हो रही हैं। सामन्तवादी व्यवस्था में जहाँ राजा या जमींदार जमीन का मालिक होता है जमीन को सम्पत्ति माना जा सकता है। आजादी के पहले जमीन के मामलों का निपटारा इसी सोच के आधार पर किया जाता रहा था। इस मामले में संविधान के प्रावधानों में भी विसंगति है। संविधान के अनुच्छेद 31 'क' में जहाँ एस्टेट इत्यादि को राज्य के द्वारा लेने की व्यवस्था की गई, इस अनुच्छेद में निजी खेती की भूमि और दूसरी तरह की सम्पत्तियों में अंतर किया गया है। अगर किसी व्यक्ति के पास अधिकतम सीमा से जमीन कम है तो राज्य को उसे लेने का अधिकार नहीं है। इस अपवाद के लिए इसीलिए जरूरत महसूस की गई थी जो आदमी खेती पर अपनी आजीविका के लिए निर्भर है उससे उस खेती को संपत्ति मानकर संपत्ति लेने के लिये बनाए गए कानून के आधार पर लेना उचित नहीं होगा। परन्तु इस बुनियादी अंतर की भावना को पूरी तरह से संभवतः अनजाने ही इस अनुच्छेद में स्थापित नहीं किया गया। इसलिये उसमें यह व्यवस्था स्वीकार कर ली गई कि यदि वह जमीन किसी कानून के तहत लेना ही पड़े तो उसके लिए बाजार भाव से मुआवजा देना होगा। इसलिये आखिर में निजी खेती की जमीन पर व्यक्ति का अधिकार भी उसके लिये बाजार भाव से कीमत मिलने तक ही सीमित रह गया। इस तरह से संविधान में निजी खेती की जमीन को भी एक तरह से संपत्ति रूप मान लिया गया और यह भी सोच लिया गया कि उसको बाजार भाव मिल जाये तो उसके साथ अन्याय नहीं होगा।

16.40 संविधान में यह व्यवस्था कैसे आ गई इसको समझने के लिये इस संशोधन को लाने के उद्देश्य और उस समय के हालात को देखना होगा। उस समय देश में एक बड़ी बहस बड़े भू-पतियों से उनकी सम्पत्ति लेने के संबंध में उठी थी। इन भूपतियों के बड़े-बड़े भू-खण्डों के लिये वाजिब मुआवजा क्या होना चाहिये इस बात को लेकर विवाद चल रहा था। क्या इन लोगों को अपनी विशाल संपत्ति का बाजार मूल्य देना उचित होगा ? लगता था कि यह व्यवस्था सुधार के रास्ते में अनावश्यक अवरोध थी। इसलिए इस संशोधन में पूरा ध्यान मुआवजे पर ही बना रहा। इस संशोधन से इन लोगों को अपनी एस्टेट के लिये बाजार भाव के बहाने बढ़ा-चढ़ा कर मुआवजा माँगने का हक नहीं रहा। सरकार को किसी भी मामले में जो वह उचित समझे कर सकती है, उसका अधिकार मिल गया। परन्तु उसमें भी यह अपवाद कर दिया गया कि निजी खेती की भूमि के लिये मुआवजा बाजार भाव से दिया जायेगा। इस पृष्ठभूमि में **कानून बनाने वालों को यकीन हो गया कि अगर जिसकी जमीन जाती है उसे बाजार भाव से कीमत मिल जाय तो उसको न्याय मिल जाएगा।**

16.41 परन्तु बात ऐसी नहीं है। खुद काश्त के लिए बाजार भाव के मुआवजे की बात तो हो गई परन्तु उसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया गया कि मुआवजा देकर ऐसी जमीन को भी जिससे लोगों की जिंदगी चलती हो, ले लेने का कानून ठीक है। उस समय यह भुला दिया गया कि हाथ से खेती करने वाले के लिये उसकी जमीन सम्पत्ति नहीं, वरन् उसके जीवन का आधार है। संविधान में राज्य के नीति के निर्देशक सिद्धांतों में जिंदगी चलाने के लिये उपयुक्त साधन को बुनियादी अधिकार माना गया है। इस संदर्भ में बुनियादी सवाल यह है कि क्या किसी व्यक्ति के जीवन के आधारका बाजार मूल्य आंका जा सकता है ? इसका जवाब साफ "न" है। इसलिए बाजार मूल्यदेकर ऐसी जमीन जिससे कोई व्यक्ति अपनी जिंदगी बसर कर रहा है, उससे छीनी नहीं जा सकती है। **इस तरह संविधान के अनुच्छेद 31 क में मुआवजा देकर भूमि लेने का प्रावधान संविधान की मूल चेतना के खिलाफ है।**

16.42 संविधान और कानून की आज की स्थिति के बारे में सार रूप में यह कहा जा सकता है कि हर नागरिक को जीवन का बुनियादी अधिकार है। जीने के लिये, आजीविका के लिये उपयुक्त साधनों की जरूरत होती है, इसीलिए संविधान में जीविका के पर्याप्त साधन हर नागरिक का अधिकार माना गया है। **इस तरह यह साफ है कि जो नागरिक जिस तरह भी अपनी जिंदगी बसर कर रहा हो उससे उसकी जीविका के साधन या जिंदगी का आधार कोई भी नहीं "छीन" सकता। अगर ऐसा होता है तो वह संविधान की अवहेलना है।**

16.43 हमारे देश में जमीन सहित प्राकृतिक संसाधन ही देश के अधिकांश लोगों के जीवन का आधार है। यह जरूर है कि आज के कानून में इन संसाधनों पर निजी हक भी कायम हो सकता है। इसलिए संसाधनों का सम्पत्ति रूप भी उभरा है। इसी कारण कानून और व्यवहार दोनों ही मामलों में जमीन सहित प्राकृतिक संसाधनों की स्थिति भ्रमपूर्ण हो गई है। जमीन को केवल सम्पत्ति रूप मान लिया गया है और उसी आधार पर कानून बने हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि हमारे संविधान में संपत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकार माना गया था परन्तु बाद में उसे उस सूची में से निकाल दिया गया है। इसके साथ ही संविधान में ही राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह सम्पत्ति को अगर चाहे तो ले सकता है। इस व्यवस्था में भूल यह हो गई कि खेती की जमीन ---------- को भी सम्पत्ति का दर्जा दे दिया गया। खुदकाश्त की जमीन लेने के लिए

यह बंदिश जरूर लगा दी गई है कि उसके लिए बाजार भाव से कम मुआवजा नहीं दिया जाएगा। परन्तु इसके बावजूद इस व्यवस्था से लोगों के संविधानिक अधिकार की अवहेलना होती है। **सम्पत्ति का मुआवजा देकर लोगों की जिंदगी का आधार नहीं छीना जा सकता है। इसलिए जिंदगी के आधार के लिए क्या व्यवस्था हो इस पर अलग से विचार करने की जरूरत है।**

लोगों से संवाद

16.44 इस तरह कानूनी व्यवस्था के खुद ही गलत होने से जमीन लेने के मामले पर हमें मानव अधिकार, सामाजिक न्याय और व्यावहारिक पहलुओं को ध्यान में रखते हुए चर्चा करनी होगी। जब राज्य कोई ऐसा काम करे जिससे किसी व्यक्ति की जिंदगी का आधार प्रभावित हो तो सवाल आता है कि राज्य का क्या फर्ज बनता है। **पहली साधारण-सी बात तो यही है कि जिस आदमी की जिंदगी का आधार ही जा रहा हो, उससे बात तो की जाय। और फिर हमारे देश में तो प्रजातंत्र है, जिसमें हर नागरिक का हर मामले में समान अधिकार है। किसी भी व्यक्ति को उसकी जिंदगी के अधिकार से वंचित करना, और वह भी एक तरफी प्रक्रिया से, उपनिवेशिक परंपरा का अंग है।** अगर देश की रक्षा का सवाल है, देश के विकास का सवाल है, जनहित का सवाल है तो उससे संबंधित निर्णय प्रक्रिया में सभी की भागीदारी होनी चाहिये और फिर जिस व्यक्ति से उसकी जिंदगी का आधार लेने का सोचा जा रहा हो उसका तो और भी अधिकार हो जाता है कि उसके बारे में उसे बताया तो जाय। इसके लिये उससे संवाद स्थापित किया जा सकता है, किया जाना चाहिये।

16.45 इसी तरह जब देश के विकास में सभी लोगों की भागीदारी है तो उस प्रभावित व्यक्ति जिसका सब कुछ छिन रहा है, की भागीदारी तो खासतौर से होनी चाहिए। अगर उसको सभी बातें बताई जायें और उसको विकल्प दिया जाए तो कोई कारण नहीं है कि वह उसको स्वीकार नहीं करेगा। **अगर कोई व्यक्ति उसे दिया हुआ विकल्प स्वीकार नहीं करता है तो या तो वह विकल्प संतोषजनक नहीं है या समझने या समझाने में कोई गलती है। किसी भी हालत में जोर-जबरदस्ती का तो सवाल ही नहीं खड़ा होता है। अगर किसी व्यक्ति को समझाया नहीं जा सकता है तो मामला वहीं खत्म मान लिया जाना चाहिये और सरकार का यह फर्ज हो जाता है कि वह पूरे प्रस्ताव को फिर से एक बार देखे और उसे समझाने की कोशिश करे।**

कानून में संवाद की असंगत स्थिति

16.46 जमीन लेने के मामले में ऊपर बताए गए वांछनीय व्यवहार की, जिसकी जरूरत आम आदमी भी आसानी से समझ सकता है, अगर हम आज की कानूनी हालत से तुलना करें तो बड़ी ही असंगत स्थिति मिलेगी। लोगों के साथ संवाद के बारे में सबसे पहले तो हमारे देश में प्रजातांत्रिक व्यवस्था है इसी को लेकर बड़ी गलत फहमी हो सकती है। कुछ हद तक गलतफहमी है भी जिसे दूर करना जरूरी है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सरकार लोगों की प्रतिनिधि है। इस संदर्भ में क्या यह कहा जा सकता है कि जब सरकार अर्थात् लोगों के वे प्रतिनिधि इन मसलों पर फैसला करते हैं तो वह लोगों का फैसला नहीं है ? अगर वह लोगों का फैसला है तो उसमें हर किसी से संवाद की जरूरत ही क्या ?

16.47 यह तर्क सही नहीं है। पहले तो इस तरह के निर्णयों में लोगों के प्रतिनिधियों का कितना हाथ होता है और कितनी औपचारिक व्यवस्था उन पर अपने फैसले थोप देती है, इसका कोई हिसाब

ही नहीं। मगर यदि यह मान भी लें कि जनप्रतिनिधि ही सोच समझकर फैसला करते हैं तो भी क्या इस तथ्य से ही प्रभावित लोगों से संवाद की जरूरत ही नहीं रहती ? जिस व्यक्ति के सामने जिंदगी का सवाल है, उसकी ओर से सामान्य प्रतिनिधि तब तक नहीं बोल सकता जब तक कि उस मामले के लिये खास तौर से, उनकी ओर से उनकी बात समझ कर उनकी भावना को सामने रखने के लिये न कहा जाय।

16.48 एक दूसरी बात भी बड़ी महत्वपूर्ण है। किसी भी मौके पर प्रभावित लोग तो थोड़े ही होते हैं, दूसरे लोग अधिक। प्रतिनिधि व्यवस्था का एक सहज गुण है कि वह हमेशा बहुमत की ओर ही झुकती है। इसीलिये संविधान में भी अल्पमत वाले लोगों के हितों की रक्षा के लिये विशेष प्रावधान हैं। आदिवासियों की जमीनों पर हक के बारे में हम देख ही चुके हैं कि प्रतिनिधि व्यवस्था ने किस कदर संविधानिक प्रावधानों तक की अनदेखी ही नहीं अवहेलना तक की है। इसीतरह जब विस्थापन के मामले में विस्थापितों के हितों का सवाल आता है, तो साफ है कि वे अल्पमत में होंगे। परन्तु उनके हितों की रक्षा के लिये अभी कानून में कहीं भी व्यवस्था नहीं है। हाँ, आदिवासी इलाकों की बात अलग है जिस पर हम आगे चर्चा करेंगे। **इसलिये विस्थापितों के हकों के आम मामले को अभी व्यक्ति के हितों की रक्षा के रूप में ही सोचा जा सकता है। इसलिए इन मामलों में सबसे महत्वपूर्ण बात यही देखनी होगी कि कहीं आज चल रही विस्थापन की प्रक्रिया से व्यक्ति के बुनियादी अधिकारों की अवहेलना तो नहीं हो रही है। चूँकि विस्थापन में व्यक्ति के बुनियादी अधिकारों का सवाल है इसलिए संवाद उसी से सीधे होना जरूरी है।**

16.49 आज की व्यवस्था में यह संवाद, यदि उसे संवाद कहा जाय तो, भूमि अधिग्रहण कानून के मार्फ़त ही होता है। इस कानून के तहत जब जमीन लेने की बात आती है तो संबंधित व्यक्ति को नोटिस दिया जाता है, आपत्तियाँ सुनी जाती हैं और आखीर में फैसला दिया जाता है। इस पूरी पेचीदी कानूनी प्रक्रिया में पहले तो गरीब आदमी की कुछ समझ में ही नहीं आता। उसके लिये यह सब कार्रवाई ही एक बड़ा जाल है-जिसमें से वह किसी तरह से निकलना चाहता है। जहाँ तक हरिजन आदिवासियों का सवाल है उनके लिये तो वह पूरी प्रक्रिया ही एक भारी सजा है।

16.50 दूसरी एक और बात भी है। अगर प्रभावित लोगों से बातचीत जरूरी मानी जाती है तो उसके मुद्दे क्या होंगे ? यह भी तो साफ होना चाहिये। **जिस काम के लिये जमीन ली जा रही है, क्या वह काम जरूरी है, अगर वह काम जरूरी है तो क्या उस काम को करने का वही एक रास्ता है या और कोई रास्ता भी हो सकता है,** इत्यादि कई नीति के सवाल हैं। इसके बाद कुछ और भी अहम और नेमी सवाल हो सकते हैं। अगर उनकी जमीन जाती है तो उनका क्या होगा विकास के लाभों में उनकी कोई हिस्सेदारी है या नहीं, क्या उनके लिये जीविका के साधनों की कोई दूसरी व्यवस्था की जा रही है, इत्यादि उनके जीवन-मरण के सवाल हैं। कुछ नेमी सवाल भी हैं जैसे कितनी जमीन चाहिये, मुआवजे की दर क्या होगी, मुआवजा कब मिलेगा, इत्यादि।

16.51 **उसूलों के सवाल पर संवाद के लिये लोगों के पास पूरी जानकारी होना जरूरी है।** इसी तरह विकास में हिस्सेदारी पर संवाद के लिये पहले से बनी हुई व्यापक योजना चाहिये। इन मामलों में हालत इतनी खराब है जिसका कुछ कहा नहीं जा सकता है। पहले तो परियोजनाओं के संबंध में जानकारी की ही बात को ले लें तो अभी तो बहस इसी बात पर चल रही है कि जानकारी का अधिकार लोगों को है भी या नहीं। **कितनी हास्यास्पद बात है, वह भी हमारे देश जैसी प्रजातांत्रिक**

व्यवस्था में जिसमें एक तरफ उसूलों के अंबार लगे हुए हैं। और दूसरी ओर जिन लोगों का सब कुछ उजड़ रहा हो विकास के नाम पर, उनको जानकारी के भी लाले पड़ें और उस पर उसूल की बहसें चलें। इसी तरह से विकास के लाभों के बारे में बातचीत करने का भी आधार ही नहीं है। व्यापक योजनाओं की तो छोड़िये हिस्सेदारी उसूलन होनी चाहिये या यहीं इस पर कहीं गंभीर बहस भी नहीं है।

16.52 अब सवाल यह है कि आखिर इतनी साफ बातें भी क्यों नहीं हो पा रही हैं। इसका एक ही सबब है और वह है आज के कानून की बुनियादी मान्यताएँ। हम देख चुके हैं जमीन के मामले में सरकार ही मालिक है इसलिये वह और उसके अधिकारी सब तरह का फैसला लेने के लिये सक्षम हैं। यही नहीं जनहित क्या है इसके बारे में भी वे ही अंतिम निर्णायक है। **इसलिये संवाद के नाम पर बात रह जाती है बाजार भाव की, मुआवजे की अदायगी की। यहीं आम आदमी का अधिकार है और इसी से उसको संतोष कर लेना चाहिये। उसूल तो स्वप्नलोक की बातें हैं, उनका क्या ? पैसे को सब देख परख सकते हैं, राजनेता, प्रशासक और अदालत।** उसी की बहस में उलझकर अहम बुनियादी मसले एक तरफ रह जाते हैं - बिना समझे, बिना देखे, बिना कहे। इस तरह आज हालत यही है कि लोगों से उनकी जिंदगी का आधार उनसे बिना किसी संवाद के एकतरफा कार्रवाई के आधार पर छिन जाता है। यह अन्याय है, संविधान की अवहेलना है।

जनहित का सवाल - आंकड़ों का नहीं, मानवीय मूल्यों का

16.53 इस तरह कानून की बुनियाद को एक बार फिर से ध्यानपूर्वक देखने-परखने की जरूरत साफ है। उसमें "जनहित" ही सबसे अहम् है और सब की जड़। इसके पहले हम प्रजातंत्र की भावना के संदर्भ में अल्पमत और बहुमत की अहमियत की बात कर रहे थे। थोड़े लोगों का हित अल्पमत होते हुए नजरअंदाज करना उचित नहीं माना जा सकता है। इसीलिये अल्पमत को भी विशेष संरक्षण देना जरूरी है।

16.54 यही बुनियादी सवाल विकास की प्रक्रिया के बारे में भी उठता है। जब किसी एक परियोजना पर विचार किया जाता है तो साफ है उससे प्रभावित तो वे थोड़े से लोग ही होते हैं जिनकी जमीनें जा रही हों। वे ही लोग सामने दिखाई भी देते हैं। परन्तु उस परियोजना का लाभ कहा जाता है बहुतों को मिलेगा। इस तरह उसमें "अनाम अनेक" लोगों के लाभ की बात आ जाती है। इस तरह के हिसाब में थोड़े से लोगों की हानि और बहुत लोगों को फायदा दिखाई देने लगता है। और फिर उसे विकास की प्रक्रिया के बदलाव के लिये जरूरी मान कर वाजिब कह दिया जाता है।

लाभ-हानि का हिसाब - कितना वाजिब ?

16.55 इस बात में दो पेंच हैं जिनका समझना जरूरी है। पहले तो "थोड़ों को हानि और बहुतों को फायदा" यह तर्क देखने में जायज लगता है परन्तु उसे एक साधारण नियम के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। **संख्या के आधार पर हानि और लाभ का हिसाब वहीं पर लागू हो सकता है जहाँ पर दोनों ओर के लोग एक जैसे हों और हानि और लाभ की बात एक ही जैसी चीजों के बारे में की जाय। अगर हानि से कहीं कुछ लोगों की सुविधा में कमी हो और लाभ से कुछ दूसरे लोगों की सुविधाओं में बढ़त हो तो इस तरह का हिसाब किया जा सकता है, करना वाजिब भी होगा।** इस तरह अगर किसी कार्यक्रम में "हानि" कम लोगों को और "लाभ" अधिक लोगों को हो रहा

हो तो उसे ठीक माना जा सकता है। परन्तु अगर स्थिति यह हो कि हानि तो कुछ थोड़े से लोगों को ही हो रही हो परन्तु उस हानि में उनकी जिंदगी का आधार ही खत्म हो रहा हो तो बात बदल जाती है। **अगर कोई समाज, चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, बिसराव, गरीबी और अंत में विनाश के कगार पर पहुंच जाय तो क्या उस समाज की इस "हानि" का मोल-भाव किया जा सकता है?**

16.56 **कुछ लोगों की जिंदगी को दाँव पर लगाकर अधिक लोगों के लिये आशाएँ पैदा करना साधारण विनिमय का मामला नहीं है। यह सवाल मानवीय मूल्यों का है।** इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जहाँ ताकतवर बहुसंख्यकों ने अपने छोटे-छोटे से हितों के लिये कमजोर अल्पसंख्यकों से न केवल उनकी जिंदगी का आधार छीन लिया वरन् उन्हें मौत के घाट तक उतार दिया। और उसे सिद्धांतों के आधार पर वाजिब तक ठहराया गया। परन्तु ऐसा व्यवहार न हमारे देश की परंपरा है और न हमारे संविधानिक मूल्यों से संगत है। जनहित को संख्या के आधार पर और सुविधाओं के आधार पर नहीं आंका जा सकता है। उसके लिए बिलकुल दूसरे पैमानों की ही जरूरत होगी, उसकी बुनियाद मानवीय मूल्यों की ही हो सकती है।

थोड़े और बहुत का भुलावा

16.57 संख्या के इस हिसाब में एक बात और भी देखनी जरूरी होगी कि ये "अनाम अनेक" हैं कौन ? प्रत्येक परियोजना के सिलसिले में, उन लोगों के सिवाय जिनको उस परियोजना से सीधा लाभ मिल रहा हो, इस पूरे वर्ग को पहचानना कठिन है। परन्तु अगर हम अपने देश के विकास की प्रक्रिया और उसके नतीजों को ध्यानपूर्वक देखें तो यह साफ है कि विकास का लाभ चंद लोगों को मिल रहा है। इसलिये लाभ-हानि के इस तरह के सवाल में हर परियोजना में यह कहा जाता है थोड़े लोगों को हानि और बहुतों को अर्थात् इन "अनाम अनेक" को लाभ मिलता है। और इसी हिसाब के आधार पर परियोजना को वाजिब करार दे दिया जाता है। परन्तु अगर विकास के नाम पर ली जाने वाली सभी परियोजनाओं को लिया जाय और उनका जोड़ लगाया जाय तो बात बिलकुल दूसरी हो जाएगी। हमारे विकास की प्रक्रिया का केन्द्र-बिन्दु विशिष्ट वर्ग ही है। इसलिये हर योजना का लाभ इसी वर्ग के कुछ लोगों को मिलता है। इसलिये चाहे कोई भी कार्यक्रम उठा लें ये "अनाम अनेक" लोग तो सब जगह इसी विशिष्ट वर्ग के सदस्य हैं। परन्तु हर परियोजना से प्रभावित ये "थोड़े" से लोग हर जगह वहाँ के अधिसंख्य लोग हैं जो अलग-अलग हैं। इसलिए पूरे हिसाब में इन "अनाम अनेक" थोड़े से लोग होंगे जिनके लिये उन "थोड़े" अनेकों का अहित होगा। इस तरह पलड़ा बिलकुल उलटा हो जाता है। **विकास का लाभ विशिष्ट वर्ग के थोड़े से लोगों को मिलता है और उसकी कीमत आम आदमी को अदा करनी पड़ती है। बहुतों के लाभ के लिये थोड़ों की हानि का जोड़ थोड़ों के लाभ के लिये बहुतों की हानि में बदल जाता है।**

अदालतों से अपेक्षा

16.58 जनहित के मामले में दूसरा सवाल है उसके निर्धारण की प्रक्रिया। जनहित क्या है इसे तय करने के मामले में क्या अदालतों से कुछ अपेक्षा की जा सकती है ? हालांकि "जनहित" का सवाल भूमि अधिग्रहण अधिनियम में आता है परन्तु जो कुछ जनहित के नाम पर किया जा रहा है, "क्या वह जनहित में है" इसके मामले में बुनियादी तौर पर समीक्षा के लिये अदालतों से कोई खास उम्मीद नहीं की जा सकती है। आमतौर पर अदालतें कानून के मामले में केवल कुछ ही बात देख सकती हैं जैसे कि क्या किसी अधिकारी ने कानून के अनुसार काम किया ? क्या उसने सही प्रक्रिया

अपनाई ? कहीं इस सब में उसने बदनियती से तो काम नहीं किया ? या "कहीं" पूरी प्रक्रिया में भेद-भाव तो नहीं बरता गया। अगर ये बातें नहीं हुई हैं तो अदालत प्रशासन की कार्रवाई में दखलंदाजी नहीं करेगी। भूमि अधिग्रहण कानून में संबंधित अधिकारियों को यह अधिकार दिया गया है कि वे तय करें कि कौन-सी बात जनहित में होगी। जब तक वे अपने अधिकार का स्तेमाल बिना भेद-भाव के और अपने विवेक के अनुसार करते हैं, उनके उस मामले में फैसले को चुनौती नहीं दी जा सकती। इसलिए जनहित को कानून से ऊपर उठाकर नीति के व्यापक दायरे में परिभाषित करना होगा।

विस्थापन के बारे में कुछ बुनियादी उसूल

16.59 हमारे राष्ट्रीय जीवन का आधार है, समानता, न्याय और भाईचारा। सभी नागरिकों को प्रतिष्ठा और स्वाभिमान के साथ जिंदगी बिताने का अधिकार है। राज्य का दायित्व है कि वह न केवल इस अधिकार की रक्षा करे वरन् सभी लोगों के लिए और भी अच्छी जिंदगी के लिए अवसर पैदा करे। संविधान में ये दोनों ही सोच समानान्तर चलते हैं। वस्तुतः वे एक दूसरे के संपूरक हैं। इसलिये राज्य एक जिम्मेदारी को निभाने के लिए दूसरी जिम्मेदारी को नजर-अंदाज नहीं कर सकता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, जिंदगी का अधिकार सबसे पहला बुनियादी अधिकार है वह कानून के ऊपर है उसे संविधान से भी नहीं बांधा जा सकता है, वह स्वयंभू है इस बुनियादी अधिकार की रक्षा होनी ही चाहिये। इसलिए विकास का रास्ता ऐसा होना चाहिए जिसमें कि किसी भी व्यक्ति की जिंदगी का आधार खत्म न हो जाय।

16.60 जिंदगी चलाने के लिये साधनों संबंधी अधिकार के बारे में आखिरी फैसला उसी व्यक्ति का ही हो सकता है जिस व्यक्ति के अधिकार के बारे में प्रश्नवाचक चिन्ह लग रहा हो। इसलिए जब राज्य कोई ऐसा काम करने की सोचे जिससे प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग में फेरबदल हो सकता हो तो उसका पहला फर्ज यही होता है कि वह उस व्यक्ति या समाज से संवाद स्थापित करे जिनकी जिंदगी उन प्राकृतिक संसाधनों से चल रही हो। उस संवाद में विकास के उद्देश्यों के बारे में उनको जानकारी देना और उनसे सहमति प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिये। इसके साथ ही **प्राकृतिक संसाधनों के नये उपयोग करने की एक अनिवार्य पूर्व शर्त यह होनी चाहिये कि न केवल संबंधित संस्था या सरकार उनसे जिंदगी चलाने वालों के लिए आगे जिंदगी चलाने के लिये दूसरी व्यवस्था करे, जो पहली से अच्छी हो, परन्तु इस बारे में सरकार ईमानदारी बरते और पूरी तरह से इत्मीनान कर ले कि जो कहा जा रहा है वह सही है। इससे भी ज्यादा जरूरी यह है कि प्रभावित लोग खुद यह महसूस करें कि उनके लिए नया विकल्प ज्यादा होगा और उसके लिए वे पूरी तरह से अपनी मर्जी से तैयार हों। अगर इन उसूलों की अनदेखी होती है तो इस बारे में कोई भी कार्रवाई हमारे देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था के मूल्यों के खिलाफ होगी, हमारे संविधान की भावना के खिलाफ होगी।**

आज की व्यवस्था में नाइंसाफी

16.61 आज जिस तरह से राज्य जमीन सहित प्राकृतिक संसाधनों को लोगों से छीनकर दूसरे कामों के लिए उपयोग कर रहा है वह इस भावना के बिलकुल ही विपरीत है। जमीन को सम्पत्ति मानकर केवल उसका मुआवजा दिया जा रहा है। उदाहरण के लिये जहाँ जमीन जमींदार की है उस पर उसी का हक है, उसी को मुआवजा मिलता है। उस जमीन पर काम करने वाले अनगिनत खेतिहर मजदूर, बटाईदार या अनौपचारिक रूप से जोतने वाले किसानों का क्या होगा, इसके लिए न कानून

में कोई व्यवस्था है और न उनको कोई पूछने वाला ही है। इसी तरह से जिन संसाधनों पर गरीब लोग आश्रित थे और कानून के तहत उन संसाधनों पर अगर कोई दूसरा अधिकार जमा लेता है तो इससे किसी को वास्ता नहीं।

16.62 **हमारे देश के सभी संसाधनों को अंग्रेजों ने औपनिवेशिक परंपरा के अनुसार बिना यह देखे कि उनसे कौन जिंदगी बसर कर रहा था, सरकारी घोषित कर दिया था। पहले तो यही गलत हुआ था परन्तु वही गलती आज भी गरीब को सबसे अधिक पेर** रही है। समाज में उन तमाम लोगों का, जो जमीन पर सीधे-सीधे आश्रित नहीं हैं परन्तु स्थानीय अर्थ-व्यवस्था के अंग हैं उस समय क्या होगा जब जमीन वालों की जमीन ली जाएगी इसका कहीं कोई जिक्र ही नहीं है। इसलिए जमीन सहित अन्य संसाधनों को "जनहित" में सिर्फ मालिकों को मुआवजा देकर ले लेने की व्यवस्था हमारे संविधान की भावना के प्रतिकूल है और इसलिए असंवैधानिक है।

भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया का गलत प्रयोग

16.63 अभी तक हमने भूमि अधिग्रहण कानून की बुनियादी मान्यताओं की असंगतता पर विचार किया है जिसमें यह स्पष्ट हुआ है कि वे हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हैं। परन्तु एक बार अगर हम इस कानून को सही भी मान लें तब भी उसके क्रियान्वयन में और कई तरह की अनियमिततायें साफ दिखाई देती हैं। भूमि अधिग्रहण कानून एक ऐसे जमाने में बनाया गया था जब कि छोटे-मोटे सरकारी काम हुआ करते थे जिनके लिये थोड़ी-बहुत जमीन की जरूरत होती थी। वैसे भी उस समय राजा-महाराजा, जागीरदार और जमीनदारों का वर्चस्व था। जब जमीनें उनसे ली जाती थीं तो दूसरे किसी को कुछ कहने का हक ही नहीं रहता था। परन्तु विकास के नये दौर में इतनी बड़ी-बड़ी परियोजनायें बनाई जा रही हैं जिसकी उस समय कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। एक-एक परियोजना के लिए दस-बीस गाँव नहीं सौ, दो सौ गाँवों को भी हटने के लिए मजबूर होना पड़ सकता है। विकास की परियोजनाएँ भी कई तरह की हैं - कहीं पर सिंचाई के लिए बड़े बांध, कहीं उत्खनन के लिए बड़े खनिज प्रतिष्ठान और कहीं जंगली जानवरों को स्वच्छन्द बिचरने देने के लिए अभयारण्य ।

16.64 भूमि अधिग्रहण कानून के अंतर्गत जमीन लेने के लिए दो बातें जरूरी हैं - एक यह कि जमीन जनहित में ही ली जा सकती है। दूसरे यह कि जमीन लेने के पहले संबंधित व्यक्ति को अपनी आपत्ति पेश करने का हक है। जनहित के बारे में हम विस्तार से पहले ही चर्चा कर चुके हैं। इसलिए अब हम दूसरे पहलू पर, कि क्या इस कानून के अंतर्गत लोगों की आपत्ति सच में सुनी जा रही है या सुनी जा सकती है, इस पर विचार करेंगे।

आपत्तियों का नेमी निराकरण

16.65 किसी भी परियोजना को बनाने की प्रक्रिया उस परियोजना की वैचारिक कल्पना से शुरू होती है। उसके बाद उस परियोजना के लिए उचित स्थान तय करके या एक से अधिक विकल्प के साथ अन्य तकनीकी तत्वों के सहित विस्तृत रिपोर्ट बनाई जाती है। परियोजना को तकनीकी और वित्तीय मंजूरी मिल जाने के बाद अंतिम रूप से प्रशासनिक स्वीकृति मिलती है। अंतिम स्वीकृति मिलने के बाद ही आम तौर पर भूमि अधिग्रहण की कार्रवाई शुरू की जाती है।

16.66 परियोजना की अंतिम मंजूरी मिलने के पहले स्थानीय लोगों को अप्रत्यक्ष रूप में यह मालूम होता रहता है कि शायद उनकी जमीन चली जाय। इस मामले में अधिकृत जानकारी मिलना संभव

संभव ही नहीं है क्योंकि जब तक परियोजना पर अंतिम निर्णय नहीं हो जाता है तब तक कोई इस बारे में अधिकृत जानकारी दे ही सकता है। इसलिए सभी परियोजनाओं में यही होता है कि लोग दो-चार साल नहीं वरन् दस-दस, बीस-बीस साल तक सुनते रहते हैं कि शायद उनकी जमीन चली जाय। जब परियोजना प्रारम्भ होती है तब भी जमीन लेने की कार्रवाई क्रम से जरूरत के मुताबिक की जाती है। उदाहरण के लिये सबसे पहले परियोजना के लिये सुविधाओं को बनाने के लिए जमीन खरीदी जाती है उसके बाद परियोजना के निर्माण के लिए धीरे-धीरे जमीन ली जाती है। बड़े बांधों में डूबान आखरी साल में आता है।

16.67 इस प्रक्रिया में बुनियादी सवाल यह है कि जब किसी व्यक्ति से बड़ी परियोजना के प्रारंभ होने के बाद जमीन लेने के लिये नोटिस दिया जाता है और उससे आपत्ति पेश करने को कहा जाता है तो इसका क्या अर्थ है। परियोजना के मंजूर हो जाने के साथ ही यह तय जैसा ही हो जाता है कि उसके लिये जरूरत के मुताबिक पूरी जमीन अधिग्रहीत की ही जायेगी। दूसरे शब्दों में परियोजना के प्रभाव क्षेत्र में आने वाली पूरी जमीन एक तरह से सिद्धांततः अधिग्रहीत हुई जैसी मानी जा सकती है उसका कार्यरूप बच रहता है। उस प्रक्रिया के शुरू होने के बाद जमीन कब उसके हाथ से निकल जायेगी यही एक बात खुलने के लिए बच जाती है। **इस तरह परियोजना की मंजूरी ही जमीन के अधिग्रहण के लिये नियति बन जाती है जिसे टाला नहीं जा सकता।** अब इस हालत में परियोजना की मंजूरी ही नहीं बहुत करके उस पर काम चालू होने या न लौटने की हालत तक पहुँच जाने पर लोगों से यह पूछना कि क्या उनको जमीन के बारे में कोई आपत्ति है का क्या अर्थ हो सकता है। अभी तक इस सवाल का अर्थ केवल इतना ही लगाया जाता रहा है कि वह मुआवजे के बारे में यदि चाहे तो आपत्ति पेश कर सकता है। **अर्थात् उसकी आपत्ति जमीन लेने के बुनियादी सवाल पर नहीं हो सकती वरन् उसको मुआवजा क्या मिलना चाहिये इसी पर वह आपत्ति कर सकता है।** और मुआवजे के लिए भी कानून स्पष्ट है इसमें भी कोई अधिक फेरबदल नहीं हो सकता। भूमि अधिग्रहण अधिनियम में आपत्ति का प्रावधान (धारा-4) का दायरा व्यापक है। उसमें अधिग्रहण से संबंधित सभी पहलुओं पर, यहाँ तक कि उस परियोजना के जनहित में होने पर भी प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए अगर सैलानियों के लिए आरामगाह बनाने के लिए किसी का खेत लिया जाता है तो उसको यह पूछने का नैतिक अधिकार है कि आखिर आरामगाह का बनाना **लोकहित** में कैसे कहा जा सकता है। इस तरह से **आज की हालत में जब बड़ी-बड़ी परियोजनायें बनाई जा रही हैं भूमि अधिग्रहण के लिये कानूनी प्रक्रिया का केवल नेमी पालन हो रहा है जो कि सही अर्थ में कानून की अवहेलना है।**

16.68 बात यहीं खत्म होती है । किसी भी कानूनी प्रक्रिया में उम्मीद यह की जाती है कि सभी लोग अपना पक्ष प्रस्तुत करेंगे और हर बात पर पूरा ध्यान देकर ही आखरी फैसला होगा। बड़ी परियोजनाओं की मंजूरी के साथ कई तरह के निहित स्वार्थ पैदा हो जाते हैं। उदाहरण के लिये सिंचाई परियोजनाओं में उसके लाभ क्षेत्र के लोगों का हित वर्ग बन जाता है। इसी तरह से परियोजना निर्माण के साथ तकनीकी अधिकारियों के लिये नई संभावनायें पैदा हो जाती हैं और उसके साथ ही निर्माण से जुड़े ठेके की संभावनाएँ। मतलब यह कि स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है- हर व्यक्ति और वर्ग उसको अपने नजरिये से देखने लगता है और यदि उसमें किसी तरह की भी बदल हो तो उन सबको ऐसा लगता है कि मानो उनके मुँह से निवाला कोई छीन रहा है। इन हितों की

टकराहट में जहाँ धन और यहाँ तक कि शक्ति तक का खुला उपयोग होना प्रारंभ हो जाता है किसी तरह का सम्यक और विवेकपूर्ण निर्णय करना ही कठिन हो जाता है। उसमें जिन लोगों की जिंदगी का आधार खत्म होता है उनकी आवाज कहीं सुनाई तक नहीं देती है। उनको अपनी आपत्ति प्रस्तुत करने का कानूनी अधिकार भी नहीं मिल पाता है।

16.69 इस तरह वे सभी मामले, जिनमें सरकार किसी प्रतिष्ठान की स्थापना के लिए निर्णय पहले ले लेती है और लोगों की भूमि के अधिग्रहण की प्रक्रिया बाद में पूरी की जाती है, उस कानून की मूलचेतना के खिलाफ है। यही नहीं वह कानून स्वयं संविधान की मूल भावना के अनुरूप नहीं है, उसका उल्लंघन है। कैसी विडम्बना है कि संविधान के लागू होने के 40 साल बाद भी आज तक इस बुनियादी सवाल पर विचार करने की किसी को फुरसत नहीं मिली। **19 वीं सदी** के इस कानून को **21 वीं सदी** में पहुँचने की हड़बड़ी में आँख बंद किये हुए लागू किया जा रहा है। बिना यह सोचे कि उसकी मंशा भी पूरी हो रही है या नहीं। उसकी संवैधानिकता और मानवीय अधिकारों की संगतता का सवाल तो अलग ही रहा।

सामाजिक न्याय के लिए बुनियादी बदलाव

16.70 तथाकथित जनहित में संसाधनों को लेने का वर्तमान कानून और उसका तरीका सामाजिक दृष्टि से भी बड़ा अन्यायी है। यह सभी जानते हैं कि भूमि और संसाधनों पर निजी हक की दौड़ में कमजोर वर्ग के लोग, जिसमें कि अनुसूचित जाति के लोग अधिकतर हैं, पिछड़ गये थे। वे ही साधनहीन लोग अब उन संसाधनों पर गुजारा कर रहे हैं जिनकी मिल्कियत दूसरों के हाथ में है। जब इन संसाधनों को सरकार लेती है तो सिर्फ मालिक उसके सामने होता है, उसी का ख्याल रखा जाता है। और जिन लोगों की रोजी-रोटी उनसे चलती है, उनकी जिंदगी के आधार या जीविका के साधनों के अधिकार को सरकार भी उस वक्त नजरअंदाज कर देती है। जमींदार अपनी जमीन का मुआवजा बटोर लेता है। काश्तकार उसका मुँह देखता रहता है।

16.71 इसी तरह जब आदिवासी अंचलों में संसाधनों पर सरकार कब्जा कर लेती है तो वे देखते रह जाते हैं क्योंकि उनका अधिकार कहीं लिखा नहीं है। इसी को मैंने पिछली रिपोर्ट में ऐसा संवैधानिक अधिकार कहा था जो संविधान की आत्मा है, जो संविधान में सब जगह समाया हुआ है, पर जिनको मूर्त नहीं दिया गया है। इन अधिकारों को मूर्त रूप नहीं मिलने में गरीबों की क्या खता ? इसमें चूक या तो सरकार की है या उसके कर्मचारियों की। फिर उस चूक का नतीजा गरीबों को क्यों भुगतना पड़ रहा है ?

16.72 इस अन्याय को समाप्त करने के लिये वर्तमान कानूनी व्यवस्था में बुनियादी बदलाव की जरूरत है। इसके न्यायपूर्ण बनने के लिए तीन शर्तें हैं। **प्रथम** जमीन सहित सभी संसाधनों से जो लोग मेहनत-मजदूरी करके रोजी-रोटी चला रहे हैं उनके उस उपयोग को लोगों के जिंदगी के अधिकार के रूप में मान्यता दी जाय। **दूसरे** संसाधनों के जनहित के लिये प्रस्तावित वैकल्पिक प्रयोग के लिये योजना बनाने के पहले उस प्रयोजन के जनहित में होने के बारे में विधिवत निर्णय किया जाय। इस निर्णय प्रक्रिया में उन संसाधनों से गुजर-बसर करने वाले लोग शामिल हों और वैकल्पिक प्रयोग के बारे में उनकी सहमति अनिवार्य हो। **तीसरे** संसाधनों के वैकल्पिक प्रयोग के लिये आयोजन के

पहले उन पर निर्भर लोगों के लिये आजीविका के ऐसे वैकल्पिक आधार की व्यवस्था की जाय जो कि लोगों को बिना किसी हिचक स्वेच्छा से स्वीकार्य हो। इन शर्तों के पूरी होने पर ही संसाधनों के वैकल्पिक उपयोग पर आधारित आर्थिक संरचना में बदलाव में आम आदमी के बुनियादी अधिकार जिंदगी के अधिकार की रक्षा होगी और वह पूरी प्रक्रिया न्यायसंगत होकर हमारे संविधान की मूल चेतना के अनुरूप होगी।

17

विस्थापन - 2

आदिवासी इलाकों में विस्थापन

विकास की चपेट में आकर विस्थापित होने वाले लोगों की सोचनीय स्थिति के संबंध में हम उम्मर विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। परन्तु जब हम आदिवासी इलाकों में विकास की प्रक्रिया और विस्थापन को देखते हैं तो हालत और भी खसब मिलती है। इन इलाकों में विस्थापन के ऐसे कई पहलू हैं जिन पर अब तक ध्यान नहीं दिया गया है। इस कारण आम आदिवासी भारी विपत्ति में फंस गया है। इसलिए इन मुद्दों पर खासतौर पर चर्चा करनी जरूरी है।

अर्थव्यवस्था के सीमान्त इलाके

17.2 आदिवासी इलाकों में विस्थापन को उसके सही रूप में समझने के लिये सबसे पहले देश की अर्थव्यवस्था में आदिवासी इलाकों की भूमिका को समझना जरूरी होगा। इस संबंध में मैंने पिछली रिपोर्ट चर्चा की थी। हमारे देश की कृषि प्रधान व्यवस्था आजादी के पहले सदियों से एक जैसी ही बनी रही थी आदिवासी इलाके उस व्यवस्था के सीमान्त पर जंगल, पहाड़ों में फैले हुए थे। ये इलाके बड़े ही दुर्गम थे। इनके संसाधनों का भी उस समय की अर्थव्यवस्था में कोई खास महत्व नहीं था। हालांकि यहाँ के निवासियों का बाहरी इलाकों के लोगों से थोड़ा बहुत संबंध तो सदा से ही रहा है। परन्तु फिर भी उन लोगों का जीवन भी बहुत कुछ अलग-थलग ही रहा। इस तरह आदिवासी इलाकों के संसाधन अर्थव्यवस्था के लिए सीमांत थे और वहाँ के लोग समाज में सीमांत पर थे।

संसाधनों का महत्व और उसका नतीजा

17.3 आजादी के बाद विकास के नये दौर में आदिवासी इलाकों में पाये जाने वाले संसाधनों की धीरे-धीरे जरूरत बढ़ने लगी। जिन वस्तुओं का अभी तक कोई मूल्य न था वे मूल्यवान होती गईं। परन्तु आदिवासी अपने तौर से इन संसाधनों का उपयोग करके जिंदगी बिताता था। उसे उनके नये उपयोगों से कोई सरोकार नहीं रहा। जंगल की इमारती लकड़ी, जो बाहर वालों के लिए बेशकीमती है, उसके लिए आसानी से चीर कर खेत की बागड़ बनाने के लिए उपयोगी थी। लोहा उसके लिए सिर्फ पत्थर था। नदियों की गहरी घाटियाँ उसके लिए पवित्र थीं।

17.4 परन्तु आज की औद्योगिक व्यवस्था में आदिवासी इलाकों में पाई जाने वाली हर चीज का नया मूल्य हो गया है। नदियों की घाटियों को बांध कर पानी से सिंचाई और ऊँचे झरनों से बिजली पैदा की जा सकती है। वहाँ के खनिज औद्योगिक वस्तुओं के निर्माण के लिए और वहाँ के जंगल नई सभ्यता की तरह-तरह की जरूरतों को पूरा करने और अब पर्यावरण बनाये रखने के लिए जरूरी है। इस बदलते जमाने में उन संसाधनों का आदिवासी द्वारा अपने ढंग से अपनी गुजर-बसर चलाने के लिये परम्परागत उपयोग नई व्यवस्था की नजर में उनका दुरुपयोग नहीं तो सही उपयोग तो नहीं है। इसलिये अगर वह उनका वही उपयोग करता रहता है और उसके अलावा और कुछ नहीं करने देना चाहे तो, प्रगति के रास्ते में बाधक है। **इस तरह आदिवासी के अपने संसाधनों के कीमती हो जाने से और उसकी अपनी जिंदगी के तौर-तरीके पहले जैसे ही बने रहने से इन इलाकों में एक अनमेल हालत पैदा हो गई है। उन संसाधनों के नये उपयोग में आदिवासी के रहते बाधा आने के कारण वह अवांछनीय तत्व हो गया है। परन्तु नई धारा बहुत तेज है - बहुत ताकतवर है। वह उसको रोकने में असमर्थ है। इसलिये उसके सामने से उसे हटना पड़ रहा है, रास्ता खाली करना पड़ रहा है - राजी या**

बेराजी का सवाल ही नहीं है। लगता है कि मानो विस्थापन उसकी नियति ही बन गई है।

17.5 आदिवासी इलाके दूसरे इलाकों से एक और मामले में भी अलग है। हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, में बाजार का दायरा काफी बड़ा हो गया है और बढ़ता जा रहा है। मगर आदिवासी इलाके अभी भी बाजार की व्यवस्था से बहुत कुछ अलग ही हैं। इसलिये उनकी व्यवस्था के तौर तरीके अलग ही हैं। अभी भी बहुत सी जगह आदिवासी लोग बाहरी वस्तुओं के बिना ही अपना कामकाज अच्छी तरह से चला रहे हैं। विकास के दौर में उनका नई अर्थव्यवस्था के एकाएक संपर्क होने के कारण, वे लोग उससे तालमेल नहीं कर पा रहे हैं। एक और बाहर की व्यवस्था उनके ऊपर हावी हो गई हैं। वह उनके संसाधनों को नये उपयोग के लिए ले लेना चाहती है। दूसरी ओर उनकी अपनी परंपरागत व्यवस्था चरमरा रही है। इस कारण वे साधनहीन और बेसहारा से होते जा रहे हैं।

17.6 इस नये परिवर्तन का अलग-अलग इलाकों में अलग-अलग असर हुआ है। छोटे-छोटे आदिवासी समुदाय, जो पूरी तरह से जंगलों पर निर्भर थे, बदली हालत में अपने को संभाल ही नहीं पाये। उनमें से कई तो खत्म ही हो गये और जो थोड़े-बहुत लोग जंगलों में अभी भी बने हुए हैं, उनको वहाँ से हटने के लिये मजबूर होना पड़ रहा है। उनके अधिकार लिखित नहीं हैं इसलिये उनकी कहीं कोई सुनवाई भी नहीं. दूसरी ओर सरकर या अधिक ताकतवर समाजों के दबाव में वे संसाधन भी कम होते जा रहे हैं जिन पर उनका गुजारा चलता है। इस तरह बहुत से आदिवासी समाज इधर-उधर बिखर गये और समाज के रूप में उनका बुजूद ही नहीं रहा। इसी तरह से बहुत सी जगह **झूम खेती** करने वाले लोगों की अर्थव्यवस्था भी टूट गई है। उनके भटकाव का कोई अंत नहीं दिखाई देता। झूम खेती करने वाले केवल वे ही लोग बच पाए हैं जो बाहरी व्यवस्था के दबाव में नहीं आए और उनकी अपनी व्यवस्था बनी रही है। इस तरह नई व्यवस्था के संपर्क में आने से सभी दूर आदिवासी समाज पर भारी दबाव पड़ रहा है और वे उससे अपने को बचा नहीं पा रहे हैं।

आदिवासी इलाकों में अनमेल हालत

17.7 इस तरह आदिवासी इलाकों में एक अनमेल हालत पैदा हो गई। एक ओर आदिवासी इलाकों में आर्थिक विकास के लिए भारी संभावनाएँ हैं परन्तु दूसरी ओर आदिवासी समाज नये संपर्क के लिए अभी तैयार नहीं हैं। इस अनमेल हालत को दूर करने के लिए कहीं पर भी किसी भी तरह की कोई पहल अभी तक नहीं की गई है। इसके साथ ही कहीं भी आदिवासी इलाकों की विशेष हालत को ध्यान में रखते हुए नये कार्यक्रमों को इस तरह से ढालने की भी कोई योजना तैयार नहीं की गई है जिससे आदिवासियों को उन कार्यक्रमों के गलत नतीजों से बचाया जा सके। इसी तरह से नए हालात से पार पाने के लिये कोई कानूनी या प्रशासनिक व्यवस्था भी नहीं की गई है। सच तो यह है कि इन सभी इलाकों के लिए दूसरे इलाकों जैसा ही कानूनी और प्रशासनिक ढाँचा स्तेमाल किया जा रहा है। साधारण आदिवासी को उस कानूनी ढाँचे के बारे में कोई जानकारी ही नहीं। इस बारे में एक और बात भी है। दूसरे इलाकों में ये कानून बहुत पहले से कारगर ढंग से लागू हैं। इसलिये वहाँ की व्यवस्था धीरे-धीरे उनके मुताबिक ढलती रही है और लगभग सभी कामकाज अब उसी के मुताबिक हो रहे हैं। मगर आदिवासी इलाकों में कानून तो बहुत पहले लागू हो गये थे पर उनके मुताबिक मौके पर व्यवस्था कायम करने की अभी शुरुआत भी नहीं हुई है। ऐसी हालत में जब बाहरी कानून कड़ाई से लागू किए जाते हैं तो आदिवासी बड़े भारी संकट में फँस जाता है।

17.8 **सबसे बड़ा सवाल लोगों का संसाधनों पर अधिकार का है। आज के कानून के अधिकार के लिए लेखी सबूत की जरूरत है। इस मामले में आदिवासी इलाकों की हालत बहुत ही सोचनीय है।**

पहले तो अधिकतर आदिवासी इलाकों में बंदोबस्त ही नहीं हुआ। जहाँ जमीन के कागजात बने भी हैं तो वहाँ सर्वे नहीं हुआ, नजरीनक्शों से काम चल रहा है। दूसरे ये सभी रिकार्ड बहुत पुराने हैं। आजादी के बाद कुछ थोड़े से इलाकों को छोड़कर अभी तक इनकी ओर कोई खास ध्यान ही नहीं दिया गया। इसलिए अधिकतर आदिवासी इलाकों में वे कागज ही नहीं है जिनके आधार पर कानून के मुताबिक आगे की कार्रवाई हो सके। **ऐसी हालत में आदिवासियों के हक सिर्फ इसलिए अनदेखे रह जाते हैं कि उनके बारे में कहीं कोई कागज नहीं है। चूँकि सभी संसाधनों पर राज्य की मिल्कियत मान ली गई है इसलिए जब कोई लिखा-पढ़ी नहीं है तो इसका मतलब यही होता है कि आदिवासी का उन पर कोई अधिकार ही नहीं बनता, सब कुछ सरकारी है।**

17.9 इस हालत में जब कोई कारबार आदिवासी इलाकों में लगाया जाता है तो उसको अधिकतर जमीन और दूसरे संसाधन इसी सोच के आधार पर कि रिकार्ड में किसी का नाम नहीं है इसलिए वे सरकारी हैं, सरकार से सीधे-सीधे मिल जाते हैं, आदिवासी इस मामले में कुछ नहीं कर पाता है उसे अपनी जगह से बिना कुछ लिये दिये ही हटने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है।

विस्थापन का हिसाब

17.10 आजादी के बाद आदिवासी इलाकों में कितने लोग विस्थापित हुए इसकी राज्य सरकारों और सरकारी प्रतिष्ठानों से भी जानकारी इकट्ठा करने की हर चंद कोशिशों के बावजूद सफलता नहीं मिली। कुछ राज्यों ने कुछ इलाकों के बारे में कुछ आंकड़े भेजे भी तो उनका कोई खास मतलब नहीं है। उनमें सिर्फ सीधे विस्थापन के वही आंकड़े दिखाए गए हैं जो इन औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए औपचारिक रूप से शुरू में जमीन लेने से हुआ था। कई इलाकों के बारे में तो कोई आंकड़े भी नहीं मिल पाए, मिले भी तो अधूरे। जब सीधे विस्थापन के आंकड़ों का यह हाल है तो बाद के विस्थापन के सैलाब के हिसाब का तो सवाल ही नहीं खड़ा होता।

17.11 संविधान ने राज्य के ऊपर आदिवासियों के विकास और उनके संरक्षण की विशेष जिम्मेदारी सौंपी है। आदिवासी इलाकों के प्रशासन को अच्छा और चुस्त बनाने के लिए भी संविधान में प्रावधान है। परन्तु आदिवासी इलाकों की स्थिति के अनुरूप व्यवस्था न होने से इस मामले में हालत बड़ी सोचनीय बन गई है। दूसरी ओर आदिवासी इलाकों में समृद्ध संसाधनों के कारण बदलाव बड़ी तेजी से आ रहा है। इन संसाधनों का उपयोग करने की गर्ज से एक प्रतिष्ठान के बाद दूसरा प्रतिष्ठान, एक बांध के बाद दूसरा बांध बनते जा रहे हैं। इन पर अरबों रुपयों की पूँजी लग रही है। परन्तु **इससे आदिवासियों को क्या नफा नुकसान हो रहा है इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। सभी ओर संसाधनों के उपयोग पर जोर है, आदमी की परवाह नहीं। और तो और किसी को इतनी फुरसत भी नहीं, कि इन प्रतिष्ठानों से कितने लोग बेघर हो रहे हैं इसका भी, इतना सा हिसाब भी रख लें। उनके लिए नई अर्थव्यवस्था में सम्मानजनक जगह मिले इसे सुनिश्चित करने की बात तो अलग रही।**

17.12 नये दौर में बड़े बांधों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों और राजमार्गों के बनते जाने से बाहर के लोगों का रेला आना शुरू हो गया जो समय के साथ बहुत तेज होता जा रहा है। **कहते हैं अब तक हमारे देश में सौ आदिवासियों में से दस या पंद्रह आदिवासी किसी न किसी कारण विस्थापित हो चुके हैं।** अगर यही क्रम चलता रहा और विकास का यही तरीका बना रहा तो उनके विस्थापन की रफ्तार और भी तेज और लोगों की हालत और भी खराब होती जाएगी। **इसके बारे में एक सीधा सवाल किया जा सकता है अब तक या सातवीं पंचवर्षीय योजना में इन इलाकों में इतने हजार करोड़ों रुपये की पूँजी**

तगी तो सौ में से पंद्रह आदिवासी लोग विस्थापित हो गए। अब अगर आठवीं पंचवर्षीय योजना और उसके बाद इसकी दो गुना और चार गुना पूँजी की बात की जा रही है तो उससे कितने आदिवासियों को विस्थापन का सामना करना पड़ेगा ? लगता है कि जल्दी ही वह समय आ जायेगा जब कि कई आदिवासी इलाकें में किसी भी आदिवासी को खड़े रहने के लिए जगह नहीं बच रहेगी।

अव्यवस्था और अराजकता

17.13 तथाकथित विकास के कार्यक्रम आदिवासी इलाकों में इतनी तेजी से लिये जा रहे हैं कि वहाँ अराजकता जैसी स्थिति हो गई है। उदाहरण के लिए उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश के सीमांत इलाकों में अनेक ताप बिजलीघर, पानी के बांध और कई तरह के औद्योगिक प्रतिष्ठान पिछले तीन साल में स्थापित होते रहे हैं। कहते हैं कि यह इलाका देश की बिजली की राजधानी होता जा रहा है। परन्तु यहाँ का निवासी बेहाल है। एक के बाद एक प्रतिष्ठान बनते जाने से कहीं-कहीं तो उन्हीं लोगों को चार-चार बार विस्थापित होना पड़ा है। उनके बारे में अभी भी कोई ठिकाना नहीं कि जहाँ वे बस गये हैं वहाँ से फिर और कोई आकर उन्हें हकाल न दे। **इस तरह एक परियोजना के बुरे नतीजों से जब तक आदमी निपट नहीं पाता है तब तक न जाने कहाँ से बिना पहले से आगाह किये कोई दूसरी परियोजना आ जाती है और उसे उससे जूझना पड़ता है।** हर परियोजना का अपना अलग कानून, अपना अलग तौर तरीका होता है। किसी को कुछ मालूम नहीं कि किसके लिये क्या होना है। आदिवासी इलाकों में गंभीर स्थिति पैदा हो जाने के बावजूद उसकी साफ-सफाई के लिए भी किसी भी स्तर पर किसी योजना की तो बात अलग, उसके बारे में कहीं कोई सोच भी नहीं है। बस किसी तरह से अगर उजड़ने वालों के हाथ में मुआवजे का कुछ पैसा पहुँच गया तो समझ लें कि राज्य की जिम्मेदारी पूरी हो गई।

राज्य की गैर जिम्मेदारी

17.14 विकास के इस विकराल रूप के सामने आदिवासी टिक नहीं पा रहा है। जिस राज्य को उसके संरक्षण की जिम्मेदारी सौंपी गई उसने इस मामले में खास तौर पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ राज्य की तीन अलग-अलग भूमिकाएँ हैं (पृष्ठ 10) **जब राज्य विकास के संबंध में अपनी भूमिका निभाता है तो वह उसमें इतना उलझ जाता है कि संरक्षण की भूमिका नजरअंदाज हो जाती है। आदिवासी इलाकें में राज्य की पूरी ताकत तथाकथित विकास के पहियों को ढकेलने में लगी हुई है। परन्तु दुर्भाग्य से वही राज्य आदिवासियों के संरक्षण के दायित्व के निभाने की बात अलग, उन लोगों की नासमझी का फायदा उठाकर अपनी ताकत का दुरुपयोग तक करने में नहीं हिचकता है।** उदाहरण के लिए क्या कहीं गैर आदिवासी इलाके में भी लोगों को जोर-जबरदस्ती से उनकी झोपड़ियों को जला कर हटाया जा सकता है ? जोर-जबरदस्ती आदिवासी इलाकों के लिए सामान्य बात है और झोपड़ियाँ जलाने की घटनाएँ अनहोनी नहीं है।

17.15 **इस तरह जब आदिवासी इलाकों में नई व्यवस्था आगे बढ़ती है तो वह मदान्ध हो जाती है। उसको यह भी ध्यान नहीं रहता कि क्या किया जा सकता है और क्या नहीं करना चाहिए। वहाँ मानवता रोने लगती है।** परन्तु प्रशासन को उससे कोई मतलब नहीं, विकास के हित में वह निरंकुश होकर आगे बढ़ता जाता है। **और तो और, विस्थापन से उत्पन्न इस गंभीर स्थिति का समाधान करने के लिए नीति स्तर पर भी अभी तक एक मसौदा तक नहीं तैयार किया जा सका, जिसमें यह तय हो जाता कि किसी आदिवासी इलाके में अगर विस्थापन होता है तो उसमें राज्य, केन्द्र और विभिन्न प्रतिष्ठानों की क्या भूमिका होगी और आदिवासी उन लोगों से क्या उम्मीद कर सकता है जिनके हाथ मे उनके संरक्षण का भार सौंपा गया है। संविधानिक प्रावधानों की अवहेलना का इससे बड़ा और कोई उदाहरण नहीं मिल सकता है।**

आदिवासी विस्थापन के कुछ खास पहलू

17.16 आदिवासी इलाकों में विस्थापन के मसले को कई ओर से देखने की जरूरत है - आज का कानून, संविधान की व्यवस्था, न्याय और मानवीय अधिकार, उनका व्यवहारिक रूप और आगे के लिए संभावनायें। विस्थापन की आम चर्चा करते हुए हम देख चुके हैं कि आज का कानून जिसके आधार पर लोगों की जमीनें ली जाती हैं, कई मायनों में ठीक नहीं है। वह संविधान की भावना के भी अनुरूप नहीं है। यह तो रही सामान्य इलाकों की बात। अब जब वही कानून आदिवासी इलाकों पर भी बिना किसी फेर-बदल के लागू हैं और वहाँ की विशेष हालत की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया गया तो स्वाभाविक है कि हालत और भी खराब होगी।

अनमेल कानून

17.17 आज की व्यवस्था में सब तरह की कार्रवाई का एक ही आधार होता है, वह है लोगों का हक। लोगों के हक तय करने के लिए कानून कायदे हैं। सभी कानून-कायदों में लोगों के हक तय करने के लिये एक प्रक्रिया होती है। अब इन हकों को तय करने के लिये जब तक कार्रवाई ही नहीं होती है और वे लिखित रूप में नही आ जाते हैं तब तक यही माना जाता है कि किसी का कोई हक ही नहीं है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि यह कार्रवाई आदिवासी इलाकों में या तो हुई ही नहीं और अगर हुई भी है तो आधी-अधूरी या बहुत पहले। **इसलिए सरकारी कागज में जंगल जमीन पर जैसे हक आज दर्ज है उनका मौके की हालत में कोई तालमेल ही नहीं है। मौके की नोइयत कुछ है और कागज कुछ और ही कहता है। इसलिए आज के कानून को लेकर सबसे बड़ी परेशानी यही है कि जिस नींव पर कानून खड़ा है आदिवासी इलाकों में वह नींव ही नहीं है।** जैसा कि हम आगे देखेंगे इस विसंगति की किसी को कोई खास चिंता भी नहीं है। सरकारी नुमाइन्दों का एक ही रवैया है कि अगर कानून की लीक किसी तरह से निभ जाय तो आगे लोगों का क्या होता है उससे उन्हें कोई लेना देना नहीं। अधिक से अधिक कह दिया जाता है कि यह उनका भाग्य है उसके बारे में सरकार की क्या जिम्मेदारी ? या फिर मिल जाता है एक सूखा सा जवाब "कानून है कोई क्या करे।"

कानून और परम्परा-विसंगतियों का दौर

17.18 अगर कहने को आज के कानून को हम सही भी मान लें तो भी आदिवासी इलाको में जहाँ उनकी जमीन और संसाधनों को सरकार दूसरे कामों के लिए ले रही है, एक तो इस कानून की मंशा कागज की गड़बड़ी के कारण नहीं पूरी हो रही है। जब कागज है ही नहीं तो कानून क्या करेगा ? परन्तु, दूसरी ओर खुद कानून में भी एक बुनियादी गड़बड़ी है, वह यह कि कानून आदिवासी लोगों की परंपरागत व्यवस्था से मेल ही नहीं खाता है। इस विसंगति को दूर करने के लिए कहीं से किसी तरह की कोई पहल भी नहीं हुई है। **सच तो यह है कि इस अनमेल कानून को वाजिब मान लिया गया है इसलिए उसकी ओर ध्यान देने तक की कोई जरूरत ही नहीं महसूस होती है। इसी कारण आदिवासी इलाकों की हालत और भी खराब है।** कुछ उदाहरणों से इस विसंगति के नतीजे साफ हो जाएँगे।

जमीन का मोल कैसा ?

17.19 कानून की अनमेल हालत के बारे में तीन खास बातें हैं। भूमि अधिग्रहण कानून की पहली मान्यता यह है कि जमीन संपत्ति है और उसका मोल हो सकता है, वह बिक सकती है। आदिवासी लोगों के लिए जमीनें बिक्री की चीज नहीं है। जमीनें उनके लिए माँ के समान हैं। इसलिये जमीन का कोई मोल नही हो सकता। इस तरह यह कानून जमीन के मामले में आदिवासियों की परंपरा के खिलाफ है.

विनिमय नासमझी का

17.20 सच तो यह है कि **आज तक आदिवासी इलाकों में भूमि का विनिमय हुआ ही नहीं - विनिमय तो तभी हो सकता है जब दोनों पक्ष उसकी प्रकृति को समझते हों और स्वेच्छा से उसमें सहभागी हों।** हुआ यह है कि बाहर के लोगों ने आदिवासी इलाकों में जाकर इन लोगों की नासमझी का फायदा उठाकर पैसा देकर या कागज लिख कर सरल आदिवासीओंअनजाने में इकरार में फँसा लिया और फिर उनकी जमीन पर कब्जा कर लिया। **आदिवासियों की जमीन पर बेबसी का यह कब्जा बाहर वालों की नजर में तो एक तरह से जमीन की बिक्री था। यही कानून भी मानता है। परन्तु जो कुछ हुआ वह आदिवासी की नजर में जमीन की बिक्री नहीं था। "जमीन की बिक्री" उसकी व्यवस्था का मुहावरा ही नहीं है, इस लिये जमीन की बिक्री क्या होती है यह भी नहीं जानता था। उसे तो सिर्फ इतना मालूम है कि उसके हाथ से जमीन चली गई।** और जमीन का आदिवासी के हाथ से निकल जाना कोई अनहोनी बात नहीं है। ताकतवर लोग और दूसरे समाज जमीनों पर कब्जा करते ही रहे हैं। उसकी नजर में वही प्रक्रिया जारी है। और फिर नये दौर में यह भी जरूरी नहीं है कि उनकी जमीन पैसे के बदले में ही गई हो। कहीं जोर-जबरदस्ती और कहीं छलप्रपंच से उनकी जमीनें ले ली गईं ली जा रही है। वह इस छीनाझपटी को बेबसी में सहन कर रहा है - कभी-कभी उसके खिलाफ बगावत भी कर देता है। तब नई व्यवस्था के लोग उसके करार की दुहाई देते हैं - वह करार जिसे उसने कभी समझबूझ कर किया ही नहीं।

17.21 इस आदिवासी के लिए, पैसादेकर या मुआवजा देकर उससे जमीन लेने का, जैसा कि कानून में लिखा जाता है और जिसे कानूनी बिक्री कहा जाता है, कोई खास मतलब ही नहीं है। **जब सरकार उससे उसकी जमीन लेती है तो उसकी निगाह में औरों की तरह सरकार भी उसकी जमीन उससे छीन रही है।** हाँ, उसके बदले में उसे कुछ पैसे भी मिल जाते हैं परन्तु इस पैसे का उनके लिये कोई मतलब नहीं है। सभी दूर आदिवासी यही कहता है कि इन पैसों का क्या होगा ? मगर उसकी कोई सुनवाई नहीं। इस तरह बिना आदिवासी की मर्जी के जोर-जबरदस्ती करके उसकी जमीन ले लेना कानून में बिक्री कहलाता है, अधिग्रहण कहलाता है। और इस अधिग्रहण के लिये, जो आदिवासी की निगाह में और उसके व्यवहारिक रूप में भी उसकी जमीन जोर-जबरदस्तीसेले लेना ही है, राज्य को कानून के तहत अधिकार मिला हुआ है। क्या आदिवासी व्यवस्था के संदर्भ में इस प्रक्रिया को हम सचमुच कानून कह सकते हैं ? क्या हम उसे न्याय की संज्ञा दे सकते हैं ? ऐसा करना कानून और न्याय की संकल्पना का मखोल होगा। मगर उसके लिये उसी को कानून और न्याय माना जा रहा है।

समाज की अनदेखी के नतीजे

17.22 आज के कानून की दूसरी बात जो आदिवासी परंपरा से मेल नहीं खाती है वह है उनके समाज और परिवेश की वास्तविकता को अनदेखा करना। भूमि अधिग्रहण अधिनियम में बुनियादी इकाई है व्यक्ति और उसकी निजी सम्पत्ति। इसलिए उन्हीं का ही जिक्र आता है। इस कानून में समाज की अस्मिता का कोई जिक्र नहीं, उससे कोई मतलब नहीं। समाज और उसके सदस्य उस इलाकेकेप्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण से किस तरह से जुड़े हैं, उससे भी उसका कोई ताल्लुक नहीं । आधुनिक व्यवस्था व्यक्ति को इकाई मानकर चलती है। इसीलिये हर मामले में व्यक्ति के अधिकार को ही बुनियादी माना जाता है। इसलिये भूमि अधिग्रहण कानून में उसके नजरिये से कोई विसंगति नहीं। मगर आदिवासी लोगों में अभी भी समाज एक जीवन्त इकाई है। उनकी जिंदगी की इकाई व्यक्ति न होकर उनका अपना छोटा समाज होता है। आदिवासी उस समाज के बाहर पानी के बाहर मछली की तरह होता है। उस

बाहर वह जिंदगी बसर करने की सोच ही नहीं सकता है। मगर कानून हर व्यक्ति को अलग-अलग मानता है, उसके हकों को भी अलग-अलग। हर एक व्यक्ति को अपने हकों के मुताबिक मुआवजा मिल जाता है। परन्तु उस प्रक्रिया में समाज का क्या होता है इससे किसी का कोई मतलब नहीं। नई स्थिति के पेंच को समाज समझ नहीं पाता है, इस नाजुक दौर में उसको मदद करने की किसी समझने वाले की जिम्मेदारी भी नहीं है। इसलिए विस्थापन की चपेट में आकर धीरे-धीरे समाज बिखर जाता है। उसका हर सदस्य अकेला पड़ जाता हैं। उस हालत में अपना सब कुछ खोकर भटकाव के अलावा उसके लिये और कुछ नहीं रहता।

संसाधनों से गुजारे की अनदेखी

17.23 आदिवासी लोगों की जिंदगी उनके पूरे परिवेश, वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों से जुड़ी होती है। ये प्राकृतिक संसाधन उसकी कुल परंपरा या सामाजिक अमानत है जिसका वह बड़े जतन से उपयोग करता है। खेती किसानी तो उनकी जिंदगी का एक छोटा-सा हिस्सा है। जिंदगी का असली सहारा तो वे प्राकृतिक संसाधन ही हैं। इसलिए जब आदिवासी को अपनी जगह से हटना पड़ता है तो उसकी जमीन ही नहीं जाती, वह उन संसाधनों से भी कट जाता है जिससे उनकी अधिकतर जिंदगी चलती है। कानून में ये संसाधन समाज की अमानत न होकर राज्य की संपत्ति हैं जिस पर लोगों का कोई हक नहीं। यदि वे उसका उपयोग करते रहे हैं तो जाने अनजाने उसे राज्य की कृपा ही कहा जाएगा। इसलिए उसे केवल जमीन का मुआवजा ही मिल सकता है। इस हालत में जब आदिवासी को सिर्फ जमीन का मुआवजा देकर अपनी जगह से हटने के लिये मजबूर किया जाता है तो उसके सीधे सीमित दायरे में भी इंसाफ नहीं होता है। परन्तु आज के कानून में निजी मिल्कियत की जमीन और सम्पत्ति को ही जगह दी गई है, परिवेश और संसाधनों का जिक्र ही नहीं है। इसलिये यह कानून आदिवासी इलाके की हालत से बिल्कुल ही अनमेल है।

आदिवासी समाज के बुनियादी मानवीय हकों की अनदेखी

17.24 आदिवासी को जब अपने मूल स्थान से कहीं और जाना पड़ता है तो वह अपने परिवेश से कट जाता है। उसके युगों से संबंध टूट जाते हैं और उसका समाज बिखर जाता है। इस तरह आदिवासी इलाकों में विस्थापन से व्यक्ति और समाज दोनों ही विनाश के कगार पर पहुँच जाते हैं। इस हालत में व्यक्ति और समाज दोनों के साथ भारी अन्याय होता है। इसी अन्याय की संभावना को देखते हुए उससे बचाव के लिए आदिवासी लोगों के लिए हमारे देश में राष्ट्रीय स्तर पर और पूरी दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विशेष व्यवस्था की गई है। अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के कंवेंशन में आदिवासियों को उनके परंपरागत इलाकों में बने रहने के अधिकार पर खास तौर से जोर दिया गया है, उसे उन समाजों का बुनियादी मानवीय हक माना गया है । दुनिया के लगभग सभी देशों ने, जिसमें भारत भी शामिल है, **इस कन्वेंशन पर हस्ताक्षर करके यह हामी भरी है कि उनकी सरकारों की यह खास जिम्मेदारी होगी कि वे आदिवासियों के इन अधिकारों की रक्षा करें। अपने परिवेश में बने रहने का हक आदिवासियों के लिए समाज के रूप में जिंदा रहने का हक है। इसलिए उसका दर्जा दीगर बुनियादी हकों से बहुत ऊँचा है।**

17.25 सौभाग्य से हमारे संविधान में कमजोर वर्गों और अल्पसंख्यक समाजों के कई तरह के हक माने गये हैं और उनके लिए विशेष व्यवस्थाएँ भी की हैं। इनमें आदिवासी समाजों के लए व्यवस्थाएँ और भी खास हैं जिनमें उनकी जिंदगी के सभी पहलुओं को ध्यान में रखा गया है। इन समाजों को अपनी परंपरा के मुताबिक जिंदगी बिताने और अपनी इच्छा के अनुसार दुनिया में तेज बदलाव के संदर्भ में अपनी सामाजिक व्यवस्था को ढालने की व्यवस्था विशेष रूप से उल्लेखननीय है। इसका आदर्श रूप छठी अनुसूची में है जिसके अनुसार रोजमर्रा की जिंदगी के लिये, जिसमें प्राकृतिक संसाधनों पर

अधिकार और उनके उपयोग शामिल हैं। स्थानीय समाज ही पूरी तरह से सक्षम है - उसकी सहमति के बिना राज्य या केन्द्र तक कोई फेर-बदल नहीं कर सकता है। आदिवासी व्यवस्था के प्रति हमारे संविधान की यही मूल चेतना है जो अंतर्राष्ट्रीय कन्वेन्शन की व्यवस्थाओं से भी अधिक व्यापक है।

17.26 परन्तु दुर्भाग्य से संविधान की यह चेतना स्पष्ट होते हुए भी सभी आदिवासी क्षेत्रों के लिये संविधान में विस्तृत व्यवस्था नहीं की गई जिसका मुख्य कारण था उनकी स्थितियों की विभिन्नता। इसीलिये प्रत्येक समाज की विशिष्ट स्थिति को देखते हुए उसके अनुरूप न्यायसंगत व्यवस्था स्थापित करने का दायित्व और अधिकार पांचवी अनुसूची में राज्यपालों को सौंपे गए हैं। जैसा मैं बार-बार उल्लेख कर चुका हूँ राज्यपालों ने अपना यह दायित्व निभाया नहीं, संविधान की मूल चेतना को समझा तक नहीं. और यही कारण है कि छठी अनुसूची के आदिवासी इलाकों को छोड़कर देश के सभी आदिवासी इलाकों ऐसे कानून लाद दिए गए हैं जो उनकी परंपरा की अनदेखी ही नहीं करते हैं वरन् उसके विपरीत भी **सबसे बड़ी विसंगति तो यह है कि आदिवासी लोगों के समाज के रूप में अपनी व्यवस्था कायम रखने और अपनी इच्छा के मुताबिक उसको ढालने के बुनियादी अधिकार का कहीं वुजूद तक नहीं है। भूमि सहित प्राकृतिक संसाधनो पर समाज के अधिकार, अवलम्बन और रिश्ते, जो समाज की व्यवस्था का आधार होते हैं, किसी भी कानून में जिक्र तक नहीं है। और जब इस कानूनी व्यवस्था के अंतर्गत कार्रवाई होती है तो कानून का पालन होता है परन्तु संविधान की मूल चेतना की अनदेखी होती है और लोगों के बुनियादी मानवीय अधिकारों का उल्लंघन होता है।** इस विसंगति का मूल है राज्य की अपने दायित्व की अनदेखी जिसकी कीमत उस आदिवासी समाज को चुकानी पड़ती है जिसकी रक्षा का भार और गंभीर दायित्व राज्य पर है। क्या इससे भी बड़ी कोई विडम्बना हो सकती है ?

विकास और लोगों का जीने का अधिकार

17.27 यहाँ पर आकर एक सवाल यह उठता है कि अगर हम एक बारकोआदिवासी समाज के इस बुनियादी हक को मानते हुए कानून बदल भी दें तो क्या हम उस व्यापक विकास प्रक्रिया को, जो देश में ही नहीं पूरी दुनिया में व्याप्त है, अनदेखा कर सके हैं। क्या उसे अनदेखा करना उचित होगा। आदिवासी समाज को भी मानव सभ्यता की इस महान यात्रा में सहभागी होने का अधिकार है। और जब उसमें सहभागी होना है तो उसके कुछ लाभ हैं तो कुछ जोखिम भी हैं- दोनों का सह-अस्तित्व है। कहा जाता है कि विकास की इस प्रक्रिया में कहीं न कहीं कुछ न कुछ लोगों को असुविधा और कठिनाई तो होगी ही। इसलिये क्या कुछ लोगों की असुविधा के लिए पूरे विकास की प्रक्रिया को रोकना वाजिब होगा और क्या उसे रोका जा सकता है ?

17.28 बात इतनी सीधी-सादी नहीं हैं। विकास की प्रक्रिया में किसको लाभ होगा और किसको हानि होगी ये सवाल आज अहम हो गए हैं - उनका स्पष्ट विवेचन जरूरी है। केवल सिद्धांत वाक्य कहकर इन सवालों को टाला नहीं जा सकता है। सामान्य स्थिति में भी इनके सरल उत्तर नहीं है जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। और फिर अगर प्रभाव पूरे आदिवासी समाज पर पड़ता है, समाज का समाज विनाश के कगार पर पहुँच जाता है तो यह चंद लोगों का सवाल भी नहीं रह जाता है। **यह ठीक है कि आज आदिवासी इलाकों के संसाधनों की राष्ट्रीय विकास के लिए जरूरत है। परन्तु साधारण आदिवासी अभी ऐसी हालत में नहीं है जहाँ वे उन संसाधनों से अलग हटकर अपनी जिंदगी बिता सके। इसलिए बुनियादी सवाल यह है कि क्या आदिवासी की जिंदगी का हक छीनकर राष्ट्रीय विकास को जारी रखा जा सकता है ? क्या विकास का पहिया आदिवासी व्यवस्था को कुचलते हुए**

आगे बढ़ सकता है और बढ़ने दिया जा सकता है ? यह व्यक्ति के सबसे बुनियादी हक जीने के हक का सवाल है, यह सामाजिक न्याय का सवाल है और उसके साथ ही देश की सभ्यता और संस्कृति और उसके मानवीय मूल्यों में विश्वास का भी सवाल है।

विकास की दिशा पर बुनियादी सवाल

17.29 विकास की बात भी, किस तरह से कही जाती है, उतनी सरल और सीधी-सादी नहीं है। वैसे विकास क्या है, इस पर सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों में सदा से गंभीर विचार होता रहा है। दुनिया भर के देशों में इस समय विकास के रूप के बारे में तीखी बहस चल रही है। परन्तु हमारे देश की अपनी हालत को देखते हुए, विकासकी आज की अवधारणा के कारण हमारे प्राकृतिक संसाधनो पर बोझ और दोहरी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के मजबूत होते जाने से एक गंभीर सवाल उठ रहा है कि क्या हमारे देश में आज जिस तरह का विकास हो रहा है उसको सही मायनों मे विकास कहा जा सकता है ? हम पहले देख चुके हैं कि अभी कुछ दिनों पहले तक प्राकृतिक वन काट कर तथाकथित उपयोगी प्लांटेशन लगाकर जिसे वनों का विकास कहा जाता था और जिसके लिए आदिवासी को बेरहमी से उनके इलाकों से बेदखल कर दिया गया, उसे आज सब मानते हैं कि सही विकास नहीं था, भूल थी। जिस तरह से पश्चिमी देशों में अंधाधुंध औद्योगीकरण और केन्द्रीकरण हुआ और उसके चलते जिस तरह पर्यावरण का विनाश हुआ उसको लेकर आज पूरी दुनिया में बहस चल रही है। तथाकथित विकसित देशों के बहुत से संवेदनशील लोग मानते हैं कि कल तक जिसे विकास माना जा रहा था, उसे विकास नहीं माना जा सकता है।

17.30 हमारे देश में विकास के मामले में पश्चिम की नकल की जा रही है। हो यह रहा है कि जिन लोगों के हाथ में देश की बागडोर है, जो विकास का नियोजन कर रहे हैं उनको विकास के लाभ मिल रहे हैं। उनको इस विकास के गलत नतीजों का सामना नहीं करना पड़ रहा है, उसका अहसास भी नहीं है। और अगर अहसास है भी तो सिद्धांतों का चश्मा लगाकर वास्तविकता को अनदेखा कर दिया है। इस विकास के उलट-प्रहार तो गरीबों और विशेषकर आदिवासी इलाके में आदिवासी लोगों को झेलने पड़ रहे हैं। आयोजकों के लिए ये गलत नतीजे, लोगों की तकलीफें केवल कुछ शब्द हैं। वे अधिक से अधिक आंसू बहाने के लिए कुछ भावभरे संवाद और करुणामय दृश्यचित्र भी हो सकते हैं अपनी सुख-सुविधाओं में कोई आंच न आए यह सुनिश्चित करके फलसफे के लहजे में वे नसीहत भी दे सकते हैं कि किसी न किसी को कुछ न कुछ तककलीफ तो उठानी ही पड़ेगी । अपनी जिम्मेदारी के बोझ का अहसास करके उससे भी आगे चलकर बड़ी गंभीर मुद्रा में यह भी मान सकते हैं कि इसके लिये कुछ करना जरूरी है। और वायदा भी कर सकते हैं कि जल्दी से जल्दी कुछ किया जाएगा।

17.31 इस सब बहस का नतीजा एक ही होता है। विकास के पहियों को कुछ और भी तेजी से चलाने के लिये योजनाएँ बनानेके लिए मैदान साफ हो जाता है। फिर उसके लिए आवश्यक व्यवस्था करने में कोई कठिनाई नहीं रहती, सब कुछ ठीक हो जाता है। परन्तु गरीब और आदिवासी के हाथ में उनकी सदिच्छा और उनके वायदे ही रह जाते हैं। उनको लेकर वह जिंदा तो रह नहीं सकता। उसे तो उनकी करतूतों के उलट-प्रहारों का सीधे सामना करना पड़ रहा है। उनके सामने जिंदगी किस तरह चले यही सवाल मुँह बाये खड़ा रहता है। उसके सामने बिखराव, कंगाली और विनाश के अलावा और कुछ दिखाई ही नहीं देता। यही उसकी नियति है क्या ? एक अनुत्तरित सवाल उसके मन में घुमड़ता रहता है।

आंतरिक उपनिवेश और चौथी दुनिया बनाने की अनिवार्यता

17.32 इस सवाल का जवाब ईमानदारी से तभी दिया जा सकता है जब हम आज के विकास की बुनियादी मान्यताओं और उसकी तार्किक परिणति को साफ और सीधे शब्दों में रखें जिसे आम आदमी समझ सके। सबसे पहले तो पश्चिम में विकास किस तरह से हुआ उसे स्पष्ट करना जरूरी होगा। विकास की पश्चिमी परिभाषा वस्तुओं के उत्पादन और उर्जा की खपत से जुड़ी हुई है। जितना अधिक उत्पादन हो उतना ही देश आगे है। विकास की इस उपभोगवादी अवधारणा की कुछ पूर्व-शर्तें रही हैं। **प्रथम** पश्चिमी देशों ने अपने विकास के लिये पूरी दुनिया के प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार करने का प्रयास किया। इसमें वे अपनी सैन्य-शक्ति और उपनिवेशवादी व्यवस्था से बहुत कुछ **सफल** भी हुए। दुनिया के संसाधनों पर उनका वर्चस्व आज भी कायम है यद्यपि उसका रूप बदल गया है।

17.33 **दूसरे**, पश्चिमी देशों ने प्राकृतिक संसाधनों पर एकाधिकार कायम करने की धुन में उन संसाधनो पर स्थानीय लोगों के अधिकार को अनदेखा ही नहीं कर दिया वरन् बड़े-बड़े महाद्वीपों में नर-संहार किया और संसाधनों को हथिया लिया। आज विकसित देशों के थोड़े से लोगों का पूरी दुनिया के अधिकांश संसाधनों पर एकाधिकार है, वे ही उनका निरंकुश उपभोग कर रहे हैं।

17.34 **तीसरे**, इन पश्चिमी देशों ने भारत और चीन जैसे उस समय के विकसित देशों की अर्थव्यवस्था को अपनी अर्थ-व्यवस्था के आधीन कर लिया। उन्होंने हमारे देश के उद्योगों को चौपट करके अपने देश के उत्पादन के लिये बाजार कायम किये। हमारे देश के कुशल कारीगरों के कौशल के अवसर छीनकर उन्हें अकुशल मजदूरों की भीड़ बना दिया, जिनका एक ही फर्ज था नई दुनिया के लोगों के लिये अकुशल और कठिन श्रम करना। **इस तरह पहली और दूसरी दुनिया के विकास की एक महत्वपूर्ण समानान्तर प्रक्रिया रही है तीसरी दुनिया की स्थापना, जहाँ पहली और दूसरी दुनिया के विकास के सभी दुष्परिणामों को स्थानांतरित कर दिया जाय। विकास के लाभ पहली और दूसरी दुनिया के हिस्से में आये और उसकी विभीषिका, उसके उलट-प्रहार तीसरी दुनिया को झेलना पड़े।**

17.35 **और जब ऐसे पश्चिमी देशों के विकास की अवधारणा और उनकी जीवन शैली तीसरी दुनिया के देशों में उनके प्रबुद्ध वर्ग द्वारा आदर्श के रूप में मान ली जाय तो उसके तार्किक परिणामों से नहीं बचा जा सकता है। जिस तरह पहली और दूसरी दुनिया के विकास के लिये तीसरी दुनिया के कूड़ादान की जरूरत थी उसी तरह से तीसरी दुनिया के विकास के लिये भी तो कूड़ेदान की जरूरत होगी। अब दुनिया में और कहीं तो इस कूड़ादान के लिये जगह बची नहीं है। इसलिये यह कूड़ादान चौथी दुनिया के रूप में देश के भीतर ही बनेगा - विकास की वर्तमान अवधारणा की यही नियति है।** हमारे देश में संसाधनों पर अधिकार और उनके उपयोग की वर्तमान व्यवस्था और उसकी कानूनी अवधारणा को इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। इसीलिये आज प्राकृतिक संसाधनों पर परंपरागत अधिकार अमान्य है - आदिवासी इलाकों के संसाधन लोगों की जिंदगीका आधार न होकर राष्ट्रीय संपत्ति हैं। दूसरे इलाकों में जमीन जिंदगी बसर करने का साधन न होकर व्यक्ति की संपत्ति हैं। इन संसाधनों पर छोटा सा वर्ग एकाधिकार कायम कर रहा है विकास के नाम पर - यही पाँच करोड़ का नया भारत है - शेष है चौथी दुनिया के निवासी जिनका उन संसाधनों पर या तो अधिकार है ही नहीं और है भी तो वह तेजी से खतम होता जा रहा है।

17.36 विकास की इस अवधारणा के संदर्भ में हमें कुछ संवाल पूछने होंगे और उनका जवाब ढूँढना होगा। क्या हमारे देश में "चौथी दुनिया" की स्थापना विकास के लिये जरूरी है ? और फिर क्या

खास तौर पर हम इसे आदिवासी इलाकों की नियति मान सकते हैं ? यदि नहीं तो क्या आदिवासी इलाकों में यह प्रक्रिया उसके अंजाम की बिना परवाह किये इसी तरह से चलती रहनी चाहिये ? अगर ऐसा माना जाता है तो साफ है कि उनके साथ घोर अन्याय होगा और उनके संवैधानिक अधिकारों की अवहेलना भी होगी। **आदिवासियों को चन्द रुपये देकर उनके जीने के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि पूरी कानूनी व्यवस्था ही गलत है जिसमें लोगों के जीने के अधिकार और उनके समाज को बने रहने के अधिकार दोनों की ही अवहेलना हो रही है।** जिन लोगों को अपनी जगह से हटाने के लिए केवल पैसा देकर मजबूर करने की बात कही जाती है, उनको यह पूछने का अधिकार है कि उन्हें किसलिए वहाँ से हटने के लिए मजबूर किया जा रहा है। इसी सवाल के साथ जनहित की बात आ जाती है। **जनहित केवल संख्या का खेल नहीं माना जा सकता है। बहुत से लोगों की सुविधा के लिए थोड़े से लोगों की भी जिंदगी का अधिकार नहीं छीना जा सकता।** आदिवासियों को अपनी जिंदगी और अपने समाज को बनाये रखने का अधिकार तो और भी बड़ा है, उसको तो और भी नहीं छीना जा सकता ।

विकास के लिये लोगों से संवाद और उनकी सहमति

17.37 इस उलझन से निकलने का एक ही रास्ता है और वह यह कि आदिवासियों को यह पूछने का अधिकार हो कि आखिर विकास का उद्देश्य क्या है, विकास की परियोजना का उद्देश्य क्या है और नए विकास में उनकी जगह क्या है ?

17.38 जब कोई विकास परियोजना आदिवासी इलाके में शुरू की जाती है तो उसके बारे में कई तरह के हालात बन सकते हैं। कई जगह जैसे कि उत्तरपूर्व के आदिवासी अपने इलाकों में औद्योगिक परियोजनाओं के लिए तैयार ही नहीं हैं। उनका कहना है कि इन परियोजनाओं में हम तो काम कर नहीं पाएँगे इसलिए बाहर के लोग आएँगे और फिर वे यहाँ छा जाएँगे। अभी हमें इन परियोजनाओं की जरूरत नहीं है। जब हमारे अपने लोग काम करने लायक बन जाएँगे तब उद्योग लगाने की हम खुद ही सोच लेंगें। उत्तर पूर्व की बात अलग है। वहाँ आदिवासी-बहुल राज्य हैं और वे अपने फैसले खुद कर सकते हैं । वहाँ के गाँवों में उनकी स्वशासी व्यवस्था भी बनी हुई है उनका ही जमीन सहित सभी संसाधनों पर पूरा अधिकार है, इसलिए वे अपनी बात मनवा सकते हैं।

17.39 परन्तु मध्य क्षेत्र के आदिवासी इलाकों की बात अलग है। वहाँ परियोजना की स्थापना के बारे में फैसले करने मे आदिवासियों की भागीदारी नहीं है। फिर भी आदिवासी इलाकों में जब परियोजनाएँ ली जाती है तब लोगों की दो तरह की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं, होती हैं। किसी परियोजना के लिए जब उनसे हटने के लिए कहा जाता है तो आमतौर वे हटने के लिए तैयार नहीं होते हैं। इसके भी कई कारण हो सकते हैं। पहला, उन्हें अपने परिवेश से इतना मोह हो सकता हैं कि वे किसी भी कीमत पर वहाँ से हटने के लिए तैयार न हों। दूसरा उनके सामने यह सवाल होता है कि वे दूसरी जगह जाकर करेंगे क्या। वे अपने भविष्य के बारे में किसी तरह का जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं हो सकते हैं। यह भी एक साधारण मानवीय प्रतिक्रिया है जिसे नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है।

17.40 इन दोनों प्रतिक्रियाओं में बुनियादी फर्क है। पहले मामले में भावना का सवाल है। इस स्थिति में इसके अलावा कोई रास्ता ही नहीं हो सकता कि परियोजना को तब तक के लिए छोड़ दिया जाय जब तक कि वे लोग उसके लिए वहाँ से हटने को राजी न हो जाएँ। दूसरे मामले में भी सरकार का यह फर्ज हो जाता है कि वह लोगों से और बात करे, उनको और समझाए, उनको और भी भरोसा

दिलाये और सिर्फ वायदे ही नहीं कुछ करके भी दिखाये जिससे उनका कुछ विश्वास बने। अगर लोगों के साथ इंसाफ करना है तो इसके अलावा और कोई रास्ता ही नहीं है।

17.41 इस रास्ते में भी एक बात हमेशा ध्यान में रखनी होगी। कहीं वायदे के बहाने उन्हें धोखा तो नहीं दिया जा रहा है। कहीं यह जानते हुए कि रास्ता आगे बंद है उन्हें आगे बढ़ने के लिये तो नहीं कहा जा रहा है। और कहीं उन्हें समझाने के बहाने दूसरा कोई रास्ता नहीं है यह कह कर उन्हें मजबूर तो नहीं किया जा रहा है। ये सब बातें अटकलें नहीं हैं, लोगों की भुगती हुई वास्तविकता है - यह दुहराई नहीं जानी चाहिये। **लोग अपनी जगह से हटेंगे या नहीं, अपनी जमीन देंगे या नहीं, समाज की अस्मिता और अपनी जिंदगी से जुड़े इन सवालों का आखिरी फैसला लोगों का अपना हो, पूरी समझ के साथ हो, किसी का लादा हुआ न हो, अपनी स्वतंत्र इच्छा से हो, यही नहीं खुशी-खुशी हो जिसमें नई आशा हो, नई रोशनी हो और आत्मविश्वास भी हो। तमी यह कहा जा सकता है कि उनके संवैधानिक अधिकारों की रक्षा हो रही है।**

आदिवासियों की विकास में हकदारी का नकारना

17.42 अब सवाल यही रह जाता है कि आखिर इन उसूलों को मानने में दिक्कतें कौन सी हैं ? अब तक इन उसूलों के बिना जो कुछ आदिवासी इलाकों में किया गया वह सब जानते हुए कि आदिवासी का सब छिनता जा रहा है, उसका समाज बिखरता जा रहा है, तो इसका मतलब क्या है ? **ईमानदारी से अगर सोचा जाय तो इसका एक ही मतलब है कि आदिवासी की बुनियादी हकदारी को जिसे हमारे संविधान में ऊँची जगह दी जगह दी गई है, नकार दिया गया।**

17.43 आदिवासियों की हकदारी नकारने के दो मतलब हो सकते हैं। पहला यह कि जो आदिवासियों को मिलना चाहिए वह उन्हें नहीं दिया गया। उस हद तक हर एक परियोजना के लेखे-जोखे में खर्च की कुछ कमी हुई। गरज यह कि परियोजना की लागत उसकी वास्तविक लागत से कम हुई। इसमें भी दो तरह की बातें हो सकती हैं। अगर लोगों की हकदारी का पूरा ख्याल रखने पर भी परियोजना उसके लागत-लाभ के हिसाब में ठीक है, तो उनकी हकदारी छीनने का कोई कारण ही नहीं है। और अगर उनकी हकदारी का खयाल रखने से लागत इतनी बढ़ जाती है कि पूरा हिसाब-किताब ही उलट जाय और परियोजना लगाने काबिल ही न मानी जाय तो उसे क्यों कर लगाया जाय ? और अगर किसी परियोजना का लगाना जरूरी ही हो तो यह तय किया जाय कि उसके नुकसानों का बोझ कौन उठाएगा। यह तो सरासर नाइंसाफी है और धोखाधड़ी भी कि बिना कहे उसका बोझ आदिवासी पर डाल दिया जाय।

17.44 बड़े खेद की बात है कि आज हो यही रहा है। आदिवासी की हकदारी को नजर अंदाज करके दोनों हालतों में नुकसान उसका ही हो रहा है और आखिर में फायदा संगठित क्षेत्र को मिल रहा है। यही कारण है कि एक तरफ आसूदगी बढ़ रही है और दूसरी तरफ सिर्फ कंगाली और मुफलिसी। इस तरह हकदारी नकारना, किसी भी तरह से, अगर हम व्यवस्था के अपने नियम और कानून भी देखें तो उस हिसाब से भी उचित नहीं ठहराये जा सकते। इसलिए आदिवासियों की हकदारी के मामले में किसी भी तरह की कमी करना गलत है, अन्याय है और असंवैधानिक भी।

17.45 **जाहिर है कि आदिवासी इलाकों मे विकास जिस तरह से चल रहा है अगर उसी तरह से चलता रहा तथा और तेज होता गया, जिसके आसार साफ हैं। हो सकता है कि आदिवासियों में से भी कुछ चंद लोगों को फायदा मिल जाय। परन्तु आदिवासी समाज और अधिसंख्य आदिवासी लोगों के लिए तबाही के अलावा और कुछ हो ही नहीं सकता। आदिवासी समाज की हालत पर बिना विचार**

किए हुए इन इलाकों में विकास की मुहिम उन लोगों के खिलाफ एक तरह से युद्ध की घोषणा ही है। इस युद्ध की चपेट में अब तक सौ में से लगभग पन्द्रह आदिवासी आ चुके हैं। उनमें से न जाने कितने सतम हो गए, न जाने कितने घायल पड़े कराह रहे हैं और न जाने कितने इधर-उधर बेसहारा, अनजाने इलाकों में भटकने के लिए मजबूर हो गये। उनकी क्या हालत हुई इसकी कहीं कोई मालूमात तक नहीं।

17.46 अब सवाल यही है कि कब तक यह अघोषित युद्ध चलता रहेगा इन पहाड़ों और जंगलों, इन नासमझ लोगों के खिलाफ बिना किसी अपराध के, बिना किसी कारण सिर्फ इसलिए कि वे बहुमूल्य संसाधनों पर बैठे हुए हैं जिसकी देश को विकास के लिए जरूरत है। इन इलाकों में घुसते समय, जब उनका प्रतिरोध हुआ, जब उन लोगों ने अपने हक की लड़ाई लड़ी, उस समय उनको जो नीतियाँ बताई गयीं, उनको जो आश्वासन दिये वे भी गलत साबित हुए। आज हालत यह है कि उनको किसी पर कोई यकीन ही नहीं रहा। उन्हें कोई विश्वास हो भी कैसे सकता है, जब कि एक के बाद एक वायदे मिलते रहे और टूटते रहे। उस बीच उनका सब कुछ लुटता रहा, उन्हें अपना सब कुछ खो देने के लए मजबूर होना पड़ा । यकीन अब बातों और वायदों से नहीं हो सकता, उसके लिये कुछ ठोस करना होगा, जिसे वह देख सके, टटोल सके, और यह अहसास कर सके कि वह उसका अपना है।

17.47 हमारे संविधान में राज्य के ऊपर यह जिम्मेदारी सौंपी गई है कि वह आदिवासियों को आवश्यक संरक्षण दे। जैसा हम देख चुके हैं जहाँ भी आदिवासियों को विस्थापन का सामना करना पड़ रहा है और वहाँ कानून का भले ही पालन हो रहा हो, जिसके बारे में भी बहुत शक है, परन्तु न्याय तो किसी हालत में मिल ही नहीं रहा है, और उन्हें संविधान का संरक्षण भी नहीं मिल रहा है। इसमें सबसे बड़ा कारण यही है कि कानून में उनकी स्थिति की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है। इसके दो असर हुए। पहला यह जो कानून है, वह उनके हितों के खिलाफ है। दूसरा यह कि आदिवासियों के हितों की रक्षा करने के लिए जो कानून होने चाहिए थे वे कानून ही नहीं हैं। इस तरह सरकार ने आदिवासी हितों के मामले में अपनी जिम्मेदारी को निभाया ही नहीं । अगर हालत ऐसी बनी रही तो आगे भी कोई उम्मीद नहीं है।

17.48 परन्तु अभीभीसमय है, हालात बदल सकते हैं। परन्तु इसके लिये आदिवासी इलाकों की पूरी कानूनी व्यवस्था को बदलना होगा। संसाधनों पर उनके अधिकार की बात पहले कर ही चुके हैं। **संसाधनों पर अधिकार जीने के अधिकार से जुड़ा है, इसलिए बुनियादी है। संसाधन और जमीन लेने का आज का कानून गलत है, असंविधानिक है और आदिवासियों के मानवीय अधिकारों के भी खिलाफ है। इसको पूरी तरह से बदलने की जरूरत है। जनहित क्या है इस पर फैसला करने का लोगों को अधिकार होना चाहिए। आदिवासी इलाके में अपने परिवेश में बने रहने के मानवीय अधिकार को कानून में जगह दी जाय जिससे उस बारे में सफाई हो जाय। विकास में भागीदारी का मतलब मुआवजे के चंद रुपये या परिवार में एक को कैसी भी नौकरी या मजदूरी नहीं। आदिवासियों को नई व्यवस्था में सम्मान का स्थान दिये बिना सही मायने में भागीदारी नहीं कही जा सकती है। क्या सरकार इस गंभीर संवैधानिक जिम्मेदारी को निभाने के लिए पहल करेगी ?**

आदिवासी लोगों की प्रतिक्रिया

17.49 पूरे आदिवासी इलाके में लोग बड़ी उलझन में पड़े हुए हैं। जमीन सहित प्राकृतिक संसाधनों को, जिनसे उनकी गुजर चलती है और जिन्हें वे अपना मानते रहे हैं, वे अब अपना नहीं कह सकते

हैं- नई व्यवस्था उनके अधिकारों, यहाँ तक कि उनके परंपरागत उपयोग को भी मानने के लिए नहीं तैयार है। उधर विकास के नाम पर उन्हीं संसाधनों पर राज्य या दूसरे तत्व अपना अधिकार जमाते आ रहे हैं। लोग अपने अधिकार जताने की कोशिश करते हैं परन्तु उसमें बहुत करके नाकामी ही हाथ आती है। संसाधनों पर अधिकार छिन जाने से उन्हें कहीं दूसरी जगह गुजर-बसर करने के लिये भटकना पड़ रहा है।

17.50 जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि इस मामले में उनके साथ घोर अन्याय हो रहा है. बड़ी-बड़ी परियोजनाएँ बनती हैं और स्थानीय लोगों को बिना कुछ लिये-दिये ही वहाँ से हटने को मजबूर होना पड़ता है क्योंकि उनका अधिकार कहीं अंकित नहीं। बस्तर में बैलाडिला की विशाल परियोजना में केवल 8 परिवार विस्थापित हुए यह सरकारी दावा है। बाकी कितने लोग कहाँ गए किसी को मालूम नहीं। एक जगह से हटने के बाद कहीं दूसरी जगह, खास तौर पर वनों में, उन्हें शरण लेनी पड़ती है। पर वहाँ भी उन्हें चैन से नहीं बैठने दिया जाता है। कर्नाटक में शहद इक्ट्ठा करने वाले जेनु कुरुम्बा-उनका इलाका बांध में डूबने के बाद कहाँ जाय इसकी किसी को चिंता की जरूरत नहीं, जंगल सरकारी जो ठहरे। राजस्थान में कडाना परियोजना के विस्थापितों ने जब प्रतापगढ़ के वनों में शरण ली तो वह सरकार को कबूल नहीं हुआ और उन्हें हर साल वहाँ से भगाने के लिये वन विभाग मुहिम चलाता है - पर वे जाय कहाँ यह कोई नहीं बताता ? मध्यप्रदेश के हसदेव बागों में बांध भरने के पहले उन सुदूर इलाकों के आदिवासी हाथ जोड़ कर यही पूछते रहे कि कहाँ जायें, पर उसका कोई जवाब नहीं। जब उसने पास के जंगल में अपनी जगह देख ली और पानी भरने पर वहाँ आश्रय लिया तो सरकार पूरे दलबल से उसे निकालने केलिये आमादा हो गई। और गुजरात की समृद्धि के लिये बने उकई बांध के विस्थापितों को सूरत के बाजार में अपनी अस्मत बेचने के अलावा अब और कोई चारा नहीं बचा है।

17.51 कैसा है यह न्याय और कैसी है यह व्यवस्था ? क्या कहें इस विकास की प्रक्रिया को ? यह सब को मालूम है कि आदिवासी जैसे ही अपने परिवेश से कट जाता है उसका समाज बिखर जाता है और उसे कंगाली और मुफ्लिसी के अलावा कुछ नहीं मिलता। उसके लिये संविधान में भरपूर संरक्षण की व्यवस्थाएँ हैं पर उनका कोई अर्थ नहीं है उसके लिये। वे लोग गलत कानूनों और अन्यायी व्यवस्था के दाव पेंच में अपना सब कुछ खोते जा रहे हैं - बेबस और लाचार!

17.52 परन्तु यह बेबसी और लाचारी हमेशा नहीं चल सकती है। लोगों में प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। कई जगह लोगों ने विस्थापन के खिलाफ प्रतिरोध किया है, कर रहे हैं। सबसे पहला प्रतिरोध तो वनों पर सरकारी अधिकार के खिलाफ था, फिर उनके हाथ से जमीन निकल जाने के खिलाफ। परन्तु अब छोटी-बड़ी विकास परियोजनाओं के खिलाफ आक्रोश बढ़ रहा है, और भी तेजी से बढ़ेगा। यह साफ है कि आदिवासी लोगों के मामले में सरकार ने अपनी आम जिम्मेदारी ही नहीं संविधानिक जिम्मेदारी तक को नहीं निभाया है। और उसी का फल आदिवासी को भुगतना पड़ रहा है, जो गलत है, सरासर अन्याय है। इसलिये आदिवासी लोग कई मामलों में यह दावा कर रहे है कि कानून चाहे जो भी है वह अपने जिंदगी के अधिकार को नहीं छोड़ेंगे। उनकी स्थिति में यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक है, मानवीय है। आदिवासी इलाकों में असंतोष, खिलाफत और यहाँ तक कि विद्रोह को भी उसी नजरिये से देखना जरूरी है। यह उनके अपने हकों की लड़ाई है। कहीं-कहीं उसका रूप अतिवादी हो गया है पर हर हक की लड़ाई को अतिवादी रूप देना वाजिब नहीं है जैसा कि आमतौर से करने की कोशिश

होती है। अतिवादी रूप तभी होता है जब वाजिब लड़ाई की ओर तवज्जह नहीं दी जाती।

17.53 कई जगह आदिवासी इलाकों में लोगों ने अपने आंदोलनों के जरिये विस्थापन के मामले में अपनी बात सरकार के सामने रखने की कोशिश की है। परन्तु विकास की हड़बड़ी में उस पर कोई गौर नहीं किया जा रहा है। अब तक उन्हें विकास के उलट-प्रहारों का ही सामना करना पड़ रहा है। विकास की नीति उनके इलाके में क्या होगी, इसके बारे में उनसे न कोई संवाद है और न कोई सफाई इसलिये उन्हें अपनी ओर से ही कुछ फैसले लेने पड़ रहे हैं, कुछ संकल्प भी ले रहे हैं। उनके अपने इलाके के संसाधनों पर जिससे वे जिस किसी तरह से भी जिंदगी चलाते हैं उनका हक है। इन संसाधनों का किसी को भी किसी तरह का दूसरा उपयोग करने का हक नहीं है जब तक कि उसमें उनकी सलाह न हो और जब तक उनकी जिंदगी बसर करने के लिए दूसरा आधार न बन जाय।

17.54 अब प्रभावित लोग केवल वायदे के आधार पर विकास के कामों के आगे चलते रहने के लिये तैयार नहीं हैं। इसके साथ ही वे पूरे आदिवासी इलाके के भविष्य के लिये चिंतित है-विकास की यह रीति-नीति बनी रही तो उनके लिये कहीं खड़े होने के लिये भी जगह नहीं रह जाएगी। यह उनके लिये अब कोरी कल्पना या उसूलों की बात नहीं रह गई है। उनके सामने भयावह यथार्थ मुँह बाये खड़ा है। वे अब तक अनजाने में उलट-प्रहारों को झेलते रहे हैं - अब वे उनके सामने सिर झुकाने के लिये नहीं तैयार हैं। चूँकि विकास की पहली मार उन्हीं पर पड़ रही है इसलिए उनका हक है कि वे विकास के रूप और उसकी रीति-नीति को तयकरने में सहभागी हों।

17.55 कई जगह विस्थापन के मामले को लेकर लोग आंदोलन कर रहे हैं। इन आंदोलनों में वे लोग भी शामिल हो रहे है जो आज तो विस्थापित नहीं हो रहे हैं परन्तु कल के बारे में चिन्तित हैं। और फिर विस्थापन के तो अनन्त रूप हैं - जंगल से, जमीन से और अपने देश से भी। इन आंदोलनों में लोगों ने सरकार से एक महत्वपूर्ण बात कही है। वह यह कि उनके इलाके में आगे क्या होगा इस पर विचार करने और उसका रास्ता तय करने के पहले अब तक जो लोग विकास की चपेट में आ चुके हैं और जो अभी परियोजनाएँ चालू हैं उनकी चपेट में आ रहे हैं, उनके लिये उचित व्यवस्था की जाय। इसमें हीले-हवाले की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिये। अगर अब तक किसी परियोजना ने जिम्मेदारी नहीं ली है और वह इस हालत में नहीं है कि प्रभावितों के लिये कुछ कर सके तो सरकार को उनकी जिम्मेदारी लेना चाहिये। एक बात और। परियोजना की जिम्मेदारी तो सीधे विस्थापन की ही होती है। जो लोग उसकी स्थापना के बाद की गतिविधियों से प्रभावित होते हैं, विस्थापित हुए हैं, उनकी भी तो किसी को देखभाल करनी ही पड़ेगी। सरकार यह जिम्मेदारी उठाए। जब तक यह सब कुछ नहीं हो जाता तब तक वे आगे के कामों को नहीं चलने देंगे, यही उनका संकल्प है।

17.56 इस तरह यह साफ है कि आदिवासी इलाकों में विस्थापन की समस्या का तुरंत समाधान जरूरी है। लोग अपना समाधान ढूँढ रहे है - उनका आक्रोश जायज है, उनकी लड़ाई न्याय की लड़ाई है। उसको टकराव का रूप न देकर सहयोगी माहौल में सुलझाना जरूरी है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि विकास रुक जाय और आदिवासी समाज में यथास्थिति बनी रहे। इसका केवल एक ही अर्थ है **वह यह है कि इन इलाकों में व्यवस्था ऐसी कायम हो जिससे विकास में वहाँ के लोगों की सहभागिता हो, विकास के काम उनकी सहमति से हों और जिसमें उनकी सहमति न हो वह विकास का काम न लिया जाय।**

17.57 इस मामले में हमारे संविधान की स्थिति साफ है। आदिवासी इलाकों में आदिवासी लोगों की इच्छा के बिना विकास भी थोपा नहीं जा सकता है। यह एक राष्ट्रीय जिम्मेदारी है कि आदिवासी समाज के साथ बराबरी के आधार पर संवाद स्थापित किया जाए और उन्हें विकास की प्रक्रिया में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया जाय, बजाय इसके कि विकास के नाम पर उनके खिलाफ एक युद्ध छेड़ दिया जाय। सद्भावना का यह वातावरण तभी तैयार हो सकता है जब कि विकास के चपेट में आये जो लोग कराह रहे हैं, उनकी ओर पहले ध्यान दिया जाय। आगे बढ़ने की जल्दबाजी करने की बजाय पहले उनको विकास में सहभागी बनाया जाय। हो सकता है कि इसमें विकास की गति थोड़ी सी मंद करनी पड़ जाए, कुछ समय के लिए हमें वहीं रुक भी जाना पड़े। अगर सावधानी नहीं बरती गई तो आदिवासी इलाकों में उफनते असंतोष और भड़कते विद्रोहों के सामने कहीं विकास का पहिया चरमरा कर पूरी तरह से बैठ ही न जाय।

18

विस्थापन - 3

नर्मदा घाटी के बांध

पृष्ठभूमि

हमारे देश के विकास की परियोजनाओं में, खास तौर पर आदिवासी इलाकों को प्रभावित करने वाली परियोजनाओं में, नर्मदा घाटी के बांधों की बात करना जरूरी है। आज के कानून के तहत विस्थापितों को मुआवजे के अलावा और कोई अधिकार नहीं है। परन्तु इसके बावजूद कई परियोजनाओं में उनके पुनर्वास के लिए भी कुछ व्यवस्था की गई है। नर्मदा घाटी के पानी के बंटवारे के बारे में फैसला देते समय नर्मदा जल-विवाद ट्राइब्यूनल ने पहली बार औपचारिक रूप से उसूलन यह मंजूर किया कि विस्थापितों का पुनर्वास होना चाहिए और उसे राज्य की जिम्मेदारी करार दिया। इसके बाद जब इसी घाटी में सरदार सरोवर और इंदिरा सागर परियोजनाओं के लिए विश्व बैंक ने कर्ज की मंजूरी दी तो उसके कसर में भी पुनर्वास के बारे में कुछ शर्तें रखी गई।

18.2 नर्मदा घाटी का व्यापक विकास योजना में 30बड़ी पारयोजनाओं,135 से 400 तक मझोली परियोजनाओं (सरकारी और विश्व बैंक के अलग-अलग आंकड़ों के मुताबिक) और 3000 से अधिक छोटी परियोजनाओं का अनुमान है। बड़ी परियोजनाओं में से तवा परियोजना (होशंगाबाद, मध्यप्रदेश) सातवें दशक में पूरी की गई और एक दूसरी बड़ी परियोजना बरगी (जबलपुर, मध्य प्रदेश) लगभग पूरी हो चुकी है। इसी क्रम में अगली दो परियोजनाएँ सरदार सरोवर (गुजरात में स्थित संयुक्त परियोजना) और इंदिरा सागर (मध्य प्रदेश) है जिन्हें मंजूरी मिल चुकी है। इनमें से सरदार सरोवर के बांध का काम चालू हो चुका है।

18.3 सरदार सरोवर परियोजना से लगभग 248 गाँव और इंदिरा सागर परियोजना से लगभग 254 गांव प्रभावित होंगे। विस्थापित होने वालों की संख्या के बारे में अभी भी अनिश्चितता है। अनुमान है कि सरदार सरोवर से लगभग एक लाख लोग प्रभावित होंगे और इंदिरा सागर से इससे भी ज्यादा। अगर नर्मदा पर आगे बनने वाली सभी परियोजनाओं का हिसाब लगाया जाय तो नर्मदा घाटी परियोजना दुनिया की सबसे बड़ी परियोजना होगी। परंतु इसके साथ ही इस विशाल परियोजना का यह भी रिकार्ड होगा कि उससे इतनी बड़ा संख्या में लोग विस्थापित होंगे जितने दुनिया में अभी तक कभी नहीं हुए।

18.4 सरदार सरोवर परियोजना में गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और राजस्थान के राज्य हिस्सेदार हैं। इसका मुख्य बांध गुजरात के नवागांव में बन रहा है। इसे बनाने की जिम्मेदारी गुजरात सरकार की है। इस बांध से मुख्यतः सिंचाई होगी परन्तु कुछ बिजली भी पैदा होगी। सिंचाई का अधिकतर लाभ गुजरात को मिलेगा परन्तु कुछ थोड़ा सा लाभ राजस्थान को भी पहुँचने की उम्मीद है। उससे पैदा होने वाली बिजली में चारों राज्यों का हिस्सा है। विस्थापितों के पुनर्वास की पूरी जिम्मेदारी गुजरात सरकार की है।

18.5 सरदार सरोवर से प्रभावित होने वाले लोगों में लगभग 70 प्रतिशत आदिवासी हैं। इनमे से बहुत से लोग ऐसे इलाकों में रहते है जिनके साथ बाहर का अभी तक कोई खास रिश्ता नहीं था। इन लोगों की जिंदगी का गुजारा सिर्फ खेती से न होकर जंगल, जमीन और नदी तीनों से ही होता है।

पुनर्वास की योजना

18.6 सरदार सरोवर और इन्दिरा सागर इन दोनों ही परियोजनाओं में विस्थापितों के बारे में दो खास बातें उसूलन मानी गई· **पहली** उनके लिए पुनर्वास का ठीक-ठीक इंतजाम करने की जिम्मेदारी सरकार की है· **दूसरी** सबसे बड़ी बात जो इस फैसले में मानी गई है कि खेती करने वाले लोगों का पुनर्वास खेती पर ही हो सकता है· और इस तरह जमीन के बदले जमीन का बुनियादी उसूल माना गया है· पुनर्वास के लिए विस्थापितो को जमीन के बदले जमीन दी जायेगी·

18.7 पुनर्वास के लिए ऊपर बताई गई नीति के तहत कुछ बातें तो शुरू में ही तय हो गई थी· परन्तु उसके बाद नर्मदा घाटी के प्रभावित लोगों ने भी समय-समय पर अपनी ओर से कुछ सुझाव दिये जिनमें से कुछ मान लिये गए हैं· मोटेतौर पर पुनर्वास के इस कार्यक्रम में हर प्रभावित परिवार को कम से कम 2 हेक्टेयर जमीन देने का वायदा है· इसके अलावा गुजरात में प्रभावित परिवारों मे 18 वर्ष या उससे बड़े हर बालिग लड़के को पुनर्वास योजना के लिये अलग परिवार माना गया है· इस तरह सभी परिवारों को जमीन के लिये जमीन तो मिलेगी ही पर बहुतों को कुछ ज्यादा जमीन भी मिल सकती है· इस फैसले की मूल भावना यही है कि विस्थापित होने के बाद लोग पहले की स्थिति से अच्छी स्थिति में पहुँच जाँए· अर्थात् विकास के लाभ मे विस्थापित लोग भी भागीदार हैं·

18.8 इन फैसलों के अलावा गुजरात सरकार ने कुछ और रियायतें भी मंजूर की हैं· इसमें तीन नई बातें आयी· **पहली** परियोजना से प्रभावित भूमिहीन खेतिहर मजदूर को भी 2 हेक्टेयर जमीन दी जाएगी· **दूसरी** वन या सरकारी जमीन पर गैर कानूनी काश्त करने वालों को भी वे सभी लाभ मिलेंगे जो पट्टे की जमीन वालों को मिलेंगे· **तीसरी,** जमीन के लिये जमीन अगर निजी तौर पर खरीदनी पड़े तो उस जमीन की कीमत मुआवजे की रकम से जितनी अधिक होगी, वह सरकार अनुदान के रूप में देगी· इस तरह विस्थापितों को कानूनी विसंगतियों और बाजार की अनिश्चितता से बचाने की कोशिश की गई है·

विरोध के बीज

18.9 इन महत्वपूर्ण फैसलों के बावजूद असरग्रस्तों के बहुत से सुझावों के बारे मे कोई फैसला नहीं हो पाया· मैं भी तीनों सरकारों और केन्द्रीय सरकार से कुछ मुद्दों पर बातचीत करता रहा हूँ· इस बातचीत से कुछ प्रगति भी हुई· परन्तु इस बीच इन परियोजनाओं खास तौर से सरदार सरोवर के असरग्रस्त लोगों के रुख में भारी बदलाव आया है· इसके कई कारण हैं· **एक** तो सरकार के वायदे, घोषित नीतियों और मैदानी हकीकत के बीच अंतर बढ़ता ही गया है· **दूसरे** इन लोगों ने जब यह देखा कि सभी तरह के वायदों के बावजूद शुरू में ही लोगों को परेशानी हो रही है, उनके सवालों के जवाब नहीं मिल रहे हैं, तो उनके मन में आगे क्या होगा इसके बारे मे तरह-तरह की आशंकाएं घर कर गई· इसका नतीजा यह हुआ कि **इस समय नर्मदा घाटी में बांध के विरोध को लेकर एक बड़ा जन आंदोलन हो रहा है· कई जगह लोग साफ-साफ कह रहे हैं कि वे अपना घर-बार छोड़कर जाने के लिए तैयार नहीं हैं· परन्तु दूसरी ओर बांध का काम जारी है·**

18.10 इन परियोजनाओं का विरोध कई मुद्दों को लेकर हो रहा है· इसमें पर्यावरण पर असर के सवाल के साथ-साथ उनके तकनीकी और आर्थिक पहलुओं पर भी सवाल किये जा रहे हैं· परन्तु असरग्रस्त लोगों की ओर से एक तो व्यावहारिक सवाल है· क्या पुनर्वास के लिये जो नीति उसूलन मानी गई है, उसकी भावना के अनुसार पुनर्वास संभव हो सकेगा ? इसके अलावा दूसरा सवाल स्वयं उस नीति के बारे में ही खास तौर पर आदिवासी लोगों की हालत को लेकर है· क्या इस नीति में आदिवासियों की हालत का ख्याल रखा गया है और क्या उनके साथ न्याय हो सकेगा ? **तीसरा** सवाल लोगों के बुनियादी हकों का है· अगर पुनर्वास के वायदे ठीक भी हों, तब क्या लोगों का यह हक नहीं है कि वे अपनी जगह से हटने के लिए इंकार कर दें ?

18.11. असरग्रस्त लोगों के पुनर्वास को जिम्मेदारी सरकार ने ली है, कई बड़े फैसले भी लिये गए हैं और कुछ कार्रवाई भी हुई है. परन्तु यहाँ पर दो बातें हैं. एक तो यह कि सरकारी नीतियां और कागज पर कार्रवाई आमतौर पर बड़ी साफ सुथरी दिखाई देती है. परन्तु मौके पर हालत इतने पेचीदे होते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता है कि लोगों की समस्याएँ कहाँ तक हल हो पाएंगी और उन्हें उनसे कितना लाभ मिल पाएगा. दूसरे, हमारे कानून, व्यवस्था और नीतियाँ आदिवासी इलाकों के हालात से बिलकुल मेल नहीं खाते हैं, उनमें तालमेल के लिए भी कोई खास पहल कहीं भी नहीं की गई है. ऐसी हालत यहाँ के पुनर्वास की भी है. इसलिये पुनर्वास के बारे मे नीतियों के बावजूद अभी तक का अनुभव बहुत अच्छा नहीं कहा जा सकता है.

एक इलाका, तीन राज्य और तीन तरह की नीतियों की उलझनें

18.12 सरदार सरोवर के मामले में इतनी बातचीत और आंदोलन के बावजूद सिद्धांतों के कई मामले भी अभी तक उलझे पड़े हैं. सरदार सरोवर के डूब का इलाका तीन राज्यों में बंटा हुआ है. इस इलाके के बीच के हिस्से में नर्मदा के एक ओर मध्यप्रदेश और दूसरी ओर महाराष्ट्र है. उसके निचले हिस्से में सिर्फ गुजरात और उभरले हिस्से में सिर्फ मध्यप्रदेश हैं. यहाँ के रहवासियों की आम जिंदगी के लिये इन विभाजन रेखाओं का कोई खास मतलब नहीं. उनका समाज इन अनदेखी रेखाओं को कहाँ तक पार करता है इसका किसी को खास अहसास नहीं. इसलिए औपचारिकता कुछ भी हो, परन्तु व्यवहार में सरदार सरोवर पुनर्वास योजना का पहला उसूल यह होना चाहिये था कि वह सभी इलाकों के रहवासियों के लिये समान हो. इसलिये यह उम्मीद करना स्वाभाविक है कि असरग्रस्त आदमी कहीं का भी हो, परन्तु उसके साथ सभी सरकारों का व्यवहार एक ही जैसा होगा और उसको सब जगह एक ही तरह की सुविधायें मिलेंगी. इस बारे में न केवल खुद मैंने सरकारों को कई बार लिखा वरन् जन आंदोलन में भी यह माँग बार-बार आती रही है. कहने को सभी सरकारें उसूलन इसे मान भी लेती हैं, कुछ बातें मानी भी गई है परन्तु उसे पूरी तरह से नहीं माना गया है. सब कुछ कहने सुनने के बाद कुछ न कुछ कहीं अटक जाता है. **इस तरह मौके पर पुनर्वास के मामले में मध्य प्रदेश में एक नीति चल रही है, महाराष्ट्र में दूसरी और गुजरात में तीसरी. इन राज्यों की नीतियों में तालमेल न होने से लोगों को सही जानकारी नहीं है और कई तरह की गलत-फहमियाँ भी हैं.**

"विस्थापित कौन" के उलझे मामले

18.13 अब हम नीति सबंधी एक दूसरी बुनियादी बात पर विचार करेंगे. असरग्रस्तों के लिये कोई भी नीति बनाने में पहला जरूरी कदम तो यही है कि "प्रभावित किसे माना जायेगा" यह साफ किया जाय. इसके बारे में नियम बने हैं और उनके मुताबिक जाँच-पड़ताल भी हुई है. परन्तु मौके पर जब प्रभावितों की सूचियां बनाना शुरू किया गया तब नियमों में कई खामियाँ नजर आने लगीं. कुछ विसंगतियों को दूर करने की कार्रवाई भी हुई. परन्तु बहुत से मामलों में अभी तक सफाई नहीं हो पाई है हालांकि असरग्रस्तों को अपनी जगह से हटा कर दूसरी जगह बसाने का काम शुरू हुए कम से कम 10 साल बीत चुके हैं. इसके कारण जो लोग सचमुच प्रभावित हैं, परन्तु जिनको नियमों में प्रभावित नहीं माना गया है, वे बड़ी तकलीफ में हैं. ये लोग बाहर से जाने वाले हर किसी के सामने चाहे वह मंत्री हो या अधिकारी या सामाजिक कार्यकर्ता अपनी बात रखते हैं,उन्हें आश्वासन भी मिल जाता है परन्तु बात वहीं की वहीं रह जाती है.

18.14 सरदार सरोवर के डूब के इलाके में कई ऐसी जगहें हैं जो कि डूब से तो बाहर रहेंगी परन्तु पानी से घिरकर टापू बन जायेंगी· आज के नियमों के मुताबिक चूँकि ये लोग डूब में नहीं आते हैं, इसलिए प्रभावित नहीं है· परन्तु पानी भरने के बाद वे रहेंगे कहाँ ? इस मामले में तीन साल से बात चल रही है· हमेशा सरकार, उनको असरग्रस्त माना जाना चाहिये, इस बारे में "हाँ" कर देती है, परन्तु निकाल कुछ नहीं होता है·

18·15 इसी तरह से डूब के इलाके के बारे में और कई मामले भी हैं· उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति का घर डूब में आता है या नहीं और उसकी जमीन का कितना हिस्सा डूब में आता है इसके आधार पर उसके असरग्रस्त होने या न होने का फैसला होता है· अगर किसी व्यक्ति की पूरी जमीन डूब में नहीं आती है तो किस हालत में उसे सरकार को पूरी जमीन देने का हक है इसके बारे मे भी कुछ नियम बने हैं· परन्तु वे संतोषजनक नहीं है और लोगों को भारी परेशानी है· उनका कहना है कि अगर पहली जगह पर उनकी थोड़ी सी जमीन बच जाती है तो उसका वे क्या करेंगे ? कई मामलों मे विस्थापितों को टापू की या आधी-अधूरी जमीनें छोड़कर नई जगह बसने के लिए जाना पड़ा है परन्तु नियमों के अनुसार सरकार की उसे लेने की जिम्मेदारी नहीं है· इस तरह न छूटी हुई जमीन लेने का व्यवस्था है और न उसके एवज में दूसरी जमीन देने की बात है·

सरदार सरोवर की साया और उसके अनपेक्षित असरग्रस्त

18.16 अभी सरदार सरोवर की डूब के असरग्रस्तों की पहचान का मामला सुलझ नहीं पाया है कि उसकी सहचारी और अनुवर्ती गतिविधियों के साये में प्रभावितों की बात तेजी से उठने लगी है· इनके बारे में अभी किसी तरह का सोच तक नहीं बना है· इस विशाल परियोजना के लिये बड़ी-बड़ी नहरों का बनाना शुरू हो गया है जिनके लिये हजारों लोगों की जमीनें ली जा रही हैं· परन्तु इन लोगों को सरदार सरोवर परियोजना के असरग्रस्तों की श्रेणी में शामिल नहीं किया जा रहा है· उनकी जमीन भूमि अधिग्रहण कानून की सामान्य प्रक्रिया के तहत ही ली जा रही है· जिसकी जमीन जा रही है, वह तो बेसहारा होता ही जा रहा है· यही नहीं, एक ओर उसे अपनी जमीन का मुआवजा तो दो-चार हजार रुपया प्रति एकड़ मिल रहा है, वहीं प्रभावक्षेत्र के असरग्रस्तों को बसाने के लिये उसके पड़ौसी की जमीनें दस हजार या पंद्रह हजार रुपये प्रति एकड़ के हिसाब से खरीदी जा रही है· नहरों से प्रभावितों को यह भेद स्वीकार नहीं है· वे भी सरदार सरोवर के असरग्रस्त होने का दावा कर रहे हैं·

18.17 सरदार सरोवर की एक और अनुवर्ती गतिविधि है घाटी के वन्य प्राणियों के लिये व्यवस्था· इतने बड़े इलाके में पानी भरने पर वहाँ के वन्य प्राणियों को दूसरी जगह जाने के लिये गलियारा और आखीर में अभयारण्य बनाने की व्यवस्था की जा रही है· परियोजना के पास ही डुमखल का अभयारण्य बनाया गया है जिससे लगभग 26 गाँव प्रभावित होंगे· इससे आखीर में कितने लोगों को हटना पड़ेगा इसका सही अनुमान अभी उपलब्ध नहीं है· सरकार की ओर से तो यही कहा जा रहा है कि यह अभयारण्य देश के अनेक दूसरे अभयारण्यों की तरह ही है· इसलिए उसके संबंध मे अभयारण्यों के बारे में सामान्य नीति के मुताबिक कार्रवाई होगी· परन्तु इस इलाके के लोगों को यह तर्क स्वीकार नहीं है·वे सीधे-सीधे देख रहे हैं कि घाटी के वन्यप्राणियों को जगह देने के लिये उन्हें आगे-पीछे हटना पड़ेगा· इसलिये उनका दावा है कि वे भी सरदार सरोवर से ही प्रभावितों की श्रेणी में आते हैं· **सरकार का कहना है कि इन दावों की मानना इनके लिये मुमकिन नहीं है· अगर इसी तरह से जोड़ लगाते गए तो कहाँ रुकेंगे, आखिर सभी चीजें एक दूसरे से जुड़ी हैं कहीं न कहीं तो सीमा-रेखा खींचनी ही होगी·**

18.18 **सीमा-रेखा की जरूरत को मानते हुए भी परियोजना की साया की वास्तविकता को नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है**· अभी तक जो बातें सामने नहीं आई हैं वे भी कल आ सकती है जिनकी ओर पहले के अनुभवों के आधार पर लोग इशारा कर भी रहे हैं· नर्मदा घाटी मे ही बांध के बाद की धार में पानी की आमद कम होने से किन लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह भी एक बड़ा सवाल है जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया है· एक ओर खेती तथा दूसरे कामों के लिये पानी की कमी हो जाने की संभावना है और दूसरी ओर धार के कमजोर होने से समुंद्र के खारे पानी की दूर तक आमद हो सकती है· इन समस्याओं को अनदेखा करने से लोगों की समस्याएँ तो मिट नहीं जाएँगी--हाँ परियोजना का हिसाब-किताब नहीं बिगड़ेगा·

केवडिया के साथ बेइन्साफी

18.19 असरग्रस्त कौन है इसके बारे में सबसे बड़ी बेइन्साफी उन छः गाँवों के साथ हुई है जिनकी जमीनें इस परियोजना के लिए कॉलोनी बसाने और दूसरी अवस्थापना के लिए लगभग तीस साल पहले शुरू में ली गई थी· उस समय में नियमों के मुताबिक इन लोगों को मुआवजा लेकर अपनी जगह से हट जाना पड़ा था· इनमें से अधिकतर लोगों को बहुत ही थोड़ा पैसा मिला था, जिसे वे कुछ दिनों में ही खा पी गए· अब ये लोग बड़ी दयनीय हालत में जिंदगी बिता रहे है· और उनकी सबसे बड़ी टीस तो यही है कि जहाँ वे लोग अपने जमीन से उजड़कर भरी गरीबी में जी रहे हैं वहीं उनके सामने उन्हीं की जमीनों पर, आलीशान इमारतें बनी हुई हैं, जहाँ परियोजना के कर्मचारियों, अधिकारियों और उनके मेहमानों के लिये सभी तरह की आशाइशें हैं· कैसी किस्मत है उनकी ? इन लोगों को असरग्रस्त इसलिए नहीं माना जा रहा है कि ये लोग सरदार सरोवर की डूब में नहीं आते हैं· योजना बनाने वालों का इससे कोई सरोकार नहीं कि इन लोगों को इसलिये उजड़ना पड़ा कि सरदार सरोवर का काम शुरू हो सके· उनको डर है कि अगर वे इनके मामले पर फिर से विचार करने को राजी हो जाते हैं तो इस तरह के न जाने कितने और लोग भी, जो दूसरी परियोजनाओं से प्रभावित हुए हैं, जो बेसहारा घूम रहे हैं परन्तु सरकार की निगाहों में जिनके मामले तय हो चुके हैं, फिर से पुनर्वास के हक की माँग खड़ी कर देंगे·

18.20 उनका डर सही है· कहीं दूर जाने की भी जरूरत नहीं है· इसी इलाके में ताप्ती नदी की उकई बांध से हजारों विस्थापित बेघर और बेसहारा आज भी भटक रहे हैं· और उसी बाँध से नीचे खुशहाली के इलाके में बंधुआ मजदूरी और बेसहारा लोगों की अस्मत का व्यापार खुलेआम चल रहा है· सरकार को ये सभी बातें मालूम हैं· इन्हीं लोगों का उनको डर है कि कहीं वे लोग भी केवडिया वालों की बात सुनकर अपने हकों की बात फिर से न उठा लें.

सामाजिक न्याय की भावना की अनदेखी

18.21 **कैसी विडम्बना है कि सामाजिक न्याय की दुहाई देने वाली व्यवस्था नाइंसाफी को दूर करने के लिये अपनी ओर से कदम उठने की बात तो दूर, इस बात से डरे कि जिनके साथ नाइंसाफी हुई है वे कहीं इंसाफ की बात न कर बैठे· क्या यही उनके इंसाफ की परिभाषा है ? और फिर उकई की डूब में आने वाले या अभयारण्य से प्रभावित लोग तो अधिकतर आदिवासी हैं जिनके हकों की हिफाजत की जिम्मेदारी सरकार पर है· क्या हमारी व्यवस्था में - केन्द्र हो या राज्य आदिवासियों के बारे में जिम्मेदारी का यही अहसास है ?**

18.22 इस सबसे केवल एक ही बात साफ है कि व्यवस्था किसी तरह से कैसा भी चोला पहनकर अपना काम निकलवाना चाहती हैं· न्याय और अन्याय से उनको कोई मतलब नहीं, कोई दिलचस्पी भी नहीं· क्या न्याय में विश्वास करने वाला अन्याय की बात सामने आने पर उसे खतम करने के लिये एक पल की भी इंतजार करेगा ? केवडिया के लोगों का मामला व्यवस्था की न्यायप्रियता के दावे पर लोगो में अविश्वास के सिवाय और कुछ नहीं पैदा कर सकता·

18·23 असरग्रस्तों की सूची तैयार करने के बारे में और भी कई सवाल हैं जिनको यहाँ बताना न जरूरी है और न संभव ही । बहरहाल सरदार सरोवर के असरग्रस्तों की सूची अभी पूरी तरह से तैयार नहीं हुई है बहुत से मामलों में सरकार की सूची और लोगों के दावों में बहुत ज्यादा अंतर है जिसको लेकर असंतोष है । अब डूब क्षेत्र के अधिकतर लगभग 80 प्रतिशत लोगों ने असहयोग का रास्ता अपना लिया है । इस हालत में सूचियों के बारे में अब आगे कोई बात हो ही नहीं सकती ।

पुनर्वास के लिये हकदार कौन ?

18·24 असरग्रस्तों की सूची बनने के बाद दूसरी खास बात है पुनर्वास की हकदारी तय करना । इसमें पहली परेशानी यह है कि **सरकारी कागजात की तस्वीर और मौके की हालत से भारी अंतर है । परंतु कागजात का लिखा ही कानूनी है । इस अंतर को खतम करने के लिए बहुत कोशिशें हुई हैं परन्तु अभी तक न उसको कोई कानूनी रूप दिया गया है और न उसके लिए कोई प्रक्रिया ही तय हो पाई है । इसलिए अगर बातचीत में मौखिक रूप से सरकारी लोग कुछ मान भी लें तो उसका कोई मतलब नहीं ।**

शामिल खाते

18·25 आदिवासी इलाकों में अक्सर खेती की जमीन पर नाम परिवार में सबसे बड़े का होता है । एक परिवार में दो-चार भाई और फिर उनके लड़के-बच्चे, जिनमें से कई बालिग भी हों, हो सकते है । इन मामलों में अगर कागज के हिसाब से चला जाय तो उस पर हक तो केवल उस व्यक्ति का होगा जिसका नाम कागज में है । मुआवजे को तो ये लोग आपस में बांट लेंगे । परन्तु अगर सरकार जमीन के बदले जमीन या हर परिवार को कम से कम कुछ जमीन देने का उसूल स्वीकार करती है, तो उस समय इन भाईयों का हक कैसे तय किया जाएगा इस पर कोई सफाई नहीं है । इस कारण लोगों के सामने भारी अनिश्चितता है । इसका सबसे बुरा असर मध्यप्रदेश में है जहाँ जमीन जोतने वालों और भूमिहीनों के लिये पुनर्वास की व्यवस्था बिल्कुल अलग-अलग है **संयुक्त परिवार में जमीन के मालिक की स्थिति अनधिकृत कब्जेदार से भी गई गुजरी हो गई है । यही नहीं, कागज के आधार पर एक भाई का कानूनी हक मान लिये जाने और दूसरों को भूमिहीनकरार दे दिये जाने से कई मामलों में स्वार्थवश या बाहरी लोगों के उकसाने से सुखी परिवार भारी फसाद में पड़ गए हैं ।**

एक साला पट्टे

18·26 नर्मदा के कछार में बहुत से लोग बाढ़ का पानी उतर जाने पर खेती करके गुजारा करते हैं । कहीं कहीं इनको एक साला पट्टे दिये जाते हैं, परन्तुबहुत सी जगह कोई औपचारिक प्रक्रिया है ही नहीं । इनलोगों के हकों की उनके लेखीरूप में न होने के कारण कहीं कोई चर्चा ही नहीं है । नदी किनारे बसने वाले लोगों के लिये यही जमीन सबसे अधिक मूल्यवान होती है । जब इस मूल्यवान संसाधन की अनदेखी हो जाय, तो पुनर्वास का आधार संदेहास्पद हो जाता है ।

नज़री नक्शे

18·27 इस इलाके में बहुत से नक्शे नजरी हैं । इसलिए लोगों के पास कितनी जमीन है इसका सही हिसाब नहीं है । कई गाँव जंगल में थे इसलिए उनके नक्शे ही नहीं बने थे । कुछ गाँव तो सरकारी रिकार्ड में ही नहीं थे । इसके अलावा बहुत से लोग बहुत दिनों से जंगल की या पड़ती जमीन जोतकर खेती करते रहे हैं । लेकिन इन जमीनों पर उनका नाम चढ़ाने के लिये सरकार की ओर से कोई कार्रवाई नहीं हुई । इसलिए अगर उनका नाम दर्ज नहीं है तो उनका कब्जा गैर-कानूनी मान लिया जाता है । इनमें से कुछ मामलों के समाधान की कोशिश तो की जा रही है । **लेकिन फिर भी समस्या की जड़ तो कानून में है और उसके बारे में कुछ नहीं हुआ है । इसलिए जो कुछ आदिवासी को मिलेगा यह उसका हक नहीं, उसके पक्ष में रियायत होगी ।**

18.28 इस सिलसिले मे अभी हाल ही में एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया है कि जिन लोगों का जमीनों पर चाहे जंगल में हो या बाहर, एक निश्चित तिथि के पहले कब्जा है उनको उनके लिए कब्जा गैर कानूनी होने की हालत में मुआवजा तो नहीं मिलेगा परन्तु मुआवजे के बराबर अनुग्रह राशि मिलेगी और उसके बदले में जमीन भी दी जायेगी· लेकिन इसके बाद भी कई उलझनें हैं· यह निश्चित तिथि अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग हैं· दूसरे, **इस कब्जे की जमीन का सरकारी ब्यौरा ही या तो तैयार नहीं है**· इस तरह यहाँ भी मूल समस्या वही है जिसकी हम संसाधनों के अधिकार के संदर्भ में विस्तृत चर्चा कर चुके हैं· इसलिए कहीं तो गाँव के गाँव ऐसे हैं जिनका सरकारी रिकार्ड में बुजूद ही नहीं· इस मामले को मौके पर कैसे सुलझाया जाएगा, इसकी कोई स्पष्टता नहीं· अंत में, जिन लोगों का उनकी अपनी नजरों में अधिकार वैध है उनको अतिक्रामक मानकर उनका हक छीन लेने मे कहाँ का इंसाफ है· लोग इस विसंगति को स्वीकार करने में असमर्थ हैं·

मुआवजा

18.29 जमीन के मुआवजे के बारे में खास तौर पर आदिवासी इलाकों में उसूलों की खामियों के बारे में पहले चर्चा की जा चुकी है· सरदार सरोवर के मामले में बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनसे लोग खुश नहीं हैं· उदाहरण के लिए **इन पहाड़ी इलाकों में खेत साल दो साल में नहीं बन जाते हैं, पीढ़ियां खप जाती हैं उबड़-खाबड़ जमीन को खेती के लिए तैयार करने में· मगर सरकार के हिसाब में सभी जमीनों के लिए एक भाव, लम्बी मेड़ों और ऊँचे बंधानों तक का कोई सवाल नहीं, फलदार पेड़ों के लिए भी कोई खास मोल नहीं· महुए, इमली और आम की कीमत 300 रु० से 500 रु० · इससे कहीं ज्यादा कीमत के तो एक साल के फल हो जाते हैं· यही नहीं, मुआवजा निश्चित करने के लिये भी अभी तक संतोषजनक समान नीति नहीं बनी है· कभी बाजार भाव की बात होती है तो कभी शुद्ध आमदनी की· इसकी विसंगतियों के बारे में हम पहले विस्तार में चर्चा कर चुके हैं·** [पृष्ठ

18.30 घरों के मुआवजे को लेकर भी कई तरह की समस्याएँ हैं· यहाँ लोगों का रहन-सहन ही अलग है - बड़ी-बड़ी बाड़ियों में लकड़ी के घेरे, देखने मे झोपड़ी, पर उनके भीतर बहुमूल्य सागौन के ठोस खम्भों की कतारें· ऐसी रिहाइशों की कीमत आँकने की सही विधि ही नहीं अपनाई गई है, उनके लिए सरकारी विभाग के मानक भी अनुपयुक्त है· इन स्पष्ट विसंगतियों के अनदेखे किये जाते रहने का एक ही राज है - नजरिये का अंतर और लोगों के जिंदगी के अधिकार की अवमानना· उदाहरण के लिये व्यवस्था के लिये पेड़ का मोल कटी लकड़ी के बराबर है· परन्तु लोगों के लिये वही जिंदगी का सहारा है· मध्यप्रदेश सरकार ने पेड़ों के मुआवजे को आमदनी से जोड़ने का फैसला किया है परन्तु अभी उस पर अमल बाकी है· दूसरे राज्यों में तो इस मामले में अभी कोई सोच भी नहीं है· इसी तरह बाड़ी की खुली जगह आदिवासी के लिये रहाइश की असली जगह है जिसका व्यवस्था की नजर मे कोई मोल नहीं· कानून के मुताबिक प्रक्रिया में इन विसंगतियों का कोई अर्थ नहीं, न्यायिक अन्यायी फैसले के खिलाफ उसका कोई चारा नहीं· **इसीलिये उसकी निगाह में भूमि अधिग्रहण की पूरी प्रक्रिया अबतक जोर-जबरदस्ती और छल-फरेब के आधार पर उसकी जमीन छिनते जाने की पुरानी लकीर का ही अंतिम छोर जैसा है - घर-जमीन से हटना उसकी नियति है, जो मिल जाय वही सही है - न्याय और अन्याय दोनों ही उसके लिये अर्थहीन हैं·**

दूसरे धंधों में लगे लोग

18.31 **पुनर्वास** में एक और बड़ा सवाल है उन लोगों का जो गांव में खेती के अलावा दीगर धंधों में

लगे हुए है जैसे केवट और कहार· ये लोग भूमिहीन मजदूर नहीं हैं· पुनर्वास की नीति में इनके लिए अलग से कुछ नहीं है· सरकार का कहना है कि इन लोगों को गरीबी के लिये दूसरी योजनाओं या स्वरोजगार योजनाओं का लाभ दिया जायेगा, जिससे कि वे नई जगह जाकर अपना जीवन चला सकें· अगर सरकार की रोजगार योजनाओं के अब तक के अनुभव के आधार पर देखा जाय तो मछुआरे और मल्लाहों जैसे लोगों का आर्थिक पुनर्वास होना सपना ही लगता है·

मध्यप्रदेश के डूब क्षेत्र मे आने वाले राजघाट के पास के गांव के लोग बताते है कि कुछ दस साल पहले बने राजघाट पुल से उजड़े मल्लाहों को पुनर्वास के बारे में आज तक कहीं कोई चर्चा तक नहीं है·

जमीन से जुड़े लोगों का पुनर्वास - कई उलझे सवाल

18.32 अगर हम ऐसे लोगों की बात, जो जमीन से जुड़े नहीं हैं, छोड़ भी दें तो जमीन से जुड़े लोगों के लिये पुनर्वास की स्थिति अभी पूरी तरह साफ नहीं है· जमीन से जुड़े लोग दो तरह के हैं - जमीन वाले और भूमिहीन मजदूर· गुजरात सरकार ने दोनों तरह के सभी परिवारों को कम से कम दो हेक्टेयर जमीन देने का फैसला किया है· इसके साथ ही प्रभावित परिवारों में अठारह साल से बड़े लड़के को अलग परिवार माना गया है· महाराष्ट्र सरकार ने भी परिवार की परिभाषा की इस नीति को मान लिया था· लेकिन अभी हाल में उन्होंने अपने आदेश के बारे में यह सफाई दी है कि परिवार में 18 साल के लड़कों को जमीन नहीं मिलेगी परन्तु घर बनाने के लिए अलग प्लाट और आर्थिक सहायता दी जायेगी· महाराष्ट्र में भूमिहीनों के पुनर्वास के लिये एक एकड़ जमीन देने की व्यवस्था है·

18.33 मध्यप्रदेश ने भी जमीन वाले हर असरग्रस्त परिवार को जमीन के बदले जमीन या कम से कम दो हेक्टेयर जमीन देने का फैसला किया है· परन्तु परिवार मे 18 साल से बड़े वयस्कों को महाराष्ट्र की तरह ही मकान के लिये जमीन और आर्थिक सहायता के लिये अलग परिवार माना है· खेती की जमीन के लिये उन्हें पात्रता नहीं होगी· इस राज्य में जहाँ विस्थापितों की संख्या सबसे अधिक है, पुनर्वास के लिये भूमिहीन मजदूरों को जमीन देने की व्यवस्था नहीं है, वरन् उन्हें अन्य गरीबों की तरह दूसरे धंधों में काम-काज के लिये सरकार सहायता देगी·

18.34 विस्थापितों के पुनर्वास में समान नीति के बारे में मैं राज्य सरकारों और केन्द्र सरकार से भी विभिन्न स्तरों पर औपचारिक तथा अनौपचारिक रूप से चर्चा करता रहा हूँ· सबकी अपनी अपनी सीमाएँ है· केन्द्र सरकार निर्देश नहीं देना चाहती है· महाराष्ट्र में पुनर्वास के लिये अपना कानून है इसलिये किसी एक परियोजना के मामले में उनके लिये उससे बहुत अलग हटकर काम करना संभव नहीं है· **उनका कहना है कि अगर एक परियोजना में कोई सिद्धांत मान लिया जाता है तो दूसरे लोग भी वही मांग करेंगे, उसको टालना मुश्किल होगा·**

18.35 मध्यप्रदेश का तर्क भी कुछ ऐसा ही है· मध्यप्रदेश तो अभी अपने कानून को सभी परियोजनाओं के लिये लागू नहीं कर पाया है· यदि वह उससे आगे बढ़कर पुनर्वास की बात कहे तो दूसरे लोगों से कैसे निपटेगा· यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि तवा बांध (नर्मदा संकुल की एक बड़ी परियोजना) के विस्थापित अभी भी जगलों में भटक रहे हैं· नर्मदा पर ही बरगी परियोजना, जिस पर अभी काम चल रहा है डूब क्षेत्र मे लोगों को बिना पुनर्वास की सुविधाओं के बढ़ते पानी के सामने भागने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है· बाणसागर पर पुनर्वास को लेकर ही अंतिम चरण में काम रुका पड़ा है·

ऐसी उलझी स्थिति में वे सरदार सरोवर के विस्थापितों के लिये अब और अधिक सुविधाओं की व्यवस्था नहीं कर पाएँगे· उधर गुजरात में भी तो पुनर्वास के लिए सामान्य नीति को लेकर पूरी स्पष्टता नहीं है· जैसा हम पहले देख चुके हैं कि सरदार सरोवर तक के सभी असरग्रस्तों को अभी पुनर्वास के लिये एक जैसा नहीं माना गया है· अन्य परियोजनाओं के असरग्रस्त लोगों के लिये बराबरी से पुनर्वास की व्यवस्था करने का दायित्व लेने की बात तो बहुत दूर है·

18.36 मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र सरकारों का एक और तर्क भी है· अगर वे अपने राज्य में ही बसने की जिद करने वाले विस्थापितों को गुजरात के बराबर ही सुविधाऐं दे देते हैं तो वे लोग गुजरात जाने की सोचेंगे ही नहीं· वे लोग गुजरात की सुविधाओं के साथ नर्मदा ट्रिब्यूनल के फैसले के मुताबिक अपने राज्य मे ही बसने का हक माँगने लगेंगे· इसके अलावा अभी यह भी तो तय नहीं है कि क्या गुजरात सरकार महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में बसने वाले विस्थापितों का पूरा वित्तीय भार वहन करेगी· इसलिये ये राज्य अपने राज्य के असरग्रस्तों को गुजरात में जाकर बसने के लिये प्रोत्साहन न खतम हो जाय, गुजरात राज्य के बराबर सुविधाओं का वायदा नहीं कर रहे हैं·

18.37 राज्य और नीति के स्तर पर इस तरह की बातें थोड़ी सी अटपटी लगती हैं और फिर बात लौटकर वहीं आ जाती है कि क्या हमारी व्यवस्था लोगों के साथ और उनकी समस्याओं को समझने और उन्हें सुलझाने में विश्वास करती है ? या वे जैसे-कैसे भी हो सके नियम का पेट भरने के लिये कुछ कार्रवाई करके अपनी जिम्मेदारी निभ गई, यही मानते हैं ? **राज्य सरकारें इन मामलों में जिस तरह से चल रही हैं उससे यही साफ है कि औपचारिकता किसी तरह से पूरी हो जाय और बस·**

<u>अभी तक का अनुभव</u>

18.38 सरदार सरोवर के लिये विस्थापन की प्रक्रिया 1960-61 में केवडिया और उसके आसपास के 6 गावों की जमीनों के अधिग्रहण से शुरू हो गई थी परन्तु पुनर्वास के काम की शुरुआत लगभग बीस सालबाद 1979-80 में गुजरात में हुई है। अभी तक बीस्तयाँ बसाई गई हैं· पुनर्वास की नीति और सुविधाओं के बारे में शुरू से ही लोग अपनी माँगें पेश करते रहे हैं· राज्य सरकारें भी समय-समय पर कुछ फैसले करती रही हैं· इसलिये अब तक की स्थिति यही हैं कि सरदार सरोवर से विस्थापितों को मुआवजा, पुनर्वास अनुदान तथा दूसरी सुविधाएँ एक जैसी नहीं मिली है· जिस समय जो विस्थापित माना गया या हुआ उस समय के सरकारी नियमों के मुताबिक ही उन्हें लाभ दिया जाता रहा है·

18.39 केवडिया के छः गाँव के लोगों के साथ अन्याय की चर्चा हम पहले कर ही चुके हैं· उन्हें शुरू में 50 रु० से 250 रु० प्रति एकड़ मुआवजा मिलने के बाद कुछ नहीं मिला है· उसके बाद नर्मदा जल विवाद प्राधिकरण के पंच फैसले §1984§ के बाद से पुनर्वास की नीति तो मान ली गई, परन्तु पुनर्वास के लिये राज्यों के द्वारा मुख्य कार्यक्रमों में कई तरह के परिवर्तन होते रहे हैं· 1985 तक तो गुजरात सरकार जमीन न होने की वजह से पंच फैसले या विश्व बैंक के करार के मुताबिक पुनर्वास नहीं हो पायेगा यही भूमिका लेती रही· परन्तु 1985 के बाद कुछ ऊपर और नीचे के दबाव के कारण उस मामले में स्पष्टता आती गई और पुनर्वास की शर्तें सुधरती गईं·

18.40 सबसे पहला मसला तो स्वयं गुजरात के 19 गांवों में विस्थापितों के लिये पुनर्वास की सुविधाओं का था, जिनको अपनी जगह से हटाकर दूसरी जगह बसाने के काम शुरू भी हो गया था· गुजरात सरकार उनके लिये "जमीन के लिये जमीन" का उसूल मानने के लिये ही नहीं तैयार थी, क्योंकि पंच फैसले के मुताबिक वह उसूल सिर्फ महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश से आने वालों के लिये लागू होता

था· इसलिए गुजरात के विस्थापित बेबसी में अपनी जगह से हट जरूर रहे थे परन्तु उनमें भारी असंतोष बना रहा· आखिरकार नवम्बर 1985 में सरकार ने सिद्धांत रूप से यह माना कि गुजरात के विस्थापितों को भी दूसरे राज्यों से आने वाले विस्थापितों के बराबर सुविधा दी जाएगी·

18.41 दूसरा सवाल उन लोगों का था जिनके नाम जमीन थी· पंच फैसले के अनुसार मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के भूमिधारी विस्थापितों को सरदार सरोवर के लाभ क्षेत्र में जमीन पाने का अधिकार था· जमीन वालों की पात्रता की समस्याओं के बारे मे हम चर्चा कर ही चुके हैं· परन्तु अनधिकृत कब्जेदारों के बारे में भी नीति बदलती रही है· 1985 में सरकार ने अनाधिकृत कब्जेदार को कम से कम तीन एकड़ और अधिक से अधिक 5 एकड़ जमीन देने का फैसला किया· इसके बाद 1987मेंउनके लिए भी कम से कम 2 हेक्टेयर जमीन देने का उसूल मान लिया गया· जहाँ तक भूमिहीनों का सवाल है पहले तो उन्हें कोई पात्रता ही नहीं थी· फिर उनको एक एकड़ और अब कम से कम दो एकड़ की नीति मानी गई है· इस तरह आज की नीति के मुताबिक गुजरात में सभी असरग्रस्तों को कम से कम 2 हेक्टेयर जमीन मिलना है· परन्तु फिर भी या तो लोगों को उस समय के प्रचलित नियमों के अनुसार जमीन मिल जाने के बाद उनके लिये अधिक जमीन देने की आगे व्यवस्था ही नहीं की गई या शुरू में ही भूमि उपलब्ध न होने के कारण उन्हें कम जमीन मिल पाई· बताया जाता है कि मौके पर हर परिवार को दो हेक्टेयर की बजाय औसतन एक हेक्टेयर से कम जमीन मिली है·

18.42 इसी तरह से जमीन के बदले जमीन देने के बारे मे शर्तें भी बदलती रही है· यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि **असरग्रस्तों के लिये सिंचाई योग्य जमीन की व्यवस्था होनी थी परन्तु सिंचाई योग्य का क्या मतलब है यह अभी भी स्पष्ट नहीं है· कुछ बसाहतों में लोगों को जंगल साफ करके सरकारी जमीन दी गई· परन्तु उनके मामले में आज तक यही साफ नहीं है कि उस जमीन की उनसे कितनी कीमत ली जाएगी· जहाँ उनकी अच्छी जमीन का मुआवजा दो से चार हजार एकड़ से कम मिला है, इस नौतोड़ की कीमत दस हजार तक बनाई जा रही है, जिससे लोग चिन्तित हैं· जमीन देने की नीति में एक और विरोधाभास भी आ गया है· यदि किसी व्यक्ति को पुनर्वास के लिये निजी जमीन मिलती है तो उस जमीन की खरीदी के लिये मुआवजे के ऊपर जो भी पैसा लगेगा वह अनुदान के रूप में मिलेगा·** परन्तु सरकारी जमीन मिलने पर जिसमें सरकार का कुछ नहीं लगा, उसकी कीमत लगाई जाएगी और वह कीमत सरकारी कर्ज मानी जाएगी - बिना ब्याज का ही सही, पर कर्ज कर्ज ही है·

समाज के रूप में पुनर्वास

18.43 पंच-फैसले में आदिवासी समाज की स्थिति को देखते हुए यह खासतौर पर निर्देशित किया गया था कि आदिवासियों के मामले में यह एहतियात बरता जाय कि विस्थापन के दौर में उनका समाज न टूटे और समाज के रूप में ही उनके लिये दूसरी जगह बसने की व्यवस्था की जायेगी· इस तरह की आदर्श बसाहतों के लिए प्रयोग के रूप में गुजरात सरकार ने दो स्थानों की तजबीज की थी - मध्यप्रदेश के विस्थापितों के लिए **गुटाल** और महाराष्ट्र के विस्थापितों के लिए **परवेठा**· गुटाल में तो काफी कोशिशों के बाद भी मध्यप्रदेश से लोग अभी तक आये ही नही हैं· परवेठा की स्थिति के भी खास अच्छी नहीं है जिसके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे· परन्तु शुरू में **इस दौर में भी जिस समय राज्य सरकार असरग्रस्तों की समस्याओं के प्रति उतनी सजग है लोगों का समाज के रूप में पुनर्वास संभव नहीं हो पा रहा है·** उदाहरण के लिए कहते हैं कि नवागाँव के जहाँ पर की बांध बन रहा है, 82

परिवारों को 9 अलग-अलग जगहों पर जमीनें मिली हैं· कई स्थानों पर लोग शुरू में इस उम्मीद के साथ जाकर बसे थे कि उनके साथी बाद मे वहाँ आकर उनसे जुड़ जाएँगे· परन्तु उन्हें निराशा ही हाथ आई है· इन स्थानों पर अधिक जमीनें नहीं होने के कारण लोगों को दूसरी जगह छोटे-छोटे समूहों में बसने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है·

18.44 इसी समस्या का एक दूसरा पहलू भी है - डूब में आने वाले किसी गांव में बचे लोगों की समाज के रूप में बने रहने की संभावना· कई गांवो में जिन लोगों के घर या जमीनें डूब में नहीं आई हैं और नियमों के अनुसार उन्हें असरग्रस्त नहीं माना गया, बचे हुए लोग बड़े असमंजस में है· पूरा गांव चला गया तो फिर दो-चार घर सुदूर पहाड़ी-जंगली इलाकों मे कैसे बने रहें ? कई जगह तो बचे हुए लोगों को बिना किसी मुआवजा या पुनर्वास की सुविधा के ही वहाँ से चले जाने के लिये मजबूर होना पड़ा है· उदाहरण के लिये पंचमूली गांव में ऐसे 16 परिवार छूट गये हैं, जैर मे 6 · सवाल संख्या का नहीं है सिद्धांतों का है· इस मामले को मैंने भी अपने स्तर पर उठाया था परन्तु तीन साल से पूरा आश्वासन मिलने के बाद भी इस सामाजिक समस्या का कोइ हल नहीं निकल पाया है·

18.45 इस तरह यह स्पष्ट है कि पुनर्वास के बारे में समय-समय पर नीतियों की घोषणा के बावजूद बहुत सी बातों पर अभी भी निर्णय लेना बाकी है· कई मामलों में निर्णय ठीक होने के बाद भी उनका क्रियान्वयन आधा-अधूरा रह जाता है· लगता है कि व्यवहार में लोगों की समस्याओं को सुलझाने और उनके कल्याण की भावना के बजाय औपचारिकता पर अधिक जोर है· **विस्थापन के संक्रमण काल में आमतौर पर साधारण व्यक्ति भी भारी मानसिक तनाव की स्थिति में रहता है· उस हालत में थोड़ा सा भी उलट-फेर होने और वायदा-फरोशी होने में उसका विश्वास ढह जाता है और वह अपने भविष्य की चिंता में डूब जाता है· अनजान परिवेश में उसके लिये अकेले-दुकेले रहना असंभव हो जाता है और सभी कार्यक्रमों, परियोजनाओं और वायदों से मुँह फेर कर वह अपने जाने माने परिवेश की उष्मा में फिर से पहुँच जाने के लिये विकल हो जाता है - और फिर वह सब कुछ पीछे छोड़कर उसी दिशा में चल देता है, बिना पीछे निहारे ·**

जीवन के स्तरों की तुलना - कितनी अर्थपूर्ण

18.46 पुनर्वास की नीति के अतर्गत कार्यक्रम या सुविधाएँ कुछ भी क्यों न हो, परन्तु अंत में उस सबकी सफलता या असफलता की कसौटी तो विस्थापन के बाद लोगों की हालत ही हो सकती है· विश्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें भी पुनर्वास के बाद लोगों की हालत पहले से अच्छी हो, सिद्धांत रूप से मानती हैं और कहने को उसके लिये प्रयत्नशील भी हैं· उनकी हालत पर नजर रखने और यह सुनिश्चित करने के लिये कि उनकी हालत पहले से अच्छी है कुछ संस्थाओं को जिम्मेदारी भी सौंपी गई है·

18.47 परन्तु यहाँ एक बड़ा बुनियादी सवाल आ जाता है कि विस्थापन के पहले और बाद की हालतों की तुलना कैसे की जाय ? विद्वान अर्थशास्त्री आधुनिक व्यवस्था से वाकिफ हैं और उसी के मुताबिक उनके अध्ययन और विश्लेषण के लिये मानक और कसौटियां भी बनी हैं· उनके अध्ययनों मे बहुतकर जिंदगी के सभी पहलुओ का मान स्थयों में ही आंका जाता है· परन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं खुले मैदान में आम के झुरमुट के पास बनी फूस की झोपड़ी का किसी गांव से दूर नाले के किनारे ईंट-गारे के बने दड़बों से तुलना करने के लिये कौन सा हिसाब लगाया जा सकता है ? आदिवासी की

जिंदगी की अधिकतर बातें बाजार की व्यवस्था के बाहर हैं, उन्हे रुपयों मे आंका ही नहीं जा सकता है· इसलिये विस्थापन के पहले और विस्थापन के बाद भी स्थिति अतुलनीय है·

18.48 जब आदिवासी लोग अपने इलाके से निकल कर दूसरी जगह जाकर बसते हैं तो उनके लिये सबसे बड़ा अंतर प्राकृतिक संसाधनों से कट जाने का होता है· यह अंतर हमारी व्यवस्था की समझ में ही नहीं आ पाता है· हम पहले देख चुके है कि आदिवासी की अर्थव्यवस्था तीन स्तरों (पृष्ठ 71) की होती है· जमीन से तो उसका एक-तिहाई या एक चौथाई काम ही चलता है· परंतु नई व्यवस्था उसी को सब कुछ मान बैठती है और उसी के बारे में हिसाब लगाकर उसकी स्थिति के बारे में अपना फैसला दे देती है· अब तक का अनुभव यही रहा है कि नई जगह आते ही सबसे पहले तो उसे जंगल से जो खाने पीने को मिलती थी उनका मिलना बंद हो जाता है· इसका उनके स्वास्थ्य पर भारी कुप्रभाव पड़ता है· दूसरे जानवर, जो उसकी एकमात्र पूँजी हैं, खतम होते जाते हैं· नये गांवों में कहीं-कहीं उसके पास कहने को भी जानवर नहीं बच पाते हैं· धीरे-धीरे वह पूरी तरह से खेती और मजदूरी पर आश्रित हो जाता है· यह व्यवस्था इतनी अस्थिर होती है खास तौर से प्रारंभिक समय में कि वह उसका जोखिम नहीं झेल पाता है· इस कारण साधारण कामकाज के लिये भी उसे पूँजी में से खर्च करना पड़ जाता है और धीरे-धीरे मुआवजे की पूरी पूँजी खुर्द-बुर्द हो जाती है और वह बेसहारा होकर भटकने के लिये मजबूर हो जाता हैं· ये तथ्य अक्सर अर्थ-शास्त्रियों के अध्ययनों में अनदेखे रह जाते हैं·

परवेठा की हालत

18.49 इन बुनियादी असमर्थताओं के बावजूद सरकारों ने अध्ययन के लिये संस्थाओं को नामजद किया है· उनके द्वारा प्रस्तुत आर्थिक आंकड़े कितने विश्वसनीय होंगे और उनका क्या उपयोग हो सकता है यह तो समय ही बताएगा· परन्तु टाटा समाज विज्ञान संस्थान, बम्बई के महाराष्ट्र से आने वाले विस्थापितों, जिन्हें परवेठा गॉव में बसाया गया है की हालत के अध्ययन से कुछ चौंकाने वाले तथ्य सामने आये जो लोगों की वर्तमान असंतोषजनक स्थिति की ओर इशारा करते हैं· अन्य बातों के अलावा इस अध्ययन से यह पता चला कि पुनर्वास के बाद इन लोगों मे बच्चों की मृत्युदर मे भारी बढ़ोत्तरी हुई है· इस हालत में उस समाज की जनसंख्या का आज के स्तर पर बने रहना भी कठिन है· सभी तरह की अच्छी बुरी बातों की अंतिम कसौटी तो समाज की बने रहने की ताकत ही हो सकती है· अगर किसी समाज के लिये बने रहना भी संभव न हो तो किसी भी कार्यक्रम के दूसरे लाभ कुछ भी क्यों न बताए जाँय उनका कोई अर्थ नहीं·

18.50 इस गांव में जिसे आदर्श बसाहत के रूप में बसाने का प्रयास किया गया था भारी असंतोष है· जमीन मिली आधी अधूरी, कुछ लोग पीछे रह गये हैं उनको जमीन मिलेगी या नहीं यही तय नहीं है· जो आ गए हैं उन्हें जमीन के पट्टे कब तक मिलेंगे कोई नहीं कह सकता· जानवरों के लिये चराने की जगह नहीं, उनमें से आधे तो खतम हो चुके हैं· ऐसी हालत में इन लोगों के मन में बार-बार यही घुमड़ता है कि "काश, वे अपने गाँव से चल कर यहाँ नहीं आये होते·"

खुले अध्ययनों की अनिवार्यता

18.51 पुनर्वास के बाद की यह स्थिति तो खेदजनक है ही, पर इससे भी खेदजनक है संस्थान के इस अध्ययन के बारे में सरकारी प्रतिक्रिया· बजाय इसके कि इस गंभीर स्थिति के कारणों की तह में जाने की कोशिश की जाती· सरकार उस अध्ययन की औपचारिकता में उलझ गई· सबसे बड़ा सवाल लोगों

की हालत का नहीं था वरन् उनकी हालत का बयान अखबारों में कैसे आ गया, इस पर गंभीर विचार होने लगा·

18.52 दुर्भाग्य से गरीब की हालत के बारे में जब भी कोई ऐसी अप्रिय बात आती है, सब दूर प्रतिक्रिया एक जैसी होती है· वैसे तो समाजशास्त्रीय अध्ययनों से मनमर्जी नतीजे ही मिले इसीलिये जी तोड़ कोशिश की जाती है· यह खेद का विषय है कि कई संस्थाएँ उनकी इच्छा के मुताबिक काम कर भी देती है· इस मामले में जब राज्य सरकार ने इस बात पर आपत्ति उठाई कि ये नतीजे बाहर मालूम कैसे हुए तो टाटा संस्थान ने इसका उत्तर एक बुनियादी सवाल उठाकर दिया· क्या जिन लोगों के बारे में अध्ययन किया जा रहा है उनको यह भी हक नहीं है कि वे उन अध्ययनों के नतीजों को जानें ? इस पर सरकारी प्रतिक्रिया बिलकुल ही असंगत थी· उनके मुताबिक आदिवासी अनपढ़ है, वह तो उनको समझ नही सकेंगे, इसलिये उन्हें उन रिपोर्टों को बताने की जरूरत ही क्या है ? कैसी विडम्बना है कि अगर आदिवासी अनपढ़ नहीं होते तो उनको अधिकार होता यह जानने का कि उनके साथ क्या हो रहा है· अनपढ़ होने पर उनके साथ कुछ भी होता रहे, यह वे जान भी नहीं सकते·

8.53 सवाल फिर नजरिये का है· **जब आदिवासी अनजान है, अनपढ़ है तो इस हालत में क्या सरकार का यह फर्ज नहीं है कि वह न केवल अध्ययन के नतीजे जैसे हैं वैसे उन्हें बताये वरन् उसके साथ पढ़े लिखे होने की वजह से यह भी प्रबंध करे कि वे नतीजे चाहे कैसें भी कड़ुवे क्यों न हों, उनको समझाए जाँय ? इस मामले पर जब मैंने आपत्ति उठाई तो राज्य सरकार ने टाटा संस्थान के साथ किए हुए इकरार का हवाला देते हुए कहा कि उसमें गोपनीयता की शर्त थी जिसका उल्लंघन हुआ है·** बात फिर वहीं आ जाती है - **सरकार को हालत की नजाकत का ख्याल नहीं, लोगों की समस्याओं की परवाह नहीं, उसूलन क्या सही है इसकी चिंता नहीं और लोगों के प्रति सरकार की क्या जिम्मेदारी है, वह भी संवियानिक जिम्मेदारी उसका ख्याल नहीं, ख्याल है अनुबंध का· जहाँ पर लोगों की जिंदगी का सवाल हो वहाँ पर कैसे गोपनीयता और औपचारिकताओं की आड़ में लोगों की जिंदगी के साथ खिलावाड़ नहीं किया जाएगा और जो भी तथ्य, जैसे भी हैं वे सबको मालूम होंगे यह सुनिश्चित किया जाएगा·**

18.54 **मेरे द्वारा आपत्ति उठाने के बावजूद सरकार टाटा संस्थान का इकरार नामा खतम करने पर आमादा थी· परन्तु सुना है कि इस तकरार की भनक विश्व बैंक को भी लग गई और वह इकरारनामा खतम नहीं हुआ· मुझे इस मामले में आगे कोई जानकारी देने की राज्य सरकार ने नहीं सोचा· किसकी बात का कितना वजन ? देश के एक चौथाई नागरिकों के अधिकारों से संबंधित संवियानिक अधिकारों का या दो पैसा कर्ज देने वाले एक व्यापारिक संस्थान का ? विश्व बैंक का क्या आज है, कल नहीं है, बाहरी संस्था होने के नाते उसकी अपनी सीमाएँ हैं, घेरे भी हैं· वह आज एक मत दे सकता है तो कल को उसे बदला भी जा सकता है· परन्तु संवियान की व्यवस्था तो अपनी है, अपनी आंतरिक संगतता के हित में वास्तव में यहाँ सवाल संस्थाओं की प्रतिष्ठा का नहीं, राष्ट्रीयमूल्यों का है·**

<u>पुनर्वास के लिए जमीन मिलने का सवाल</u>

18.55 पुनर्वास की नीति और उसके लिये आज तक की गई कार्रवाई को देखते हुए आखीर में दो बड़े सवालों के बारे मे सफाई जरूर है §1§ क्या सभी विस्थापितों को बसाने के लिए जितनी जमीन चाहिये उतनी जमीन मिल सकती है ? §2§ क्या आदिवासियों को नई जगह समाज के रूप में बसने का मौका मिल सकेगा ?

18.56 पुनर्वास के लिये जमीन के बदले जमीन का उसूल मान लेने के बाद सभी राज्यों में जमीन की तलाश शुरू हुई· पहले तो यह कार्रवाई, आम तौर पर सरकार में जैसा होता है, बिलकुल नेमी तौर पर हुई· जैसा मैं पहले कह चुका हूं अभी तक यह तय नहीं हो पाया हैं कि तीनों राज्यों में पुनर्वास के लिये कितनी जमीन की जरूरत होगी· कारण - न उसके बारे में नीति अंतिम रूप से अभी तय हो पाई है और न कितने विस्थापित होंगे उसके आंकड़े ही अभी तक उपलब्ध हैं· इसलिये भूमि संबंधी सभी तरह की कार्रवाई का आधार अभी तक संभावना और अटकलें ही रहे हैं·

18.57 इस मामले में हर राज्य की मान्यताएँ और रवैया अलग-अलग रहा है· महाराष्ट्र के अधिकांश लोग शुरू से ही गुजरात जाने के लिये अनिच्छुक थे· इसलिये महाराष्ट्र सरकार में उनके पुनर्वास के लिये राज्य में ही व्यवस्था करने की तजबीज होती रही है· परन्तु राज्य सरकार का विस्थापितों की संख्या के बारे में अनुमान घटता-बढ़ता रहा है - 1358 से लेकर 2035 और उनके लिये लगभग 2500 से 3500 हेक्टेयर जमीन की जरूरत आंकी गई है· ये आंकड़े कितने सही है किसी को नहीं मालुम· महाराष्ट्र को शुरू से ही जंगल की जमीन का भरोसा था· वही आदिवासियों की मांग भी थी· वन संरक्षण अधिनियम 1980 के लागू हो जाने के बाद किये गये विश्व बैंक के इकरार में भी यह शर्त मंजूर की गई थी कि अगर जरूरत हुई तो पुनर्वास के लिये सरकार आरक्षित वनों में से भी खेती के लिए जमीन दे देगी·

18.58 गुजरात की दूसरे राज्यों से आने वाले विस्थापितों के लिये भूमि की व्यवस्था की जिम्मेदारी होने के कारण अंत में कितनी जमीन चाहिये उसका कोई अंदाज नहीं था· उनके अपने राज्य के विस्थापितों के बारे में भी अनुमानित आंकड़े बदलते रहे हैं - कम से कम 1992 और अधिक से अधिक 3300· परन्तु फिर भी इस सबके बावजूद शुरू में सभी संभावित जरूरतें पूरी करने के बारे में सरकार का पूरा-पूरा भरोसा सरकारी जमीन पर ही था· उसी के आंकड़े ट्राइबुनल के सामने पेश किए गए प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार 40,000 एकड़ सरकारी जमीन मिल सकने की संभावना थी· इसलिये सभी दूर उपलब्ध जमीनों की लिस्टें बनवाई गई· इसके बाद दूसरे नम्बर पर भूमि सीमा अधिनियम से निकली जमीन थी जिसके बारे में भी अनुमान था कि लगभग 40,000 एकड़ तक जमीन मिल जाएगी· इसलिये इन जमीनों को भूमिहीनों मे न बांट कर पुनर्वास के लिए रख छोड़ने का फैसला किया· इसके अलावा लगभग 12,000 एकड़ पड़ती जमीन को सुधार कर बांटने की सोची गई· इसके बाद अगर और जमीन की जरूरत पड़े तो उसे निजी लोगो से खरीदा जा सकता था·

18.59 मध्यप्रदेश सरकार ने इस मामले में कोई विस्तृत ब्यौरा तैयार करने की जरूरत ही नहीं समझी· परन्तु उनका शुरू में सोच यही रहा था कि पहले तो पुनर्वास उनकी जिम्मेदारी ही नहीं है, लोगो को गुजरात भेज देंगे· दूसरे फिर जहाँ तक हो सकेगा पुनर्वास के लिए जमीन वन क्षेत्र, सरकारी पड़ती भूमि, भूमि-सीमा से निकली जमीन निकाली जा सकेगी· इसके अलावा, मध्यप्रदेश के कानून के मुताबिक सिंचाई परियोजनाओं के लाभ क्षेत्र के लोगों से पुनर्वास के लिए भूमि ली जा सकती है· और उसमें यह जरूरी नहीं है कि लाभ क्षेत्र की भूमि उसी परियोजना के विस्थापितों को दी जाय· इसलिये दूसरी सिंचाई परियोजनाओं के लाभ क्षेत्र से जमीन निकाल कर सरदार सरोवर के विस्थापितों को बांटने का सोच रहा है· इन सबके बाद फिर भी और जमीन की जरूरत हुई तो निजी जमीन खरीद कर दी जा सकती थी· परन्तु मध्यप्रदेश में यह सभी बातें नीति और सिद्धात के स्तर पर ही बनी रहीं क्योंकि उन्हें यही नहीं मालूम हो पाया है और न इसका कोई अनुमान ही है कि सरकार को पुनर्वास के लिये कितनी जमीन की जरूरत होगी, कितने लोग गुजरात जाएँगे और कितने लोग अपने आप व्यवस्था करना चाहेंगे·

18.60 गुजरात और महाराष्ट्र में कागज पर इस तरह मिल सकने वाली जमीन का हिसाब-किताब कर लेने के बाद अगला सवाल था उस जमीन को मौके पर देखने का और उन जमीनों पर जिन लोगों को बसने की तजबीज की जा रही थी उनको दिखाने का· जब मौके पर जमीन देखने की बात शुरू हुई तो गुजरात के कागज में बताई गई अधिकतर जमीन या तो वन विभाग के या दूसरे लोगों के कब्जे में पाइ गई या वह खेती के लायक ही नहीं निकली· भूमि सीमा से जो जमीन मिल सकती थी उसका भी कोई खास मतलब नहीं निकला· एक तो यह जमीन छुट-पुट टुकड़ों में ही मिल सकती थी· दूसरे, उस जमीन पर ऐसे भूमिहीनों का पहला हक था जो उसे पहले से जोत रहे थे या जो उसी गांव मे पहले से रह रहे थे· हाल ही में केन्द्रीय सरकार ने भूमि सीमा से निकली जमीन को विस्थापितों के लिए अलग रखने की राज्य सरकारों की तजबीज को गलत करार दिया है· **इस तरह गुजरात में पुनर्वास के लिए सरकारी जमीन मिलने की पहली योजना खतम हो गई·**

18.61 उधर महाराष्ट्र सरकार की जंगल-जमीन देने की बात केन्द्रीय सरकार ने नहीं मानी· परन्तु इस बीच उन्हीं वनों मे खेती के लायक अच्छी जमीन पर बहुत करके दूसरे लोगों ने कब्जा कर लिया· इसके अलावा उन वनों के आसपास रहने वालों की अपनी आजीविका का सवाल भी पेश किया जा रहा है· इन तथ्यों के बावजूद महाराष्ट्र सरकार केन्द्र सरकार से वन भूमि देने का आग्रह कर रही है· केन्द्रीय सरकार एक तो उसूलन वन-भूमि को पुनर्वास के लिये देने को तैयार नहीं है· वैसे देखने में महाराष्ट्र की जरूरत बहुत कम है परन्तु एक बार यदि सरकार ने अपवाद किया तो किस-किस को मना कर सकेगें· इस तरह मामला बहुत उलझा हुआ है· **इस समय की वास्तविकता यही है कि विस्थापित लोगों के महाराष्ट्र में वन की जमीन पर बसाने की बात एक तरह से जुड़ से ही खत्म हो गई·**

18.62 मध्यप्रदेश में अभी जमीन को लेकर कोई खास कार्रवाई ही नहीं शुरू हुई· परन्तु मैदानी हालात गुजरात और महाराष्ट्र जैसे ही हैं· जहाँ भी खेती योग्य सरकारी जमीन बताई जाती है वह पहले से ही किसी न किसी के कब्जे में है· भूमिसीमा की फालिल जमीन का भी वही हाल है· कहीं-कहीं जैसे होशंगाबाद में तो कुछ जमीन तवा और प्रूफरेज के विस्थापितों के कब्जे में है· और फिर मध्यप्रदेश में वैसे भी विस्थापन की विकराल समस्या है· सभी दूर परियोजनाओं से प्रभावित लोग मारे-मारे घूम रहे है और जहाँ जमीन पा रहे हैं कानून की परवाह किये बिना कब्जा कर रहे है· **ऐसी हालत में सरकारी और जंगल की जमीन का कोई भरोसा नहीं· सरकार की अभी कोशिश यही है कि जहाँ तक हो सके यह जिम्मेदारी गुजरात संभाल ले· अगर लोग गुजरात नहीं जाते हैं या गुजरात में जमीन नहीं मिलती है तो उनका ख्याल है कि वे भी निजी जमीन खरीद कर लोगों को बसाने की तजबीज कर सकते हैं·**

पुनर्वास के लिए निजी भूमि का अधिग्रहण

18.63 यदि असरग्रस्तों के पुनर्वास के लिए सरकारी जमीन नहीं मिलती है तो अगला सवाल यह है कि क्या जिस तरह से बांध बनाने के लिए निजी जमीन ली जाती है, उसी तरह से बांध से विस्थापितों को बसाने के लिए भूमि का अधिग्रहण किया जा सकता है ? अगर बांध बनाना लोकहित में है तो क्या बांध से उजड़ने वाले लोगों को बसाना भी स्वयमेव लोकहित में नहीं माना जा सकता है ? महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में परियोजनाओं से प्रभावित लोगों के पुनर्वास के लिए परियोजना के लाभ क्षेत्र में आने वाली जमीन में से जमीन लेने के लिये अभी भी कानूनी प्रावधान है· परन्तु इस कानूनी व्यवस्था का व्यवहार मे दायरा कदाचित सीमित ही है· इस कानून के मुताबिक लाभ-क्षेत्र में आने वाले लोगों से उनकी जमीन के मान के आधार पर एक पैमाने के अनुसार जमीन ली जा सकती है· कौन सी जमीन वह

देगा यह उसकी इच्छा पर निर्भर होगा· इस तरह उम्मीद की जाती है कि असरग्रस्तों के लिये पुनर्वास की पूरी व्यवस्था परियोजना के भीतर की जा सकेगी·

18.64 यदि हम इस कानून पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो स्पष्ट होगा कि इस कानूनी व्यवस्था के अंतर्गत सिर्फ छोटी-छोटी परियोजनाओं के असरग्रस्तों की समस्याओं का ही हल हो सकता है· छोटी परियोजनाओं में विस्थापितों और लाभक्षेत्र के लोगों की स्थिति लगभग एक जैसी ही होती है· इसलिये जिन लोगों की जमीन ली जाती है उनको उसी इलाके की लाभान्वित जमीन मे हिस्सा मिल जाने पर फिर से आश्वस्त होकर अपनी जिंदगी चलाने का आधार बन सकता है· **लगता है कि इस कानूनी व्यवस्था बनाने में बड़ी परियोजनाओं की बिलकुल अलग स्थिति की कल्पना ही नहीं की गई है· इन योजनाओं में दूर-दूर के इलाके के गांवों के गांवों को अपनी जगहों से हटकर नई जगहों पर बसने की मजबूरी होती है· अगर इन लोगों को समाज के रूप में फिर स्थापित होना है तो उनके लिए एक चक इकजाई जमीनों की जरूरत होगी· यह तभी हो सकता है कि जब लाभक्षेत्र की पूरी जमीन का फिर से बटवारा किया जाय और विस्थापितों के बसने के लिए बड़े-बड़े चक निकाले जायँ· इसके लिए एक बिल्कुल ही नये कानून की जरूरत होगी·**

18.65 परन्तु जैसा हम तीन राज्यों के सीमित संदर्भ में चर्चा कर रहे थे· सामान्य कानून के अंतर्गत भी पुनर्वास के लिए जमीन का अधिग्रहण किया जा सकता है· इस संबध में महाराष्ट्र में एक सोच उभरा भी था कि सरदार सरोवर के विस्थापितों के लिये, जो कि सभी धुलिया जिले के ही निवासी हैं, क्यो न धुलिया जिले में ही बड़े किसानों से जमीन लेकर कर बसाने की व्यवस्था की जाय· इस प्रस्ताव की भनक फैलते ही बड़े किसानों ने, जो कि अधिक समझदार हैं और राजनीतिक दृष्टि से ताकतवर भी है, उसका विरोध किया और उसके खिलाफ मोर्चा भी निकाला· इस प्रतिरोध को देखते ही सरकार ने उस प्रस्ताव से इस तरह मुँह फिरा लिया मानों जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो· **साफ है कि सरकार पुनर्वास के लिए दूसरे लोगों को नाखुश करने के लिए तैयार नहीं है·**

18.66 मध्यप्रदेश में तो अभी कानून बन जाने पर भी परियोजनाओं के लाभक्षेत्र में से जमीन लेने बाटने की बात भी कुछ आगे नही बढ़ी है· हाँ बताते है कि नर्मदा परियोजनाओं के संदर्भ में प्रदेश के सभी सिंचाई पारयोजनाओं के लाभक्षेत्र में भूमि हस्तांतरण पर पाबंदी लगा दी गई है जिससे कि जरूरत पड़ने पर वहाँ के लोगों से जमीनें खरीदी जा सकें· परन्तु उसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि अभी तक मध्यप्रदेश में लाभक्षेत्र में से जमीन लेकर विस्थापितों को जमीन देने वाला कानून सभी चालू परियोजनाओं के लिए भी लागू नहीं किया गया है· इस हालत में व्यापक सामाजिक न्याय के संदर्भ में लाभक्षेत्र के बाहर भूमि को अधिग्रहण कर विस्थापितों को बसाने की बात तो अभी सोची ही नहीं जा सकती है· गुजरात में भी इस तरह का न कोई प्रस्ताव है और न इस संभावना पर कोई चर्चा ही है·

पुनर्वास के लिए निजी जमीन की खरीदी

18.67 उम्मर की स्थिति से ऐसा लगता है कि अगर जमीन के बदले जमीन के उसूल के मुताबिक पुनर्वास किया जाना है तो सरकारों के सामने फिलहाल कोई विकल्प नहीं है· आखिर मे उन्हे निजी जमीन की ही बात सोचनी होगी· इसलिये इस नीति की सामाजिक-आर्थिक परिणति क्या होगी और उसकी संभावना कितनी यथार्थ है इन पहलुओं पर विचार करना जरूरी है· निजी जमीन खरीद कर विस्थापितों को बसाने की बात ने गुजरात में पिछले दो साल में कुछ तेजी पकड़ी है· गुजरात की योजना के मुताबिक पुनर्वास के लिए सरकार की ओर से जमीन न मिलने पर असरग्रस्त लोग अपने लिये

खुद जमीन ढूंढ सकते हैं और अगर जमीन पसन्द आ जाय तो वे उसे खुद ही खरीद सकते हैं· इस जमीन को खरीदने के लिये मुआवजे से ज्यादा जो भी दाम पड़ेगा उसकी सरकार अनुदान के रूप मे भरपाई करेगी· इस पूरी कार्रवाई में सरकार लोगों की अपनी ओर से भी जरूरी मदद कर रही है·

18.68 गुजरात सरकार ने लोगों की मदद के लिये कमेटियां बनाई हैं· सरकारी प्रक्रिया के मुताबिक यह मालूम पड़ने पर कि कहीं पर लोग जमीन बेचने को तैयार हैं यह कमेटी उस जमीन का मुआयना करती है· यदि जमीन उपयुक्त पाई जाती है और उसकी खरीदी की मोटेतौर पर संभावना नजर आती है तो उस जमीन को जो लोग उस इलाके मे बसने के लिए तैयार हों, उन्हें दिखाया जाता है उनकी ओर से उस जमीन को पसंद कर खरीदने में आम सहमति हो जाने के बाद कमेटी उस जमीन का मोल-भाव करती है· भाव तय होने पर खरीदने का वायदा हो जाता है· आखीर में जमीन की औपचारिक खरीदी की कार्रवाई जमीन के मालिक और विस्थापित के बीच होती है और विस्थापितों के नाम पर लिखा-पढ़ी हो जाती है· इस योजना में अभी तक लगभग तीन हजार एकड़ निजी जमीन खरीदी जा चुकी है और लगभग 300 लोग नई जगह जाकर बस गए हैं·

18.69 मध्यप्रदेश में निजी जमीनों की खरीद के मामले में क्या नीति और प्रक्रिया अपनाई जायेगी, इसके बारे में अभी विचार चल रहा है, अंतिम फैसला नहीं हुआ है· महाराष्ट्र मे भी अगर वहाँ के कुछ विस्थापित महाराष्ट्र में बसना चाहें तो जमीन उन्हे किस तरह और कहाँ से दिलाई जाएगी इसके बारे में स्थिति साफ नहीं है· गुजरात सरकार का कहना है कि जो लोग भी गुजरात में आना चाहेंगें उनको निजी जमीन खरीद कर बसाने का वे पूरा इंतजाम करेंगे·

18.70 अगर निजी जमीन को खरीद कर बसाने की बात गुजरात की ओर से देखें तो हालत बिल्कुल साफ सुथरी है - जो गुजरात आकर बसने के लिए तैयार हो उसको कहीं न कहीं जमीन खरीद कर दे दी जाएगी, जमीन उपलब्ध है, लोग जमीन बेचने के लिये राजी है और सरकार बसने वालों को पूरी मदद करने को तैयार है· इसमें ऐसा लगता है कि जैसे पुनर्वास की समस्या आखिरकार हल हो ही गई· मैंने नवम्बर 1989 में सरदार सरोवर विकास प्राधिकरण के अध्यक्ष से बातचीत की थी· उनको पुनर्वास की इस निजी जमीन पर आधारित योजना के बारे में कोई शक-सुबह नहीं है, वे पूरी तरह से आश्वस्त हैं·

पुनर्वास की जिम्मेदारी में बुनियादी बदलाव का औचित्य

18.71 परन्तु अगर इसी योजना को असरग्रस्त लोगों की ओर से, खास तौर पर आदिवासी लोगों की ओर से, देखा जाय तो उसमें कई बातें ऐसी हैं जिनका कोई हल फ्लिहाल नहीं दिखाई देता· पहले निजी जमीन को खरीदने की बात को ही ले लें· वह भी अभी बहुत से सवालों से घिरी हुई है· **इसमें सबसे बुनियादी सवाल तो यही है कि पुनर्वास के लिये जमीन मिल जाय और लोग उस पर अच्छी तरह बस जायँ, यह जिम्मेदारी किसकी है· उसूलन यह जिम्मेदारी सरकार की है· परन्तु निजी जमीन की खरीद की इस योजना में यह जिम्मेदारी बिना स्पष्ट रूप से कहे लोगों पर डाल दी गई है, सरकार उनकी सिर्फ मदद करेगी·**

18.72 **पुनर्वास** के मामले में यह बुनियादी अंतर है जिसके सभी पहलुओं का खुलासा करना जरूरी होगा· अधिकतर विस्थापित लोग गरीब और नासमझ हैं जिन्हें अपने गांव से बहुत दूर जाने का भी शायद कभी मौका ही न मिला हो· जमीन बेचने वाले अधिकतर आसूदा बड़े लोग होंगे· इस हालत में क्या यह उम्मीद की जा सकती है कि ये गरीब उनसे जमीन के बारे मे बातचीत कर सकेंगें ? जाहिर है कि उन्हें दूसरे लोगों का सहारा लेना पड़ेगा· अभी फ्लिहाल सरकार ने समितियां बना दी हैं और वे

उनकी मदद करने के लिये तैयार हैं· परन्तु आदिवासी ने जब भी सरकारी संस्थाओं सहित किसी भी दूसरे का सहारा लिया है वह ठगा ही गया है, उसे क्या मिलेगा यह नहीं मालूम· जमीन की खरीदी में समितियां सहायता करेंगी· पर आखीर में जिम्मेदारी तो खरीदने वाले की ही होगी· एक बार कागज़ पर दस्तख्त हो गए तो सरकार की पूरी जिम्मेदारी खतम हो जाएगी·

18.73 अब दूसरा सवाल है इस जमीन की खरीदी· इस तरह की खुली खरीद में यह स्वाभाविक है उसी जमीन के बहुत से खरीददार हों और बेचने वाला अनापशनाप दाम बढ़ा दे. पहले एक को वायदा कर दे परन्तु फिर किसी दूसरे को दे दे· इस तरह की दौड़ में चतुर चालाक लोग आगे रहेंगे· परन्तु सीधे-सादे गरीब लोग पीछे रह जायेंगे· उनको कहीं ठिकाना मिलेगा इसके बारे मे कोई कुछ नहीं कर सकता है· **फिर इन जमीनों की खरीद की जिम्मेदारी खरीदने वाले की आ जाती है**· अगर बाद में उस जमीन पर कोई झगड़ा होता है तो उसे ही अपनी तौर पर भुगतना होगा· अभी शुरुआत में ही इस तरह की कुछ समस्याएँ आ गई हैं· सूका गाँव मे जमीन पर पुराना कर्जा था जिसकी वजह से लोगों का नाम नहीं हो पा रहा है· दो एक जगह लोग जगह पसंद करने के बाद भी वहाँ जाने को तैयार नहीं है· **इस व्यवस्था के बारे में अभी राज्य सरकारों में भी मतभेद है· मध्यप्रदेश सरकार का कहना है कि गुजरात सरकार या प्राधिकरण पहले जमीन खरीद लें और फिर लोगों को उनकी सहमति से विधिवत सौंप दें· परन्तु गुजरात की राज्य सरकार यह जोखिम लेने को तैयार नहीं है· अगर जमीन उसने खरीद ली और उसे कोई लेने के लिए तैयार नहीं हुआ तो क्या करेंगे ? जो सरकार अपने तईं इस तरह से फूँक-फूँक कर पैर रखती है वह अनजान आदिवासी को अनजान अंधियारे में जाने के लिये किस तरह कह सकती है ?**

निजी खरीदी की अनकही मान्यताएँ

18.74 इन समस्याओं को अगर हम नजर अंदाज भी कर दें तो भी निजी जमीन की खरीद के आधार पर पुनर्वास की योजना मे तीन अनकही मान्यताएँ हैं· **पहली,** पुनर्वास के लिये जितनी और जैसी जमीन की जरूरत होगी, उतनी और वैसी जमीन गुजरात में मिल जाएगी· **दूसरी,** सभी विस्थापित लोग गुजरात जाकर बसने के लिए राजी होंगे· **तीसरी,** नई स्थिति में आदिवासी समाज के रूप में स्थापित होकर पहले से अच्छी हालत में जिंदगी बसर करने लगेगा· इन तीनों ही मान्यताओं को गहराई से परीक्षण किये बिना स्वीकार करना उचित नहीं होगा·

क्या लोग गुजरात जाने को तैयार हैं ?

18.75 सबसे पहले हम दूसरी मान्यता, कि सभी विस्थापित गुजरात आने के लिए राजी होंगे, पर विचार करेंगे· यह हो सकता है कि इसके लिये अभी राजी नही भी हों तो उसके कारण क्या है, और क्या उन कारणों को दूर किया जा सकता है·?

18.76 मोटे तौर पर सरदार सरोवर से विस्थापित होने वालों में 60 प्रतिशत आदिवासी हैं, लगभग 10 प्रतिशत हरिजन होंगे और शेष लोग अन्य जातियों के हैं· आदिवासियों में भी सब की हालत एक जैसी नहीं है· कुछ आदिवासी, खास कर वे लोग जो गुजरात और उसके पास के इलाकों के रहने वाले हैं, अधिक समझदार हैं· उन लोगों का बाहरी दुनिया से भी थोड़ा ही सही, परन्तु कुछ परिचय भी है· उनके नाते-रिश्तेदार भी गुजरात में हैं· परन्तु नर्मदा घाटी के अधिकतर आदिवासियों का बाहर की दुनिया से ज्यादा संबंध नहीं है· नर्मदा किनारे के बहुत से गांवों की सामाजिक-आर्थिक हालत काफी अच्छी है - उन्हे नर्मदा की घाटी में ही इतना मिल जाता है कि बाहर जाने का जरूरत ही नहीं

होती· यह ठीक है कि सभी आदिवासियों की जमीनें भी एक जैसी नहीं हैं· पहाड़ी इलाकों में जमीन कमजोर है· इसीलिए मध्यप्रदेश के अलीराजपुर के लोगों को रोजी-रोटी के लिये बाहर भी जाना पड़ता है· परन्तु जैसे-जैसे हम नर्मदा के किनारे पहुँचते जाते हैं· घाटी में जमीनों की किस्म अच्छी होती जाती है· 18.77 सरदार सरोवर के डूब क्षेत्र का उभरी हिस्सा निमाड़ का है· इस इलाके में घाटी बहुत चौड़ी है और उनकी जमीनें बेमिसाल हैं· वहाँ के लोगों का कहना है कि उनकी जैसी जमीन दुनिया में कहीं नहीं मिल सकती· अगर हम लोगों के द्वारा अपनी जमीनों के बारे में अतिशयोक्ति की बात को अलग भीकर दें तब भी यह देखा जा सकता है कि उनके यहाँ सब कुछ होता है, भरपूर होता है· निमाड़ के इलाके में कुछ आदिवासी भी हैं जिनमें अधिकतर काश्तकार हैं, कुछ थोड़े से भूमिहीन भी हैं· भूमिहीनों में हरिजनों की संख्या ज्यादा है·

आदिवासियों की मनःस्थिति

18.78 आदिवासी लोमे आम तौर पर अपने इलाके से बाहर जाकर बसना नहीं चाहते हैं· इसके कई कारण हैं· सबसे पहली बात तो यह है कि अनजानी जगह और अनजाने लोगों का भय होता है· इस मामले में उनके पहले के अनुभव भी अच्छे नहीं रहे हैं· उदाहरण के लिए गुजरात में ही सरकार ने उकई के बहुत से विस्थापितों को दूर जाकर बसाहत और खेती के लिये जमीनें दी थीं· परन्तु वे लोग वहाँ साल दो साल भी नहीं रह पाये· आस-पास के लोगों ने उनकी जमीनों पर कब्जा कर लिया और उनको वहाँ से हट जाना पड़ा·

18.79 आदिवासी वनों में अपने लोगों के बीच पूरी सुरक्षा का अहसास करता है· और फिर वनों से उसको जिंदगी की सभी जरूरतें मिलती हैं - खाने के लिये कन्दमूल, जानवरों के लिये चारा, घर चलाने के लिये जलाऊ लकड़ी, घर-बागड़ के लिये बांस-बल्ली और कुछ नकदी की जरूरत के लिए वनों की और उपज यह सब उसे कहीं नहीं मिलेगी·

18.80 आदिवासी केवल जमीन से तो जीता नहीं है, उनके जीवन के लिए जंगल और नदी भी उतने ही जरूरी है· नई जगह पर जब जंगल नही होंगे तो वे कैसे जियेंगे यह उनकी समझ में नहीं आता है· आदिवासियों का बाहर जाने की अनिच्छा का एक बड़ा कारण यह भी है कि वे लोग खुले में रहने के आदी हैं· नई बसाहतों में छोटे-छोटे प्लाट होते हैं· वहाँ पर पहला सवाल जानवरों को रखने का उनके सामने आता है·

18.81 अगर लोगों को एक बार जमीन के बदले जमीन मिल भी जाय तब भी क्या नए हालात में वे एकाएक अपने को ढाल सकेंगे ? यह बात इतनी आसान नहीं है· पहली बात तो यह होती है जगल और पानी से कट जाने पर, उन्हें, खेती ही एक सहारा बच रहती है जिससे सभी जरूरतें पूरी करना मुमकिन ही नहीं है· इस तरह उनकी अर्थव्यवस्था में घाटे का एक नया दौर शुरू हो जाता है· और काम चलाने के लिये उन्हें दूसरों से कर्ज लेना पड़ता है· एक बार कर्ज हुआ तो उससे छुटकारा नहीं· आखिरकार उनकी जमीन बिक जाती है· वे बेसहारा हो जाते हैं·

18.82 इस घटनाक्रम को आदिवासी बड़ी अच्छी तरह जानता है· इसीलिये अपने घर से बाहर जाकर किसी तरह का जोखिम नहीं लेना चाहते· यह ठीक है कि वह कई बार कुछ कह नहीं पाता है, मगर समझता सब कुछ है· **उसके मन में एक ही विचार बार-बार उठता है कि वह अपना घर-बार नहीं छोड़ेगा, अगर उसने अपने पुरखों की जगह छोड़ दी तो बाहर जाकर उसका और उसके परिवार का क्या होगा, कौन जाने ? अगर परदेश में जाकर वह किसी मुसीबत में फँस गया तो उसको कोई सहारा**

भी नहीं मिल पाएगा· अगर वह वहाँ से भागना भी चाहेगा तो भाग नहीं पाएगा और भाग कर जाएगा भी कहाँ ? विस्थापन की बात को सुनकर यही समस्याएँ आदिवासी को बेचैन कर देती हैं और वह अनायास कह देता है - "मैं कहीं नहीं जाऊँगा, गोले बरसा दो, यहीं मर जाएँगे·"

बड़े किसानों का रुख

18.83 विस्थापितों में दूसरा बड़ा वर्ग है उन गैर-आदिवासी किसानो का जिनकी जमीनें बहुत अच्छी हैं· क्या ये लोग गुजरात जाने के लिये तैयार होंगे· अभी तक के अनुभव के आधार पर इसके बारे में अटकल लगाना ठीक नहीं होगा· पहले तो अभी तक गुजरात में जो जमीनें खरीदी गयी हैं वे जमीनें आदिवासी असरग्रस्तों की जमीनों की तुलना में अच्छी हैं· इसीलिए उन्होंने उनको पसंद भी किया है· दूसरे, पहली खेप में बाहर निकलने वाले आदिवासियों के लिए यह इलाका अनजाना भी नहीं है· परन्तु जैसे-जैसे हम नर्मदा से उत्तर की ओर के इलाके में बढ़ते हैं वह इलाका गुजरात से उतना ही अधिक दूर होता जाता है और उस इलाके के लोगों के लिए गुजरात उतना ही ज्यादा अनजाना इलाका होता जाता है· दूसरे, निमाड़ के लोगों को अपनी जमीन जैसी जमीन भीतों और कहीं नजर नहीं आती· इसलिए गैर-आदिवासी किसान भी अपनी जगह छोड़ कर कहीं और जाने के लिए तैयार नहीं है·

18.84 इस तरह यह साफ है कि अगर **गुजरात सरकार सभी विस्थापितों के बसाने के लिए प्रबंध करने के लिए तैयार भी हो जाए तो भी महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के लोग कम से कम आज की हालत में तो वहाँ जाने के लिए तैयार नहीं हैं· इस समय इन लोगों पर अपने राज्य में बसने की हालत में कम सुविधाएँ दिखाकर और गुजरात जाने पर अधिक सुविधाओं का वायदा करके गुजरात जाने के लिए अप्रत्यक्ष दबाव डाला जा रहा है· यह दबाव पंच-फैसले की पुनर्वास की नीति के खिलाफ है जिसके अनुसार विस्थापितों को किस राज्य में बसना चाहेंगे इसे तय करने की आजादी दी गई है·**

क्या गुजरात में जमीन मिल सकती है ?

18.85 एक बार यदि यह मान भी लिया जाय कि सभी विस्थापित गुजरात जाने के लिए तैयार हैं तो क्या यह कहा जा सकता है कि गुजरात में पुनर्वास के लिए जमीन मिल जाएगी ? पुनर्वास के लिए जमीन मिलने के तीन पहलू है· **पहला,** जमीन अच्छी हो जिसे लोग पसंद कर सकें· **दूसरा,** जमीन इकजाई हो जहाँ आदिवासियों को एक साथ समाज के रूप में बसाया जा सके· **तीसरा,** जमीन इतनी हो जो सभी विस्थापितों के लिये काफी हो·

18.86 पहले जमीन की पसंदी की बात ले ले· शुरू में गुजरात सरकार ने लोगों को सरकारी जमीनें दिखाना शुरू की थी· उनमें से अधिकांश जमीनें लोगों को पसंद नहीं आई थीं जिसका सब जगह बहुत बुरा प्रचार हुआ· निजी जमीन की खरीदी के कार्यक्रम में जमीन तभी खरीदी जा सकती है जब कि लोगों को वे पसंद हों· अभी निजी जमीन की खरीद शुरू ही हुई है इसलिए अच्छी जमीन मिल रही है· परन्तु उसके लिये दाम काफी देना पड़ रहे हैं· इसके साथ ही कुछ लोगों को अच्छी जमीनें नहीं भी मिल पा रही हैं· कुछ जगह पहले लोगों ने जमीन पसंद कर लीं परन्तु फिर वहाँ जाने से मना कर दिया · लगता है कि शुरू की पसंदी मजबूरी में हुई होगी· जैसे-जैसे अधिक जमीन की खरीद होगी अच्छी जमीन कम मिलेगी और उसके भाव बढ़ते जाएँगे·

18.87 यह ठीक है कि गुजरात सरकार पुनर्वास के लिए जितनी भी राशि की जरूरत हो, उतना खर्च करने के लिए तैयार है· परन्तु रुपए का इतजाम हो जाने से यह जरूरी नहीं है कि जितनी जमीन चाहे उतनी खरीदी जा सकती है· इसमें कई बातें आगे आ सकती है· निजी जमीन को पुनर्वास के लिए खरीद से जमीन के भाव पर भारी असर पड़ा है· जो जमीन साल भर पहले चार-पाँच हजार रुपये एकड़ मिल जाती थी उसकी कीमत बढ़ कर चौदह-पंद्रह हजार रुपये एकड़ तक पहुँच गई है· कुछ लोग तो

बीस-पच्चीस हजार रुपये एकड़ माँगने में नहीं हिचक रहे हैं और चालीस पचास की बात भी अनहोनी नहीं रही है· जब इतनी अधिक जमीन खरीदने की बात धीरे-धीरे मालूम होगी तो कीमतों का बढ़ना लाजमी होगा· **और फिर अभी यह भी तो मालूम नहीं कि कितनी जमीन की जरूरत होगी - असरग्रस्तों,उनकी संख्या अनिश्चित, उनको जमीन की पात्रता अनिश्चित· क्या गुजरात सरकार किसी भी कीमत पर जितनी चाहे उतनी जमीन खरीद कर देगी ? वायदा कुछ भी हो सकता है पर व्यवहार में क्या होगा यह समय ही बता सकता है·**

समाज के रूप में पुनः स्थापना की संभावना

18.88 जमीन के बारे में दूसरा सवाल है कि "क्या जमीन इकजाई रूप में मिल सकेगी जहाँ खासतौर से आदिवासियो के लिये बसाहतें बनाई जा सकें और वे समाज के रूप में फिर से स्थापित हो जायें ?" जिन इलाकों में अभी निजी जमीनें मिल रही हैं वे डूब के इलाकों से बहुत दूर नहीं है, वहाँ आबादी का दबाव ज्यादा नहीं है और वहाँ ऐसे बहुत से लोग हैं जिनके पास काफी जमीनें हैं· इसलिए यहाँ पर अभी सौ-सौ, दो-दो सौ हेक्टेयर जमीन के चक खरीद कर कुछ परिवारों के लिये बसाहतें बनाकर एक साथ बसाना कुछ हद तक संभव हो रहा है· फिर भी एक-एक गाँव को 7 या 8 जगह बिखरना पड़ा है जो उजड़े आदिवासियों के लिये, उनकी इच्छा के विरुद्ध हुआ ही है· उसके अलावा इन इलाकों में जंगल और चरागाह भी है जिससे आदिवासी को कुछ राहत तो है·

18.89 परन्तु अब सवाल यह है कि अगर इस तरह की बसाहतें दो-चार जगह संभव हो भी गईं तो क्या इतने बड़े पैमाने पर पुनर्वास के लिए इसी तरह का प्रबंध आगे भी किया जा सकता है ? अभी तक सरकार ने इसके लिये कोई व्यापक योजना नही बनायी है· परन्तु कुछ बातें साफ है· अभी जहाँ जमीनें मिली हैं वहाँ से आगे बढ़ने पर इलाका कुछ प्रगत होता जाता है और जमीन पर दबाव भी बढ़ता जाता है· इसलिए वहाँ इकजाई जमीनें मिलना कठिन होगा· अगर निजी जमीनें मिलेंगी भी तो छुट-पुट ही मिलेंगी· यही नहीं, वहाँ की अर्थव्यवस्था भी अधिकाधिक खेती-मूलक होगी - जंगल और चरागाह कम होते जाएँगे - प्रगत इलाकों में तो वे हैं ही नहीं· इस तरह लगता है कि उन इलाकों में न आदिवासियों की अलग बसाहतें बनाना संभव होगा और न उनकी अपनी अर्थ-व्यवस्था लायक संसाधन मिल पाएँगे· इस हालत में खेती के लिये जमीन मिलने पर भी आदिवासी को बड़े गांवों में दूसरे लोगों के बीच अकेले दुकेले ही रहना पड़ेगा· **बहरहाल अभी कोई ऐसे तथ्य हमारे सामने नहीं हैं जिनसे यह कहा जा सके कि गुजरात में पुनर्वास के लिए काफी जमीन मिल सकेगी और वहाँ इतनी बड़ी जमीनें भी मिल जाएगी जहाँ आदिवासियों तथा दूसरे लोगों को भी अगर वे चाहें तो अपनी पसंद की इकाईयों में फिर से स्थापित किया जा सकेगा·**

निजी जमीन की खरीदी - गरीबों का अनकहा दूसरा विस्थापन

18.90 पुनर्वास के लिये निजी जमीन की खरीदी के कुछ ऐसे पहलू भी सामने आये हैं जो सामाजिक-न्याय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और अगर इतने बड़े पैमाने पर निजी जमीन की खरीद होती है तो उनको नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है· जब मैं पहली बार सूका गाँव गया जहाँ एक व्यक्ति से पांच सौ एकड़ जमीन खरीद कर लोगों को बसाया गया है, पहले दो स्वाभाविक सवाल यही सामने आए थे कि "इतनी जमीन इस आदमी के पास आई कहाँ से ? और "अगर उस जमीन पर खेती हो रही थी तो इसको जोतने वालों का क्या हुआ ?" इनके जवाब भी इतने ही स्वाभाविक थे· उस व्यक्ति ने बहुत पहले वह जमीन स्थानीय लोगों से ली थी और अब तक जो लोग उसे जोत-खोद रहे थे उनका उस पर कोई हक नहीं था· जमीन के बिकने के बाद ये लोग अपनी रोजी-रोटी के लिये इधर-

उधर हो गए· दूसरे गांवों में और जानकार लोगों से चर्चा के आधार पर इस मामले में स्थिति और भी स्पष्ट होती गई है जिसे सार रूप में नीचे दिया जा रहा है·

18.91 पहले हम, निजी ज़मीन बेचने वाले कौन हैं और वे क्यों जमीन बेच रहे हैं उस पर, थोड़ी चर्चा करेंगे· मोटेतौर पर ज़मीन बेचने वाले लोग दो तरह के हैं - पहले साहूकार और दूसरे बड़े किसान· बड़े किसानों मे भी दो तरह के लोग हैं - एक वे जो गाँव के बाहर रहते हैं और दूसरे लोग जो वहीं रहकर खेती कराते हैं· जमीन बेंचने वालों मे अधिकतर लोग ऐसे हैं जो अपने हाथ से खेती नहीं करते हैं· ये लोग अधिकतर बटाई से खेती करवाते हैं - कुछ लोग मज़दूर लगाकर खुद काश्त करते हैं और कुछ ज़मीन ठेके पर दे देते हैं· इस तरह ज़मीन बेचने वाले अधिकतर खुदकाश्त न करने वाले बड़े किसान व्यापारियों, गैर हाज़िर जमींदार लोग हैं·

18.92 इन लोगों के ज़मीन बेचने के भी कई कारण है· पहला गुजरात में गाँव के बाहर रहने वाले लोगों को गाँव की जायदाद में दिलचस्पी कम होती जा रही है· इसका एक खास कारण गुजरात में जमीन की खरीदी के बारे में बहुत ही कड़ा कानून है· ऐसा कोई भी व्यक्ति, जो किसी स्थान से 15 किलोमीटर से अधिक दूरी पर रहता हो, उस जगह ज़मीन नहीं खरीद सकता है· इसलिए सुदूर इलाकों में एक तो ज़मीन खरीदने वाले कम हैं और दूसरे उन गांवों के लोगों के पास इतना पैसा नहीं है कि वे अधिक दाम दे सकें· पुनर्वास के लिये ज़मीन की सरकारी खरीद से इन इलाकों में एक नया माहौल बन गया है· जो ज़मीन बेचना चाह रहे थे अब एक तो उनको घर बैठे खरीददार मिल रहे हैं जिसके लिये कानूनी मंजूरी की जरूरत नहीं· दूसरे उन्हे मुँह माँगे दाम भी मिल सकते हैं· इस समय ज़मीन बेचने का एक और दुर्भाग्यपूर्ण कारण भी है· गुजरात में तीन साल तक लगातार अकाल पड़ने से एक तो फसल ही नहीं हुई, दूसरे बहुत से जानवर मर गये और तीसरे, जो सबसे महत्वपूर्ण है, कई किसान पुराना कर्ज़ चुका नहीं पाए और उन पर नया कर्ज़ लद गया· इस तरह उसकी देनदारी इतनी बढ़ गई जिससे निकलना मुश्किल था· कर्जे से किसी तरह छुट्टी पा जाय इसके लिए कुछ लोग जमीनें बेचने के लिए तैयार हैं·

18.93 बहुत सी ज़मीने साहूकारों की हैं· सभी साहूकार मजदूरों से ही खेती कराते हैं· इन लोगों को खुद खेती करने में कोई दिलचस्पी नहीं है· आजकल मजदूरो की समस्या बढ़ती जा रही है· मज़दूरी भी ज्यादा देनी होती है· और फिर जाने किस दिन कैसा कानून बन जाय ? इसलिए सरकारी खरीदी में पैसा अच्छा मिल रहा है और मजदूरों से छुट्टी· आज की हालत में साहूकार के लिये इससे अच्छा और क्या हो सकता है ?

18.94 जिन इलाकों में पुनर्वास के लिये ज़मीने ली जा रही है वहाँ भूमिहीन किसानों की काफी तादाद है· ये भूमिहीन अधिकतर आदिवासी और कुछ हरिजन भी हैं· इन इलाकों में अधिकतर बड़े किसान और साहूकार पिछले सौ डेढ़ सौ साल में ही बाहर से आकर बसे हैं· यहाँ की मूल निवासी आदिवासी हैं· **इससे यह साफ है कि यहाँ की जमीन पहले कभी आदिवासियों की रही होगी· वे ही आदिवासी धीरे-धीरे ज़मीन छिन जाने पर खेतिहर मजदूर बन गए· उस तरह उनकी ज़मीन पर मिल्कियत तो खत्म हो गई परन्तु खेती वे ही करते रहे - मजदूर के रूप में या बटाईदार की तरह·**

18.95 विस्थापितों को बसाने के लिये जमीन की खरीदी से एक नई स्थिति पैदा हो रही है· अधिकतर विस्थापित काश्तकार हैं और ज़मीन खरीद करने के बाद उस पर वे लोग खुद खेती करेंगे· इस हालत में सवाल यह खड़ा होता है कि इन ज़मीनों पर आज जो आदिवासी हरिजन मजदूरी कर रहे हैं उनका क्या होगा, वे कहाँ जाएँगे ? इस समस्या पर अभी तक किसी का ध्यान ही नही गया है और न इसके

बारे में कोई सोच ही है· **इनकी हालत ठीक उन्हीं भूमिहीनों की तरह है जो जमीनदार की जमीन के अधिग्रहण के बाद बेसहारा हो जाते हैं· उनकी सिर्फ इसीलिए कहीं सुनवाई नहीं होती है चूँकि उनके अधिकार कहीं दर्ज नहीं है·** प्रभावाक्षेत्र के भूमिहीनों की असंगत और अन्यायी स्थिति का पूरा परिशोधन तो नहीं परन्तु उनकी समस्या के अहसास की शुरुआत सरदार सरोवर की पुनर्वास की नीति में हुई है - उन्हें भी विस्थापितों की श्रेणी में रखकर पुनर्वास के लिए पात्र माना है· परन्तु क्या पुनर्वास कार्यक्रमों से प्रभावित इन भूमिहीनों को इसी कारण भुलाया जा सकता है कि सरकारी कागजों में उनका कोई बुजूद नहीं· यह समस्या पुनर्वास के कार्यक्रम के तेज होते जाने पर बढ़ती जाएगी· सूका का मैं पहले ज़िक्र करही चुका हूँ· दूसरी जगह भी इन भूमिहीनों की पूरी की पूरी बसाहतें उजड़ रही है और वे लोग बेसहारा होकर शहर की ओर भागने के लिये मजबूर हैं- उनकी गंदी बस्तियों में शरण लेने के अलावा उनके लिए कोई रास्ता नहीं - वंचना की अंतिम परिणति·

18.96 यह साफ़ है कि ये भूमिहीन मज़दूर वर्तमान अन्यायी व्यवस्था की दुहरी मार के शिकार हैं· इसलिये हमें उनकी समस्या को उनके नज़रिये से देखना होगा· क्या उनके हक को सिर्फ इसलिए नजर-अंदाज किया जा सकता है कि दूसरी ओर ज़मीनदार के साथ एक विस्थापित भी खड़ा है और सरकार उनका समर्थन कर रही है· इन ज़मीनों को जोतने वालों का क्या इतना भी हक नहीं है कि वे ज़मीन जोतते रहें·

18.97 इस मामले में कैसे भी तर्क क्यों न दिये जाय, स्थिति की नजाकत को चाहे किसी तरह से क्यों न पेश किया जाय, कानून चाहे कुछ भी कहे, पर मानवीय अधिकारों और संविधान का संदर्भ जोतने वाले के हक की ताईद करता है· आदिवासियों के मामले में तो संविधान में सरकार से यह उम्मीद भी की गई है कि वह उसके इस संविधानिक ही नहीं, मानवीय अधिकार की रक्षा करें· सरकार एक व्यक्ति को न्याय देने के लिये दूसरे व्यक्ति का हक नहीं छीन सकती है· परन्तु इस समस्या का समाधान तो तभी हो सकेगा जब पहले उसको स्वीकार किया जाएगा·

18.98 **वैसे तो पूरे असंगठित क्षेत्र में गरीबों की यही कहानी है, जिंदा बने रहने के लिए आपस में एक दूसरे के हितों और हकों में टकराहट होती रहती है· गरीबों के आपसी हितों की टकराहट का यह बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण है· परन्तु जब इतने व्यापक योजनाओं और ऊँचे सिद्धांतों की बात हो रही है तो क्या नई व्यवस्था में दोनों के साथ न्याय नहीं हो सकता है ? सच तो यह है कि दोनों ही व्यवस्था के मारे हैं इसलिये पूरी व्यवस्था की ईमानदारी और न्यायसंगतता के सवाल आ जोते हैं·**

पुनर्वास की संभावना - एक विहंगम दृष्टि

18.99 अब अगर हम सरदार सरोवर के विस्थापितों की समस्या को समग्र रूप से देखें तो उनके पुनर्वास के बारे में कुछ बातें बिलकुल साफ़ हैं· विस्थापन और पुनर्वास की बहस के इतने साल के बाद भी इस परियोजना से कितने लोग विस्थापित होंगे, इसका सही आँकड़ा नहीं है· कुछ मामले में तो लोगों को विस्थापित माना जाय या न माना जाय इस पर नीति स्तर पर भी फैसला नहीं हुआ है· इसके अलावा, ज़मीन, पेड़ इत्यादि के मुआवज़े के बारे में भी कई बातें हैं जिनके बारे में लोग अभी अंधेरे में ही हैं और कोई भी सरकार यह दावे से नहीं कह सकती है कि मुआवज़े के मामले में जो कुछ हुआ है वह सही ही हुआ और आगे सही होगा·

18.100 पुनर्वास की व्यापक और समग्र नीति के मामले में बातचीत बहुत होती रही है· परन्तु सभी सरकारें मिल कर अभी तक एक नीति नहीं बना पाई हैं· सबसे खेद की बात यह है कि ये सरकार

जानबूझकर अलग-अलग नीतियाँ बनाये हुए हैं· इसके कारण एक तो लोगों मे भ्रम है· दूसरे पुनर्वास के मामले में पहले उसूल की अनदेखी की जा रही है जिसमें लोगो को स्वेच्छा से अपने अपने राज्यों में बसने का अधिकार माना गया है·

18.101 पुनर्वास के बारे में कुछ काम गुजरात में ही शुरू हुआ है· परन्तु वहाँ के विस्थापित तो कुल विस्थापितो में सौ में दस से अधिक नही हैं· महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश में, जहाँ प्रभावितों में से 90 प्रतिशत लोग रहते हैं, पुनर्वास के मामले में मौके पर अभी कोई साफ तस्वीर तक नहीं है· अभी नीति स्तर पर चर्चा ही चल रही है और कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण फैसले बाकी हैं· महाराष्ट्र से कुछ लोग गुजरात गये हैं· परन्तु नई बसाहतों में बसने का अभी तक का उनका तजुर्बा अच्छा नहीं है·

18.102 पुनर्वास की योजना के बारे में सबसे बड़ा सवाल तो यही है कि क्या इतने बड़े पैमाने पर ज़मीन मिल सकेगी जहाँ लोग जाकर चैन से रह सकेंगे· इसके बारे में अभी तक कोई साफ तस्वीर नहीं है और न इसके लिये पूरी योजना ही तैयार की जा रही है· अभी पूरा मामला उम्मीद पर ही कायम है· इस उम्मीद का मुख्य आधार है हाल में चल रही गुजरात में जमीन की निजी खरीदी और वहाँ जाकर बसने के लिये चन्द लोगों का रजामंदी· इसी को आधार मानकर यह अटकल लगाई जा रही है कि उसी तरह से सभी विस्थापितों के लिए, अगर जरूरत हुई तो, गुजरात में व्यवस्था कर दी जायेगी· इस अटकल को अधिक से अधिक "भली उम्मीद" कहा जा सकता है· परन्तु यह कहाँ तक सही और व्यवहारिक है इस पर गहराई से सोचने की जरूरत है·

18.103 पहले तो गुजरात में इस छोटे पैमाने पर जो कुछ हुआ है उससे यह नहीं कहा जा सकता है कि इतने बड़े पैमाने पर ज़मीन मिल ही जायेगी· दूसरे अभी इन बसाहतों में बसने के लिए वे ही विस्थापित आये हैं जो सामाजिक-आर्थिक रूप से थोड़ा सा आगे हैं· दूसरे वे अभी जहाँ जा रहे हैं वे इलाके उनके घरों से बहुत दूर नहीं है और कुछ जाने पहचाने भी हैं· पुनर्वास की इस योजना में असली सवाल तब आयेंगे जब पिछड़े इलाकों के लोगों का नम्बर आयेगा और जब उनको बहुत दूर बिल्कुल अनजाने लोगों के बीच जाना होगा· उस हालत में क्या होगा कुछ नहीं कहा जा सकता· इसी तरह से अभी तो शुरुआत है इसलिए अच्छी ज़मीन मिल रही है, कुछ चुनाव भी संभव हैं· यह ज़मीन पहली किश्त में जो लोग आये हैं उनकी जमीनों से अच्छी है· परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि आगे भी ऐसी जमीनें मिलती जाएं और खासकर उन लोगों को, जिनके पास अच्छी जमीनें है, पसंद आयेगी·

18.104 एकबार को पुनर्वास की पूरी योजना न भी हो और इन सभी सवालों के समाधानकारक हल न भी सही, पर उनके बारे मे गहराई से विचार भी नहीं हो रहा है· गुजरात की छोटी सी शुरुआत और उसके वायदों को लेकर सभी दूर उसी के आधार पर सभी विस्थापितों के लिये समाधान हो जाएगा यह उम्मीद की जा रही है· उम्मीद और विश्वास के आगे ठोस आधार पर उतरने के लिये कोई तैयार नहीं है· इस हालत में घाटी के अधिकतर लोगों का बुनियादी तौर पर सोच यही बन रहा है कि पुनर्वास के लिए पूरी योजना को बिना बनाए कुछ लोगों के लिये ज़मीन का इंतजाम सिर्फ इस लिये किया जा रहा है कि वे बांध का विरोध छोड़कर उसे सहमति न दे दें· जब बांध बंधने पर पानी भरने लगेगा तो उस समय लोगों के सामने भागने के अलावा कोई चारा नहीं रहेगा· इस समय कोई बात पूछने वाला भी नहीं मिलेगा· लोगों का सवाल है कि क्या ऐसी स्थिति में कभी वायदे पूरे भी हो सकते हैं ? उनका जवाब है "नहीं"·

18.105 यहीं पर आकर बात अटकती है· आम आदमी का सरकार के वायदों के बारे में कोई अच्छा अनुभव भी नहीं है· कौन जानता है कि सरकार का मतलब निकल जाने के बाद वह कितने वायदे पूरे

करेगी, या वायदा पूरा कर सकने की हालत में होगी ? उस समय सब हाथ हिलाकर कह देंगे, "भाई क्या करें, मजबूरी है, कुछ कर भी तो नहीं सकते, अब तुम ही बताओ·" यह कह कर सब लोग तो चले जाएँगे अपनी-अपनी गाड़ियों में और रह जाएगा आदिवासी गरीब अपने लिए कहीं पनाह और किसी आसरे की तलाश में·

18.106 यह उसके मन की उपज नहीं है· सरदार सरोवर तक के मामले में जिस पर सब की निगाह है, सब पूरा जोर लगा रहे हैं क्या अनुभव अच्छा कहा जा सकता है ? उनका कहना है कि जब छोटे-छोटे से मामलों में सरकार वायदे करके दो-दो, चार-चार साल लगा देती है और फिर भी फैसला नहीं हो पाता है तो वे इतनी बड़ी बात पर कैसे भरोसा करें ? दूसरे, वे यह भी साफ देख रहे हैं कि सरकार को लोगों की तकलीफ से कोई खास मतलब नहीं दिखता है· अगर उनके कागज और कानून की खानापूरी हो जाय तो बस, हो गया उनके लिये· वहीं तो केवड़िया के लोग अभी तक क्यों मारे-मारे घूमरहे हैं ? इसके बाद जिन गावों को हटा कर बसाया जा रहा है जिन पर सरकार इतना ध्यान दे रहीहै उनमे भी तो सब के मामले अभी हल नहीं हुए हैं· कई लोगों के मामले उलझे पड़े हैं जिन्हे वायदों के बावजूद कोई राहत नही मिली है· गुजरात के मुकड़ी जैसे गांव के अंदाज से 75 प्रतिशत लोगआज जमीन सरकार से मिलने के बरसों बाद भी, हटना नहीं चाहते क्योंकि नई जगह पीने के पानी तक की सुविधा नहीं है· यही नहीं, कुछ नई बसाहतों में बसने वालों को जो सरकारी जमीन दी गई है उसके लिये उन्हें क्या लेनादेना इस पर फैसला नहीं हुआ है· कुछ गांव के लोगों को जंगल से जमीन निकाल कर दी गई परन्तु उस पर भी कीमत लगाकर उसे वसूल की बातें है· कोई कहता है चार हजार, कोई आठ हजार· उधर लोगों के पास जो कुछ था खतम हो गया या भारी कर्जे में डूब गये· आगे क्या होगा इसी की सबको चिंता है· और तो और अभी जमीनों के पट्टे की राह ही देखते है· सबसे अधिक गंभीर बात यह है कि कई उजड़े परिवारों को पहले ज़मीन इसलिए नहीं दी गई कि प्रावधान नहीं था और अब जब उनकी मॉंग मान ली गई है और वे विस्थापित हो चुके है तब उसकी पूर्ति इसलिये नहीं हो पा रही है कि दूसरे गाँवों को हटा कर उनके परिवारों को उठाने की जल्दी है· इसमे सरकार का गलत नियोजन तो है ही परन्तु लोगों के अनुसार उसमें भूल-भुलावे में रखने की चाल भी दिखाई देती है·

18.107 जब गुजरात में ही शुरू के कुछ उजड़े गाँवो में बरसों तक यह हालत है तो आगे चल कर क्या होगा ? लोगों का एक और अनुभव भी है जिसे नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है· उनका कहना है कि जब भी वे इन बातों को उठाते हैं तो हर अधिकार या राजनेता यह कह कर उन्हें समझाने की कोशिश करता है कि "वह अभी आया है, उसे पूरी बात नहीं मालूम है, वह उस पर गौर करेगा·" इसलिये इसका क्या भरोसा कि इसी तरह आगे भी नये अधिकारी और नये नेता नहीं आते रहेंगे और ऐसे ही भरोसा नहीं दिलाते रहेंगे· वे कहते हैं कि जब तक काम अटका है सरकार हमारे पास आती है हर तरह से हमें समझाता है। परन्तु जब उनका काम निकल जाएगा तो हमें उनके पीछे घूमना पड़ेगा· इसी अनुभव के आधार पर उन्होने यह तय किया है कि वे अपनी जगह से नहीं हटेंगे· अगर वे वहाँ से निकलेंगे तो भी उनका मरण है· इसलिए अच्छा यही हैं कि अगर डूबना है तो अपनों के साथ अपनी जगह पर ही डूबा जाय·

18.108 यह तो रही सरदार सरोवर से प्रभावित लोगों के पुनर्वास की बात· हालांकि सरदार सरोवर एक अलग परियोजना है परन्तु वह पूरी तभी मानी जा सकती है जब कि इंदिरा सागर बन चुका जहाँ से उसको पानी मिलेगा· इस तरह से सरदार सरोवर के बनने का मतलब हैं इंदिरा सागर का भी बनना·

इंदिरा सागर से विस्थापन तो सरदार सरोवर से भी ज्यादा होगा। इंदिरा सागर की योजना तो पूरी तरह से मध्यप्रदेश की है। इसलिए लोगों के सामने सवाल यह है कि जब मध्यप्रदेश की सरदार सरोवर के विस्थापन के बारे में ही अभी तक कोई खास तैयारी नहीं है तो इंदिरा सागर के बारे में क्या कहा जा सकता है ?

सवालों का सार

इस तरह नर्मदा घाटी के बांधों से प्रभावितों के बारे में संक्षेप में स्थिति निम्नानुसार है -

1। **यद्यपि सरदार सरोवर और इंदिरा सागर एक संयुक्त योजना के अंग हैं परन्तु इंदिरा सागर के विस्थापितों और उनके पुनर्वास के बारे में स्थिति अभी बिल्कुल ही अस्पष्ट है।**

2। **सरदार सरोवर परियोजना से प्रभावित कौन माना जायेगा इसके बारे में अभी तक पूरी निश्चितता नहीं हो पाई है।** इसमें सरदार सरोवर से संबंधित कामों के लिए भी, जो लोग पहले विस्थापित हो चुके हैं, उनका सवाल ही उलझा हुआ नहीं है, वरन् डूब के कारण किन लोगों को प्रभावित माना जायेगा और उसके अनुवर्ती कार्यक्रमों से प्रभावितों को प्रभावित माना जायेगा या नहीं, ये सभी विवाद के विषय बने हुए हैं। इस तरह दसियों हजार लोग अभी अनिश्चितता की स्थिति में फँसे हुए हैं।

3। **विस्थापितों के लिए पुनर्वास की सुविधाओं के बारे में नीति के स्तर पर अभी पूरी सहमति नहीं बन पाई है।** तीनों राज्य अभी तक इस पहले बिंदु पर भी सहमत नहीं हो पाये हैं कि सभी विस्थापितों के लिए समान नीति हो।

4। **पुनर्वास के लिए यद्यपि "भूमि के लिए भूमि" का सिद्धांत मान लिया गया है परन्तु उसका व्यावहारिक रूप क्या होगा इस पर स्थिति पूरी तरह से स्पष्ट नहीं है।** इस मामले में अभी तक जो नीति में बदलाव आये हैं उनके कारण उत्पन्न विसंगतियों को भी दूर नहीं किया जा सका है। इसी तरह विभिन्न राज्यों में इस समान सिद्धांत को मान लेने के बाद भी अभी तक नीतियां अलग-अलग अपनाई जा रही हैं।

5। प्रभावित क्षेत्र में मौके की स्थिति, कानूनी रिकार्ड और उसकी पड़ताल में इतनी अधिक गड़बड़ियाँ हैं जिनका न सिद्धांत के स्तर पर, न नीति के स्तर पर और न व्यवहार के स्तर पर अभी तक समाधान हो पाया है। **इस कारण लोगों की पुनर्वास के लिये पात्रता के बारे में भारी विसंगतियां हैं।**

6। **जिन लोगों को अभी तक नई जगहों पर बसाया गया है उनका अनुभव सुखद नहीं है।** उनमें से अधिकतर लोग महसूस करते हैं कि वे भारी विपत्ति में फँस गये हैं।

7। **'जमीन के लिये जमीन' के सिद्धांत के आधार पर पुनर्वास के लिये जंगल सहित सरकारी जमीन उपलब्ध हो पायेगी इसकी संभावना अब लगभग समाप्त हो गई है। इसलिए अब पुनर्वास** के लिए पूरा भरोसा निजी जमीन की खरीदी पर ही है।

8। **निजी जमीन को व्यक्ति स्तर पर खरीदी के आधार पर पुनर्वास की व्यवस्था में पुनर्वास के मामले में आधारभूत नीतिगत बदलाव होगा। उसके अनुसार पुनर्वास की जिम्मेदारी सरकार की रहकर स्वयं विस्थापितों की हो जायेगी। परन्तु अभी तक निजी जमीन की खरीदी को सिर्फ पुनर्वास के क्रियान्वयन का मुद्दा माना गया है, उसे नीतिगत बदलाव के रूप में किसी भी स्तर पर पेश नहीं किया गया है।**

9. **निजी जमीन की खरीदी के पुनर्वास के क्रियान्वयन रूप के सीमित संदर्भ में भी लोगों की बात तो अलग अभी राज्य सरकारों के बीच मतभेद है और उच्चतम स्तर पर इसके बारे में स्पष्ट रूप से निर्णय नहीं लिया गया है ।**

10. **अभी तक विस्थापितों को नई जगहों पर समाज के रूप में स्थापित करने की नीति मानी जाने के बावजूद सफलता बहुत सीमित ही रही है।** इस मामले में आगे कठिनाइयाँ बढ़ने की ही उम्मीद हैं और संभावना है कि उसे नीति रेखा में भी अव्यवहारिक करार देकर अनदेखा कर दिया जाय।

11. पुनर्वास के बाद लोगों की स्थिति विस्थापन के पहले की स्थिति से अच्छी हो यह सुनिश्चित करना सरकार ने अपना दायित्व स्वीकार किया है। परन्तु इसके बारे में अभी कई प्रारम्भिक परंतु आधारभूत बातें तक तय नहीं हो पाई हैं जैसे कि आदिवासियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति का जायजा कैसे लिया जायेगा। **इसीलिए सामाजिक-आर्थिक मूल्यांकनों में अभी तक कुछ नेमी और परंपरागत सर्वेक्षण ही हो रहे हैं, उनमें मूल समस्या की पकड़ नहीं के बराबर है।**

12. **पुनर्वास की पूरी योजना में लोगों की सहभागिता का नितांत अभाव ही नहीं है वरन् जैसा हम आगे देखेंगे, सरकार और लोगों के बीच टकराव की स्थिति बन गई है। इसलिए बहुतेरे लोग पुनर्वास से संबंधित किसी प्रक्रिया में शामिल नहीं हैं।**

सरकारी आंकड़ों के पीछे की वास्तविकता

18.109 इस तरह पुनर्वास से संबंधित लगभग हर बिंदु पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगा हुआ है। यही नहीं अब तक का अनुभव यही रहा है कि हर बिंदु पर छोटा सा निर्णय ही बहुत भारी बाहरी दबाव आने पर ही संभव हो पाया है। **दूसरे शब्दों में अभी पूरी व्यवस्था में ऐसी कोई आंतरिक प्रक्रिया नहीं बन पाई है जिससे यदि कहीं पर कोई रुकावट आए तो उसमें तत्काल सुधार के लिए अपने आप कोई प्रतिक्रिया शुरू हो जाय और पूरी व्यवस्था सरल स्वाभाविक रूप से चलती रहे।** ऐसी हालत में जहाँ तीन राज्यों और कई तरह की दूसरी संस्थाओं से आपसी तालमेल के आधार पर कार्यक्रमों का बनाना और क्रियान्वयन अपेक्षित हो तो उसमें सभी की ओर से औपचारिकता तो पूरी होती रह सकती है, आंकड़ों का अम्बार लग सकता है परन्तु समाधानकारक क्रियान्यन की संभावना कम ही है। अभी तक का अनुभव तो इसी दिशा में इशारा करता है।

18.110 अब सवाल यह है कि वास्तविकता इतनी असमाधानकारक होते हुए भी, जब भी ऊँचे से ऊँचे स्तर तक इस मानवीय समस्या को उठाया जाता है तो ऐसा आभास मिलता है कि मानों विस्थापन की कोई समस्या ही न हो। यही नहीं, अगर चर्चा को आगे बढ़ाया जाय तो एक सुनहरा चित्र पेश कर दिया जाता है जिसे देखकर यही लगता है कि सब कुछ ठीक ही नहीं उपयुक्त भी है। सभी राज्य सरकार खासतौर पर गुजरात सरकार यह दावा करती है कि वे लोगों के पुनर्वास के लिए पूरी तरह से तैयार है। **इस दावे और उनके द्वारा प्रस्तुत लुभावनी तस्वीर के मुख्य आधार हैं उनके शासकीय आदेश और अब तक की गई कार्रवाई के साफ सुथरे आंकड़े।** अगर उन **प्रस्तुतियों में उभर बताए गये सभी प्रश्नवाचक चिन्हों को नजरअंदाज कर दिया जाता है।** इसलिए यह नहीं साफ हो पाता है कि इन आंकड़ों में केवल नेमी उपलब्धि की झलक है, उनके पीछे की लोगों की भोगी हुई वास्तविकता कहीं नहीं दिखाई देती। जैसे ही किसी असरग्रस्त को अपने घर से उखाड़ कर दूसरी जगह बिठा दिया गया, उसकी समूची अस्मिता एक अंक में भर जाती है और उसे उपलब्धि मान लिया जाता है। परन्तु इस पूरी प्रक्रिया में उसे क्या-क्या झेलना पड़ा है और वह अभी क्या झेल रहा है यह भोगा - सत्य उन आंकड़ों से झांक कर अपनी बात नहीं कह सकता है। **और जब कोई अनचाहे तथ्य सामने रखता है तो उसका स्वागत करने के बजाय उसे विघ्नवादी करार दे दिया जाता है। नहीं तो इतनी विसंगतियाँ इतने साल तक कैसे बनी रह सकती थी।**

समाधानकारक पुनर्वास की पूर्व -शर्तें

किसी भी समाधानकारक पुनर्वास योजना के लिए पांच महत्वपूर्ण बातें जरूरी हैं -

1। पुनर्वास के बारे में एक स्पष्ट नीति जिसमें सभी बिंदु जैसे कि कौन विस्थापित होगा, किसकी क्या हकदारी होगी, इत्यादि स्पष्ट रूप से अंकित किए गए हों।

2। मान्य और स्पष्ट नीति के आधार पर मौके की हालत के मुताबिक लोगों की हकदारी निर्धारित करना।

3। पुनर्वास की नीति और लोगों की हकदारी के स्पष्ट निर्धारण के आधार पर पुनर्वास के लिए संसाधन जुटाना और उसकी एक ऐसी योजना बनाना जिसे संबंधित लोग जान-समझ सकें।

4। आम सहमति के आधार पर मैदानी स्तर पर पुनर्वास की परियोजनाओं को बनाना जिन्हें देखकर असरग्रस्त असंदिग्ध रूप से अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति दे सके।

5। लोगों की सहमति प्राप्त करने के बाद पुनर्वास वा योजनाओं को उनकी भावना के अनुरूप क्रियान्वयन करना।

पुनर्वास योजना - कितनी यथार्थ ?

18.111 जैसा ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि नर्मदा घाटी के बांधो से प्रभावितों के पुनर्वास के बारे में अभी पहले चरण की कार्रवाई भी पूरी नहीं हुई है। परन्तु बहुत पहले से ही दूसरी ओर जरूरत के मुताबिक लोगों को अपनी जगह से हटाने और दूसरी जगह बसाने का काम शुरू कर दिया गया था इन्हीं कार्यक्रमों को पुनर्वास योजना के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

18.112 नर्मदा घाटी की इन परियोजनाओं से लगभग 3 लाख लोगों का भविष्य जुड़ा हुआ है। **इस हालत में इसप्रकार के छुटपुट कार्यक्रमों के आधार पर पूरी पुनर्वास की संभावनाओं के बारे में किसी तरह का निष्कर्ष निकालना न व्यावहारिक है और न वाजिब है। ऐसा करना इस गंभीर समस्या के प्रति घोर अनुत्तरदायित्व का प्रतीक है।** उसे उनके भविष्य के साथ खिलवाड़ के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता है। **मेरे मत में आज की नीतियों के दायरे में जिस न्यायपूर्ण पुनर्वास की बात कही जा रही है, वह संभव ही नहीं है।** यह हो सकता है कि थोड़े बहुत लोगों को खासतौर से बड़े किसानों को कुछ आशाइशें मिल जायं, कुछ लोगों की स्थिति पहले से अच्छी भी हो जाय। इन लोगों को जब भी जरूरत हो, उदाहरण के बतौर अपनी सदाशयता को सिद्ध करने के लिए पेश किया जा सकता है। परन्तु इनसे अधिसंख्य लोगों की समस्या का समाधान कहीं प्रश्नवाचक चिन्ह बन कर अटका भी रह सकता है। अनदेखा, अनसुना और अनकहा।

पुनर्वास असंभव है ?

18.113 यह ठीक है कि आज कम से कम हम इस स्थिति में है कि नर्मदा परियोजनाओं के विस्थापितों के संबंध में बुनियादी बातों पर चर्चा कर रहे हैं। अब तक तो असरग्रस्तों के बारे में कहीं चर्चा तक नहीं होती थी, उनका क्रंदन उन्हीं घाटियों में भटकता रहता था पानी भरने तक और फिर समा जाता था उसकी तरंगों में जीवनदान की भंगिमा के रूप में। **इस परिवर्तन का स्वागत है परन्तु आज की स्थिति का माप आज का चिन्तन, आज की मान्यताएँ, आज की समझ और आज का संदर्भ ही हो सकता है। कल तक घोर अन्याय होता रहा है इसे आज के अन्याय को स्वीकारने की युक्ति नहीं माना जा सकता है।**

18.114 पुनर्वास संभव है यह सिद्ध करने के लिये यह जरूरी होगा कि लोगों की आशंकाओं और आकांक्षाओं के संदर्भ में, न्याय की पीठ और व्यवहार के पहलुओं को पूरी तरह से ध्यान में रखते हुए, एक विस्तृत और व्यापक **प्रायोजना** लोगों के सामने प्रस्तुत की जाय और बिना किसी तरह की,

सीधी या परोक्ष, अनिवार्यताओं का आभास दिए हुए उनकी स्वेच्छा सहमति प्राप्त की जाय· यह अनिवार्य पूर्व-शर्त होगी, पुनर्वास संभव है इसके आधार पर, ईमानदारी से आगे बढ़ने के लिये· इसके बाद भी उसके क्रियान्वयन के दौरान अनपेक्षित स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं जिनसे चाहे गए और माने गए रास्ते पर आगे बढ़ना संभव न हो पाये· इसे स्वीकार किया जा सकता है· परन्तु इस तरह के अप्रत्याशित जोखिम के अलावा और किसी बिंदु पर समझौते की बात न्याय संगत नहीं है·

18·115 **आज जब प्रभावित लोग चारों ओर सवालों ही सवालों से घिरे हुए हैं, उस समय पुनर्वास संभव है यह कथन मन को समझाने के लिये, औपचारिकता पूरी करने के लिये हो सकता है, वास्तविकता नहीं माना जा सकता है**· इस हालत में लोगों की जिंदगी के बुनियादी अधिकार के बारे में फैसला किये बिना आगे बढ़ना न केवल संविधान की अवहेलना होगी वरन् मानवीय अधिकारों का भी हनन होगा· परन्तु लगता है कि न केवल यही हो रहा है वरन् आज राज्य की इस संबंध में कार्रवाईयों को जायज भी माना जा रहा है· इसे दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है· परन्तु इस निष्कर्ष से आम आदमी का कोई समाधान तो नहीं हो सकता· सबसे अहम सवाल वहीं पैदा होता है कि आखिर आज हम इस स्थिति में पहुंचे कैसे गए· इसी बड़े सवाल पर हम आगे अलग से विचार करेंगे·

19

विकास में सहभागिता
व्यवहार, व्यवस्था और मानवीय अधिकार

"पुनर्वास संभव नहीं है परन्तु परियोजना पर काम तेजी से चल रहा है" इस कथन में हमारी उस बदलाव की स्थिति का इज़हार है जिसमें पुनर्वास अभी अधिकार के रूप में स्थापित नहीं हो पाया है परन्तु विकास के काम सामान्य प्रक्रिया के मुताबिक चलते रहेंगे यह अपेक्षित है। यही नहीं तथाकथित विकासवादियों की नजर में उन परियोजनाओं की स्थापना एक अटल सत्य जैसी हो जाती है और उसमें प्रभावित लोगों के जो हाथ लग जाय वह ठीक, नहीं तो उनकी किस्मत।

19.2 इस स्थिति में अब बदलाव आ रहा है। कुछ मामलों में, खासतौर से सरदार सरोवर के मामले में अपनी तमाम खामियों के बावजूद, जिन पर हम विस्तार में उम्र चर्चा कर चुके हैं, पुनर्वास लगभग एक अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया हैं। परन्तु उसमें भी सिद्धांत रूप में बहुत कुछ हो जाने के बाद भी परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी सुगम नहीं बन पायी जिससे मान्य सिद्धांतों के मुताबिक पुनर्वास भी संभव हो जाय, विकास के लाभ में हिस्सेदारी की बात तो बहुत आगे की है। सरदार सरोवर के संदर्भ में व्यवहार व्यवस्था के साथ-साथ मानवीय अधिकारों की व्यापक प्रश्न पर चर्चा करने के पहले मैं कुछ अन्य परियोजनाओं की स्थिति की ओर भी ध्यान दिलाना चाहूँगा जहाँ पर सिद्धांतों के स्तर पर भी पहल नहीं हुई है और स्थिति बड़ी शोचनीय बनी हुई है।

ठहरने का भी ठौर नहीं

19.3 जैसा कि सबको विदित ही है अनेक पुरानी परियोजनाओं के विस्थापित, आर्थिक पुनर्वास की बात तो दूर, अभी तक कहीं ठीक तरह से बस तक नहीं पाये हैं। राजस्थान के कड़ाना में कुछ विस्थापित प्रतापगढ़ के जंगलों में बसे हुए हैं परन्तु वे वन आरक्षित हैं इसलिये वन के अधिकार उनको भगाने का हर चंद प्रयास करते रहे हैं। वही हाल सोनभद्र में रिहंद बांध के विस्थापितों का है। उधर तवा, कोयलकारों और सुवर्णरेखा के मामलों में भी स्थिति अत्यन्त असंतोषजनक बनी हुई है। कोरापुट में उम्री इंद्रावती में तो डूब और लाभ क्षेत्र देने से ही भारी विस्थापन हुआ है और लोग चारों ओर बेसहारा बिखर गए हैं।

संविधानिक हस्तक्षेप की असमर्थता

19.4 ये तो रही पुरानी परियोजनाएँ। परंतु अभी हाल के सालों में भी, खासतौर से जब नर्मदा के मामले को लेकर पुनर्वास की समस्या पर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर काफी चर्चा होती रही, तब भी विभिन्न परियोजनाओंमें मौके की हालत पहले जैसी ही शोचनीय बनी रही। मैंने मध्यप्रदेश में बिलासपुर जिले की हसदेव बांगो परियोजना के बारे में, जिसमें शत-प्रतिशत आदिवासी ही विस्थापित हो रहे थे, राज्य सरकार का ध्यान आकर्षित किया था और उनसे लोगों के पुनर्वास के लिए व्यवस्था करने के लिए आग्रह किया था। मैंने उनकी असहाय स्थिति का भी जिक्र किया था कि आखिर वे अासपास के जंगलों के बाहर जा भी कैसे सकते हैं ? इसके साथ ही राज्य सरकार के नये कानून की ओर भी ध्यान आकर्षित किया था जिसमें पुनर्वास के लिये भूमि की व्यवस्था लाभक्षेत्र में की जानी अपेक्षित है। परन्तु दुर्भाग्य से यह परियोजना पहले से शुरू हो गई थी। इसलिए मुझे बताया गया कि नये कानून के परिशिष्ट में सम्मिलित न होने के कारण वहाँ के विस्थापितों को उस कानून का लाभ नहीं मिल सकता है। कैसी है

यह न्यायिक व्यवस्था जिसमें कि मात्र औपचारिकता बताकर लोगों की जिंदगी की समस्या तक से मुँह फेर लिया जा सकता है ? मैंने राज्य सरकार से आग्रह किया था कि वे तब तक के लिये इस बांध पर काम बंद कर दे जब तक कि विस्थापितों के पुनर्वास की व्यवस्था न हो जाय। तत्कालीन मुख्यमंत्री जी ने मुझको आश्वासन भी दिया था परन्तु कुछ हुआ नहीं । और काम चालू रहा। आखीर में, पानी भरने पर लोगों को उनके संविधानिक अधिकारों के बावजूद अपना घर छोड़कर भागना पड़ा जंगल में शरण लेने के लिये। परन्तु वहाँ भी उनके लिये जगह कहाँ ?

19.5 नर्मदा पर ही जबलपुर जिले में बरगी बांध स्थित है और इसमें भी बांध के बनने के पहले मैं लोगों की हालत देखने के लिए गया था। इस क्षेत्र के खास स्थिति के संदर्भ में यह संभावना थी कि नये बांधों के चारों ओर एक छोटी पट्टी में सघन विकास का कार्यक्रम बनाया जाय जिससे कि उस पट्टी की धारण क्षमता बढ़ जाय और लोग डूबे क्षेत्र से हटकर पानी के किनारे उस पट्टी में बैठ जाय। विस्थापितों की समस्या के समाधान के लिए इस तजबीज का तत्कालीन प्रधानमंत्री जी ने स्वयं अनुमोदन किया था। उसके बाद चर्चाएं हुईं, एक भारी भरकम रिपोर्ट भी बन गई, परन्तु हुआ कुछ नहीं। **पानी भरने पर लोगों को फिर बिना किसी गंतव्य के ही अपना घरबार छोड़कर भागने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा।**

पुनर्वास - औपचारिक मान्यता की ओर

19.6 इस तरह परियोजनायें बनती जा रही हैं। लोग विस्थापित होते जा रहे हैं। उनको आगे के लिए कोई उम्मीद भी नहीं बंध रही है। उधर एक पंचवर्षीय योजना के बाद दूसरी योजना मे विकास की अवधारणा एक जैसी ही बनी हुई है। तरह-तरह की उद्घोषणाओं के बावजूद सामाजिक न्याय के मामले में स्थिति बिगड़ती ही जा रही है। इसलिए यह साफ है कि विस्थापन की समस्या हर योजना में बढ़ती ही जायेगी। इसलिए इस समस्या का समाधानकारक हल तत्काल जरूरी है।

19.7 विस्थापन के मामले में सबसे व्यापक सोच और कार्रवाई नर्मदा घाटी की परियोजनाओं के बारे में हुई है। नर्मदा जल विवाद ट्रायब्युनल के पंच-फैसले के बाद पहली बार किसी परियोजना के संदर्भ में विस्थापितों की समस्या को एक तरह का कानूनी आधार मिला है। उसके बाद धीरे-धीरे एक ओर विश्व बैंककेबीच में आ जाने से और दूसरी ओर स्वयं लोगों मे जागरूकता आते जाने से एक ऐसी स्थिति आ गई है जिसमें कि यह कहा जा सकता है कि पहली बार नीति के स्तर पर पुनर्वास के मामले में इतनी स्पष्टता आई है और असरग्रस्तों की समस्या को गहराई से समझने-परखने की कोशिश की गई है। परन्तु इन सब के बावजूद मान्य नीतियों और उनकी मंशा के मुताबिक उनके क्रियान्वयन होने की सरदार सरोवर के संदर्भ में भी कोई खास संभावना नहीं दिखाई देती है और असरग्रस्तों के भविष्य के बारे में कोई बात साधिकार नहीं कही जा सकती है। इसलिए यहाँ पर एक बुनियादी सवाल आ जाता है - क्या यह विसंगति अस्थायी है? अथवा आज की व्यवस्था में कोई बुनियादी कमी तो नहीं है जिसके कारण सभी कुछ होने के बावजूद हम यथास्थिति में ही बने रहने के लिए मजबूर हैं? इसके लिए यह जरूरी होगा कि हम नर्मदा घाटी परियोजनाओं की निर्णय प्रक्रिया और उनकी कार्यनीति पर गहराई से विचार करें।

सरदार सरोवर - कुछ औपचारिक प्रक्रियाएं

19.8 नर्मदा की संभावनाओं के संदर्भ में एक बड़ी परियोजना बनाने की बात आजादी के बाद से ही होने लगी थी। उसके स्वरूप और आकार के बारे में तरह-तरह की अटकलें लगती रही जिनका विस्तार में यहाँ देना न संभव ही है, न जरूरी ही है। अन्य परियोजनाओं की तरह इस परियोजना मे भी जो लोग

विस्थापित होंगे उनका क्या होगा इस पर पहले कोई खास ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि इस मामले में कानून बिलकुल साफ है· कानून के मुताबिक लोगों को मुआवज़ा देने की व्यवस्था करना ही सरकार की जिम्मेदारी है· नर्मदा पर बांध की ऊँचाई के बारे में अलग-अलग मत बनते रहे और उसके द्वारा प्रभावित क्षेत्र का विस्तार और लोगों की संख्या एक तकनीकी कसरत का हिस्सा बने रहे· और इस परियोजना का मानवीय पक्ष बहुत समय तक सामने ही नहीं आया·

लागत और लाभ के सवाल

19·9 हमारी विकास की परियोजनाओं में आज सिद्धांत रूप से सबसे केंन्द्रीय प्रश्न है लागत और लाभ का· जाहिर है कि किसी परियोजना में लागत की तुलना में लाभ अधिक होना चाहिये जब तक कि उसमें दूसरे कारणों से यह स्वीकार न कर लिया जाय कि लागत से लाभ कम होने पर भी उसे करना जरूरी है· परन्तु लागत-लाभ का गणित भी इतना उलझा हुआ है कि इसमे आगे-पीछे करने की बहुत गुंजाइश रहती है· **उदाहरण के लिए लागत की राशि और उससे होने वाले लाभ के हिसाब करने में ब्याज की दर कितनी लगाई जाय इस एक बात से ही पूरा का पूरा गणित बदल सकता है जब कि राष्ट्रीय संदर्भ में सही अर्थों में उसका कोई मूल्य नहीं माना जा सकता है· इसीलिए बड़ी-बड़ी परियोजनाओं में भी यह हिसाब कहीं बीस, कहीं चालिस या कहीं पचास साल तक ही किया जाता है और उसके बाद का उनका लाभ नगण्य आंक दिया जाता है जबकि हो सकता है कि राष्ट्रीय व्यवस्था में सही रूप में उसका पूरा-पूरा योगदान उस समय सीमा के बाद ही हो·**

19·10 वैसे सरदार सरोवर के लागत-लाभ के बारे मे तरह-तरह की बातें कहीं गयी हैं जिसके बारे में मेरे लिए साधिकार कोई बात कहना संभव नहीं है· परन्तु फिर भी यह स्पष्ट है कि जब इस परियोजना के संबंध में बहुत सी बातें निश्चित ही नहीं है तो लागत-लाभ का सही आंकलन हो ही नहीं सकता· इसलिए लागत-लाभ के आधार पर निर्णय प्रक्रिया को तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता है·

19·11 लागत-लाभ के भी कई पहलू हैं जिसमे एक तो परियोजना पर सीधे होने वाले खर्च और इससे मिलने वाले लाभ शामिल हैं· परन्तु उसके अलावा वास्तविक लागत-लाभ के कुछ मद महज आर्थिक लागत-लाभ के बराबर ही नहीं, उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण हो सकते हैं· इनमे पर्यावरण का प्रभाव, स्वास्थ्य पर प्रभाव, और लोगों की अर्थ व्यवस्था पर प्रभाव प्रमुख हैं· पर्यावरण के प्रभाव पर चर्चा तो बहुत हुई है,परन्तु उसके बारे में अभी तक कोई ठोस आधार सुनिश्चित न हो सकने के कारण वह केवल "आंकड़ों का युद्ध" बन कर रह गया है· स्वास्थ्य पर प्रभाव के मामले में तो स्थिति बिलकुल ही स्पष्टनहीं है·

अर्थ-व्यवस्था पर दुष्प्रभावों की अनदेखी

19·12 लोगों की अर्थव्यवस्था पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव का हिसाब-किताब कुछ कोशिश होने पर कदाचित संभव हो सकता था· परंतु इसके बारे में हमारी व्यवस्था के नजरिये में बुनियादी दोष होने के कारण कोई खास विचार नहीं किया गया है· **प्राकृतिक संसाधनों पर जिंदगी बसर करने वाले लोगों का कानून में कोई स्पष्ट अधिकार न होने के कारण उसका आंकलन या तो दिखाने के लिए नैमित्तिक रूप से कर दिया जाता है अथवा इसका कोई हिसाब ही नहीं रखा जाता है·** सरदार सरोवर के मामले में भी यही हुआ है·बांध के नीचे के लोगों की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह लाभ-हानि के हिसाब में शामिल नहीं है· इसी तरह से इस परियोजना से असरग्रस्तों को क्या हानि होगी उसका तो कहीं हिसाब है ही नहीं· परन्तु असरग्रस्तों के पुनर्वास के मामले में भी हालत कोई खास अच्छी नहीं थी· पहले तो पुनर्वास की क्या व्यवस्था होगी इसलिये कोई स्पष्ट नीति ही नहीं बनी थी· इसलिए उसके लिये लागत-लाभ में हिसाब मिलने का सवाल ही नहीं था· इसी तरह से परियोजना के आनुषंगिक कार्यक्रमों से लोगों की अर्थ-व्यवस्था पर जो प्रभाव पड़ेगा वह भी उस हिसाब में शामिल नहीं हो सकता था·

19·13 इन सभी खामियों की जड़ हमारा दोषपूर्ण कानून है· हज़ारों लोग बेघर होंगे चूंकि बाँध बंधेगा, हजारों लोगो को अपने गाँव के गाँव उठाना पड़ेगा चूंकि बांध से विस्थापित वन्य प्राणियों के लिए अभयारण्य बनेगा, हजारों लोग ज़मीन से बेदखल हो जाएँगे· चूंकि वहीं पर डूब में आये हुए वनो के बदले में वनीकरण किया जाएगा, हजारों लोगों को अपने वनों में जाने और वहाँ जानवरों को चराने की मुमानियत हो जायेगी क्योंकि बाँध के आयुश्य को बढ़ाने के लिए मिट्टी का कटाव कम करना जरूरी है· बड़े बाँध बनने के साथ इन सबका होना लाजमी है· और केवल इन समस्याओं के कारण ही बड़े बाँधो को न बनाया जाय यह कहना भी वाजिब नहीं होगा· **परन्तु किसी बांध के बनने से कोई भी व्यक्ति अगर प्रभावित होता है तो उसको मानने से भी किस तरह इंकार किया जा सकता है ? अगर हमारी व्यवस्था से हर बात रुपये पैसे में आंकी जाती है तो इन लोगों के सहज अधिकारों को मानकर इस तरह से क्यों नहीं प्रस्तुत किया जा सकता कि जिससे परियोजना के लागत-लाभ का सही हिसाब मालूम पड़ सके और लोगों के साथ भी न्याय हो सके ?**

19·14 इस तरह जाहिर है कि सरदार सरोवर की लागत का सरकारी हिसाब अधूरा है· यही नहीं, अभीतक की बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के अनुभव के आधार पर उसके लिए अनुमानित लागत पर और भी भरोसा नहीं किया जा सकता हैं· जितनी बड़ी परियोजना होती है उतना ही उसको पूरा करने का समय ही लम्बा होता है· इसलिये जो व्यक्ति आज किसी परियोजना सबंधी निर्णयों के लिये जिम्मेदार है उसको आगे की चिंता केवल नैतिक जिम्मेदारी के आधार पर हो सकती है, व्यवहार के रूप में नहीं· दुर्भाग्य से आज व्यवहार प्रधान हो गया है और नैतिकता अव्यवहारिकता का पर्याय बन गई है· यही कारण है कि बड़ी परियोजनाओं में लागत को घटाकर दिखाना और लाभों को बढ़ाकर दिखाना आम बात है· अधिकांश बड़ी परियोजनाओं की लागत प्रारम्भ से अनुमानित लागत से कई गुना बढ़ जाती है और आखीर मे उनका वास्तविक लाभ अनुमानित लाभ का एक हिस्सा ही साबित होता है· इसमें सोच सब दूर यही है कि अगर किसी तरह से लागत-लाभ का हिसाब बिठा दिया जाय तो परियोजना को मंजूरी मिल जायेगी· और फिर उसके शुरू होने के बाद तो सरकार को निभाना ही पड़ेगा· उसके चलते परियोजना के साथ लगे हुए सभी तरह के स्वार्थहित तो फिर सधते ही रहेंगे·

19·15 सरदार सरोवर की लागत के बारे में भी शुरू से ही तरह-तरह की अटकलें लगाई जाती रही हैं· मंजूरी के स्तर तक पहुँचते-पहुँचते इस परियोजना की लागत 6 हजार करोड़ से ज्यादा हो गयी· और मंजूरी के कागज पर स्याही सूख भी नहीं पाई थी कि लागत के 11 हजार करोड़ रुपये होने का अनुमान किया जाने लगा· कहते हैं कि अगर यही रफ्तार रही तो वह दिन दूर नहीं है कि जब 20 हजार करोड़ रुपये की बात होने लगेगी·

19·16 यही हालत पुनर्वास पर होने वाले आंकड़ो की भी है· पहले बात 100 करोड़ रुपये से कम पर शुरू हुई, अब इसका हिसाब 500 करोड़ रुपये से अधिक आंका जा रहा है· पुनर्वास के लिये संसाधन जुटाने के लिए बाहर से ऋण लेने की बात हो रही है· अगर विस्थापितों को सही तौर सामाजिक न्याय के आधार पर बसाने की बात की जाती है तो यह राशि भी पूरी नहीं पड़ेगी· इस तरह लागत-लाभ के ये अनुमान आखीर में क्या होंगे कोई नहीं कह सकता· **सरदार सरोवर नये विकास का प्रतीक बन गया है, उसे पूरा करना है किसी भी कीमत पर·**

सामाजिक न्याय का बड़ा सवाल

19·17 लागत-लाभ के राष्ट्रीय हिसाब में सबसे बड़ा सवाल है सामाजिक न्याय का, किसको लाभ हो रहा है? किसको हानि? ये सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं· हमारी बड़ी परियोजनाओं में इसका कहीं उल्लेख तक

नही है. अर्थात् यह मान लिया जाता है कि लाभ और हानि का साधारण जोड़ ही काफी है. इसके बारे में हम पहले विस्तार में चर्चा कर चुके हैं. सरदार सरोवर के संदर्भ में इतना ही उल्लेख करना जरूरी है कि इस पर तथ्यों के संदर्भ मे बहस न होकर उसे भावनात्मक स्तर पर ही आगे बढ़ाया जा रहा है. भावनात्मक बहस अधिकतर तर्क की कमजोरी को नजर-अंदाज करने का एक सरल तरीका होता है. गुजरात के द्वारा इस परियोजना की राज्य की जीवन-डोरी के रूप मे प्रस्तुति अपनी जगह ठीक हो सकती है. **परंतु उस परियोजना में जिन लोगों की जीवन की डोर आज कट रही है उनको नजर-अंदाज नहीं किया जा सकता है. इस भावुक वातावरण में एक दूसरा अहम सवाल यह भी है कि क्या पीने के पानी जैसी इस मानवीय समस्या को हल करने का ठीक यही सरदार सरोवर एकमात्र उपाय है, इतना ही बड़ा सरदार सरोवर, इतना ही ऊँचा, इतने ही लोगों की जीवन डोरी काट कर बनाया जाने वाला सरदार सरोवर ?** क्या पीने के पानी की समस्या से जुड़े बड़े बांध का अपना रूप मानवीय नहीं हो सकता है ? और फिर उससे कितने लोगों को कितने साल के बाद पानी मिलेगा ? और जिन लोगों को पानी नहीं मिलेगा उनके लिए क्या व्यवस्था होगी ? ये सभी सवाल अनुत्तरित ही है इतनी बहस के बावजूद.

19.18 बहरहाल सरदार सरोवर की सही लागत और लाभ का पूरा हिसाब बहुत से प्रश्नों के घेरे में बंधा हुआ है. इस मामले में पूरी प्रक्रिया औपचारिक रूप से संभव हो भी नही सकती थी क्योंकि ये सभी सवाल औपचारिक व्यवस्था के नियम-कानून के दायरे के बाहर हैं. फिर भी अगर इस सवाल पर सम्यक् रूप से खुली बहस होती तो यह संभव था कि कुछ बातों पर ज्यादा सफाई हो गई होती. शुरू से ही समूची प्रक्रिया विभिन्न हितों के बीच रस्सा-कस्सी की तरह से बनी रही. पहले पानी के बटवारे को लेकर विवाद रहा जिस पर न्यायालय मे बरसों बहसें चलती रहीं. फिर हार कर आखिर में आपसी चर्चा के आधार पर एक रास्ता निकाला गया. परन्तु उस उच्च स्तरीय चर्चा में अमूर्त राज्य के हितों को प्रमुखता दी गई और पानी के उपयोग से प्रत्यक्ष प्रभावित लोगों से जुड़े हुए सामाजिक न्याय की बात अनदेखी ही रह गयी. उन फैसलों में इन लोगों की जिंदगी विनिमय की एक अमूर्त वस्तु बन कर रह गई. इसके बाद की निर्णय की पूरी प्रक्रिया गोपनीयता के आवरण में ढकी रही. जैसे-जैसे असुविधाजनक बातें एक-एक करके उजागर होती गई, वे विवाद का विषय बनती गई और फिर किसी न किसी तरह से पैबन्द लगा कर उसके सुलझाने की कोशिशें होती रहीं.

19.19 सामाजिक न्याय के संदर्भ मे पानी के उपयोग के बारे में पहले (अध्याय-15) विस्तार में चर्चा कर ही चुका हूँ. **सरदार सरोवर हमारे देश में व्याप्त होती जा रही उस केन्द्रीयकरण प्रवृत्ति का प्रतीक है जिसमें सभी संसाधनों पर एकाधिकार कर उसको बाँटने का जिम्मा अपने हाथ में लेकर व्यवस्था अपने अधिकार क्षेत्र को कई गुना बढ़ा लेती है.** इसलिए इसका कहीं कोई हिसाब नहीं मिलता है कि अगर नर्मदा के पानी को उन क्षेत्रों में, जो पहले से ही काफी आगे हैं, ले जाने की बजाय जहाँ बरसात की पहली बूँद पड़ती है वही से उपयोग शुरू किया जाता तो देश को कितना लाभ होता ? और फिर पिछड़े पहाड़ी इलाकों की उपज में थोड़ी सी बढ़ोत्तरी के व्यापक सामाजिक लाभ उन आंकड़ों की छोटी सी गोलाई से कई गुना अधिक होता.

19.20 इन परियोजनाओं का उनके ग्रहण-क्षेत्र के लोगों के अधिकारों पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसका भी कहीं कोई हिसाब नहीं हैं. महाराष्ट्र सरकार ने अपने राज्य के ग्रहण क्षेत्र के पानी पर दावा स्थापित करने के लिए सरदार सरोवर का काम आगे बढ़ने के पहले ही कई सिंचाई योजनाओं पर ताबड़तोड़ काम शुरू कर दिया था. **परन्तु मध्यप्रदेश में तो उसके बारे में कोई खास चर्चा ही सुनने में नहीं आयी. इस तरह पानी के उपयोग का आधार व्यवस्थित आयोजन न होकर विभिन्न राज्यों की प्रतिस्पर्धा सूझ और पहल**

हैं परन्तु विभिन्न दावेदारों के बीच इस तरह दावपेंच के आधार पर पानी के उपयोग का निर्धारण न तो मुनासिब ही है और न राष्ट्रीय हित में ही है। उसे सामाजिक न्याय की गरिमा से तो मंडित किया ही नहीं जा सकता।

जनहित का निर्धारण

19·21 हमारी वर्तमान कानूनी व्यवस्था इन सब पहलुओं पर उसके दायरे में भी चर्चा होना संभव था बशर्ते कानून की लीक पीटने की बजाय कार्रवाई उसकी भावना के अनुरूप की गई होती। यहाँ मेरा इशारा भूमि अधिग्रहण कानून के अंतर्गत जनहित के बारे में उल्लेख से होता। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि हमारे देश में अभी तक जनहित को बड़ा ही संकीर्ण उपनिवेशवाद परम्परा मे देखा गयाहै। कैसी विडम्बना है कि **हमारे देश की वर्तमान व्यवस्था में जनहित के निर्धारण में जन का कहीं वुजूद ही नहीं है - जनहित सरकारी अफसरों की कलम और राजनेताओं के फर्मानों में बंदी बन गया है। "सरकार का फैसला" जनहित का पर्याय मान लिया गया है। और "राज्य की सार्वभौमिकता के फैसले पर किसी को आपत्ति करने का अधिकार नहीं, शासकों की इस गर्वोक्ति पर मौन स्वीकृति दे दी गई है।**

19·22 अगर भूमि लेने के पहले भूमि अधिग्रहण कानून के तहत निर्धारित कार्रवाई की गई होती तो उसमे जनहित का सवाल उठाया जा सकता था। इसके पहले कि लोगों की जमीन लेने के बारे में अंतिम फैसला होता, लोगों की ओर से इस योजना के जनहित में होने के सरकारी दावे पर सवाल किये जा सकते थे। इसके अलावा लोग अपना पक्ष भी प्रस्तुत कर सकते थे। परन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे आज की व्यवस्था में भूमि लेने का फैसला पहले कर लिया जाता है। और अधिग्रहण की कार्रवाई बाद में होती है। इस हालत में भूमि अधिग्रहण की अदालती कार्रवाई में जनहित का सवाल या तो उठाया ही नहीं जा सकता है या उसके उठाने का कोई मतलब ही नही रहता।

19·23 इसलिए आज "जनहित क्या है" इसका निर्धारण सरकार करती है। सरकार देश की व्यवस्था पक्ष का एक अंग है, उसी का प्रतीक है। इसलिये वह व्यवस्था के मुहावरे को स्वीकार करती है। अगर जनहित का सही तौर पर निर्धारण किया जाय तो उसमें लोगों की जिंदगी का सवाल, उन लोगों के सवाल जिनकी जीवन की डोर आज कट रही है, सहज ही सबसे ऊपर आ जाते। जैसा कि मैं विस्तार में पहले चर्चा कर चुका हूँ (पृष्ठ 172, 177) कि दो भिन्न स्तरों की जरूरतों, जैसे भूख मिटाने की जरूरत और ऐश-आराम की जरूरत में गुणात्मक भेद है, उनकी कोई तुलना ही नहीं हो सकती। इसलिए इन **मामलों में नैतिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों के आधार पर ही फैसला किया जा सकता है। जब हमारा देश समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए कृतसंकल्प है तो फिर किसी अमूर्त व्यापक हित के लिए लोगों की जिंदगी के अधिकार को दांव पर कैसे लगाया जा सकता है ?**

19·24 जहाँ तक सरदार सरोवर का सवाल है उसमें तो एक और पहलू भी है। इसमें कमजोर वर्गों खास तौर से आदिवासियों के हितों का संदर्भ भी है। सरदार सरोवर के डूब क्षेत्र में लगभग 60 प्रतिशत आदवासी हैं और कुछ इलाकों में तो गांव के गाव खालिस आदिवासियो के है। इनके मामले में तो असरग्रस्तों को व्यक्तिगत स्तर पर सिर्फ मुआवजा देकर और सिर्फ आर्थिक पुनर्वास तक की बात करके संतोष नहीं किया जा सकता है। उनकी सामाजिक व्यवस्था और उनके भावनात्मक पक्ष पर भी ध्यान देना जरूरी है। इसके लिए न केवल हमारे संविधान मे व्यवस्था है परन्तु उसमें व्यापक मानवीय अधिकारों का भी सवाल आ जाता है। **दुर्भाग्य से जनहित की चर्चा का अवसर न होने के कारण दूसरी परियोजनाओं की तरह सरदार सरोवर के बनते समय आदिवासियों की विशेष स्थिति और उनके अधिकारों के बारे में भी कोई चर्चा नहीं हुई है। हाँ, यह जरूर माना गया है कि आदिवासियों को समाज के रूप में फिर से बसाया जायेगा। परन्तु यह स्वीकारोक्ति न अधिकार के रूप में स्थापित हो पाई है और न एक भरोसेमंद**

वायदे के ही रूप में· यह सिर्फ आशा की सृष्टि करती है· और जैसा हम देख चुके हैं यह आशा धीरे-धीरे दुराशा बनती रही है· इस परियोजना से उजड़े लोगों के लिए संभावित सामाजिक विघटन, बिखराव और मुफ्लिसी नियति सी बन गई है· क्या जनहित के तराजू में इसका भी कोई मोल और पैमाना हो सकता है ?

19·25 दुर्भाग्य से इन तमाम बुनियादी मानवीय मूल्यों से जुड़े हुए सवालों को नजरअंदाज करके आज "जनहित" को भी केवल आकड़ों के खेल के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है· **सरदार सरोवर परियोजना की जानकारी देने वाले खासतौर पर बनाए गए कुछ दस्तावेजों में 1·7 लाख लोगों के हितों को 47 लाख लोगों के हित के मुकाबले रखकर चुनाव करने की पेशकश की गई है·** यह प्रस्तुति ही विकृत मनःस्थिति की प्रतीक है जिसके चलते हमारे देश में विकास विनाश का प्रतीक बनता जा रहा है· यह संख्या का तर्क उस हालत में जब कि प्रभावित लोग कमजोर वर्ग के, खासतौर से आदिवासी, हों तो स्वीकार ही नहीं किया जा सकता· ऐसे ही तर्कों की चपेट से बचने के लिए हमारे संविधान में आदिवासियो के हितों की रक्षा के लिए अलग से व्यवस्था की गई है· परन्तु क्या हमारा प्रशासनतंत्र इस दायित्व को निभाने के लिये सच्चे मन से तैयार है ?

19·26 यहां पर हम विकास की अवधारणा पर आ पहुंचते हैं· सरदार सरोवर जैसे बड़े बांधो के जनहित मे होने के दावे को सिंचाई, बिजली और सरदार सरोवर के मामले में पीने के पानी के प्रदाय के रूप में प्रस्तुत किया गया है· पीने के पानी की बात मैं पहले ही कर चुका हूँ· परन्तु क्या बिजली और सिंचाई को खुद-ब-खुद अपने आप में आज जनहित का पर्याय माना जा सकता है· जनाहत की बात तो बहुत दूर बिजली और सिंचाई को तो आज के संदर्भ मे विकास का पर्याय भी नहीं माना जा सकता है· जब तक "बिजली किसलिये ?" इस प्रश्न का साफ उत्तर नहीं मिलता तब तक "बिजली विकास के लिये है," यह नहीं माना जा सकता है· इसी तरह से "सिंचाई किसलिये?" इसका साफ जवाब मिले बगैर सिंचाई को जनहित का दर्जा नहीं दिया जा सकता है·

19·27 अगर बिजली का स्तेमाल पांच सितारा संस्कृति के उभार के लिये होता है तो वह जनहित के खिलाफ है· इसी तरह अगर सिंचाई का उपयोग तम्बाकू पैदा करने के लिए होता है अथवा सिंचाई से कुछ वर्गों को ही लाभ मिलता है, उनकी ताकत बढ़ती है और अधिसंख्य लोगों को जमीन बेच कर साधनहीन होना नियति बन जाती है तो उस स्थिति में उसे भी जनहित नहीं कहा जा सकता है· जनहित की स्थापना के लिए एक व्यापक संदर्भ और उसकी कसौटी पर परियोजनाओं के उद्देश्यों का खरा उतरना जरूरी है· इस तरह के जनहित की स्थापना के लिये कोई प्रक्रिया हमारे विकास परियोजनाओं में नियोजन, समीक्षा या क्रियान्वयन - किसी भी स्तर पर अनिवार्य रूप से सम्मिलित है ही नहीं· यही नहीं, जहाँ खुले आम आदमी की जिंदगी का आधार छीना जा रहा है· वहाँ भी इस सवाल को उठाना जरूरी नहीं माना गया है, इस तरह के सवाल करने वालों को झक्की या विकास-विरोधी कह दिया जाता है·

कानून की प्रक्रिया की अनदेखी

19·28 वैसे तो भूमि अधिग्रहण कानून ही संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है परन्तु फिर भी उसके अतर्गत दी गई प्रक्रिया सत्ता के उपयोग पर कुछ अंकुश तो लगा सकता थी· दुर्भाग्य से आजादी के बाद इस कानून से संबंधित ऊपर बताए गए बुनियादी उसूलों पर तो गंभीर बहस हुई ही नहीं, वरन् उसके नेमी रूप को भी अनदेखा किये जाने और नये संदर्भ में उसकी विसंगति पर भी कोई खास बात नहीं हुई· भूमि अधिग्रहण कानून के अंतर्गत किसी व्यक्ति से उसकी जमीन लेने के पहले उससे पूछना और उसकी आपत्तियों को सुनकर उन पर उपयुक्त फैसला देना जरूरी है· उसके प्रावधानों के अतर्गत जनहित

का सवाल भी उठाया जा सकता है· परन्तु दूसरी विकास परियोजनाओं की तरह सरदार सरोवर और उसके साथ ही इंदिरा सागर के मामले में भी ये परियोजनाएँ बनेगी इस आशय का सरकारी फैसला हो जाने के बाद ही भूमि अधिग्रहण की कार्रवाई मौके पर जरूरत के मुताबिक होती रही है· इसलिए आज सरदार सरोवर के बाँध का काम, उसके लिये निर्धारित काल-क्रय के अनुसार चल रही है· परन्तु उसके लिए जमीन लेने की कार्रवाई अभी कुछ ही गांवों मे ही हो रही है· अधिकतर गांवों मे तो अभी नोटिस भी जारी नही हुए हैं· फिर इंदिरा सागर जिसका बनना सरदार सरोवर के साथ जुड़ा हुआ है, जिसके निर्माण के बारे में निर्णय सरदार सरोवर के साथ ही लिया गया है, वहाँ भी काम जारी है - हालांकि उसकी गति धीमी है· उसके लिये जमीन लेने की अभी कोई कार्रवाई शुरू नहीं हुई हैं·

19·29 अब सवाल यह है कि इन दोनों परियोजनाओं के उठते बांधो के साये में जब भूमि अधिग्रहण कानून के तहत लोगों के पास इन परियोजनाओं के लिए जमीन देने के लिए नोटिस पहुचेंगे तो उनका क्या अर्थ होगा ? क्या उस समय वे लोग परियोजनाओं के बारे मे अथवा अपनी जिंदगी के अधिकारों के बारे में कोई सवाल उठा सकेंगे ? क्या वे यह कह सकेंगे कि प्रस्तावित परियोजना जनहित में नहीं है ? इसी तरह से क्या वे अपने और भी बुनियादी हकों को लेकर यह कह सकेंगे कि यहाँ से हटने पर वे अपने जिंदगी के अधिकारो से वंचित हो जायेंगे ? और क्या सरकार के सामने यह सवाल उठाने पर कोई अनिवार्यता होगी कि वह उनके समाधानकारक हल ढूँढ़ कर उनका सहमति प्राप्त करें और तभी काम आगे बढ़ाएँ ? ये सवाल उठते रह सकते हैं - उठकर स्थानीय अदालत से उच्चतम न्यायपीठ तक जा सकते हैं परन्तु वह बांध बंधता रहेगा, उसका साया गहराता जायेगा बिना उनकी वह अरदास सुने· उनका वहाँ से हटना और अपने जिंदगी के आधार से अलहदा होना उनकी नियति है· इस हालत में यह साफ है कि अगर कानून के तहत जिन बुनियादी सवालों को उठाया जा सकता है, उन्हें वे उठाते भी है तो उनका कोई अर्थ नहीं· न्यायालय भी शायद अपना असमर्थता इसी आधार पर जाहिर कर देंगे कि परियोजनायें नियमित मंजूरी लेकर आगे बढ़ी हैं·

19·30 इस तरह भूमि अधिग्रहण कानून की प्रक्रिया में आज बुनियादी सवाल एक तरफ रह जाते हैं उसका दायरा बहुत कुछ लोगों को मुआवजे की रकम देने तक ही सीमित रह गया है· जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ इसमे भी आधी-अधूरी बात भी नहीं हो पाती है क्योंकि भूमि पर अधिकार के सवाल, जमीन की किस्म के सवाल, मुआवजे की दर के सवाल,- सवाल ही सवाल हैं, जिन पर हर मामले में नतो सुनवाई की जायेगी और न उन पर फैसला ही हो जायेगा· **इस तरह परियोजना शुरू होने के बाद की जमींनतेने की इस पूरी कार्रवाई में आज की हालत में कानून की मंशा का पालन हो रहा है यह नहीं माना जा सकता है· उसमें कानून के अनुपालन की केवल लीक पिटती है· इस तरह भूमि अधिग्रहण कानून में भूमि लेने के पहले सुनवाई का लोगों का बुनियादी अधिकार खतम हो जाता है·** और यह बुनियादी अधिकार खतम हो जाता है प्रक्रिया संबंधी विकृति से - बिना किसी संविधानिक प्रक्रिया को अपनाए ही·

मंजूरी की प्रक्रिया

19·31 औपचारिक व्यवस्था आमतौर पर इस तरह सोच समझ कर बनायी जाती है कि किसी भी प्रस्ताव का कोई छोटा-बड़ा पहलू भी अनदेखा न रह जाय, हर बिन्दु पर सोच-समझकर स्पष्ट निर्णय लिया जाय· इसी व्यवस्था की प्रक्रिया को बहुधा अनावश्यक छोटे-छोटे बिन्दुओं पर लम्बी-चौड़ी बहस और देरी का कारण बना कर "नौकरशाही" अवरोध के रूप में भर्त्सना भी की जाती हैं· जाहिर है कि इतनी बड़ी-

बड़ी परियोजनाओं के लिए तो सभी प्रक्रियाओं का समुचित पालन होना अपेक्षित ही है· कई दूसरी परियोजनाओं की तरह सरदार सरोवर में भी लगता है कि प्रारम्भिक काम बिना उपयुक्त मंजूरी के ही शुरू कर दिया गया था· मंजूरी मिलते-मिलते काफी समय बीत गया और इस बीच कानून और सोच दोनों ही मामलो में कई तरह के फेर-बदल होते रहे· जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं सरदार सरोवर परियोजना के बारे मे अभी बहुत से महत्वपूर्ण मुद्दों पर स्पष्ट चित्र ही नहीं है· इनमें भूकम्पी अध्ययन, स्वास्थ्य पर प्रभाव, पर्यावरण पर प्रभाव, ग्रहण क्षेत्र में भू संरक्षण, पुनर्वास इत्यादि शामिल है· इस परियोजना की स्वीकृति इन अध्ययनों के न होते हुए भी केवल उसके वित्तीय लागत लाभ और इंजीनियरिंग तकनीकी पहलू के आधार पर दी गई· हालांकि यह मंजूरी सशर्त मंजूरी जरूरी थी· परन्तु सवाल यह है कि मंजूरी में इन शर्तो का क्या अर्थ है? क्या उन शर्तो के पालन नही होने पर आगे कभी परियोजना को रोका जा सकता है ? और अगर ऐसा नहीं है तो इसका साफ मतलब यही है कि या तो ये तमाम मुद्दे अनावश्यक हैं· या उनके बारे में यह मान लिया गया है कि उनका पालन करना केवल कुछ कानूनी या दूसरी बाधाओं को दूर करने के लिए जरूरी है जिसके लिये अधिक से अधिक कुछ लागत में ही घट-बढ़ हो सकती है जिसे राष्ट्रीय हित को देखते हुए स्वीकार करना उचित होगा·

19·32 सच तो यह है कि इन शर्तो में सम्मलित मुद्दों को कितनी अहमियत दी जा रही है इसका कोई ठिकाना नहीं है· उदाहरण के लिए हमारे देश मे पर्यावरण की मंजूरी न मिलने के कारण कई बांध बनने के बाद रुके पड़े हैं, कुछ में नहरे नहीं बन पा रही हैं,और एक आध मामले में तो जहाँ केन्द्रीय सरकार की अनुमति की प्रत्याशा में जंगल काटकर काम शुरू कर दिया गया वहाँ संबंधित अधिकारियों पर जेलदारी मुकदमा कायम करने तक की धमकी दी जा रही है· परन्तु वहीं सरदार सरोवर के लिए जिसमें केवल सीधे-साधे लगभग 14 हजार हेक्टेयर और उससे जुड़े हुए नर्मदा सागर में 40,000 हेक्टेयर जंगल डूबेगा सशर्त मजूरी दे दी गई है· उसके बदले में जंगल लगाने की जमीन कहाँ मिलेगी इसका न कोई हिसाब है और न ठिकाना· इसके अलावा अगर विस्थापितों के पुनर्वास के लिये और कोई जमीन नहीं मिलो तो उनके लिए जंगल काटकर जमीन देने का भी इकरार भी है· इसे किस तरह की सशर्त मंजूरी माना जाय ?

19·33 परन्तु इस पूरी प्रक्रिया में मानवीय पक्ष को कितनी अहमियत दी गई औरदीजाने की व्यवस्था है उसे देख-समझकर आश्चर्य नहीं, दुःख होता है· परियोजना की मंजूरी के पहले उसकेमानवीय पहलुओं परन तो कोई खास चर्चा ही हुई है· और न इन पहलुओं पर विचार के लिए कोई जिम्मेदार ही है· कितनी विडम्बना है कि लगता है कि सिर्फ इसलिए कि हमारी औपचारिक व्यवस्था में औपचारिक रूप से जन सामान्य के लिए अलग से मंत्रालय नहीं है या किसी को वह जिम्मेदारी सौपी नहीं गई है इसलिए जन सामान्य के साथ अन्याय और उनके अधिकारों की अनदेखी होती रहने की हालत में वर्तमान व्यवस्था में कोई ऐसा बिन्दु नहीं है जिसमें विकास के पड़ने वाले दुष्परिणामों की समीक्षा और उसके लिये बचाव सुधार की तजबीज हो जाय· औपचारिक व्यवस्था में सबका जिम्मेदारीकिसी की जिम्मेदारी नहीं होती है· परन्तु सरदार सरोवर की स्थिति कुछ भिन्न है· उसमें अधिकांश प्रभावित आदिवासी हरिजन हैं और उनके कल्याण और रक्षा की जिम्मेदारी स्वयं राज्य पर ही है जिसके लिए न केवल एक मंत्रालय है वरन् संविधान के अंतर्गत कम से कम मध्यप्रदेश के लिए मंत्रि-मंडल मे एक मंत्री की व्यवस्था भी है· आदवासियों के लिए इतने बड़े हादसे वाली परियोजना पर मंजूरी के पहले किसा भी स्तर पर आदिवासी कल्याण से संबंधित किसी भी मंत्रालय/विभाग से इस मामले में परामर्श नहीं हुआ औरन उसने अपनी ओर से पहल करना जरूरी समझा· और इसलिए यह पक्ष पूरी तरह से अनदेखा रह गया·

19·34 इस तरह इन परियोजनाओं की मंजूरी एक प्रक्रिया मात्र बनकर रह गई और इसमें महत्वपूर्ण बिन्दुओं तक के मामले में जो कि उस पर अंतिम फैसले के लिये स्वयं व्यवस्था जरूरी मानती है, एतिहात नहीं बरता गया· इसमें खासतौर से आम लोगों के हितों की अनदेखी हो गयी· मैं इस विवाद मे नहीं जाना चाहूँगा कि इन तमाम अधूरी बातों के बावजूद यह मंजूरी क्यों और कैसे दी गई· परन्तु एक बात साफ है कि जब किसी परियोजना का काम शुरू हो जाता है तो उसके इर्दगिर्द बहुत से निहित स्वार्थ, जिनमें ठेकेदार, राजनेता, अधिकारी और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ सभी कोई शामिल हो जाती हैं· ऐसी हालत में उसकी मंजूरी के लिए दबाव पड़ना स्वाभाविक है· और यही दबाव गुट कानूनी बाधाओं से निपटने के लिए कोई न कोई तरीका निकाल लेते है· जिस तरह भू-अधिग्रहण कानून में उसकी प्रक्रिया की केवल औपचारिकता बरती जा रही है उसी तरह लागत लाभ या इंजीनियरी पहलू, जैसे कुछ बिन्दुओं को छोड़कर जिन्हें व्यवस्था निर्णायक मानती है, बाकी बातों का उल्लेख एक औपचारिकता पूरी करना बन गया है·

19·35 सरदार सरोवर परियोजनाओं की मंजूरी के बारे मे एक और बात भी कहने जैसी है· पर्यावरण को लेकर हमारे आसूदा वर्ग में से एक हिस्सा चिन्तित है· इसलिये पर्यावरण और विकास के बीच तालमेल बिठाने की कोशिश की जा रही है परन्तु उसका दायरा उन्हीं आसूदा लोगो की दुनिया है· पर्यावरण पर प्रभाव की बाध्य को लेकर सरदार सरोवर परियोजना बहुत दिनों तक स्की रही· 1987 के जून में पर्यावरणीय मंजूरी और अक्टूबर 1988 में योजना आयोग की इसकी मंजूरी मिल पाई· और वह भी बड़ी असाधारण स्थिति में· जिन कारणों से मजूरी स्की हुई थी वे अभी वैसे के वैसे ही हैं· हाँ, औपचारिकता को निभाने के लिए मंजूरी में कई शर्तें लगा दी गई कि अमुक बातें पूरी की जायेंगी· परन्तु परियोजना चालू हो जाने के बाद वे शर्तें कहाँ तक पूरा होती हैं, क्या उसकी कोई टोह रख सकता है, और अगर वे शर्तें पूरी नहीं होती है तो क्या किया जा सकता है ? इसके बारे में शायद सोचा ही नही गया· मंजूरी देनी थी औपचारकता पूरी हो गई·

19·36 बहरहाल सरदार सरोवर की परियोजना बहुत सी बातों की पूरी जाँच पड़ताल के बिना ही मंजूरी मिल गई है और उस पर काम चालू हो गया है· विडम्बना यह है कि आज के कानून में पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में तो इतनी सजगता आ गई है कि उसके बिना परियोजना को रोका जा सकता है· सरदार सरोवर जैसी बड़ी परियोजनाइतने दिन तक स्की रही यह दूसरी बात है कि वह कानून भी दूसरे बलों के सामने कमजोर पड़ गया और मंजूरी में शर्त बन कर रह गया· परन्तु किसी परियोजना का लोगों पर क्या असर होगा, उनके लिए क्या व्यवस्था करनी जरूरी होगी, इन बातों को लेकर कहीं कोई कानून भी नहीं है, वे व्यवस्था की सदिच्छा पर ही निर्भर है·

19·37 इसीलिए आज की व्यवस्था में बांध की हर ईंट का हिसाब हो सकता है, उसका लागत में हर रुपये का हिसाब रखा जा सकता है, पर्यावरण पर असर जानने के लिए हर पेड़ गिना जा सकता है, मगर परियोजना शुरू करने के पहले कितने लोग इससे प्रभावित होंगे यह गिनता तक करना जरूरी नहीं है· शायद सोच यही है कि आदमी अपना खुद देखभाल कर लेगा· अगर उसे विकास के लिए उसको कुछ तकलीफ भी उठानी पड़े तो ठीक ही है· इसीलिए लोगों की तकलीफ की बात होती है, आदिवासियों की विशेष सामाजिक स्थिति के बारे में निबंध भी लिखे जाते है, पुनर्वास की बात होती है, उसके बारे में अनुबंधो में भी जिक्र है परन्तु यह साफ करने की जरूरत ही नहीं समझी गई कि अगर परियोजना से लोगों को ऐसी हानि होती है जिसकी भरपाई नहीं हो सकती, यदि उनका समाज टूटता है जिसको फिर से जोड़ा नहीं जा सकता है, यदि उनकी अर्थव्यवस्था चौपट हो जाती है जिसको फिर से बनाया नही जा सकता तो भी उस परियोजना को मंजूरी नहीं दी जा सकती है या कहीं कुछ अटकाव भी हो सकता है· आदमी को कुछ भी हो सकता है, उसका परियोजना के हिसाब में कहीं कीमत आती नहीं है·

शायद इसीलिए कि उसकी कीमत आंकी नहीं जा सकती या फिर इस विश्वास के साथ कि आदमी अगर आदमी है तो अपनी देखभाल खुद ही कर लेगा आदमी की तरह·

परियोजना संरचना में जनहित की व्यवस्था

1938 इस तरह से सभी स्तरों पर असरग्रस्तों के हितों की अनदेखी के बाद भी यह उम्मीद की जा सकती थी कि व्यावहारिक स्तर पर उनके कल्याण के प्रति सजगता रहेगी· परन्तु इस मामले में भी व्यवस्था के द्वारा कदम-कदम पर उनके अधिकारों/समस्याओं के प्रति सदाशयता की बजाय उदासीनता ही नहीं वरन् विरोधी प्रतिस्पर्धा का रुख अपनाया जाता रहा है· इसमें भी सबसे बड़ा कारण तो औपचारिक व्यवस्था को अपनी ताकत का गुमान ही है· व्यवस्था का पहला सत्य है अपनी स्थिति को सही मानना· इसके चलते एक तो दूसरे पक्ष को गलत सिद्ध करने की सहज प्रवृत्ति बन जाती है अथवा उसको अनसुना करके गुण-दोष की समीक्षा की जरूरत से छुट्टी पा ली जाती है· बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के लिये जो भी संरचनाएँ बनाती हैं उनमें लोगों का कहीं बुजूद ही नहीं होता है· उनमें सरकारी कर्मचारियों के अलावा अधिक से अधिक जनप्रतिनिधियों या सामाजिक कार्यकर्ताओं विशेषज्ञों को शामिल करने की बात होती है· सरकारी कर्मचारी अपने विभाग के मुताबिक मुखौटे तो अलग-अलग लगाते हैं, यहाँ तक लोगों की ओर से बात करने का भी दम भरते हैं परन्तु इन सबकी मूल-भावना व्यवस्था के प्रस्तावों के साथ पूरी सहमति की नहीं तो समझौते की तो होती ही है· हमारे देश में आज हालत यह है कि सरकारी कर्मचारियों के अलावा दूसरे लोग भी लोगों की बात कहने में बहुधा असमर्थ ही रहते हैं· दूसरी ओर आम लोग जिस स्तर पर अपनी बात रख सकते हैं, दूसरों की बात समझ सकते हैं, गाँव या गाँव-समूह का वह स्तर हमारी व्यवस्था के लिए अनजाना है· अंत में, इन भारी भरकम संरचनाओं में इन दूसरे लोगों की बात का वजन ही कितना ? उनकी सहभागिता बहुत करके नैमित्तिक होती है· और यदि उनमें से कोई कभी कटु सत्य की ओर इशारा भी करें तो उन बड़ी-बड़ी समितियों में नक्कारखाने में तूती की आवाज· इस तरह की व्यवस्था में आज की हालत में लोकमत के लिए कहीं कोई गुंजाईश ही नहीं है·

19·39 सरदार सरोवर परियोजना में पहले तो शुरू में अध्ययन की कोई खास व्यवस्था नहीं की गई थी और जब अध्ययन शुरू किया गया तब तक कई मामलों में बहुत देरी हो चुकी थी· यही नहीं, इन संस्थाओं की अपनी कार्यविधि भी खासतौर से आदिवासी व्यवस्था के अध्ययन के लिए सक्षम ही नहीं थी इस बारे में मैंने कई सवाल उठाये, उन पर कुछ बहस भी हुई, परन्तु फिर उसके बाद चारों ओर शांति छा गई शायद इसी निष्कर्ष के साथ कि कुछ संभव ही नहीं है· इसके अलावा चूँकि समाजशास्त्रीय अध्ययन भी अन्य कई उपबंधों की तरह केवल नैमित्तिक भूमिका ही अदा करते हैं, इसलिये उनके अध्ययनों की कोई खास अहमियत भी नहीं मानी गई है· सागर विश्वविद्यालय और टाटा समाजशास्त्र संस्थान जिन्हें क्रमशः मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में विस्थापन और पुनर्वास संबधी अध्ययनों की जिम्मेदारी दी गई है, इन संस्थाओं ने विस्थापितों की स्थिति से चिंतित होकर यह राय जाहिर की है कि दोनों ही राज्य सरकारें पुनर्वास के लिये अभी तैयार नहीं हैं· उनके मत में इस हालत में परियोजनाओं के काम को चलने देना ठीक नहीं होगा· परन्तु जब लोगों के पुनर्वास को अधिकार माना ही नहीं गया तो पुनर्वास संभव है या नहीं इससे परियोजनाओं के चलने और न चलने का कोई नाता ही नहीं है, लगता है कि सभी स्तरों पर सरकार की मान्यता यही है· इन संस्थाओं की इतनी कड़ी सिफारिशों से भी सरकार की कार्यविधि पर कोई अंतर नहीं पड़ा· यदि पुनर्वास के बारे में इतनी बड़ी बुनियादी बात के बारे में सरकार का यह रवैया है तो छोटी-मोटी विसंगतियां, जो छोटी-मोटी होने के बावजूद किसी व्यक्ति के हित के लिये निर्णायक हो सकती हैं, तो कहीं ध्यान में ही नहीं आ सकती हैं· इस तरह असरग्रस्तों की हालत पर नजर रखने की व्यवस्था का व्यवहार रूप में उपयोग नहीं के बराबर है·

लोगों की प्रतिक्रिया

19·40इस तरह सरदार सरोवर परियोजना में असरग्रस्तों के लिये पंच-फैसले और विश्व बैंक के करारों के बाद नीति स्तर पर पुनर्वास के लिये प्रावधान हो गया था· यह प्रावधान पहले की परियोजनाओं की तुलना में अच्छा होते हुए भी नाकाफी था· परन्तु व्यवस्था की दो दूसरी कमियों ने उसे और भी असंतोषजनक कर दिया· एक तो इस मानवीय पक्ष के बारे में सभी स्तरों पर नितांत नेमी व्यवहार होता रहा· दूसरे उसके बारे में हर समय पूरी एहतियात बरती जा सके ऐसी परख और सुधार की कोई आंतरिक व्यवस्था भी नहीं कायम की गई· इस हालत में लोगों की समस्याओं का अनदेखा रहना और उनकी ओर से प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी· वैसे इस तरह की प्रतिक्रियाएँ कमोवेश सभी दूर होती रहती हैं उनमें सफलता भी हुई है· कई मामलों में लोगों को पुनर्वास की सुविधाएँ ही बेहतर ही नहीं बनानी पड़ी हैं वरन् परियोजनाओं में भी तब्दीली करनी पड़ी है, कहीं-कहीं तो परियोजनाओं को रोकना या छोड़ना भी पड़ा है· परन्तु सरदार सरोवर के मामले में यह प्रतिक्रिया काफी लंबी और व्यापक होने के साथ-साथ इसमें न केवल राज्य और केन्द्र सरकारें वरन् विश्व बैंक जैसे अंतर्राष्ट्रीय संस्थान भी शामिल रहे हैं· उसका आयाम भी बढ़ता गया है· इसलिये उस पर विस्तार में चर्चा जरूरी है·

19·41 जैसा आमतौर पर विकास परियोजनाओं में होता है सरदार सरोवर परियोजना के बारे में भी शुरू-शुरू में लोगों को कुछ मालूम ही नहीं था· धीरे-धीरे उसके बारे में जैसे-जैसे जानकारी मिलती गई, कई जगह लोगों को अपने भविष्य के बारे में चिंता सताने लगी· कहीं-कहीं उसकी खिलाफ्त भी हुई· खासतौर पर मध्यप्रदेश में एक बड़ा आंदोलन भी हुआ जो एक स्तर पर जाकर स्क गया और फिर उसका स्मृति अवशेष ही रह गया· परन्तु बहुत से, खासतौर से आदिवासी, लोगों के बीच इसके बारे में बहुत समय तक उदासीनता बनी रही जिसका कारण था उनका नर्मदा मइया में विश्वास· वे लोग सोच भी नहीं सकते थे कि उनकी सर्वशक्तिमान नर्मदा मां को कोई बांध भी सकता है · इस तरह वे लोग अभी-अभी तक अपनी छोटी सी दुनिया में घाटी के बाहर घिरते तूफान से बिल्कुल ही अनजान बने रहे· यही नहीं, सामने विशाल बांध बंधने का उपक्रम देखने के बावजूद उनके मन की दुनिया में आशा-दुराशा का तूफान बना ही हुआ है· अगर अभी भी कहीं से कोई लहर आ जाय तो मन उमंग से भर उठता है कि उनका विश्वास कौन जाने सही साबित हो जाय - माँ की कृपा से·

19·42 उधर नवागांव में पहला विस्थापन 1960-61 में हुआ था· परन्तु उसके बाद यह काम लगभग दो दशकों तक कोई खास आगे नहीं बढ़ा· ट्राब्युनल के पंच फैसले के बाद ही उसमें एक नई जुम्बिस पैदा हुई· पहले विस्थापन में लोगों को मुआवजे, वह भी नाममात्र, से ही संतोष करना पड़ा था· परन्तु नर्मदा के मामले में एक खास बात हुई कि पंच-फैसले और विश्व बैंक के इकरारनामों में पुनर्वास के लिये प्रावधान स्पष्ट थे जिनको लेकर कोई बात हो सकती थी, लोग सरकार के सामने अपना पक्ष रख सकते थे और सरकार अपना मंतब्य उन्हें बता सकती थी· इस तरह लोगों की प्रतिक्रिया का पहला रूप पुनर्वास की शर्तों पर बात-चीत का था· इसी बातचीत के फलस्वरूप कई शर्तों में सुधार भी किया गया जिसमें खुद गुजरात के विस्थापितों को मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के विस्थापितों के बराबर दर्जा देने का निर्णय और भूमिहीनों को भी भूमि मिलने की पात्रता महत्वपूर्ण फैसले हैं· इसके साथ ही मैदानी स्तर पर भी क्रियान्वयन की समस्याओं को लेकर लोग इकट्ठा होते रहे और उनकी बातों को सरकार के सामने रखा जाता रहा·

19·43 लोगों की ओर से इन सवालों को उठाने का एक महत्वपूर्ण नतीजा यह हुआ कि वे लोग अपनी स्थिति के बारे में और राज्य की नीति के बारे में अधिकाधिक सजग होते गये· इन चर्चाओं में उनके लिये

यह भी संभव हुआ कि वे राज्य की नीतियों पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगायें और उन नीतियों के संबंध में राज्य से सवाल करें कि क्या वे नीतियां वाकई में क्रियान्वित की जा सकती हैं· नीतियों, वायदों और मौके की स्थिति में कितना अंतर हो सकता है इसे देखने के लिए उन्हें कहीं दूर जाने के लिए जरूरत नहीं थी, पड़ौस के उकई का हादसा उनके सामने था·

19·44 सरदार सरोवर के विस्थापन और पुनर्वास पर हम विस्तार से चर्चा कर चुके हैं (अध्याय 18) जिसमें यह साफ है कि पुनर्वास का मामला - नीति, नियम और व्यवहार - तीनों ही स्तरों पर अभी सवालों ही सवालों के घेरे में हैं· व्यवस्था के लिये पूरा उपक्रम अमूर्त आंकड़ों और लेखी पदों के रूप में होता है जिसे कई तरह से समझा जा सकता है, मन को भी समझाया जा सकता है· परन्तु प्रभावित व्यक्त के लिए उसकी भोगी वास्तविकता ही सत्य है, वही उसके लिये सब कुछ है, जिस पर अमूर्त आकड़ों और नीति पदों का कोई प्रभाव नहीं, उससे उसे कोई सरोकार भी नहीं·

19·45 भोगी वास्तविकता और सरकार के साथ चर्चाओं में घाटी के लोगों को धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि न केवल नीति और वायदों के मुताबिक उन्हें सुविधायें नहीं मिल पायेंगी वरन् उनमें से बहुत से लोग उस नीति के दायरे के बाहर ही रह जायेंगे और नीति के सफल हो जाने के बावजूद उनको मुफ्लिसी के अलावा और कुछ हाथ नहीं आयेगा· **इसलिये जहाँ गुजरात के कुछ लोग सरकार की सदाशयता पर विश्वास करते हुए अभी भी इस उम्मीद में हैं कि उनकी समस्याएँ सुलझ जाएँगी, क्षेत्र के अधिकांश लोग, खास तौर पर महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के लोग अब इस नतीजे पर पहुँच गये हैं कि पुनर्वास संभव नहीं है·** इसके साथ उन्हें यह भी स्पष्ट होता गया कि कानून में सिर्फ उनको मुआवजे की पात्रता है, उसमें भी न जाने कितने लोगों के अधिकारों का कोई जिक्र ही नहीं है· और अधिकार होने पर भी अभिलेखों की कमी के कारण हो सकता है बहुत से लोगों को कुछ मिले भी नहीं· यहीं नहीं, जिन लोगों का अभी तक पुनर्वास किया गया, उनका भी अनुभव सुखद नहीं है·

19·46 सबसे बड़ी बात तो यही है कि अगर लोगों की पात्रता सरकार मान भी ले तो उनको देने के लिये जमीन ही नहीं है· **निजी जमीन खरीद कर पुनर्वास से पुनर्वास का रूप ही बदल जाता है - सरकार अपनी जिम्मेवारी सिर्फ पैसा देने तक सीमित करके यथार्थ से निपटने की बड़ी जिम्मेदारी से बच जाएगी· अगर साधारण आदमी जमीन नहीं ले पाया या जमीन मिलने पर धोखा हो पाया तो वह किसका मुँह देखेगा उसका कोई सहारा नहीं रहेगा· आदिवासियों के लिये तो नई व्यवस्था में कोई आधार ही नहीं दिखाई देता· वह समाज और व्यक्ति के रूप में भी बच पाएगा इसका कोई भरोसा नहीं· इसी कारण आज की हालत के बारे में इस घाटी के अधिकांश लोग इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि उससे कुछ लोगों को लाभ मिल सकता है पर आम आदमी का पुनर्वास संभव ही नहीं है· इसलिये इन लोगों ने इस संबंध में इन परियोजनाओं की पूरी खिलाफ्त करने का फैसला किया है और उसके लिए वे संघर्ष कर रहे हैं·**

19·47 सरदार सरोवर के विस्थापितों के लिये पुनर्वास के मामले में नीति स्तर पर इतना सब कुछ करने के बाद एक बात खटकती है व्यवस्था में दायित्वबोध और संवेदनशीलता का अभाव· अगर दायित्व बोध होता तो व्यवस्था स्वयं हर बिंदु पर यह सोचने के लिए मजबूर हो जाती कि कही किसी के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा है· अभी की हालत में यही लगता है मानों हर बिंदु पर निर्णय राज्य के दायित्व बोध की बजाय बाहरी दबाव के कारण लिया गया हो· इसलिए औपचारिक पंच-फैसला और अनुबंधों के बावजूद उनकी शर्तों के व्यावहारिक अर्थो और उनके दायरे के बारे में भारी मतभेद बना रहा· और जब लगा कि सिर पर ही आ गई तब भी उतना ही देने की सोची गई जिससे कि उस समय का झंझट खत्म हो जाय· इसमें समग्र दृष्टि के न रहने के कारण एक समस्या के क्षणिक समाधान से दूसरी समस्या आती गई है· इस तरह वह एक न समाप्त होने वाली प्रक्रिया जैसी बन गई है· लोगों के धीरज टूटने का यही सबसे बड़ा कारण है·

आंदोलन के व्यापक आयाम

19·48 नर्मदा घाटी के लोगों के संघर्ष का एक दूसरा आयाम भी है· बहुत से ऐसे लोगों ने, जो अपने-अपने इलाकों में विकास परियोजनाओं के प्रभावों से जूझ रहे हैं, नर्मदा घाटा के लोगों के साथ मिलकर राष्ट्रीय स्तर पर अपनी बात आगे रखने का फैसला किया है· इसलिए अब यह आंदोलन केवल सरदार सरोवर या इंदिरा सागर बांधों के प्रभावितों तक ही सीमित नहीं रह गया है वरन् पूरे देश, खास तौर से आदिवासी क्षेत्रों में चल रही नीतियों, परियोजनाओं और उनके कारण होने वाले दुष्प्रभावों के खिलाफ लोगों के अपने जिंदगी के अधिकार से जुड़ गया है· लोगों की जिंदगी के अधिकार के बारे में मैं कई बार स्पष्ट कर चुका हूं कि वह स्वयंभू है, वह सभी तरह की औपचारिक मान्यताओं के ऊपर है· परन्तु औपचारिक दायरे के अंदर भी जिंदगी का अधिकार एक बुनियादी मान्यता है जो हमारे संविधान में प्रस्थापित है· इसलिए इस समय यह आंदोलन केवल किसी बांध के संबंध में सीमित आंदोलन न होकर बुनियादी सिद्धांतों और मानवीय मूल्यों के संबंध में एक व्यापक आंदोलन बन गया है और उस पर उसी तरह से विचार करने की जरूरत होगी·

और उसकी अनदेखी

19·49 मुझे खेद है कि राष्ट्रीय स्तर पर नर्मदा घाटी के उस जन आंदोलन के साथ जो विकास के आधारभूत बुनियादी सिद्धांतों के बारे में एक नया मोड़ आ रहा है उसकी ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है· सभी प्राधिकरण और सरकारें इस समस्या को अपने-अपने सीमित दायरे मे देखने का प्रयास कर रही हैं· और सबसे खेद की बात तो यह है कि उसके व्यापक संदर्भ को इस आधार पर नकारा जा रहा है किकहीं इन "थोड़े से" लोगों की बात को मानने से बहुत से दूसरे लोग भी अपने अधिकार की बात तो न करने लगें· **कम से कम प्रजातांत्रिक व्यवस्था में राज्य से इस प्रकार की उम्मीद नहीं की जा सकती है कि वह यह कहे कि इस अन्याय को इसलिए मान्यता नहीं दी जा सकती है कि दूसरी जगह घोर अन्याय हो रहा अथवा पहले और भी अधिक अन्याय होता रहा है· आखिर अगर सामाजिक न्याय हमारी व्यवस्था की धुरी है तो जहाँ भी जैसा भी अन्याय सामने आये उसको दूर करना राज्य का फर्ज बन जाता है·** जब तक नर्मदा के जनांदोलन को इस दृष्टि से नहीं देखा जायेगा तब तक उसका समाधान होना संभव नहीं है·

भावनात्मक पहलू की वास्तविकता

19·50 नर्मदा घाटी और उसके साथ ही दूसरे इलाकों के लोगों की इस प्रतिक्रिया को कि वे विनाशकारी विकास परियोजनाओं का पूरा विरोध करेंगे; भावनात्मक पहलू भी है · **परन्तु भावनात्मक पहलू की वास्तविकता से तो इंकार नहीं किया जा सकता है· और फिर आदिवासी क्षेत्रों के संदर्भ में तो भावनात्मक पहलू ही प्रधान है जिसकी रक्षा न केवल हमारे संविधान वरन् अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में भी प्रतिबिंबित है· छोटे से आदिवासी समाज की छोटी सी दुनिया - उसी में उसका पुरातन और वर्तमान, धर्म और कर्म, नीति और अर्थ, अस्मिता और भविष्य सभी कुछ समाया हुआ है - उसके बाहर वह अपनी जिंदगी की कल्पना भी नहीं कर सकता है· इस वास्तविकता को महज भावनात्मक कह कर नकारा नहीं जा सकता· यदि ऐसा होता है तो वह लोगों के साथ अन्याय है·** परन्तु इसको अगर हम थोड़ी देर के लिए एक ओर कर भी दें, तो नर्मदा घाटी के लोगों में आज प्रतिरोध का एक दूसरा मूल कारण है लोगों का राज्य की नीतियों में भरोसे का अभाव· और जैसा मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूं कि न केवल राज्य की नीतियों वरन् उनकी कार्ययोजनाओं में इतनी तरह की विसगतियां हैं कि उनकेरहते लोगों का सरकार पर भरोसा बंध जाय· यही सबसे बड़ा आश्चर्य होगा·

19·51 लोग बड़े बांधों का विरोध कर रहे हैं और नर्मदा के बांध गलत विकास नीतियों के प्रतीक बन चुके है· इसलिए यह जरूरी हो गया है कि विकास की अवधारणा पर ही राष्ट्रीय बहस हो और उसमें यह सुनिश्चित किया जाय कि विकास की प्रक्रिया में सामाजिक न्याय केन्द्रीय होगा· हालांकि इस व्यापक पहलू पर तुरंत विचार करना उचित होगा परंतु उसके साथ-साथ नर्मदा पर बांधों के सीमित दायरे में भी तत्काल पहल करने का तत्काल जरूरी है·

असरग्रस्तों की सहमति एक पूर्व-शर्त

19·52 बांध के विरोध के बारे में मतमतांतर हो सकता है परन्तु आज सभी दूर एक बात पर पूरी सहमति है कि असरग्रस्तों के लिए ऐसी व्यवस्था तो की ही जाय जिससे पुनर्वास के बाद की स्थिति आज की स्थिति से अच्छी हो· मेरे मत में यह भी पर्याप्त नहीं होगा· **मेरे मत में सामाजिक न्याय तभी कहा जा सकता है जब कि असरग्रस्तों के लिए यह सुनिश्चित किया जाय कि वे उस परियोजना के लाभों में भागीदार हों· यदि गुजरात नर्मदा को अपनी जीवनडोरी मानता है तो उस जीवनडोरी के बनने से जिनके अस्तित्व पर प्रश्नवाचक चिन्ह लग रहा है, उनकी सहभागिता तो सुनिश्चित की जाय·** मैं पहले कह चुका हूँ कि आज का स्थिति में लोगों का पुनर्वास संभव ही नहीं है· लोगों के समाधानकारक पुनर्वास के लिए कुछ बुनियादी उसूलों को स्वीकारना होगा· इसलिए जब तक उन बुनियादी उसूलों के सदर्भ में लोगों की सहमति के आधार पर पुनर्वास योजना नहीं बन जाती **तब तक सरदार सरोवर सहित किसी भी परियोजना को आगे बढ़ते देने को नियोजित विकास नहीं कहा जा सकता है·**

सर्चे की हड़बड़ी का असली रूप

19·53 विकास परियोजनाओं के मामले में सभी महत्वपूर्ण मुद्दों पर समाधानकारक हल निकले बिना ही उनके तदर्थ रूप से आगे बढ़ते रहने की प्रवृत्ति एक और चिंताजनक बात है जिसका उल्लेख करना जरूरी है· इसके दो पहलू हैं· एक तो किसी परियोजना में जितना काम का फैलाव होता जाता है उतना ही निहित स्वार्थों का भी जमाव होता जाता है· इनकी सुगठित ताकत के मुकाबले सुदूर अंचलों में फैले हुए साधारण लोगों का खड़ा होना नामुमकिन नहीं तो कठिन तो हो ही जाता है· ये निहित स्वार्थ तरह-तरहके हथकंडे अपनाने में बाज नहीं आते· दूसरी ओर जैसे-जैसे काम बढ़ता जाता है आगे बढ़ने के लिये वह अपने आप में एक तर्क बनता जाता है· इसलिये कोशिश यही रहती है कि परियोजना को "न लौटने"की स्थिति में पहुँचा दिया जाय जिससे आखीर मे राष्ट्रीय स्तर पर व्यय-अपव्यय का सवाल खड़ा करके यह दावा किया जा सके कि अब कोई विकल्प ही नहीं है·

19·54 सरदार सरोवर के मामले में यही कोशिश होती प्रतीत हो रही है· **जहाँ एक ओर असरग्रसत लोगों की समस्या के उनकी सहमति के आधार पर समाधान के कोई आसार नहीं नजर आ रहे हैं, वहीं दूसरी ओर सशर्त मंजूरी के आधार पर ही परियोजना के काम को और भी अधिक तेजी से आगे बढ़ाया जा रहा है·** वैसे तो अभी पूरी लागत कितनी होगी इसका कोई हिसाब नहीं है· परन्तु फिर भी यह तर्क जो उभर रहा है उसके बारे मे सफाई जरूरी है· मानवीय अधिकारों की विनिमेय नहीं माना जा सकता है, उसकी कोई कीमत नहीं आंकी जा सकती है· **इसलिये अगर मानवीय अधिकारों से संबंधित बिन्दुओं पर फैसला किये बिना कोई परियोजना चालू रखी जाती है तो उसका जोखिम सरकार को उठाना होगा· इसका दूसरा विकल्प यही हो सकता है कि जब तक मानवीय पहलू का समाधानकारक हल न हो जाय किसीप्रकार के वे सर्चे न बढ़ने दिये जाँय जिनके आधार पर अंत में यह कहना पड़े कि अब क्या करें इतना सर्च तो हो ही गया·**

कानून और संविधान के उल्लंघन की स्वीकारोक्ति

19.55 परियोजना और पुनर्वास के अंर्तसंबंधों के मामले में पूरी सफाई तभी आयेगी जब कि पुनर्वास की कुछ दूसरी बुनियादी बातों पर भी सफाई हो जाय. लोगों के साथ न्याय करने के लिए सबसे पहली शर्त यही होगी कि **यह स्वीकार किया जाय कि देश के दूसरी परियोजनाओं के साथ-साथ नर्मदा घाटी की परियोजनाओं के मामलों में भी भू-अर्जन की पूरी कार्रवाई में वर्तमान कानून की भावना की अवहेलना की गई है और आगे भी होती रहेगी. दूसरे इस कानून में लोगों के जिंदगी के बुनियादी अधिकारों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है. इसलिये वह कानून स्वयं संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है. यही नहीं, आदिवासी अंचलों में राज्य न केवल उन लोगों के संवैधानिक अधिकारों का अनदेखा किया है वरन् मानवीय अधिकारों को भी नजरअंदाज किया है. खेद की बात तो यह है कि इस मामले में राज्य व्यवस्था में अपने दायित्व को निभाने की बात तो अलग, उसका एहसास तक नहीं है.**

19.56 मैंने अपनी पिछली रिपोर्ट में राज्य के दायित्व के संदर्भ मे कुछ स्पष्ट बातें की थीं. इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि जहाँ एक ओर ऐसे लोग, जिनकी रक्षा का भार राज्य के कंधों पर रखा गया हो, जब अपने जीवन के अधिकार की लड़ाई कर रहे हों तो उस समय राज्य बल का प्रयोग कर उन्हें तितर-बितर करने के लिए आमादा हो. यहाँ पर सवाल तकनीकी रूप से कानून का नहीं है, प्रश्न मानवीय मूल्यों का है. इस संदर्भ मे सुलेमान के न्याय के उस आख्यान की ओर ध्यान दिलाना चाहूँगा जिसमें कहते हैं कि शहंशाह ने एक बड़ा ही खुबसूरत विशाल महल बनवाया था। महल बन जाने पर एक बड़ा जश्न मनाया गया. दूर-दूर से आए शाही मेहमानों ने उस महल और उसके आसपासके खूबसूरत बगीचे की बेहद तारीफ की - दुनिया भर में बेमिसाल था वह. मगर वह क्या, उसमहल के बीचों-बीच एक टूटी-फूटी झोपड़ी ? बड़ी बेतुकी दिखाई दे रही थी वह. पूछने पर शहंशाह ने बताया कि " क्या करें, उस बुढ़िया को बहुत समझाया अपनी झोपड़ी को वहाँ से हटा ले, महल बन रहा है लेकिन उसने एक नहीं मानी. क्या कहें उस बूढ़ी अम्मा की ? काश, समता न्याय और भाईचारे की दुहाई देने वाला आधुनिक राज्य सुलेमान की उस राजशाही संवेदना के स्तर पर पहुँच जाता.

राष्ट्रीय नीति का अभाव

19.57 मुझे खेद है कि अभी तक विस्थापन के इस बुनियादी सवाल की लेकर जिस ऊँचे स्तर पर विचार होना चाहिए था, नहीं हुआ. केन्द्रीय सरकार बहुत समय से विस्थापन और पुनर्वास के मामले पर एक राष्ट्रीय नीति बनाने के लिए प्रयत्नशील रही है. नीति बनाने का प्रयास अभिनंदनीय है परन्तु जब तक वर्तमान व्यवस्था की उन बुनियादी खामियों को, जो न केवल लोकहित के खिलाफ हैं वरन् संविधान की और मानवीय अधिकारों का भी खुला उल्लंघन है, ठीक नहीं किया जाता तब तक ये प्रयत्न सुंदर आलेख बन कर रह जायेंगे. दूसरे पुनर्वास के लिए आदिवासी इलाकों और दूसरे इलाकों के लिए एक नीति नहीं बन सकता है क्योंकि दोनों की स्थिति में गुणात्मक भेद है. इसी भेद को नजरअंदाज करने के कारण ही आदिवासी अंचलों में आज इतनी तबाही मची हुई है जिसको हमारी व्यवस्था नियम कानून के तिनके की ओट में रखकर नजरअंदाज करता है.

परन्तु तत्काल हल जरूरी

19.58 परन्तु ऐसी कोई राष्ट्रीय नीति के बनने तक लोगों की तत्काल समस्याओं के समाधान की जरूरत से तो मुँह नहीं फेरा जा सकता है. और आज नर्मदा के ये बांध हमारी पूरी विकास प्रक्रिया की विभीषिका के प्रतीक बन चुके हैं. इसलिए अगर समाधान की शुरुआत यहाँ से की जाय तो मूल्यों पर आधारित

व्यावहारिक नीति बनाने में भी कुछ दिशा मिलेगी· आम आदमी पर विकास के जो उलट-प्रहार पड़ रहे हैं उनका कहीं कोई सवाल न उठा दे, इसलिए लोगों की समस्याओं का समाधान न करना, न केवल अन्याय है, वरन् व्यावहारिक भी नहीं· यदि लोगों की सहमति की किसी परियोजना के लिए अनिवार्य शर्त मान लिया जाता है तो ऐसे तर्क अपने आप रास्ते से हट जाएँगे·

बुनियादी बदलाव का अहसास जरूरी

19·59 आज लोग अपने अधिकारों के बारे में सजग होकर व्यवस्था से माँग कर रहे हैं तब उनकी बात को पुरानी गैर-समझी की हालत का हवाला दिये बिना, नये संदर्भ में और उन बुनियादी उसूलों के दायरे में देखना लाजमी होगा जिनकी हम विस्तार में चर्चा कर चुके हैं· इसलिये पुरानी बातों को नहीं दुहरायाजा सकता है· जब तक लोगों को संबंधों के बारे में सही अहसास न हो, वे अन्याय को जायज मानकर सहते रह सकते हैं· परन्तु उनकी अन्यायी प्रकृति के बारे में अहसास होने के बाद स्थिति बदल जाती है· किसी परतंत्र देश में जिस दिन लोग गुलामी पर सवाल उठा दें और मन से उसे अमान्य कर दें उसी दिन समझ लो कि आजादी हो गई - इस मानसिक स्थिति का उदय ही क्रांति है आगे सब केवल उस वैचारिक क्रांति को व्यवहार रूप देने की बात है इसके अलावा कुछ सही- उसमें संघर्ष है, बलिदान है, परन्तु वह क्रांति का चोला है उसकी रूह नहीं· उस "क्रांति" के बाद की दुनिया ही बदल जाती है· यही स्थिति विकास के उलट प्रहारों से त्रस्त लोगों के बारे में है· अब लोग उस अन्यायी व्यवस्था को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है, जिसमें उनकी अस्मिता के खंडहरों पर कोई शीशमहल बने· उन्होंने इस पूरी प्रक्रिया में न केवल उसकी असंवैधानिकता का अहसास किया है वरन् मनुष्य के सबसे पवित्र अधिकार, जीवन के अधिकार की अवहेलना के रूप को पहचान लिया है· यह एक क्रांति है· इस क्रांति के बाद विकास के उलट-प्रहारों से प्रभावित लोगों की पहले जैसी स्थिति नहीं रह सकती है· खेद है कि राज्य ने वर्तमान स्थिति की इस नजाकत को अभी समझने की कोशिश ही नहीं की है- वे अभी यही सोचे बैठे हैं कि वही पुरानी स्थिति बनी हुई है जिसमें लोग मुआवजे की याचना और पुनर्वास की गुहार करेंगे· वे लोगों के उस अध्याय को समाप्त कर नये संकल्प की विशाल संभावनाओं को समझ नहीं पा रहे हैं· मैंने इस मामले में मैदानी हालत की नजाकत को देखते हुए राज्य स्तर पर तीनों मुख्यमंत्रियों को और केंद्रीय स्तर पर स्वयं प्रधानमंत्री से आग्रह किया था कि वे अब तक के बने घेरों से निकल कर नये संदर्भ में इस समस्या के समाधान के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करें जिससे लोगों के साथ संवाद शुरू हो सके (अनुलग्नक 1-7)। परन्तु खेद है कि इस मामले में अभी किसी तरह के पहल के आसार नहीं दिखाई दे रहे हैं·

बल का प्रयोग निन्दनीय

19·60 संवाद की बजाय टकराव और दमन की कुछ चिंताजनक घटनाएँ हुई हैं· अभी हाल में मध्यप्रदेश में बड़वानी और अलीराजपुर में पुलिस कार्रवाई की गई जिसमें महिलाओं को भी नहीं बख्शा गया और एक जगह तो घुड़सवारों का भी प्रयोग कियागया· इसी तरह से गुजरात मे ईंट और गारे के ढेरों को शासकीय गोपनीयता कानून घेरे में संजो कर जीवन के अधिकार के लिए संघर्ष करने वाले के खिलाफ़ बल का प्रयोग किया था· इन घटनाओं की जितने कड़े शब्दों में भर्त्सना की जाय कम ही है· मुझे विश्वास है कि कानून, संविधान और मानवीय अधिकारों के इस स्पष्ट विवेचन के बाद कोई भी राज्य उन बेसहारा लोगों के खिलाफ़, जो कि अपनी जिंदगी की लड़ाई लड़ रहे हैं, ताकत अजमाने की कुचेष्टा नहीं करेगा·

सवाल राष्ट्रीय संवेदना का

19·61 जीवन की अधिकार की लड़ाई के संदर्भ में किसी तरह का बल प्रयोग करना असंगत ही नहीं सबसे बड़ा अपराध है· आश्चर्य और खेद है कि इस मामले में कुछ जिम्मेदार लोगों को यहाँ तक कहने से संकोच है नहीं कि "जब इस बांध में पानी भरने लगेगा तो लोगों को आंख बंद करके भागना पड़ेगा, वे लोग वहाँ डूबने के लिए वहाँ नहीं रुकेंगे·" हाँ, अब तक का अनुभव भी यही है, यही हसदेव बांगो में हुआ, यही बरगी में हुआ· इन इलाकों के लोग आखीर तक अपनी गुहार करते रहे· लेकिन सत्ताधारियों ने इन बांधो पर काम नहीं रोका· यहाँ **सीधे-सीधे बल का प्रयोग तो नहीं किया गया तो भी व्यवस्था पानी की बाढ़ का शस्त्र लेकर परोक्ष रूप से उन पर मर्णान्तक प्रहार करने से नहीं चूकी**· यही कहानी सभी तरह के प्राकृतिक संसाधनों से जिंदगी बसर करने वाले सबसे निरीह स्वतंत्र भारत के नागरिकों की है·

19·62 हो सकता है कि अब तक यह अमानवीय घटनाक्रम अनजाने में चलता रहा है· मैं नहीं समझता हूं कि हमारे देश मे अभी संवेदना इस निचले स्तर तक पहुँच गई है कि किसी बांध की आखीरी ईंट यह देखते हुए भी रख दी जाय कि कोई ऐसा व्यक्ति जो अपने अधिकार की स्थापना के लिए लड़ रहा है, वहा से नहीं हट रहा है उसमें डूब जायेगा· अगर राष्ट्रीय संवेदना इस रसातल तक गिर चुकी है तो कुछ कहने की गुंजाईश ही नहीं है· परन्तु मुझे विश्वास है कि यह हमारे देश की सामान्य संवेदना के प्रतिकूल है, आम आदमी इसके प्रति विद्रोह कर देगा· यदि नर्मदा घाटी या किसी भी परियोजना से प्रभावित सभी लोग अपने जीवन के अधिकार की रक्षा में वहाँ से हटने के लिए नहीं तैयार है तो प्रजातांत्रिक व्यवस्था में कोई ऐसी ताकत नहीं है जो उनको वहाँ से हटने को मजबूर कर सके· यदि वैसा होता है तो वह प्रजातांत्रिक मूल्यों की बलि चढ़ने के बिना नहीं होगी·

समाधान का रास्ता

19·63 नर्मदा घाटी के वर्तमान गतिरोध को दूर करने के लिए एक ही रास्ता है और वह है सद्भावना के परिवेश में लोगों के साथ संवाद· परन्तु आज जब घाटी के लोगों के मन में यह विश्वास बैठ गया है कि पुनर्वास संभव नहीं है और आज की स्थिति में उनके तर्क अकाट्य हैं, तो वे जब नर्मदा और उस पर निर्माणाधीन सरदार सरोवर की ओर निहारते हैं तो उन्हें सामाजिक बिखराव और विनाश के अलावा और कुछ भी दिखाई नहीं देता है· ऐसी मानसिक स्थिति में अर्थपूर्ण संवाद असंभव है· वैसे तो लोगों ने "जलसमाधि" का संकल्प लिया है और किसी भी तरह के शक्ति प्रयोग के सामने न झुकने का उनका फैसला है· अगर यह फैसला कायम रहता है तो बांध के बंध जाने पर भी इसे पानी से भरना नामुमकिन होगा· उनके इस संकल्प को बदलने की एक ही संभावना है वह है असरग्रस्तों और सरकार दोनों ही पक्षों द्वारा मान्य नीतियों, कार्यक्रमों और तथ्यों के आधार पर लोगों में यह विश्वास पैदा किया जाय कि वे विकास के सही अर्थों में सहभागी होंगे·

19·64 उदाहरण के लिए लोगों को असली डर है कि जब तक उन्हें अपनी सामाजिक अस्मिता को बरकरार रखते हुए दूसरी जगह बसने के लिये सुविधा नहीं मिल जाती है तब तक पुनर्वास के लिये दूसरे और भी किसी तरह के आश्वासन का कोई खास अर्थ नहीं होगा· **क्या इसके जवाब में ताप्ति क्षेत्र के लोग अपनी पूरी जमीन इस तरह बटवारा करने के लिये तैयार होंगे जिसमें असरग्रस्तों की सामाजिक इकाई के बिना टूटे गाँव के गाँव उनके बीच में बस सके और उसके साथ ही उसमें स्थानीय भूमिहीन मेहनतकशों को विस्थापितों के लिये जगह करने के बहाने "दूसरे विस्थापन" के लिये मजबूर न होना पड़े और उनको भी उसमें रहने और जिंदगी चलाने का हक बना रहे**· अभी तक जितने भी समाधान

सुझाये जाते रहे हैं, उनमें एक ओर तो यह सुनिश्चित सा ही होता है लाभ क्षेत्र के किसी भी भूस्वामी को एक रत्ती भर का भी नुकसान नहीं हो· इसके अलावा उनमें से कुछ आसूदा लोगों को अप्रत्याशित लाभ का भी जुगाड़ हो जाता है जब कि कुछ साधनहीनों के सहारे का आखिरी धागा भी टूट जायेगा· उधर जहाँ तक असरग्रस्तों की समस्याओं का सवाल है उनसे राष्ट्र या राज्य उलझे और उनको जितना जो मिल जाय यह उनका भाग्य· क्या जिन लोगों को आगे भारी लाभ मिलने की उम्मीदहै वे उस विकास के लिये उसलाभ में से एक हिस्सा असरग्रसतों को सहभागी बनाने के निमित्त देने के लिए तैयार होंगे ? इस कल्पना में महाराष्ट्र या मध्यप्रदेश जैसे कानून से ही काम नहीं चलेगा,उससे बहुत आगे जाना पड़ेगा - क्या राज्य और लोगों को यह स्वीकार्य होगा ? **बहरहाल इस तरह साफ है कि लोगों की सहमति के आधार पर पुनर्वास की योजना ही परियोजना के निर्माण के लिए न्यूनतम पूर्व शर्त है·**

19·65**परन्तु अगर सिदांत स्तर पर इस प्रस्ताव को मान भी लिया गया तो सरदार सरोवर या दूसरी चालू परियोजनाओं में इस प्रकार का आयोजन करने में समय लगेगा·** इस बीच लोगों को यह आश्वासन कैसे होगा कि वह कसरत सिर्फ समय काटने के लिए नहीं ? आज की हालत में इस बारे में जल्दी-जल्दी लोग आश्वस्त नहीं होंगे· क्योंकि वायदों के मामलेमेंराज्य/प्रशासन की छबि अत्यन्त धूमिल है· खासतौर से सरदार सरोवर के मामले में अभी निर्माण के लिये जो हड़बड़ी दिखाई जा रही है उससे आम आदमी को यही लग रहा है कि उसे किसी न किसी तरह "न लौटने" की स्थिति में पहुंचा दिया जाय· सबसे पहले तो यह माहौल बदलना होगा· पुनर्वास के लिए असरग्रस्तों की सहमति से ही विस्तृत कार्य-योजना जिसमें पुनर्वास, बांध का काम इत्यादि सभी कुछ शामिल हो· अगर इसमें असरग्रस्तों की सहमति नहीं मिल जाती है तो जब तक वह सहमति नहीं मिल जाती है तब तक के लिये बांध के काम को रोकने के अलावा और कोई विकल्प नहीं रह जायेगा·

19·66 इसी साल घाटी के कुछ गाँवों के डूब में आने की संभावना को देखते हुए असरग्रस्तों ने अपनी-अपनी सरकारों पर अपनी रक्षा के लिये दबाव डाला है· सबसे पहले मध्य प्रदेश सरकार सरदार सरोवर के पूरे मामले की फिर से समीक्षा की जाय इसके लिये केंद्रीय सरकार से आग्रह करने के लिये तैयार हुई (मार्च 1990) इसी तरह से अपने राज्य के लोगों की स्थिति को देखते हुए महाराष्ट्र सरकार ने यह स्वीकार किया है (अप्रैल 1990) कि जब तक लोगों का सहमति से पुनर्वास की योजना नहीं बन जाती है तब तक सरदार सरोवर में कोई ऐसा निर्माण कार्य न किया जाय जिससे नर्मदा के बहाव में अवरोध आये और घाटी में सामान्य से अधिक पानी के जमाव की संभावना बढ़ जाय· यह प्रस्ताव आगे के संवाद के लिए सभी राज्यों के बीच सहमति का आधार बन सकता है·

19·67 परन्तु यह खेद का विषय है कि इस मामले में अभी तक (मई 1990) सभी ओर से प्रतिक्रियाएँ सकारात्मक और समाधानकारक नहीं हैं· वरन् अब यह संघर्ष एक नया मोड़ ले रहा है· असरग्रस्तों के जिंदगी के अधिकार के लिए संघर्ष के विरोध में अब तक की एक अनकही मान्यता खुल कर सामने आ रही है· गुजरात की सरकार ने औपचारिक रूप से राज्य के हित को सामने रख कर उनके आंदोलन की खिलाफ्त की है· उसमें नर्मदा जल विवाद ट्राब्युनल के फैसले पर कायम रहने की कानूनी बाध्यता का भी हवाला दिया जा रहा है· और गुजरात के लोगों को कहीं हिंसा का रास्ता अपनाने के लिये बाध्य न हो जाना पड़े इसका भी डर बताया जा रहा है· राज्य के हित के तर्क का सभी राजनीतिक दलों ने आम सहमति से समर्थन किया है· खुद सरकार ने इस प्रति-आंदोलन की अगुवाई संभाली है·

19·68 वैसे तो ऐसे मामलों में सर्वदलीय सहमति सहित से तमाम तर्क कोई नई बात नहीं हैं· जब भी आदिवासियों का हित बड़े हितों से टकराता है तो उसको अनदेखा करने की कोशिश होती है· आंध्रप्रदेश

में आदिवासी भूमि के संरक्षण के कानून की अवहेलना इसका जीता जागता उदाहरण है· लगता है वही हालत नर्मदा घाटी में भी होती जा रही है· राज्य के हित और असरग्रस्तों के हित को एक साथ तराजू में तौलकर न्याय का रास्ता निर्धारित करने की पेशकश है· जैसे मैं कई बार कह चुका हूं कि **जिंदगी के अधिकार और समाज की अस्मिता को संख्या के तराजू पर नहीं तौला जा सकता है· यहाँ सवाल मानवीय मूल्यों का है· अगर संख्या का तर्क स्वीकार किया जाता है तो न्याय और मानवीय मूल्यों की संवैधानिक अवधारणाएँ निरर्थक हो जाएंगी· जनहित के मामले में मानवीय मूल्यों का महत्व है उसमें बहुमत, अल्पमत का कोई अर्थ नहीं· इसी तरह ट्राइब्युनल के फैसला मानवीय अधिकारों के ऊपर नहीं है· और फिर पुनर्वास को असंभव सिद्ध होने की स्थिति में उस पर पुनर्विचार के अलावा कोई रास्ता नहीं है· कमजोर वर्गों के हितों के संदर्भ में हिंसा की बात, बल प्रयोग की बात अनर्गल है· मुझे उम्मीद है कि नर्मदा घाटी की समस्या का समाधान धन और जन की ताकत, संख्या के हिसाब और लाभ-हानि के गणित को एक ओर रखकर मानवीय मूल्यों और संवैधानिक अधिकारों के संदर्भ में किया जायेगा·**

सबको न्याय

19·69 विकास में सहभागिता को मूर्त रूप देने के लिए मैंने पिछली रिपोर्ट मे कुछ सिफारशें की थी उनको यहां दुहराने का जरूरत नहीं है· विकास की परियोजनाओं के संबंध में पहला निर्णायक कदम तो यही होगा कि बिना किसी और औपचारिकता के **राष्ट्रीय स्तर से यह घोषणा की जाय कि कम से कम आदिवासी अंचलों के अब तक के सभी विस्थापितों के लिए उपयुक्त व्यवस्था की जाएगी· ये लोग आदमी की बनाई गई एक ऐसी विपत्ति के शिकार हैं जिसे एक ओर तो स्वयं सरकार ने शह दी है और दूसरी ओर जिसके मामले में राज्य ने अपनी जिम्मेदारी नहीं निभाई· अगर राज्य दैवी विपत्ति पड़ने पर सहायता देता है और आकस्मिक घटनाओं के शिकार लोगों की मदद करता है तो इस विपत्ति में, जिसमें उसका दुहरा दोष है, उसे क्योंकर आगे नहीं आना चाहिये ?**

19·70 इसी तरह से अभी जितनी परियोजनाऐं चल रही हैं उनकी समीक्षा की जाय और उन सब में लोगों की सहमति से उनकी सहभागिता की व्यवस्था और जब तक यह संभव न हो जाय तो परियोजना का काम बंद कर दिया जाय· आगे से ऐसी कोई भी परियोजना जिसमें जमीन सहित ऐसे प्राकृतिक संसाधनों का कोई वैकल्पिक उपयोग प्रस्तावित हो, जिससे लोग पहले से जिंदगी गुजार रहें हों, तो उन लोगों की पूर्व सहमति के बिना उनका वैकल्पिक प्रयोग किसी भी हालत में मंजूर न किया जाय·

19·71 व्यवस्था पर इसी तरह का अंकुश कारगर हो सकेगा और विकास का रास्ता तय करने में उन लोगों की सहभागिता हो सकेगी जिनको विकास के लिए आज बलिदान करने के लिये कहा जा रहा है· इसके साथ-साथ इस तर्क को सदा-सदा के लिये त्याग देना होगा कि किसी न किसी को तो विकास की कीमत चुकानी ही होगी· जिन लोगों को विकास का पहले से ही अप्रत्याशित लाभ मिल चुका है या मिलने जा रहा है उनके लिये विकास की कीमत चुकाने की बात नहीं, विकास के प्रति दान की बात करनी होगी· आगे से विकास के लाभों में सभी सहभागी हों यह विकास की पहली शर्त हो· यही नहीं, जिस विकास के कार्यक्रम से सबसे अदना व्यक्ति के आँख का आंसू पुछ सके वही विकास का सही रास्ता होगा - बाकी सब चाहे कुछ और क्यों न हो, विकास नहीं हो सकता है·

20

आदिवासी समाज की स्वशासी व्यवस्था - एक व्यापक प्रश्न

राष्ट्रीय परिदृश्य

समाज को अपनी व्यवस्था स्वयं करने का नैसर्गिक अधिकार है। किसी समाज का मान-सम्मान और उसके सदस्यों की प्रतिष्ठा भी इसी अधिकार से जुड़ी है। परन्तु समाज में स्वशासी व्यवस्था के व्यवहारिक स्तर पर कई रूप हैं। इसके लिए मोटेतौर पर दो तरह की व्यवस्थाएँ हो सकती हैं। पहली, लोगों की सीधी भागीदारी जिसमें समाज का हर सदस्य स्वशासी व्यवस्था में सीधे-सीधे हिस्सा लेता है। दूसरी, प्रतिनिधि व्यवस्था जिसमें स्वशासन के अधिकार का उपयोग प्रतिनिधियों के माध्यम से होता है। जब समाज का आकार बड़ा हो जाता है, उस समय प्रतिनिधि व्यवस्था जरूरी हो जाती है। सही अर्थों में स्वशासी व्यवस्था उसी को कहा जा सकता हैं जिसमें लोगों की सीधी भागीदारी हो। यह व्यवस्था छोटे समाजों में ही मुमकिन है जिसमें हर व्यक्ति सामाजिक जिंदगी में बराबर का हिस्सेदार होता है। हमारे संविधान में गाँव के स्तर पर इसी तरह की व्यवस्था कायम करने के उद्देश्य से अनुच्छेद 40 में गाँव समाज को गणतंत्र के रूप में विकसित करने संबंधी प्रावधान किया गया।

20.2 सच तो यह है कि किसी तरह का भी केन्द्रीयकरण लोकतंत्र की मूल चेतना के विपरीत है। जब संविधान परिषद में ग्राम पंचायतों पर बहस चल रही थी, उसमें यह बात साफ तौर पर सामने आई थी। कुछ सदस्यों का मत था, कि स्वशासी ग्राम समाज की नींव पर जैसी राष्ट्रीय व्यवस्था होनी चाहिए, हमारे संविधान में वैसी व्यवस्था तजवीज नहीं की गई है। परंतु तब तक बहुत देर हो चुकी थी, संविधान बनाने का काम बहुत आगे बढ़ गया था और उस हालत में बुनियादी फेरबदल करना मुमकिन नहीं था। इसलिए सदस्यों ने उस प्रावधान का इस उम्मीद के साथ अनुमोदन किया कि जब देश में आगे काम बढ़ेगा तो अनुच्छेद 40 के प्रावधान की भावना के अनुरूप व्यवस्था में धीरे-धीरे बदलाव आता जायेगा, और अंत में सही अर्थों में स्वशासी ग्राम समाज हमारी देश की पूरी व्यवस्था की आधारशिला बन जाएगा।

संविधान में आदिवासी इलाकों के लिए स्वशासी व्यवस्था

20.3 हमारे देश में परम्परागत स्वशासी सामाजिक व्यवस्थाओं को अंग्रेजी सरकार ने जानबूझ कर तोड़ा था। उसकी जगह पर एक औपचारिक व्यवस्था लादी गई थी जिसका उद्देश्य साम्राज्यवादी व्यवस्था के पाये मजबूत करना और लोगों के स्वाभिमान को तोड़ना था जिससे वे फिर कभी उठ ही न सकें। मगर आदिवासी इलाकों में उनके प्रतिरोध को देखते हुए यह नई व्यवस्था पूरी तरह से लागू नहीं हो पाई, इसलिए वहाँ स्वशासी समाज कुछ हद तक कायम बने रहे, जो आज भी बने हुए हैं।

20.4 हमारे संविधान में आदिवासी इलाकों के लिए अलग से कानून बनाने की व्यवस्था है। इस मामले में पाँचवी और छठी अनुसूचियों में इतने व्यापक अधिकार दिये गये हैं कि ये अनुसूचियाँ संविधान के अंदर एक तरह से उप-संविधान की तरह से हैं। इन विशेष प्रावधानों की मूल चेतना यही है कि आदिवासी इलाको की औपचारिक व्यवस्था के मामले में भी आदिवासी समाज की परम्पराओं को ही आधार माना जाय, आदिवासी लोगों को नई स्थिति में अपने विवेक के अनुसार आगे बढ़ने का पूरा मौका मिले और आदिवासी समाज पर कोई भी बाहरी व्यवस्था जोर-जबरदस्ती से न लादी जाय।

20.5 संविधान की पाँचवी अनुसूची में राज्यपाल को इस मामले में पूरे अधिकार दिये गये हैं। राज्यपाल किसी भी केन्द्रीय या राज्य के कानून में जरूरत के मुताबिक किसी तरह का फेर बदल कर सकते हैं, नये कानून बना सकते हैं। इस सबका यही उद्देश्य है कि आदिवासी इलाकों का कानूनी ढाँचा आदिवासी व्यवस्था से संगत हो। **इस तरह आदिवासी इलाकों में प्रचलित कानून से तालमेल के लिए समाज को बदलने की जरूरत नहीं है वरन् आदिवासी समाज की परम्परा के अनुरूप जरूरत के मुताबिक औपचारिक ढाँचे को बदलने की व्यवस्था है।** हमारे संविधान की इस आधारभूत मान्यता को नीति रूप देने और अमल में लाने के उद्देश्य से **पंडित जवाहर लाल नेहरू** ने आदिवासी विकास के पंचशील के रूप में कुछ बुनियादी उसूल भी तजवीज किये थे। पंचशील के अनुसार -

§1§ आदिवासी लोग खुद अपनी चेतना और बोध के मुताबिक आगे बढ़ें - - -

§2§ जमीन और वनों पर उनके हकों का आदर किया जाय - - -

§3§ आदिवासी लोगों में उनके अपने कार्यदल प्रशिक्षित करके तैयार किये जाँय - - -

§4§ इन इलाकों में न प्रशासन अधिक बढ़ाया जाना चाहिये और न वहाँ कार्यक्रमों की भरमार ही होनी चाहिये। आदिवासियों की सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाओं से प्रतिस्पर्धा की बजाय उनके माध्यम से काम किया जाना चाहिये।

§5§ इन इलाकों में आगे बढ़ने की कोशिशों के नतीजे आंकड़ों या खर्च के अनुमानों से आंकने की बजाय मानवीय चरित्र में गुणवत्ता के विकास के आधार पर आंके जाने चाहिये।

20.6 इस तरह स्वयं देश के पहले प्रधानमंत्री के द्वारा संविधान के आशय को मूर्त रूप दिये जाने की इस प्रस्तावना से यह उम्मीद बंधी थी कि आदिवासी इलाकों में आजादी के पहले जो विसंगतियाँ आ गई थीं, वे जल्दी से जल्दी दूर हो जाएँगी और उनकी परंपरा के अनुरूप एक नई व्यवस्था जल्दी ही कायम हो जाएगी। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। इसके मूल कारणों के बारे में मैं अपनी पिछली रिपोर्ट में विस्तार से चर्चा कर चुका हूँ। इस रिपोर्ट में भी कई जगह इस ओर इशारा किया है। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि सिर्फ छठी अनुसूची के आदिवासी इलाकों में उनकी परम्परागत व्यवस्था बहुत कुछ बच पाई है। वहाँ जो भी बदलाव आया है वह वहाँ के लोगों की अपनी मर्जी से हुआ है। हालांकि पाँचवी सूची के आदिवासी इलाकों में व्यवहार रूप में परंपरागत व्यवस्था बहुत से इलाकों में अभी भी बरकरार है परन्तु औपचारिक तौर पर उसे कोई मान्यता नहीं है। औपचारिक व्यवस्था की निगाह में आदिवासियों की परंपरा का कुछ बचा ही नहीं है।

पाँचवी और छठी अनुसूची-व्यवहारिक अंतर

20.7 परंपरागत व्यवस्थाओं के मामले में आजादी के बाद उत्तरपूर्व और शेष भारत में इन दो अलग-अलग रास्तों का खास कारण संविधान की व्यवस्था में एक बुनियादी अंतर ही है। पाँचवी अनुसूची के इलाकों के लिए राज्यपाल को जरूरी फेरबदल के अधिकार दिए गए हैं। परन्तु अगर इस मामले में राज्यपाल कोई निर्देश न दे तो केन्द्र और राज्य के सभी कानून इन इलाकों में दूसरे इलाकों की तरह ही अपने आप जैसे के तैसी लागू हो जाते हैं। उधर छठी अनुसूची में बात दूसरी है। उसमें लोगों की आम जिंदगी से जुड़ी हुई कुछ बातें खासतौर पर दर्ज की गई हैं। इस सूची में दर्ज मामलों के बारे में कोई भी केन्द्रीय या राज्य का कानून उन इलाकों पर तब तक लागू नहीं होता है, जब तक वहाँ की जिला परिषद उसके लिए सहमत न हो जाय। दूसरे शब्दों में इन इलाकों में बाहरी कानून लागू होने के लिए एक पूर्व-शर्त लगा दी गई है इसलिए वे अपने आप लागू नहीं हो सकते। इसका नतीजा यह हुआ कि **छठी अनुसूची के आदिवासी इलाकों की परंपरागत व्यवस्थाएँ तो बनी रहीं परन्तु**

पाँचवी अनुसूची के आदिवासी इलाकों में सभी बाहरी कानून और व्यवस्थाएँ बिना सोचे समझे लदती गईं। हालांकि इस मामले में राज्यपाल को असीम अधिकारों से लैस तो किया गया है, परन्तु राज्यपालों ने इस ओर कोई तवज्जह ही नहीं दी और आदिवासियों की आम जिंदगी से जुड़े इस निर्णायक मामले पर कोई भी कार्रवाई नहीं हुई।

20.8 इस हालत में शेष भारत के आदिवासी इलाकों में धीरे-धीरे नयी प्रशासनिक व्यवस्था और नये कानून छाते गये और इन कानूनों के तहत प्रशासन को आम आदमी की जिंदगी में दखलंदाजी करने का मौका ही नहीं, अधिकार भी मिलता गया। अपने इलाकों के संसाधनों पर अधिकार, जमीन की व्यवस्था, आपसी झगड़ों का निपटान और शांति कायम रखना, इत्यादि, जैसे काम जो समाज पहले अपने आप किया करता था, अब प्रशासन की जिम्मेदारी हो गई। इसके अलावा इन इलाकों में विकास के नये काम भी शुरू हुए जैसे कि खेती में सुधार, शिक्षा और स्वास्थ्य की व्यवस्था। मगर ये सब जिम्मेदारियाँ सरकारी विभागों को दी गई। इस तरह उत्तरपूर्व को छोड़ कर शेष आदिवासी इलाकों में उनकी परंपरागत संस्थाओं के पास काननकोई अधिकार रहा ही नहीं। काननन अब वे सिर्फ अपने सामाजिक मामलों को ही निपट सकते हैं। इन संस्थाओं की सरकार के द्वारा अनदेखी होने से सामाजिक मामलों में भी उनका दायरा छोट होता जा रहा है। साधारण कानूनों की आड़ लेकर दूसरे लोग दखलंदाजी कर रहे हैं। हम पहले देख चुके हैं कि परंपरागत व्यवस्था को इतना अधिकार तक नहीं है कि वे यह भी तय कर सकें कि उनके समाज में मदपान किया जाये या नहीं। कई जगह शादी-विवाह, तलाक, वारिसाना हक, इत्यादि मामलों में भी न्यायालयों में मुकदमें दायर हो रहे हैं। **परंपरागत संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र के बारे में कोई साफ स्थिति न होने के कारण बाहरी व्यवस्था अनजाने में ही आदिवासी समाजों पर लदती जा रही है और उस पैमाने में उनकी परंपरागत संस्थाएँ कमजोर होती जा रही हैं।**

20.9 इस तरह आजादी के बाद आदिवासी इलाके में नई संस्थाएँ और नये कानून नेमी तौर पर लागू होते गए हैं। इसलिये अधिकतर मामलों में उनकी परंपरा की बात तो क्या, पहले से चालू औपचारिक व्यवस्था का भी ध्यान नहीं रखा गया। इसका खास कारण यह था कि एक तो कई आदिवासी इलाके बहुत सी छोटी-छोटी देशी रियासतों में थे। इन सभी रियासतों के अपने कानून कायदे तो थे ही लेकिन कुछ परंपरायें भी थीं जिनका कहीं लेखी रिकार्ड नहीं था। आजादी के बाद इन इलाकों में तमाम कानून कायदे और परंपराएँ अनदेखी रह गईं। दूसरी ओर कई आदिवासी इलाके अंग्रेजी सूबों में थे। परन्तु वहाँ भी इन इलाकों की व्यवस्था काफी कुछ अलग थी। अंग्रेजी राज की हुकूमत इन इलाकों पर बड़े धीरे-धीरे कायम हुई थी। और उनको कदम-कदम पर आदिवासियों से मुकाबला करना पड़ा था। चूँकि आदिवासी जंगल और पहाड़ों में रहते थे, आवागमन और संचार के साधन नहीं के बराबर थे, इसलिए छोटे-छोटे इलाकों में भी उनकी अपनी परंपरायें दूसरे इलाकों से बहुत कुछ अलग थीं। इस हालत में अंग्रेजों ने जब इन इलाकों में व्यवस्था कायम की तो हर जगह उनकी परंपरा का ध्यान रखा। कई जगह अदिवासियों की परंपरागत व्यवस्थाओं को जैसा का तैसा रहने दिया और उन्हें औपचारिक रूप से भी मान लिया। यही व्यवस्थाएँ आजादी के बाद तक चलती रहीं।

बड़े राज्य और आदिवासी इलाकों की पुरानी व्यवस्थाएँ

20.10आजादी के बाद हमारे देश में बड़े-बड़े राज्य बने। आदिवासी इलाके आमतौर पर इन राज्यों में एक छोट सा हिस्सा ही थे। आजादी के समय एक भी आदिवासी-बहुल राज्य नहीं था। इन बड़े-

बड़े राज्यों की पहली कोशिश यही हुई कि पूरे राज्य में समान कानून और समान संस्थाएँ कायम कर दी जाय। इस कोशिश में अंग्रेजों के जमाने में छोटे-छोटे आदिवासी इलाकों के लिए जो अलग-अलग व्यवस्थाएँ कायम हुई थीं उनकी अनदेखी कर दी गई। अगर कहीं आदिवासियों ने नई व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठायी भी तो उसको गलत रूप देकर दबा दिया गया। इस प्रकार के असंतोष के अनेक उदाहरण हैं। आज 40 साल के बाद भी लोग पूरी तरह से नई व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर पाये हैं।

20.11 उदाहरण के लिये आंध्रप्रदेश के एजेंसी इलाकों में पूरी तौर से प्रशासन अलग ही था। परन्तु आजादी के बाद वह प्रशासनिक व्यवस्था केवल नेमी रह गई। आदिवासी असंतोष का बहुत बड़ा कारण उनका नई व्यवस्था से टकराव है। इसी तरह आजादी के पहले बस्तर में छोटे-मोटे बहुत तरह के कानून-कायदे थे जिनमें जंगल और जमीन की व्यवस्था, सरकारी कर्मचारियों पर नियंत्रण, मजदूरों की मजदूरी इत्यादि का नियमन भी था। आजादी के बीस साल तक इस इलाके में लोगों और प्रशासन के बीच जंगल जमीन के मामले में टकराव चलता रहा जो सतही तौर पर राजशाही के अधिकारों इत्यादि से जोड़ कर बताया जाता रहा। यह टकराव आखिर में एक बड़े गोली कांड के रूप में भभक कर दब तो गया परंतु असंतोष बना ही रहा। यही असंतोष अब फिर से दूसरे रूपों में उभर रहा है।

बिहार में कोल्हान आंदोलन

20.12 इस मामले में बिहार के सिंहभूम जिले में कोल्हान की हालत का खासतौर पर जिक्र करना जरूरी है। इस इलाके में राज की स्थापना के शुरू में ही भारी विद्रोह होने के बाद अंग्रेजो ने उनकी परंपरागत व्यवस्था को मान लिया। इसके उपलक्ष्य में एक विशेष अध्यादेश जारी किया गयाथा जिसे **विल्किंसन रूल्स** कहा जाता हैं। विल्किन्सन रूल्स केवल कुछ सिविल मामलों से ही संबंधित हैं परन्तु उसके अलावा मुंडा और मानकी के अधिकारों और व्यवस्था के बारे में कई और नियम बने थे। आमतौर पर लोग इस पूरी व्यवस्था को ही "विल्किन्सन रूल्स" कह देते हैं जो अपने आप में सीमित है पर उनका आशय व्यापक व्यवस्था से है। इसी व्यापक संदर्भ में यह "विल्किंसन रूल्स" पद का प्रयोग किया गया है। इस व्यवस्था में इस इलाके के मुंडा (अर्थात् गाँव का मुखिया) और मानकी (अर्थात् एक गाँव समूह का मुखिया) को मान्यता दी गई। उन नियमों के तहत गाँव और इलाके के सभी मामले यही लोग अपनी परंपरा के अनुसार तय करते थे। यह व्यवस्था आजादी के बाद तक जारी रही।

20.13 बिहार में सातवें दशक में जब पंचायतों की व्यवस्था लागू की गयी तो कोल्हान में भी वहाँ की स्थानीय व्यवस्था को अनदेखा करके नई व्यवस्था को लागू कर दिया गया। इस तरह से मुंडा और मानकी व्यवस्था के साथ-साथ उनके अलावा नई पंचायतें बन गई। नये पंच भी बन गए। इसके साथ एक खास बात यह हुई कि इस नये दौर में विल्किंसन रूल्स नजरंदाज हो गये। इसका फायदा उठाकर राज्य के सभी विभाग दूसरे इलाकों की तरह इस इलाके में भी फैल गए। गाँव के मामले जो पहले आपस में बैठकर मुंडा या मानकी तय कर देते थे उनके लिए पुलिस स्टेशन जाना जरूरी हो गया। वनों की देखभाल वन विभाग करने लगा। इस तरह यहाँ के लोग जो अब तक अपनी जिंदगी अपने तरीके से चलाते आ रहे थे एकाएक बाहरी संस्थाओं के आधीन हो गये, जिससे उन्हें बहुत सारी परेशानियों का सामना करना पड़ा।

20.14 इन परेशानियों से तंग आकर यहाँ के लोगों ने मिल कर सरकार के सामने माँग पेश की कि उनकी पुरानी व्यवस्था, जो विल्किंसन रूल्स के तहत थी, वही चालू रखी जाय। उनकी इस माँग के मामले में किसी भी स्तर पर कोई सफाई नहीं हुई और मामला उलझा ही रहा। इसके चलते लोगों के और सरकार के बीच इतनी गलतफहमी हुई कि इस आंदोलन में नेताओं को देशद्रोही तक घोषित कर दिया गया और वे अभी तक भूमिगत हैं। अभी तीन साल पहले सन् 1987 मे जब पूर्व प्रधानमंत्री जी यहाँ के दौरे पर गये थे तो उनको इस मामले की जानकारी दी गई। वहाँ के हालात को देखते हुए उन्होंने एक आम सभा में कोल्हान के इलाके में विल्किंसन रूल्स को लागू रहने देने के बारे में घोषणा भी की। परन्तु उस घोषणा पर अभी तक कोई अमल नहीं हुआ है। राज्य के साधारण कानून और व्यवस्था अभी भी कोल्हान में उसी तरह लागू हैं, उनके नेता अभी भी भूमिगत हैं और लोगों में भारी असंतोष है। एक तरह से इस इलाके में लोगों और सरकार के बीच टकराव की स्थिति है जिसके कारण न सरकारी व्यवस्था सही तरह से काम कर पा रही है और न लोगों की व्यवस्था। इस खालीपन का कई तरह से गलत तत्व फायदा उठा रहे हैं।

20.15 **कोल्हान में सरकार और लोगों के बीच टकराव के लिए बुनियादी कारण एक ही है - संविधान की भावना के अनुरूप वहाँ की स्थानीय व्यवस्था को मान्यता न देना।** यहाँ पर सबसे खेद की बात तो यह है कि उनकी परम्परागत व्यवस्था जो आजादी के बहुत साल बाद तक भी चली आ रही थी उसको न केवल नजर अंदाज कर दिया गया वरन् उसके औपचारिक कानूनी पहलू को भी देखने की कोशिश नहीं की गई और बिना सोचे समझे नई व्यवस्था लागू कर दी गई। नई व्यवस्था के लागू होने और उसके कारण जो विसंगति पैदा हो गई उसके मालूम होने और उसके फलस्वरूप विद्रोह जैसी स्थिति उत्पन्न होने के बावजूद अभी भी इस मामले में सफाई नहीं हो पाई है।

20.16 यहाँ एक बात कहना जरूरी है। **हालाँकि संविधान के अंतर्गत परम्परागत व्यवस्था को जैसे का तैसा कायम रखा जा सकता है परन्तु फिर भी यह जरूरी नहीं है कि उसमें कोई बदलाव न आये। इसी तरह अगर परम्परागत व्यवस्था में कोई बुनियादी खराबियाँ हैं तो यह जरूरी नहीं है कि उनको वैसा ही रहने दिया जाय और उनको सुधारने की कोशिश न की जाय। परन्तु यह बदलाव थोप नहीं जाना चाहिये, उसमें समाज की सहभागिता होना जरूरी है।** यह एक बड़ा सवाल है जिस पर सभी को मिलकर गहराई से विचार करना होगा। इस मामले में मैं अपने कुछ अनुभव देना चाहूँगा।

20.17 पिछले साल (1989) कोल्हान के दौरे में मैंने लोगों से उनकी परंपरागत व्यवस्था के बारे में बातचीत की थी। कोल्हान में मुंडा और मानकी का चुनाव गाँव के सब लोग मिल कर करते हैं। परन्तु उसमें वंश परंपरा चली आ रही है और वंश के बाहर के लोग मुंडा और मानकी नहीं बन सकते है। पूर्व प्रधानमंत्री जी की घोषणा के मुताबिक सरकार विल्किंसन रूल्स के लागू रहने के लिये तैयार है। परन्तु सवाल यह था कि क्या वे लोग खुद आज भी इस वंश परंपरा को कायम रखना चाहेंगे ? अगर कुछ लोग उसे कायम रखना चाहे भी तो क्या नई रोशनी से प्रभावित उनके अपने युवक भी अपने प्रजातांत्रिक अधिकारों की माँग नहीं करेंगें ?

20.18 इस मसले पर जब बातचीत हुई तो वहाँ के लोगों में आम राय यह निकली कि उनकी अपनी पुरानी परंपरा में मुंडा और मानकी का चुनाव किसी वंश विशेष तक सीमित नहीं था। इन पदों के लिये गाँव का कोई भी व्यक्ति, स्त्री या पुरुष चुना जा सकता था। इसमें उसका आदिवासी होना भी जरूरी नहीं था। इस चुनाव में वंश की परंपरा अंग्रेजों के जमाने से शुरू हुई। उनके जमाने में जो लोग एक बार मुंडा-मानकी बन गये, वे प्रशासन के संपर्क में आने के कारण अधिक ताकतवर हो

गए। इसका फायदा उठाकर इन लोगों ने अपने पद पर अपने वंश का हक जमा लिया। इस तरह कोल्हान की परम्परागत प्रजातांत्रिक व्यवस्था वंश-परम्परा में बदल गई। अब वे खुद अपनी नई व्यवस्था में वंश-परंपरा की बजाय गाँव के किसी भी व्यक्ति को आम सहमति के आधार पर मुंडा और मानकी नामजद करना चाहेंगे।

20.19 इस उदाहरण से साफ है कि लोग खुद भी अपनी पुरानी व्यवस्थाएँ जैसी की तैसी ही बनाए रखना चाहेंगे, यह जरूरी नहीं है। **एक जीवन्त समाज अपनी परंपरा में भी नई सेशनी के सहारे नया अर्थ खोजने की कोशिश करता है या अपने इतिहास को ही नया रूप देकर बुनियादी बदलाव को भी परम्परा की ओर लौटने का रूप दे देता है, जिससे लोग उसके बारे में आश्वस्त होकर सहजता से अपना सकें. कोल्हान के मामले में इस पर शोध करने की जरूरत नहीं है कि पुराने जमाने में उनके यहाँ आदर्श प्रजातंत्र था या नहीं। अगर लोगों का विश्वास है कि उनके यहाँ आदर्श प्रजातंत्र था तो वही काफी है ।**

20.20 इस पूरी प्रक्रिया में सबसे महत्व की बात यह निकलती है कि जब **लोगों को अपनी व्यवस्था के बारे में खुद फैसला करने का मौका मिलता है तो उसमें धीरे-धीरे अपने आप परिवर्तन हो जाता है। वे अपनी परंपरा को नए संदर्भ में व्याख्या करते हैं, नई स्थितियों से जूझते हुए नई परंपराएँ बनाते हैं और अपनी गलतियों से सीखते हैं। सही प्रजातांत्रिक संस्थाओं की सबसे बड़ी ताकत होती है। आदिवासी इलाके में इस स्वाभाविक प्रक्रिया को न चलने देने के कारण जगह-जगह टकराव की स्थितियाँ और विसंगतियाँ पैदा हो रही हैं।** कोल्हान के मामले में आज का टकराव हमारी संवैधानिक व्यवस्था को सही तरह से लागू करके खत्म किया जा सकता है। **पंचम अनुसूची** के तहत ऐसे रेग्यूलेशन बनाए जा सकते हैं जिनमें लोगों की परम्परा, विल्किंसन रूल्स की व्यवस्था और प्रजातांत्रिक मूल्यों आदि सभी का सुंदर समागम हो जाय।

परम्परागत संस्थाएँ - उनका जीवन्त रूप

20.21 यद्यपि आदिवासी इलाकों में उनकी परम्परागत संस्थाओं को न कोई औपचारिक मान्यता है और न उन्हें कोई अधिकार ही दिये गये हैं। परन्तु व्यवहारिक रूप में अभी भी वे ही समाज के सभी तरह के काम-काज चलाती रही हैं और आज भी काफी ताकतवर हैं। इसके कई कारण हैं। साधारण आदिवासी का बाहरी व्यवस्था के साथ संबंधों का अनुभव कुछ सुखद नहीं रहा। इन इलाकों में सरकारी तंत्र अपने संविधानिक जिम्मेदारी के अनुरूप आदिवासियों की रक्षा का कवच न बन कर हुकूमत का प्रतीक है। लोगों की निगाह में वह शोषण और उत्पीड़न का यंत्र है। इसलिये कानून कुछ भी क्यों न हो साधारण आदिवासी अपने आपसी या गाँव के मामलों को निपटाने के लिये कहीं बाहर नहीं ले जाना चाहता। वह अपनी परम्परागत व्यवस्था में ही समाधान ढूँढता है। इसी तरह आदिवासी को जब तक कोई मजबूरी ही न हो तब तक बाहरी प्रशासन के पास नहीं जाता। दूसरी ओर बाहर के लोग भी इन इलाकों में भले काम के लिये तो मजबूरी में ही जाते हैं, जाते हैं तो नाम-चार के लिये। परन्तु विडम्बना यह है कि इन इलाकों में अवांछनीय तत्वों का दूर-दूर तक प्रवेश हो गया है जिनसे आदिवासी दूर रहना चाहता है।

20.22 इस तरह व्यवस्था के मामले में आदिवासी इलाकों की हकीकत और औपचारिक स्थिति में भारी अंतर है। चूंकि परंपरागत संस्थाओं के पास कोई कानूनी अधिकार नहीं हैं इसलिये जिनको इन समाजों के साथ नजदीकी अनुभव नहीं है उन्हें यही लगता है कि उनकी परंपरागत संस्थाएँ भी अब खत्म

हो गई हैं। इसलिये उनके बारे में कुछ सोचने समझने की जरूरत नहीं है। हकीकत इससे बिल्कुल अलग है। आदिवासी लोग जब तक मजबूरी ही न हो, आधुनिक व्यवस्था से कोई ताल्लुक नहीं रखना चाहते हैं। उनकी परंपरागत संस्थाएँ ही अभी भी उनके समाज के सभी तरह के काम कर रही हैं। नई व्यवस्था का उनके लिए कोई खास मतलब ही नहीं है। इसलिये वे जीवन्त हैं परन्तु बाहरी व्यवस्था के सामने कदाचित कमजोर पड़ती है।

बेअसर नई संस्थाएँ

20.23 आदिवासी लोगों की नई व्यवस्था से दूर ही बने रहने की चाहत के बावजूद इन इलाकों में नई औपचारिक पंचायतों की स्थापना के बाद इस मामले मे बदलाव की उम्मीद की जा सकती थी। यद्यपि पंचायतें औपचारिक व्यवस्था का अंग जरूर हैं फिर भी उनके सदस्य उन्हीं में से आपसी लोग ही हैं जिन्हें स्थानीय समाज से अलग-थलग नहीं कहा जा सकता है। इसलिए कहीं-कहीं बदलाव आया भी है । परन्तु आमतौर पर नई पंचायतों से आदिवासी इलाकों की परंपरागत व्यवस्था में कोई खास अंतर नहीं पड़ा। इसके कई कारण हैं। एक तो इन औपचारिक संस्थाओं के काम का दायरा बड़ा ही सीमित है। उनको विकास के ही कुछ काम सौंपे गए हैं। विकास के काम पहले तो बहुत से आदिवासी इलाकों में पहुँचते ही नहीं है। दूसरे, फिर नई संस्थाओं के काम करने के लिए अपने तौर तरीके होते हैं जिनसे, साधारण आदिवासी की तो बात दूर उनके पंच और सभासद भी आम तौर से वाकिफ नहीं होते हैं। इसलिये पंचायतों का काम बहुत करके उनके सेक्रेटरी लोग चलाते हैं। इस तरह आदिवासी इलाकों की पंचायतें देखने में आदिवासी संस्थाएँ जरूरी हैं परन्तु उन पर भी गैर-आदिवासियों का अथवा बड़े अधिकारियों का ही दबदबा रहता है। ये औपचारिक पंचायतें गाँव की अपनी व्यवस्था से अलग-थलग ही चलती रहती हैं, उनके बीच में कोई खास संबंध नहीं रहता है।

20.24 एक और बात भी है। इन औपचारिक पंचायतों के चुनाव एक बार हो जाने के बाद लोगों का उन पर कोई खास दबाव या उनके बीच आपसी संबंध भी नहीं रहता है। पंचायतें अधिकारियों से मिल कर अपना काम करती रहती हैं। अगर गाँव के किसी आदमी को उनकी कोई बात गलत लगी भी, तो उसका भी कोई असर नहीं, मतलब भी नहीं। पहले तो आमतौर पर गाँव के लोगों का पंचायत के कामकाज के बारे में कहने का ही कोई हक नहीं होता है। दूसरे, अगर कोई कुछ बात कहे भी तो उसे कानून, नियम और सरकार की मर्जी कह कर समझा दिया जाता है या टाल दिया जाता है। इसलिये लोगों को भी पंचायतें क्या कर रही हैं इसके बारे में कोई दिलचस्पी भी नहीं रह जाती।

अस्वाभाविक अलगाव के गलत नतीजे

20.25 इस तरह आदिवासी इलाकों में सामाजिक व्यवस्था और जिंदगी के और दूसरे मामलों को औपचारिक रूप से ही अलग रखा गया है। उनके सामाजिक मामले तो परंपरागत संस्थाओं की जिम्मेदारी है। परन्तु जिंदगी के बाकी सब मामले दूसरे लोगों के और दूसरी संस्थाओं के अधीन है। इस तरह का विभाजन आधुनिक समाज के लिये ठीक है क्योंकि आधुनिक समाज में जिंदगी ही अलग-अलग खानों में बंटी हुई है उनके बीच तालमेल की कोशिश व्यवस्था करती है। परन्तु आदिवासी इलाकों में जिंदगी अभी अलग-अलग खानों में बंटी नहीं है, एक है। इसलिये यह बंटवारा अस्वाभाविक तो है ही परन्तु आदिवासी समाज के हित में भी नहीं है। इसके कुछ गंभीर परिणाम हुए हैं जिनकी ओर अभी तक खास ध्यान नहीं दिया गया है।

20.26 आदिवासी इलाकों में अभी व्यवस्था बड़ी सरल है और लोगों के आपसी मामले बहुत करके या तो सामाजिक मसलों के होते हैं या छोटे-छोटे झगड़े या धार्मिक रीति-रिवाज, जादू-टोने, आदि से संबंधित होते हैं। उनकी जिंदगी में नई व्यवस्था का असर अभी न कुछ के बराबर ही है इसलिये नई दुनिया की बातों का उनकी साधारण जिंदगी में कोई खास मतलब नहीं होता है। और फिर बाहरी दुनिया की अगर कोई नई बात आई भी तो वह एक तो उनकी समझ के बाहर होती है और फिर उनका अधिकार क्षेत्र भी नहीं होता। इसलिये परम्परागत संस्थाएँ अपने पुराने रीति-नीति से सामाजिक-धार्मिक मामलों को ही निपटाती रहती है। इन संस्थाओं में नये बदलाव के बारे में कोई बात करने का मौका ही नहीं आता है।

20.27 प्रशासन और व्यवस्था की बात परंपरागत संस्थाओं तक एक ही मामले में पहुँचती है जब समाज को या उसके सदस्यों को प्रशासन से कोई परेशानी पैदा होती हो। उनके लिये ये मौके संकट के होते हैं जिनमें प्रतिक्रियाएँ तदर्थ, नकारात्मक और अतिवादी हो सकती हैं। इस तरह साधारण तौर पर ऐसे मौके ही नहीं आते जिनमें नई दुनिया की सकारात्मक बातें परंपरागत संस्थाओं तक पहुँचे, जिनसे उनमें नई चेतना जगे। दूसरी ओर नई औपचारिक संस्थाएँ सीमित दायरे में बिना खास समझ के कुछ नेमी काम ही करती रहती है। इन नई संस्थाओं में या तो परंपरागत मुखिया लोगों की कोई भूमिका नहीं होती या फिर उनकी भागीदारी बराय नाम के ही होती है। **इसलिए समाज और नई संस्थाओं के बीच कोई संवाद ही नहीं स्थापित हो पाता।**

परंपरागत संस्थाओं पर रूढ़िवादी पकड़

20.28 इस हालत में आदिवासी समाज पर परंपरागत संस्थाओं का प्रभाव तो बना रहता है परन्तु दुनिया से बिलकुल कटे रहने के कारण उन्हें नई रोशनी का कोई फायदा नहीं मिल पाता है। इसका सबसे बुरा नतीजा तो यह है कि **इस अलगाव के कारण परंपरागत संस्थाओं पर रूढ़िवादी पकड़ और भी तगड़ी होती जाती है। आगे के लिये इन संस्थाओं के कामकाज में ऐसी नई बातों के लिए कोई जगह ही नहीं है जिनके साथ नई रोशनी आ सके। इसलिये उनमें बदलाव की उम्मीद ही नहीं की जा सकती।** आदिवासियों की सामाजिक व्यवस्था के लिये यह अत्यन्त शोचनीय स्थिति है। इस मामले में एक उदाहरण देना जरूरी है।

20.29 हमारे देश में बहुत से आदिवासी इलाकों में यह अंधविश्वास है कि बीमारी जादू से होती है और ऐसा जादू अक्सर औरतें करती हैं जिन्हें डायन, डाकणी, भट्टी वगैरह कहते हैं। अगर किसी गाँव में बहुत बच्चे मर गये या बीमारी हो गई तो गाँव के पुजारी को बैठाया जाता है और उससे उसका कारण सुधाया जाता है। जाहिर है कि पुजारी के विश्वास के मुताबिक किसी भी बीमारी का कारण जादू है। इसलिये वह जादूगर या डाकणी की खोज करता है। अब अगर पुजारी किसी व्यक्ति को जादूगर बना दे तो लोग उस पर सहज विश्वास कर लेते हैं। जैसे ही किसी व्यक्ति को जादूगर करार दे दिया जाता है तो उस पर पूरे समाज का गुस्सा निकलता है। कभी-कभी उसे समझाने की और अपना जादू वापिस लेने को कहा जाता है। बात बढ़ने पर या बीमारी खतम न होने की हालत में लोग उस जादूगर को मार डालते है। बीमारी कभी न कभी तो खतम होना ही है, सो बीमारी धीरे-धीरे खतम हो जाती है और लोगों का जादू पर विश्वास और भी पक्का हो जाता है।

20.30 हमारे देश के कई आदिवासी इलाकों में जादू-टोने से जुड़ी हुई बहुत सी हत्या की घटनायें होती रहती हैं जैसे कि **महाराष्ट्र में थाणे** और **खानदेश** और **बिहार में सिंहभूम** । इस मामले में सबसे

खेद और चिंता की बात तो यह है कि बहुत बार ये हत्याएँ केवल अंधविश्वास के आधार पर ही नहीं होती हैं वरन् उनका कारण जमीन जायदाद होता है। उदाहरण के लिए किसी विधवा या वृद्धा की जमीन हड़पने के लिये समाज के गलत तत्व पुजारी से मिलकर उसको डायन करार देते हैं। यह विश्वास इतना गहरा है कि सामाजिक कार्यकर्ता भी इसके बीच में आने में हिचकिचाते हैं। कहीं-कहीं तो इस तरह की हत्याओं की बाढ़ सी आ जाती है। जैसा कि कुछ साल पहले सिंहभूम में हुआ था और सैकड़ों निस्सहाय औरतें मार डाली गई थी। इन घटनाओं के बारे में कोल्हान के जंगलों के बाहर कुछ खास अता-पता भी नहीं चला। इस हाल में प्रशासन भी उसमे हस्तक्षेप करने में असहाय महसूस करता है।

आदिलाबाद की रायसभाएँ - नये-पुराने का समागम

20.31 अंधविश्वासों की यह हालत तब तक बनी ही रहेगी जब तक परंपरागत संस्थाएँ और नई संस्थाएँ अलग-अलग काम करेंगी। जहाँ परंपरागत संस्थाओं में किसी कारण से नई रोशनी पहुँचती है वहाँ पर बदलाव आना स्वाभाविक है। यही सामाजिक संस्थाओं का स्वाभाविक गुण भी है। इस मामले मे आदिलाबाद जिले के लोगों का अनुभव उल्लेखनीय है। इस जिले में गोंड आदिवासियों ने अपनी परम्परागत संस्थाओं को बनाए रखने और उन्हें और भी कारगर बनाने की गरज से उनको नये काम के लिए उपयोग करने का फैसला किया। जैसा कि मैं पहले जिक्र कर चुका हूँ आज की व्यवस्था व्यक्ति को इकाई मानती है और समाज की अनदेखी करती है। आधुनिक व्यवस्था के सभी कानून और नियम व्यक्ति के लिए बने हैं। इसलिए आधुनिक व्यवस्था के सभी संबंध और उसका संपर्क व्यक्ति से ही होता है। हर मामले में संबंधित व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में ही व्यवस्था से उलझना पड़ता है, यही नहीं उसका सामना भी करना पड़ता है।

20.32 आदिवासी लोगों की जिंदगी में समाज एक बुनियादी इकाई है। उससे कटकर व्यक्ति की कोई हैसियत ही नहीं है, वह अकेला पड़ कर बेसहारा और कमजोर महसूस करता है। इसलिए अगर उसे व्यवस्था से कोई काम पड़ता है तो कभी अकेला नहीं जाता। हमेशा दो-चार लोग मिल कर ही जाते हैं कौन जाने कहाँ कैसी मुसीबत पड़ जाय ।

20.33 आदिलाबाद जिले में लोगों ने अपनी इस कमजोरी को पहचाना और उसका इलाज भी ढूँढ लिया। उन्होंने तय किया कि उनके यहाँ गाँव में कोई भी आदमी किसी भी समस्या को लेकर गाँव के बाहर नहीं जायेगा। गाँव के हर आदमी की बात गाँव के सब लोग मिल कर उठाएँगे। इसी तरह से, अगर सरकार को गाँव के किसी व्यक्ति से कोई काम है, यहाँ तक कि विकास के कार्यक्रमों में लोगों को मदद पहुँचानी है तो उन मामलों में भी गाँव के सभी लोग बैठेंगे सब लोग सोचेंगे, समझेंगे और फिर वे लोग खुद ही तय करेंगे कि संबंधित व्यक्तियों को क्या करना चाहिये। **इस तरह गाँव का कोई भी आदमी किसी भी मामले में अकेला नहीं होगा, व्यवस्था और बाहरी लोगों से व्यवहार में गाँव के सब लोग साथ होंगे।**

पुरानी संस्था और नया संदर्भ

20.34 आदिलाबाद जिले में परम्परा से गोंड आदिवासियों के हर गाँव में एक रायसभा हुआ करती थी। उनका हर काम आम राय से होता था। इसलिये उनका नाम रायसभा हो गया। कुछ रायसभाओं को मिलाकर एक राय सेंटर होता है जहाँ पर गाँव के स्तर पर जो समस्याएँ नहीं सुलझ पाती हैं उनकी अपील हो सकती है। रायसभा में गाँव के सभी लोग भाग लेते थे। रायसेंटर में हर रायसभा से दो मुखिया होते हैं। पहले जमाने में रायसभाएँ गाँव-समाज का सभी कामकाज संभालती थीं। मगर नये

दौर में धीरे-धीरे उनका दायरा सामाजिक-धार्मिक मामलों तक ही सीमित रह गया। परन्तु जब से नई समस्याओं से निपटने के लिए उम्र बताए गए फैसले किये हैं तब से रायसभाओं की जिम्मेदारियाँ बढ़ गई हैं। अब रायसभा ही गाँव के हर आदमी की ओर से उनकी बातों को बाहर ले जाने और बाहर की हर बात संबंधित व्यक्ति तक पहुँचाने के लिए जिम्मेदार हैं। **इस नयी जिम्मेदारी से इन रायसभाओं में आपसी बातचीत का दायरा भी बढ़ा है और उसमें धीरे-धीरे पहले की तरह फिर से आम आदमी की पूरी जिंदगी के मसले ही आते जा रहे हैं। इस तरह कामकाज में बुनियादी बदलाव आने लगा है।**

20.35 इस बदलाव का एक सबसे अच्छा नतीजा यह हुआ कि सामाजिक-धार्मिक मामलों पर भी नयी रोशनी से बातचीत होने लगी है। देश के कुछ आदिवासी इलाकों में जादू-टोने के अमानवीय रूप का उम्र जिक्र कर चुका हूँ। आदिलाबाद के गोंड आदिवासियों में भी जादू टोने में आम विश्वास है। परन्तु अभी हाल ही में वहाँ जादू टोने के एक मामले में एक रायसभा ने जो रुख अपनाया वह बड़ा महत्वपूर्ण साबित हुआ। एक गाँव में बीमारी फैलने पर पुजारी ने एक आदमी पर जादूगर होने का इलजाम लगाया। यह आदमी हिम्मत करके राय सेंटर गया और उसने पुजारी और गाँव के सभी लोगों के फैसले के खिलाफ उनके सामने अपील की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रायसेंटर के भी सभी सदस्य निजी तौर पर जादू-टोने में विश्वास करते थे। परन्तु इसके बावजूद उन लोगों ने उसकी शिकायत सुनी और जिन बातों को लेकर उस पर वह इलजाम लगाया गया था, उसको साबित करने के लिए सबूत माँगे। जब उस गाँव के लोग सबूत नहीं दे पाए तो उस पर लगाया गया इलजाम गलत करार दिया गया। इस मामले में राय सेंटर को तीन बार सुनवाई करनी पड़ी और आखीर में उस गाँव को सामूहिक दंड देना पड़ा, तब जाकर वह मामला खतम हुआ।

20.36 इस महत्वपूर्ण मामले में रायसभा तथा रायसेंटर में एक नयी प्रक्रिया की शुरुआत होती है। इसी सिलसिले में जिला स्तर पर रायसभाओं की बैठक में यह भी तय किया गया कि **जादू टोने के किसी भी मामले पर गाँव स्तर पर फैसला नहीं किया जा सकता है, उसे राय सेंटर में लाना जरूरी है और वहीं उस पर अंतिम फैसला कर सकता है। इस तरह एक नई परंपरा कायम हो रही है जिसमें किसी आदमी के खिलाफ पुजारी का फैसला आखिरी नहीं माना जा सकता है। उसके फैसले पर सब लोग मिल बैठकर विचार कर सकते हैं, बदल सकते हैं।** इस तरह राय सभा में एक ऐसे मामले पर, जो अभी तक तर्क की गिरफ्त के बाहर था, विवेक स्तेमाल किया जा सकता है। **हालाँकि लोगों में जादू के बारे में अंधविश्वास पहले की तरह ही कायम है पर जब किसी तरह के भी विश्वास को तथ्यों के आधार पर सिद्ध करने की पहल शुरू हो जाय तो उसका गलत रूप अधिक दिन टिक नहीं सकता। तथ्यों और तर्क पर आधारित सीधे-सादे सवाल ही सामाजिक बदलाव में निर्णायक साबित हो सकते हैं।**

20.37 रायसभाओं के परंपरागत रूप में एक और बदलाव भी आ रहा है जो उल्लेखनीय है। आदिवासियों की परंपरागत संस्थायें अक्सर जातिवार और गाँववार ही होती हैं। आदिलाबाद की रायसभाएँ गाँव स्तर पर गोंड आदिवासियों की ही आम सभाएँ थीं। बहुत से गाँवों में अभी गोंड आदिवासी के सिवाय और कोई जाति नहीं है। परन्तु कुछ गाँवो में बाहर के लोग भी बस गये हैं। इसलिये रायसभाओं के मामले में इन मिले-जुले गाँवों की हालत कुछ अलग है। रायसभाओं की नई जिम्मेदारियों को देखते हुए अभी हाल में रायसभाओं में, इन मिले-जुले गाँवों में क्या व्यवस्था हो, इस मसले पर बातचीत हुई। उसमें तय हुआ कि इन गाँवों में वहाँ रहने वाले सभी लोग रायसभाओं में शामिल होंगे। यही नहीं, उन्होंने

रायसभा की पंचायत में औरतों की भागीदारी पर भी विचार किया। अभी तक रायसभा में औरतें आती जरूरी थीं पर वे पंच नहीं बन सकती थीं। अब आगे से पंचों में औरतों को बराबर का हिस्सा देने का फैसला किया है। इस तरह रायसभाओं में नये हालात और नये आदर्शों को लेकर जरूरी बदलाव आ रहा है।

व्यवस्था की गलत प्रतिक्रिया

20.38 इस तरह आदिलाबाद के गोंड आदिवासियों में रायसभा व्यवस्था अब फिर से स्थापित हो गई है। अब यह व्यवस्था धीरे-धीरे इतनी ताकतवर हो गई है कि उनके द्वारा औपचारिक संस्थाओं से संबंधित सभी तरह के लोगों के गलत कामों तथा उनके निजी स्वार्थों पर अंकुश सा लग गया है। ये लोग रायसभाओं के बढ़ते असर से घबरा गये हैं। परन्तु खेद है कि इन संस्थाओं के महत्व को तो समझा ही नहीं गया है वरन् उन्हें औपचारिक संस्थाओं का प्रतिद्वन्द्वी मान बैठे हैं। यह हमारी संविधान की व्यवस्था और आदिवासी व्यवस्था के बारे में घोषित नीति के खिलाफ है। यही नहीं राज्य सरकार ने एक बेतुका सा आदेश भी जारी किया है जिसमें सरकारी अधिकारियों को रायसभाओं में भाग न लेने के लिए हिदायतें दी हैं।

20.39 हमारे संविधान की व्यवस्था को देखते हुए ऐसी हिदायतों का क्या रूप माना जाय ? यह साफ है कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था में बुनियादी रूप से आम आदमी ही सभी अधिकारों का स्रोत है - उसी से दूसरी सभी संस्थाओं को अधिकार मिलते हैं। **इसलिये राज्य सरकार की इस हिदायत का कि रायसभा की बैठकों में अधिकारी न जाय, एक ही मतलब हो सकता है कि वे जनसामान्य से सम्पर्क न करें। यह गलत है। इसके अलावा आदिवासी इलाकों मे परंपरागत संस्थाएँ बुनियादी हैं, उनकी अवहेलना करना संविधान की अवहेलना है। मैं उम्मीद करता हूँ कि राज्य सरकार इस फैसले पर फिर से विचार करके लोगों की अपनी संस्थाओं को उचित सम्मान देगी।**

आदिवासी इलाकों में स्वशासी व्यवस्था और संविधान

20.40 विभिन्न राज्यों में आदिवासी लोगों की परंपरागत संस्थाओं की अनदेखी और यहाँ तक कि आजादी के पहले अलग-अलग इलाकों में वहाँ के हालात का खासतौर पर ध्यान रखकर बनाई गई औपचारिक व्यवस्थाओं के नजरअंदाज हो जाने का सबसे महत्वपूर्ण कारण यही है कि आदिवासी इलाकों के बारे में संविधान की व्यवस्था की ओर खास ध्यान नहीं दिया गया है। इसलिए यह जरूरी है कि उनके बारे में संविधानिक पहलू को अच्छी तरह से समझ लिया जाए। इसके बारे में मैंने पिछली रिपोर्ट में भी जिक्र किया था। परन्तु **संविधान की भावना का अनुपालन पूरी आदिवासी व्यवस्था के भविष्य के लिये निर्णायक है। इसलिए इस पहलू पर फिरसे दुहराने के बावजूद चर्चा करना वाजिब होगा।**

20.41 जैसा हम पहले देख चुके हैं हमारे संविधान में आदिवासी इलाकों के लिये दो तरह के प्रावधान किये गये हैं - एक पाँचवी अनुसूची में और दूसरा छठी अनुसूची में। छठी अनुसूची में स्वशासी व्यवस्था के लिए प्रावधान स्पष्ट है। इस अनुसूची में स्थानीय संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र का पूरा खुलासा किया गया है। परन्तु पाँचवी अनुसूची में यह खुलासा नहीं किया गया है। उनके मामले में राज्यपाल को अधिकार है कि वे उन इलाकों में जरूरत के मुताबिक व्यवस्था कायम करे। इन इलाकों के मामले में स्वशासी व्यवस्था के बारे में खुलासा न करने का मुख्य कारण था उनकी स्थिति की विविधता। हमारे मध्य-क्षेत्र के आदिवासी इलाकों के हालात एक दूसरे से इतने अलग थे कि सभी जगह की

व्यवस्थाओं को उनके पूरे विवरण के साथ संविधान में रखना संभव ही नहीं था। दूसरे, अगर संविधान में हर बात कही जाती तो वह व्यवस्था रूढ़ हो जाती, उसमें बदलाव की गुंजाइश ही नहीं रहती। परिस्थितियों के साथ बदलाव स्वशासी व्यवस्था का एक विशेष गुण होता है। तेजी से बदलते हालात में इसका खास महत्व भी है।

20.42 पाँचवी अनुसूची में स्वशासी व्यवस्था का विवरण न होने के बावजूद एक बात साफ है। हमारे संविधान में जब दूसरे इलाकों में गाँव के स्तर पर गणतंत्रों की स्थापना का आदर्श रखा गया तो आदिवासी इलाके के लिए, जहाँ पर स्वशासी परम्परा पहले से थी, वह आदर्श और भी ज्यादा अर्थपूर्ण है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधान की मंशा यही है कि आदिवासी इलाकों की स्वशासी व्यवस्था को बरकरार रखा जाय और इसके लिये जरूरत के मुताबिक कानूनी आधार दिया जाय। परन्तु किसी भी राज्य में इसके मुताबिक कार्रवाई नहीं की गई। उसकी बजाय सभी जगह बिना सोचे समझे दोहरी व्यवस्था कायम की गई है जो आदिवासी समाज के हित में नहीं है और संविधान की मंशा के भी खिलाफ है। राज्य सरकारों पर यह जिम्मेदारी है कि वे आदिवासी समाज की परम्पराओं के अनुरूप वहाँ स्वशासी व्यवस्था कायम करने के लिये जरूरी कदम उठाएँ।

स्वशासी व्यवस्था - उत्तरपूर्व का अनुभव

20.43 अब सवाल यह है कि इस स्वशासी व्यवस्था का रूप क्या हो सकता है। स्वशासी व्यवस्था के बारे में संविधान की आदिवासी इलाकों के लिए मंशा छठी अनुसूची के तहत आने वाले इलाकों के लिए की गई व्यवस्था से साफ है। छठी अनुसूची में आम आदमी की जिंदगी के लगभग सभी कामकाजों को लोगों की संस्थाओं को सौंप गया है तथा राज्य सरकार और उसकी संस्थाओं के दायरे से बाहर रखा गया है। इसलिए छठी अनुसूची की व्यवस्था को इसके लिए आदर्श माना जा सकता है। उसी के अनुसार पाँचवी अनुसूची के आदिवासी इलाकों के लिए व्यवस्था करना उचित भी होगा और जरूरी भी।

20.44 स्वशासी व्यवस्था क्या है, उसका औपचारिक रूप क्या होना चाहिए, इस पर तरह-तरह के मत हो सकते हैं। संविधान की छठी अनुसूची में भी इसके बारे में स्थिति पूरी तरह साफ नहीं कही जा सकती है। छठी अनुसूची में मोटे तौर पर दो स्तर पर स्थानीय संस्थाओं की व्यवस्था है। जिला स्तर पर जिला परिषद और गाँव स्तर पर ग्राम परिषद। परन्तु इस अनुसूची में अधिकार केवल जिला परिषद के ही परिभाषित किए गए हैं। उनके दो तरह के काम हैं। एक, संविधान में बताये गये कामों की व्यवस्था करना और जरूरत के मुताबिक उसके बारे में कानून और नियम बनाना। दूसरा, अगर केन्द्र या राज्य का कोई कानून उन इलाकों पर लागू होना है तो उन पर अपनी राय देना।

जिला परिषदों की कमजोरी-कारण

20.45 इन संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद जिला परिषद एक ताकतवर राजनीतिक प्रशासनिक इकाई के रूप मे नहीं उभर पाई। हुआ यह कि उत्तर-पूर्व में धीरे-धीरे अलग आदिवासी राज्य बनते गये। इन राज्यों ने भी अपने काम-काज में देश के अन्य राज्यों की ही रीति-नीति अपना ली जो वहाँ की स्थिति के मुताबिक पहले से पूरी तरह से सुस्थिर थी। उधर जिला परिषदों को व्यवस्था के काम-काज के बारे में न कोई खास अनुभव था और न उसका रूप क्या होना चाहिये इस बारे में भी कोई साफ दृष्टि थी। इसलिए उनका अपना विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं उभर पाया और वे नेमी प्रतिनिधि संस्थाओं जैसी काम करती रहीं। परन्तु प्रतिनिधि व्यवस्था के रूप में राज्य सरकारें जिला परिषदों से अधिक

कारगर और अधिकार सम्पन्न साबित हुई। इसलिये उनके सामने जिला परिषदों की कोई खास अहमियत ही नहीं रह गई।

20.46 परन्तु जिला परिषदों की इस कमजोरी का एक बड़ा फायदा यह हुआ कि संविधान में जो काम उनको सौंपे गये थे उनके बारे में वे कोई नियम, कानून नहीं बना पाए और उनकी व्यवस्था के लिए, जैसा आमतौर पर होता है, उनके स्तर पर न संस्थाओं की स्थापना हुई और न कर्मचारियों की भर्ती। दूसरी ओर इन इलाकों में गाँव स्तर की परंपरागत संस्थाएँ, जो लोगों की असली संस्थाएँ थी, जीवन्त थी और उन्हें बाहर से अधिकार देने की जरूरत नहीं थी। उनके लिये यही काफी था कि बाहर से हस्तक्षेप न हो। इनके काम में जिला परिषद इसलिए हस्तक्षेप नहीं कर पाई क्योंकि वे खुद ही नहीं संभल पाई थी। दूसरी ओर गाँव स्तर की संस्थाएँ मोटे तौर पर वही काम कर रही थी जो छठी अनुसूची में दर्ज थे। इन मामलों में राज्य तथा केन्द्र सरकार को बिना जिला परिषद की सलाह के कानून बनाने तक का अधिकार नहीं था। इस तरह उत्तर-पूर्व में छठी अनुसूची वाले आदिवासी इलाकों में गाँव समाज के कामकाज में केन्द्र, राज्य या जिला परिषद, किसी भी ओर से कोई दखलंदाजी नहीं हुई। गाँव की ये संस्थाएँ या ग्राम परिषद सही अर्थों में स्वशासी बनी रही। छठी अनुसूची में बताये गये सभी काम वे अपनी सूझबूझ के मुताबिक बखूबी करती रही हैं। उनकी परंपरायें अभी भी पहले जैसी ही कायम हैं।

आदिवासी की नजर में स्वशासी व्यवस्था

20.47 इस अनुभव से यह साफ है कि आदिवासी इलाकों में स्वशासी व्यवस्था का सही रूप गाँव के स्तर पर ही उभर सकता है। अगर इस तथ्य को नजरअंदाज करके कोई व्यवस्था बनाई जाती है तो वह सही मायने में स्वशासी व्यवस्था नहीं होगी। मध्य क्षेत्र के आदिवासी इलाकों में आज असंतोष खासकर इसी बात को लेकर है कि उनकी अपनी स्वशासी व्यवस्था टूट रही है और वे अपनी जिंदगी के रोजमर्रा के मामलों में भी बाहरी संस्थाओं के आधीन हो गये हैं। सभी जगह आदिवासी लोग अपने-अपने ढंग से इसी बात की खिलाफत कर रहे हैं। इन इलाकों में लोगों से बातचीत में जब भी यह बात उठती है कि **आजादी के बाद क्या हुआ तो उनका एक ही जवाब होता है - "आज से जिंदगी के हर मामले में दूसरों के आधीन हैं, सरकारी कर्मचारी अपनी मनमानी करते हैं और उनकी बात कोई सुनने वाला ही नहीं है। उनका अपना कोई अधिकार ही नहीं रहा है।" आम आदिवासी की यही स्वाहिश है कि उनके यहाँ कोई न आये। वे अपनी जिंदगी अपनी रीति-नीति के मुताबिक अपने जाने पहचाने परिवेश में मिलकर सुख और दुःख बांटते-बटते अपने लोगों के बीच बितायें।**

20.48 आदिवासी की जिंदगी जंगल और जमीन से जुड़ी हुई है। इसलिये वे वन में पूरा अधिकार नहीं तो कम से कम यह तो चाहते ही हैं कि वनों के मामले में सरकार जो काम करे उनसे मशविरा तो कर ले। मध्यप्रदेश के बस्तर जिले में आदिवासियों और सरकार के बीच शुरू-शुरू का टकराव सिर्फ जंगल और जमीन के मामले को लेकर हुआ था। आज भी सभी जगह, जैसे आंध्रप्रदेश में आदिलाबाद, मध्यप्रदेश में दक्षिणी बस्तर, महाराष्ट्र में गढ़चिरौली और नासिक या बिहार में सिंहभूम, जंगल पर अधिकार की ही बात होती है, उसी को लेकर टकराव है।

20.49 आजादी की लड़ाई में बहुत से आदिवासी इलाकों में लोगों ने बड़े उत्साह से भाग लिया था। आम आदिवासी की जिंदगी में गुलामी का अर्थ था वन के मामले में बेदखल और जमीन का हाथ से निकलता जाना। उनके लिये आजादी की लड़ाई जंगल और जमीन की लड़ाई थी। कहा जाता है कि

जब आजादी आई तो कई जगह वे आदिवासी जो आजादी की लड़ाई में अगुआ थे, कुछ समझ ही नहीं पाए कि कौन सी आजादी आई है ? जंगल और जमीन के मामले में तो कुछ बदला ही नहीं, पहले की तरह ही सरकारी कब्जे में बने रहे थे। कहते हैं कि कुछ आदिवासी सयाने तो पागल हो गये। वे अपने जंगल में भटकते हुए घूम-घूम कर उन्माद में एक ही बात दुहराते रहे - "ये जंगल हमारे हैं - - - - ये जंगल हमारे हैं - - - - आज भी साधारण आदिवासी के मन में सरकार और आजादी के बारे में यही सोच है।

20.50 आदिवासी इलाकों में सभी तरह के आंदोलन जंगल, जमीन और विस्थापन से ही जुड़े हैं। इन्हीं तीन मुद्दों को लेकर किसी भी आदिवासी इलाके में आदिवासियों को आसानी से इकट्ठा किया जा सकता है। सच तो यह है कि इन मामलों पर उन्हें इकट्ठा करने की जरूरत ही नहीं। अगर लोगों को कहीं से कोई भनक भी पड़ जाय कि कहीं कोई इन मुद्दों की बात कर रहा है तो वे अपने आप भाग कर वहाँ पहुँच जाते हैं, इसी उम्मीद में कि शायद कहीं कोई उनकी भी सुनवाई हो जाय। आदिवासी को अगर जंगल और जमीन की किसी से दिलासा मिल जाय तो वह उसके पीछे हो लेगा, उसके हाथ में फिर चाहे झंडा किसी भी रंग का क्यों न हो।

20.51 परन्तु इस मामले में आम आदिवासी के साथ एक तरह से धोखा हो रहा है। आज के सभी आंदोलन जंगल और जमीन तथा कहीं-कहीं विस्थापन के मामलों में उसकी गहरी वेदना को लेकर आगे बढ़ते हैं। परन्तु धीरे-धीरे उनके अहम मसले तो पीछे रह जाते हैं और दूसरे उद्देश्य प्रधान बनते जाते हैं चाहे वह नये राज्य की स्थापना का तत्कालिक सीमित लक्ष्य हो या समाज में आमूल परिवर्तन की लम्बी यात्रा। इस आपाधापी में उसकी अपनी असली बातें कहीं खो जाती हैं।

20.52 नये राज्यों की स्थापना या जिला या क्षेत्र स्तर पर विशेष प्रशिकरण स्वशासी व्यवस्था का एक आयाम है, उनकी अपने आप में अहमियत हो सकती है, उनमें मध्यम वर्गीय लोगो की राजनीतिक तथा अन्य आकांक्षायें भी पूरी हो सकती है। परन्तु जहाँ तक आम आदिवासी की जिंदगी के सवाल हैं, जिनकी व्यवस्था में उसे दिलचस्पी है वे उनका हल कहीं हैं। उत्तर-पूर्व में आदिवासी-बहुल राज्यों की स्थापना के बाद औपचारिक व्यवस्था के रूप में कोई तबदीली नहीं आयी। **सच तो यह है कि उत्तर-पूर्व के आदिवासी इलाकों में इस समय राज्य की औपचारिक व्यवस्था और गाँव के स्तर की परम्परागत व्यवस्था मे टकराव है। वहाँ गाँव के स्तर की परम्परागत व्यवस्था को औपचारिक मान्यता भी प्राप्त नही है फिर भी वे सामाजिक मान्यता और प्रतिष्ठा के आधार पर टिकी हुई है।**

20.53 इस तरह यह स्पष्ट है कि आदिवासी इलाकों में उनकी परम्परागत व्यवस्था ही स्वशासी व्यवस्था है। उसी में साधारण आदिवासी की सचि है, उसी स्तर पर उसका नई व्यवस्था से टकराव भी है। **गाँव के स्तर पर छोटे से समाज की छोटी-छोटी बातें हैं जिन्हें हर आदमी जानता, समझता है और जिनके मामलों में अपनी सूझबूझ के मुताबिक फैसले भी कर सकता है। ऐसी स्वशासी व्यवस्था में ही वह स्वाभिमान के साथ अपनी जिंदगी बिता सका है। यही संविधान की मंशा है और यही आदिवासियों के मन की चाहत।**

संविधान संशोधन विधेयक और आदिवासी इलाके

20.54 इस तरह आदिवासी इलाके में उनकी परंपरागत संस्थाओं की नीव पर ही सही मायने में स्वशासी व्यवस्था कायम हो सकती है। इस मामले में पंचायती राज के लिये संविधान में संशोधन (1989)

के प्रस्ताव में एक महत्वपूर्ण पहल हुई थी। इस संशोधन विधेयक में तजवीज की गई थी कि प्रस्तावित व्यवस्था उसी रूप में आदिवासी क्षेत्रों में लागू नहीं होगी। **पांचवी अनुसूची** के आदिवासी इलाकों के मामले में राज्यपाल को उस विधेयक में जरूरी फेरबदल करके लागू करने का अधिकार प्रस्तावित था। इसी तरह से उत्तर-पूर्व के आदिवासी राज्यों को विधानसभाओं को उसमें फेरबदल का अधिकार देना प्रस्तावित था।

20.55 वैसे तो पाँचवी अनुसूची में राज्यपाल को ये अधिकार पहले से ही हैं और अगर इस विधेयक में यह नहीं भी कहा गया होता तो भी राज्यपाल उसमें फेरबदल कर सकते थे। **परंतु विधेयक में ही इस तरह का प्रावधान करने का खास महत्व इसमें था कि खुद संसद में उस मुद्दे पर विचार करते हुए यह बात मानी गई कि आदिवासी इलाकों के लिए अलग व्यवस्था की जरूरत हो सकती है। आजादी के बाद संभवतः यह पहला विधेयक होता जिस विधेयक में ही यह कहा गया था कि उसे आदिवासी इलाकों में जैसा का तैसा लागू न किया जाय और उसमें जरूरी फेरबदल किए जाएं।**

20.56 **मुझे उम्मीद है कि केन्द्र में या राज्यों में पंचायती राज की स्वशासी व्यवस्था के बारे में जब भी कोई विधेयक आयेगा तो इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि आदिवासी इलाकों में स्थिति अलग है, वहाँ उनकी अपनी स्वशासी व्यवस्था अभी भी कायम है और आदिवासी का जीवन साँचों में नहीं बँट हुआ है। इसलिए इन इलाकों पर जैसा अभी तक होता आया है, सामान्य व्यवस्था को थोपने की कोशिश नहीं की जाएगी और उन इलाकों के लिए आदिवासियों की अपनी परम्पराओं के अनुरूप छोटे-बड़े सभी इलाकों में नई व्यवस्था उनकी परंपरागत संस्थाओं की नींव पर कायम की जाएगी।**

स्वशासी व्यवस्था का रूप - लोगों की प्रतिक्रिया

20.57 आदिवासी इलाकों के जन-आंदोलनों में स्वशासी व्यवस्था की बात तेजी से उठ रही है। परंतु इसके साथ ही उसका रूप क्या हो इस पर भी जगह-जगह विचार किया जा रहा है। इस विषय मे मैंने भी मध्य प्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश और राजस्थान के कई आदिवासी इलाकों में लोगों के साथ बैठकर बातचीत की है। इसके संबंध में आदिवासी पंचों के दिल्ली सम्मेलन (1989) में भी व्यापक चर्चा हुई थी। अलग-अलग इलाकों में स्थिति भिन्न होते हुए भी कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जिनके बारे में सभी दूर आम सहमति है।

ग्राम पंचायत और ग्राम समाज

20.58 इन चर्चाओं में एक बात साफ तौर पर उभरी कि औपचारिक पंचायतों के बारे में आदिवासी लोगों का अब तक का अनुभव सुखद नहीं रहा है। इसके कई कारण हैं। पहले तो औपचारिक पंचायतों की अपनी अलग पहचान बन जाती है इसलिए आम आदमी उनको अपना नहीं मान पाता हैं। ये पंचायतें कानून से बनती हैं और कानून से चलती हैं। उनके सदस्यों को लोग चुनते जरूरत हैं परन्तु चुने जाने के बाद उन पर उनका कोई जोर नहीं है और उनके बीच में कोई संवाद भी नहीं रहता। यही नहीं, इन औपचारिक पंचायतों के अपने हित अलग हो सकते है जो आम आदमी या गाँव समाज के हितों से अलग या उनके विपरीत भी हो सकते हैं। कई जगह गाँव के तालाब जैसे संसाधनों पर अधिकार को लेकर ग्राम पंचायतों और गाँव समाज के बीच टकराव हुए हैं। पंचायत की कोशिश तालाब की मछली को नीलाम कर अपनी आमदनी बढ़ाने की रहती है और उसके लिये गाँव के लोगों के मछली मारने के अधिकार और उनकी भावना की भी अनदेखी कर दी जाती है। इस तरह गाँव वालों के लिए नई पंचायतें सरकारी अमले का ही एक हिस्सा जैसी लगने लगती हैं। इसलिए पंचायत सरपंच की संस्था हो सकती है, सचिव की संस्था हो सकती है पर उसे लोग अपनी संस्था नहीं मान पाते हैं।

20.59 परंपरागत संस्थाओं और नई पंचायतों के बारे में हम पहले देख चुके हैं कि उनके बीच का बटवारा बनावटी है और आदिवासी समाज के हित में भी नहीं है। इसलिये एक बड़ा सवाल यही है कि इस विभेद को दूर कैसे किया जाय। आदिवासी लोग अपनी परंपरागत व्यवस्था ही चाहते हैं। उनकी परंपरागत संस्थाएँ जिंदगी के हर पहलू से संबंधित है। परन्तु औपचारिक संस्थाओं की अपनी सीमाएँ हैं। वे वहीं काम कर सकती हैं जो कानून उसे सौंपे। इसलिए ऐसी संस्थाओं के काम का दायरा व्यापक न होकर थोड़ा छोटा सा ही रहेगा। आदिवासी इलाकों के आज के हालात में तो इन संस्थाओं का आम लोगों की आज की जिंदगी से कोई खास ताल्लुक ही नहीं है। परन्तु दूसरी ओर परम्परागत संस्थाओं के बारे में बड़ी गलत धारणा बन गई है। चूँकि कागजी और कानूनी व्यवस्था में परंपरागत संस्थाओं का न कहीं जिक्र होता है और न उनकी कोई भूमिका। इसलिए बाहर से ऐसा लगता है कि वहाँ पर कुछ है ही नहीं। इसलिए नीति बनाने वाले जिन्हें आदिवासियों की जिंदगी को देखने का कोई खास मौका ही नहीं आता है, यह मान कर चलते हैं कि ये संस्थाएँ अगर हैं भी तो कमजोर हैं, समाप्तप्राय हैं। इस तरह सही जानकारी न होने के कारण एक सुझाव यह भी आता है कि क्यों न सभी काम नई संस्थाओं को ही सौंप दिया जाय।

20.60 औपचारिक संस्थाओं को लोगों की रोजमर्रा जिंदगी के सभी कामकाज सौंपने की कोई भी कोशिश कामयाब नहीं हो सकती है। उनकी नाकामयाबी के बीज इस सुझाव की प्रकृति में ही मौजूद हैं। आदिवासियों की परम्परागत व्यवस्था एक बहुत बड़े बर्तन की तरह है जिससे उनके जीवन की कोई बात बाहर नहीं है। उनकी तुलना में औपचारिक संस्थाएँ एक छोटा सा बर्तन हैं जिसमें सरकार जो छोटी-मोटी बातें उनसे करवाना चाहे वही आ सकती हैं। इस हालत में नई संस्थाओं को सभी कामकाज देने की बात एक छोटे से बर्तन में बड़ा भारी बर्तन घुसाने जैसी कोशिश होगी जिसमें दोनों ही बर्तन टूट जाएँगे। बुद्धिमानी इसमें है कि बड़े बर्तन में छोटा बर्तन रखा जाय। उसी में सभी का हित है।

20.61 इस तरह एक ही रास्ता है कि आदिवासी समाज की परम्परागत संस्थाओं को ही नए काम दिये जाएं। उसी हालत में जिंदगी के सभी काम अच्छी तरह से चलेंगे। परंपरागत संस्थाओं को नई रोशनी का लाभ मिलेगा। और उनमें जरूरत के मुताबिक बदलाव आएगा। आदिवासियों के लिए नई व्यवस्था अनजान न रहकर उसकी अपनी व्यवस्था का अंग बन जाएगी, जिस पर उसका अधिकार होगा जिसको वह संचालित कर सकेगा। इस तरह उसका आज का अलगाव समाप्त हो जाएगा, वह अपने को असहाय महसूस नहीं करेगा और उसको एक ऐसी नयी जिंदगी मिलेगी जिसका वह खुद ही नियोजक और नियंता होगा।

स्वशासी व्यवस्था का दायरा

20.62 स्वशासी व्यवस्था के दायरे को तय करते समय संविधान की मूल चेतना को ध्यान में रखना उचित होगा - **आदिवासी समाज अपनी अस्मिता को कायम रखते हुए अपनी परंपरा के सुंदर तत्वों को संजोये हुए अपनी स्वेच्छा से नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में समानता और स्वाभिमान के साथ सहभागी बन सके।** यह जाहिर है कि आज की व्यवस्था में न केवल यह चेतना जाने-अनजाने नजरअंदाज हो गई है वरन् उसकी खुली अवहेलना हुई है। इस भावना को आदर करने वाली नई व्यवस्था के तीन प्रमुख स्तंभ होंगे - **एक** समाज के अपराधीकरण की समाप्ति और अपनी व्यवस्था स्वयं करने का अधिकार, **दूसरा** भूमि सहित प्राकृतिक संसाधनों पर समाज के अधिकार की वापसी और **तीसरा** सामाजिक सेवाओं एवं आर्थिक विकास के सभी कार्यक्रमों का आयोजन, क्रियान्वयन और उनसे संबंधित सभी संस्थाओं का संचालन।

20.63 वैसे तो छठी अनुसूची में जिला परिषदों के लिये निर्धारित कार्य-सूची पूरी तौर पर ग्राम समाज के स्तर पर व्यवस्था के लिये उपयुक्त होगी, परन्तु उसमें थोड़ी और स्पष्टता की जरूरत होगी। उदाहरण के लिए गाँव और परगना स्तर की शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ पूरी तौर से गाँव और परगना परिषदों की देख रेख में काम करें। इस तरह मोटे तौर पर गाँव के स्तर पर स्वशासी व्यवस्था लोगों की आम जिंदगी से संबंधित सभी पहलुओं के लिये जिम्मेदार होना चाहिये जिनमें नीचे लिखे विषय खास तौर पर सम्मिलित हों -

§1§ भूमि और वन सहित सभी प्राकृतिक संसाधनों का रख-रखाव और उनका उपयोग का नियोजन।

§2§ कानून और व्यवस्था बनाए रखना।

§3§ गाँव के लोगों के बीच सभी तरह के परस्पर संबंधों, सामाजिक व्यवस्थाओं खास तौर से मद्यपान इत्यादि का नियमन।

§4§ सभी तरह के सामाजिक, संपत्ति संबंधी और ऐसे फौजदारी मामलों का, जिनमें 5 साल या उससे अधिक सजा की व्यवस्था न हो, निपटाने का अधिकार।

§5§ शिक्षा, स्वास्थ्य, बाल-कल्याण, वयोवृद्धों की देखभाल इत्यादि सभी तरह की सामाजिक सेवाओं का नियोजन, क्रियान्वयन और उनसे संबंधित संस्थाओं का निदेशन।

§6§ गाँव स्तर के सभी विकास कार्यक्रमों का नियोजन, क्रियान्वयन और उनसे संबंधित संस्थाओं का निदेशन।

§7§ गाँव-बैंक की स्थापना और यथासंभव अपनी परंपरा के अनुसार आवश्यकता के अनुसार उसमें संशोधन करके लेन-देन की पूरी व्यवस्था को संचालन करना। और

§8§ ग्राम-कोष की स्थापना और उसका संचालन।

20.64 इन सभी बातों के लिए परगना स्तर पर परगना पंचायत को जिम्मेदारी देना उचित होगा और सभी मामलों में उनका निर्णय अंतिम माना जाय। गाँव और परगना स्तर के सभी शासकीय कर्मचारी गाँव/परगना पंचायतों के आधीन उनके निदेशन में काम करें।

20.65 स्वशासी व्यवस्था के दायरे के बारे में एक अन्य महत्वपूर्ण बात को ध्यान में रखना होगा जो उनके काम के लिए निर्णायक भी है। जो भी जिम्मेदारी दी जाय वह पूरी-पूरी दी जाय, उसमें किसी तरह का बाहरी संस्थाओं या प्रशासनिक अधिकारियों की लेश मात्र भी दखलंदाजी के लिए जगह नहीं होनी चाहिये। अभी तक का अनुभव यही बताता है और वही सिद्धांत रूप में भी सटीक है कि **बाहरी दखलंदाजी के लिए एक प्रतिशत की व्यवस्था भी स्थानीय संस्थाओं के निन्यानवें प्रतिशत अधिकारों तक को पूरी तरह से नाकाम कर सकती है। इसलिए निन्यानवे प्रतिशत अधिकार शून्यवत हो जाते हैं।** जब तक लोगों को यह न अहसास हो कि किसी काम की पूरी जिम्मेदारी उन्हीं पर है, दायित्व बोध नहीं जगेगा और बाहरी दखलंदाजी ही नहीं, खुद अपनी कमियाँ भी दूसरों पर डाल कर अपनी जिम्मेदारी से हाथ झाड लेने की प्रकृति को भी नहीं रोका जा सकता है। **दायित्व बोध के लिए पूर्ण दायित्व का अहसास जरूरी है। और फिर उसी हालत में तो व्यक्ति या संस्था अपनी गलतियों से सीख सकती है।**

वित्तीय व्यवस्था

20.66 वित्तीय व्यवस्था के दो पहलू हैं। **पहला,** सभी तरह की जिम्मेदारियों को निभाने के लिए वित्तीय साधनों की व्यवस्था करना और **दूसरा, समाज के सदस्यों को आर्थिक सहायता और लेन-देन की जिम्मेदारी** निभाना। किसी भी समाज के स्वाभिमान के लिये यह जरूरी है कि वह किसी की दया-भिक्षा या अनुकम्पा

पर निर्भर न हो। छठी अनुसूची के आदिवासी इलाकों में भी स्थानीय समाज की व्यवस्था की अनदेखी करके राज्य-तंत्र के अनावश्यक रूप से और अनचाहे विस्तार का एक ही कारण है - जिला/गाँव परिषदों के दायित्वों के संदर्भ में अधिकार-युक्त वित्तीय व्यवस्था का अभाव। इसलिये राज्य सभी तरह की सामाजिक सेवाओं और विकास की गतिविधियों के लिये अलग संस्थाएँ और तंत्र बनाता जा रहा है जिन्हें अन्यथा जिला/गाँव परिषदों के नीचे होना चाहिए था। यह अनमेल व्यवस्था समाप्त होनी चाहिये। गाँव/परगना परिषदों को उनके दायित्वों को निभाने के लिए पूरी राजकीय समर्थन का प्रावधान करना ही संविधान की भावना के अनुरूप स्वशासी व्यवस्था कायम करने के लिये अनिवार्य है, राज्य का दायित्व भी है।

20.67 जहाँ तक समाज के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से आर्थिक समर्थन का सवाल है उसके बारे में पूरी जिम्मेदारी गाँव/परगना परिषदों की होनी चाहिए। अनुदान हमारे राष्ट्रीय मूल्यों, खास तौर पर आदिवासी परंपरा के खिलाफ है, वह आत्मसम्मान के लिये घातक है। यदि लोगों के श्रम का पूरा उपयोग हो और उसे ऐसे कामों में लगाया जाय जिससे व्यक्ति, गाँव या परगना के प्राकृतिक संसाधनों की समृद्धि और उत्पादन साधनों का सुधार-निर्माण होता है तो अनुदान जैसी व्यवस्था की जरूरत ही नहीं। इसी तरह से वक्त-जरूरत के समय कर्ज की व्यवस्था और व्यक्ति की स्थिति के अनुसार उसकी अदायगी/लेन-देन की व्यवस्था के सूत्र-सिद्धांत होना चाहिये। यह जिम्मेदारी गाँव समाज ही निभाता रहा हैं, बदली हुई स्थिति में भी वही बखूबी निभा सकता है। गाँव बैंक के जिसे चलित-पूँजी आवश्यकता के अनुसार स्थायी अग्रिम के रूप में रिजर्व बैंक दे जिस पर कोई ब्याज न लगाया जाय और जिसका हिसाब-किताब पूरी तरह से गाँव में रखा जाय। ऐसी व्यवस्था से ही गाँव अपने आर्थिक जीवन में सही अर्थों में स्वशासी हो सकेगा।

नई संरचना का रूप

§1§ एक बसाहत-एक पंचायत

20.68 आदिवासी परम्परा की कुछ और बातें उल्लेखनीय हैं जिन्हे स्वशासी संस्थाओं की संरचना तय करते समय ध्यान में रखना जरूरी है। एक तो औपचारिक पंचायत व्यवस्था में राजस्व गाँव या आबादी के हिसाब से एक या अधिक को इकाई माना जाता है। आदिवासी इलाकों में राजस्व गाँव बुनियादी सामाजिक इकाई नहीं होता है उसमें दो-चार, दस-बीस या पचीस-पचास तक मजरे, पारे या फलिये होते हैं। परंपरागत व्यवस्था में यही बसाहतें सामाजिक इकाई भी होती हैं। इसलिए अगर नई व्यवस्था की रचना सामाजिक व्यवस्था की नींव पर की जानी है तो उसकी बुनियादी इकाई गाँव न होकर पारा, फलिया या बसाहत ही होना चाहिए। "एक बसाहत एक पंचायत"- यही नियम आदिवासी व्यवस्था के लिये जरूरी है।

§2§ अपील के लिये "परगना" पंचायत

20.69 आदिवासी परंपरा के अनुसार जब किसी गाँव का मामला गाँव में नहीं तय हो पाता है तो उसके लिए गाँव-समूह के स्तर पर व्यवस्था होती है जिसे कहीं परगना, कहीं परहा, इत्यादि कहते हैं। एक परगने में आठ-दस बसाहतें होती हैं। आमतौर पर परगना स्तर का निर्णय अंतिम होता है। परगना स्तर की एक खासियत यह है कि परगने के लोग एक दूसरे को सीधे-सीधे न भी जानते हों, परन्तु फिर भी लोगों की अच्छाई बुराई मालूम रहती है। लोग विशेष पर्वों पर मिलते जुलते भी रहते हैं। इस तरह इस स्तर पर निर्णय में लोगों की समझ और जानकारी का आधार होता है - सही और

गलत का भेद हो सकता है, औपचारिकता नहीं हावी हो सकती है। इस तरह से आदिवासी परंपरा के अनुसार स्वशासी संस्थाओं का गठन दो स्तरों पर जरूरी है - एक उनके समाज अर्थात् बसाहत के स्तर पर और दूसरा गाँव-समूह या परगने के स्तर पर।

§3§ पंचायत गाँव सभा के आधीन

20.70 आदिवासी व्यवस्था की एक और खासियत यह है कि सभी तरह के अधिकारों का स्रोत गाँव समाज है। इसलिए उसी का फैसला आखिरी होता है। यही प्रजातांत्रिक व्यवस्था का सार है। हमारे देश में पंचायती व्यवस्था में इस बुनियादी बात को नजर-अंदाज किया गया है और यही उनकी कमजोरी का सबसे बड़ा कारण है। गाँव की व्यवस्था चलाने में लोगों की सीधी भागीदारी न होकर उसके अधिकार ग्राम पंचायत को दिये जाते हैं। इस तरह गाँव के स्तर पर भी प्रतिनिधि व्यवस्था कायम की जाती है। पंचों के चुने जाने के बाद पंचायत पर गाँव समाज का नियंत्रण नहीं रहता है। कुछ राज्यों के कानून में अधिक से अधिक साल में दो बार गाँव सभा की बैठक बुलाने के लिये प्रावधान होता है परन्तु गाँव सभा के कोई खास अधिकार सही होते हैं। आमतौर पर पंचायत का चुनाव पाँच साल के लिए होता है। उस बीच उसे बदलने के लिए पहले तो कोई प्रावधान ही नहीं हैं और कहीं हों भी तो बड़े पेचीदे होते हैं। इस संबंध में कभी-कभी प्रतिनिधि को वापिस बुलाने के अधिकार के बारे में भी चर्चा होती है। परन्तु इसप्रकार की किसी भी प्रक्रिया में तरह-तरह की औपचारिकताएँ होना स्वाभाविक है। परन्तु सभी तरह की औपचारिकता का सरल गाँव समाज के संदर्भ में सबसे बड़ा दोष यही है कि नाम के लिए अधिकार मिल जाने पर भी वे अंतिम निर्णय का उनका स्वाभाविक अधिकार जाता रहता है और जो लोग औपचारिकता के भेद और पेच को समझ सकते हैं निर्णय-प्रक्रिया में हावी हो जाते हैं। इस तरह आज की वास्तविकता यही है कि चुनाव के बाद पंचायतें पाँच साल के लिए खुद मुख्तार बन जाती हैं और उन्हें कोई हिला नहीं सकता।

20.71 प्रतिनिधि व्यवस्था की निरंकुशता का एक ही इलाज है - उन्हें गाँव सभा के प्रति जवाबदार बनाना। आदिवासी समाज की परंपरा भी सही है। वे इस परंपरा को कायम रखना चाहते हैं। इसलिए, कम से कम आदिवासी इलाकों के लिये स्वशासी व्यवस्था में उनकी परंपरा के अनुरूप पूरे अधिकार गाँव समाज को ही दिये जाने चाहिए, चुनी हुई पंचायत को नहीं। गाँव के स्तर पर उसूलन गाँव की पंचायत का दर्जा गाँव के लोगों की ओर से उनके द्वारा बताए गए काम करने के लिए मुकर्रर की गई संस्था जैसा होना चाहिये। इस हालत में जब तक गाँव समाज चाहे तभी तक पंचायत उनकी ओर से काम कर सकती है। जिस दिन गाँव समाज का पंचायत या किसी पंच पर विश्वास न रहे वह भले आदमी की तरह समाज का काम समाज को सौंप कर अलग हट जाय। गाँव समाज अपने काम के लिए उनकी जगह नई नामजदगी कर दे।

20.72 **मोटतौर पर गाँव समाज और गाँव की पंचायत के बीच वैसा ही रिश्ता होना चाहिये जैसे कि संसद और सरकार के बीच होता है।** संसद के सदस्य पाँच साल के लिये चुने जाते हैं परन्तु सरकार के लिये कोई समय सीमा नहीं होती है। कोई भी सरकार संसद का विश्वास रहने तक ही रह सकती है। परन्तु संसद और गाँव-सभा में एक बुनियादी अंतर है। देश के स्तर पर संसद के रूप में प्रतिनिधि व्यवस्था जरूरी है। परन्तु गाँव सभा स्वयंभू है। लोकतंत्र की सही भावना का पालन तभी हो सकता है जबकि गाँव के स्तर पर सारा काम सहभागिता के आधार पर हो। इसलिये गाँव के स्तर पर चुनाव का सवाल ही नहीं है। गाँव सभा गाँव पंचायत को नामजद करे और जब तक पंचायत के लोग सही काम करते रहे और जब तक गाँव सभा का उनमें विश्वास बना रहे तब तक वे काम करें।

कामकाज का ढंग

20.73 स्वशासी व्यवस्था सही मायनों में स्वशासी रहे इसके लिए उसके काम करने के ढंग का भी बड़ा महत्व है। लोगों की असली ताकत है सही जानकारी, ठीक समझ और इस बात का पूरा अहसास कि आखिरी फैसला उन्हीं का है, उनके ऊपर कोई नहीं। इस मामले में भी परंपरागत संस्थाओं का अनुभव मूल्यवान है और उनमें कुछ थोड़े से फेरबदल के साथ उसी को आगे भी जारी रखना जरूरी है।

§1§ खुली कार्यवाही

20.74 परंपरागत व्यवस्था में सभी काम खुले में होते हैं, कोई भी बात गोपनीय नहीं होती है। इसका एक असर यह होता है कि सच्चाई नजर-अंदाज नहीं की जा सकती है और झूठ को छिपाया नहीं जा सकता है। इसलिए नई व्यवस्था में गाँव सभा के साथ-साथ उसकी पंचायत की कार्रवाई भी खुले में ही होनी चाहिये। इससे आम लोगों को मालूम रहेगा कि पंचायत में हो क्या रहा है और पंचों में से कौन क्या कहता है, क्या करता है ? हाँ, पंचायत की बैठकों में दूसरे लोग देखे-सुने जरूर, पर दखल न दे। सभी लोग अपनी बात गाँव सभा की बैठक में कह सकते हैं और पंचों से जवाब-तलब कर सकते हैं। ऐसा करने से गाँव की व्यवस्था गाँव के लोगों के प्रति जिम्मेदार बनी रहेगी।

§2§ आम सहमति - काम का आधार

20.75 कामकाज के बारे में एक दूसरा अहम सवाल है फैसला करने का तरीका। दुर्भाग्य से आज की प्रजातांत्रिक व्यवस्था 51:49 का खेल बन कर रह गई है। यही नहीं "51" यानी बहुमत अपने को "100" यानी सब कुछ मान बैठता है और अपनी बात को सबकी बात मानकर सही भी सोच लेता है। **हमारे देश की सबसे मूल्यवान विरासत यह है कि साधारण व्यवहार में बहुमत और अल्पमत का हिसाब नहीं किया जाता है। एक व्यक्ति की असहमति का भी मान होता है। सभी काम आम सहमति से होने चाहिये, यह परंपरा है, जिसका आदिवासी इलाकों में आज भी पूरी तरह से पालन हो रहा है।**

20.76 गाँव समाज के कामकाज के तरीके के बारे में मैंने जहाँ भी बात उठाई लोगों का हमेशा यही सहज जवाब था कि गाँव के काम में वोट नहीं होना चाहिये, हम वोट नहीं चाहते। **उनके अनुसार वोट समाज को तोड़ता है, सहमति समाज को बांधती है, जोड़ती है।** कहीं भी किसी भी इलाके में, आदिवासी इलाके में आदिवासी लोगों ने, सहमति के आधार पर कामकाज में कोई विघ्न-बाधा आ सकती है इसके बारे में, भूल से भी कोई शंका नहीं उठाई। उनका कहना था कि अगर किसी मामले में आज सहमति नहीं होती है तो कल बैठ लेंगे या परसों बात कर लेंगे। आखिर समाज तो हमारा ही है जहाँ चार आदमी होंगे, अपनी-अपनी बात करते हैं। मतभेद भी होते रहते हैं। परन्तु उन्हें हम सब मिल कर बैठकर ठीक कर लेते हैं।

20.77 काम करने के लिए सहमति के बारे में आदिवासियों का यह विश्वास उन लोगों के गले नहीं उतरता है, जो समाज में कभी उसके बनकर रहे ही नहीं, जिन्हें हर बात व्यक्ति से ही नहीं, निजी नजरिये से देखने की आदत है। खेद है कि नीति बनाने वाले अपनी इस कमजोरी को न देखकर लोगों के विवेक और व्यवहार बुद्धि पर टीका-टिप्पणी करते, उसूलों के नाम पर उसमें छेद ढूँढने की कोशिश करते हैं। "वोट तोड़ता है सहमति जोड़ती है" यह आम आदमी खास तौर पर आदिवासी की जिंदगी का अनुभव है, उसका आदर होना चाहिए।

धन और बल के प्रयोग पर अंकुश

20.78 आखीर में हम औपचारिक पंचायती व्यवस्था के प्रति आम लोगों में उत्साह की कमी या उसकी सीधी खिलाफत पर विचार करेंगे। इसका मूल कारण सामाजिक मूल्यों में लगातार गिरावट है जिसको आम आदमी समझ रहा है और उसका मन उसे स्वीकार नहीं कर पा रहा है। मूल्यहीन व्यवहार आदिवासी समाज में सबसे अधिक चिंता का विषय है। मूल्यहीन व्यवहार के माहौल के लिये सत्ता की राजनीति ही बहुत कुछ जिम्मेदार है। सत्ता हथियाने के लिये सब कुछ वाजिब है। आदिवासी लोग वोट के नाम पर जो हो रहा है उसे देख सुनकर घबरा रहे हैं। वे बड़े सोच में हैं कि क्या उनका समाज एक नई चुनौती से पार पा सकेगा।

20.79 किसी भी व्यवस्था में पदों के लिये मारामारी के दो कारण हैं-§1§पद मिलने के बाद प्रतिनिधियों के व्यवहार पर किसी तरह का अंकुश न होना। §2§ निश्चित समय तक पद पर बने रहने का भरोसा। जैसा हम पहले देख चुके हैं कि आज की पंचायत व्यवस्था में ये दोनों ही बातें मौजूद हैं। इसलिये अगर पंचायत व्यवस्था ऐसी ही बनी रहती है और चुनाव होते हैं तो दूसरे इलाकों की तरह, आज नहीं तो कल, आदिवासी इलाकों में भी इन पदों पर पहुँचने के लिए गलत तरीके अपनाए जायेंगे। जब पांच साल के लिये ऐसा पद पाने की बात होगी जिस पर किसी तरह का अंकुश भी न हो तो उसके लिए धन और बल का प्रयोग भी किया जा सकता है। परन्तु अगर आदिवासियों की परंपरा के अनुरूप पंचायत के कामकाज पर गांव समाज की मुतवातिर निगरानी रहती है और गांव की पंचायत गांव समाज का विश्वास रहने तक ही बनी रह सकती है तो पंच बनने के लिये धन और बल के प्रयोग का कोई खास मतलब ही नहीं रहता।

20.80 एक और बात भी है। जहाँ चुनाव पांच साल में एक बार होता है तो पांच साल में एक बार धन और बल का प्रयोग किया जा सकता है। मगर जब पंचों में समाज के विश्वास की बात किसी समय किसी भी सभा में उठाई जा सकती है तो हर समय तो धन और बल का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। और फिर गाँव की खुली सभा में किसी गलत बात को छुपाना मुमकिन नहीं है। ऐसी सभाओं में सब लोगों का तो मुँह बंद किया नहीं जा सकता है कोई न कोई तो कैसी भी कड़वी बात क्यों न हो और अगला व्यक्ति चाहे कितना भी ताकतवर क्यों न हो, साफ बोलने के लिए आगे आ ही जाएगा।

20.81 **प्रजातांत्रिक मूल्यों की मजबूती के लिये सबसे बड़ी बात है लोक-शक्ति बनाने की। लोक शक्ति कहीं बाहर नहीं पैदा की जा सकती है। अगर गाँव में आततायी व्यवस्था है और उसे जड़ से उखाड़ फेंकना है** तो इसके लिए लोगों को ही खिलाफत करनी पड़ेगी, उन्हीं में साहस जगाना होगा, इसके अलावा कोई रास्ता नहीं है। सामाजिक बदलाव कोई सरल प्रक्रिया नहीं है। उसके लिये कोई छोटा रास्ता भी नहीं बनाया जा सकता है। इसके लिए संघर्ष से राज पथ पर ही चलना होगा, वही वांछनीय भी है और सबसे बड़ी बात यह है कि वह आदिवासी समाज में संभव भी है।

आदिवासी लोगों की व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया

20.82 इस तरह यह साफ है कि राज्य सरकारों ने अब तक आदिवासी इलाकों में उनकी परम्परागत स्वशासी व्यवस्था की जो आज भी बहुत कुछ चल रही है, न केवल अनदेखी की है वरन् इन इलाको पर बिना सोचे समझे बाहरी औपचारिक व्यवस्था जैसी की तैसी थोप दी है। इस बाहरी व्यवस्था के दो हिस्से हैं - सरकारी तंत्र और नई पंचायतें। सरकारी तंत्र ने आम आदिवासी की जिंदगी के सभी पहलुओं

पर दाब है जिससे उसको भारी परेशानी है। नई पंचायतों की व्यवस्थाएँ इन इलाकों में नामचार के लिए हैं, उसका आदिवासी जिंदगी के अहम सवालों से कोई खास मतलब ही नहीं है। दूसरी ओर उसकी अपनी परंपरागत व्यवस्था का सरकार में या बाहर कोई पूछने वाला ही नहीं है।

20.83 इस तरह आदिवासी इलाकों का पूरा माहौल ही बहुत बिगड़ा हुआ है। इसी के खिलाफ लोगों में भारी असंतोष भी है। **सब दूर के आदिवासी लोगों में किसी न किसी रूप में अपनी पुरानी व्यवस्था की ओर जिसमें उन पर बाहर का दबाव नहीं था, लौटने की ललक है।** उदाहरण के लिए छोटा नागपुर में मुण्डा-खुटकटी की पुरानी व्यवस्था को लागू करने के लिये बहुत समय से आंदोलन होते रहे हैं। इसी मामले को लेकर सिंहभूम में **"हो"** आदिवासियों का सरकार से सीधा टकराव हो रहा है। आंध्रप्रदेश के आदिलाबाद जिले में सरकार की नासमझी के कारण परम्परागत संस्थाओं और प्रशासन के बीच दरार हो गई है जो दोनों के लिए ही गलत है।

20.84 इन आंदोलनों के अलावा कई दूसरे इलाकों में भी, जहाँ कुछ साधारण मुद्दों को लेकर लोगों ने आंदोलनों को शुरू किया था, अब अपनी व्यवस्था को अपने हाथ में संभालने की बात ही उन समस्याओं को सुलझाने के लिये एकमात्र रास्ता है, यह बात बड़े साफ तौर पर लोगों की समझ में आ रही है। गढ़चिरौली में दारू बंदी के मामले को लेकर आदिवासी लोगों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था को स्वयं चलाने का बुनियादी सवाल उठाया है और उसे स्वशासी व्यवस्था कायमी के लिए पहली सीढ़ी माना है। इसी तरह कई इलाकों जैसे बस्तर, झाबुआ, छोटा नागपुर, नासिक और गढचिरौली में जो आंदोलन वनों के संबंध में कई तरह के सवालों को लेकर शुरू हुए थे, उनमें अब लोगों की समझ में आ रहा है कि संसाधनों पर समाज के अधिकार के बिना उनके जंगल के सवाल भी नहीं सुलझ पाएँगे। इसलिये इन आंदोलनों के उद्देश्य का थोड़ा विस्तार हुआ और समाज के संसाधनों पर अधिकार पर इनमें जोर दिया जाने लगा। परन्तु संसाधनों पर अधिकार की बात भी तब तक अधूरी ही रहेगी, जब तक कि समाज को अपनी पूरी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था को चलाने का अधिकार न हो। लोगों का अब सोच यह बन रहा है कि जब तक गाँव की पूरी व्यवस्था उनके हाथ में नहीं आयेगी, उन्हें चैन नहीं मिल सकेगा। इसलिए **मावा माटे मावा सरकार (मेरे गाँव में मेरी सरकार)** की बात इन आंदोलनों में तेजी से उठ रही है।

20.85 उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जनपद में बंदोबस्त में गड़बड़ी और उसके चलते जमीन और जंगल के मामले में लोगों के हकों की अनदेखी के खिलाफ आंदोलन है। ये लोग भी अब अहसास कर रहे हैं कि जब तक गांव के संसाधनों की व्यवस्था ही, जिसमें बंदोबस्त एक छोटा सा परंतु महत्वपूर्ण हिस्सा है, उनके हाथों में नहीं आती है हालत ठीक नहीं हो सकती। इसी तरह जहाँ-जहाँ बड़ी परियोजना बन रही है, जिनके कारण लोग बेघर और बेसहारा हो रहे हैं, वे भी अपने संसाधनों, अपनी व्यवस्था और जीवन के अधिकार का दावा कर रहे हैं और उसके लिए संघर्ष कर रहे हैं। इसकी सबसे बड़ी लड़ाई **नर्मदा घाटी** में हो रही है।

20.86 आदिवासी इलाकों के ये आंदोलन कई तरह के रूप ले रहे हैं। कई जगह नक्सलवादी/अतिवादी लहर है। इनमें तुरंत राहत मिलने की उम्मीद बंधती है जिसकी आदिवासी के लिए एक खास अपील है। **उसे कल कुछ तकलीफ हो सकती है परन्तु उसके सामने कल से बड़ा सवाल है आज का - उसकी इज्जत का, रोटी का और उत्पीड़न का। और फिर वैसे भी तो आदिवासी आज में जीता है, उसे कल की परवाह नहीं, कल का ध्यान ही नहीं। इस अतिवादी राह का नतीजा भयानक हो सकता है, इससे वह अनजान नहीं है। परंतु जब होगा तब देखा जाएगा सोच कर वह आज में सिमट जाता है।**

20.87 **आदिवासी इलाकों में एक दूसरी लहर भी चल रही है जो दूर से देखने में हल्की सी ही है। परन्तु वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, निर्णायक भी बन सकती है।** कई जगह लोग सीधे टकराव की बजाय बुनियादी सवाल पूछने लगे हैं। यहाँ वे सिर्फ छोटे कर्मचारियों की शिकायत करने और उसके खिलाफ कार्रवाई के वायदे से संतुष्ट नहीं हैं। वे उस व्यवस्था के ही बारे में बुनियादी सवाल कर रहे हैं जिसमें उनकी जीविका के साधन, जिंदगी का आधार छिनता जा रहा है और उनकी मान और मर्यादा भी दाँव पर लग गई है। **ये लोग देश को आजादी मिली और प्रजातंत्र कायम हुआ इसका अर्थ अपनी जिंदगी के परिवेश में ढूँढ रहे हैं। यहीं पर उन्हें उसूलों और हकीकत के बीच भारी दरार दिखाई देती है।**

20.88 गढ़चिरोली के एक आदिवासी मुखिया के **"सौराज"** (**स्वराज**) की खोज में आम आदिवासी की वही अकुलाहट बह निकलती है - जब वे कहते हैं खेत सरकारी, खलिहान सरकारी, पेड़ सरकारी, जंगल सरकारी, घर से निकलो तो सड़क सरकारी, गौठान सरकारी, जानवर चरे तो कांजी हाउस और अगर उसे शेर मार कर खा जाय तो देखते रहो बंदूक मत उठाना - शेर सरकारी, अगर चीतल और सुअर फसल भी खा जाय तो भी चुप रहना मारना मत उनको, जंगल के सब जानवर सरकारी--बात बात पर हुकुम सरकारी, हुकूमत सरकारी सब सरकारी--आदिवासी हो गया भिखारी---देखा है किसी ने सौराज ? सुना है आया तो था कभी, पर कैसा है सौराज यह ? बूढ़ा है, जवान है, सयाना है, कैसा है, कहाँ है ?, दिल्ली है ? बम्बई है ? बीडीओ के दफ्तर है ? दफेदार की चौकी में ?

20.89 **सौराज की यह अन्तहीन खोज---मगर अब लग रहा है उन्हें मिल गया नहीं, तो मिल ही जायेगा सौराज जिसकी खोज में वे भटक रहे थे चालीस साल से---लगता है कि वे गलत जगह ढूँढ रहे थे उसे।** स्वराज कहीं बाहर ढूँढने की चीज नहीं वह हर आदमी के अपने मन की बात है, समाज की अपनी विरासत समझने की बात है। इस नई लहर में एक नया अहसास है एक नई हरकत है। स्वराज किसी से लेने-देने की चीज नहीं, वह तो अपने मन के और अपने समाज के संकल्प की बात है। कई इलाकों में आदिवासी लोगों ने तय किया है कि बहुत हो गया, अब वे सरकार से कुछ माँगेंगे नहीं। उसकी बजाय वे अपने गाँव समाज में अपनी परंपरा के मुताबिक स्वशासी व्यवस्था कायम करने के लिये खुद आगे चलेंगे। यही **सौ बात की एक बात है,** हाथी के पाँव में सभी के पाँव समा जाते हैं, स्वराज के एक अधिकार में सभी अधिकार आ जाते हैं। लोग **"हमारे गाँव में हमारी सरकार"** का संकल्प ले रहे हैं।

21

व्यवस्था, संविधान और आम आदमी

बदलाव विकास और व्यवस्था - लोगों की नजरों में

इस रिपोर्ट में मैंने हमारे देश में बदलाव और विकास के बहाव को लोगों के नजरिये से पेश करने की कोशिश की है· सामान्य लोग ही सभी कारणों, सभी प्रक्रियाओं और आखीर में सभी उद्देश्यों के मूल-आधार है· वहीं से सब बातों की शुरुआत होती है और वहीं पर सब का विलय होता है· इसलिए हर व्यवस्था का सही संदर्भ लोकमानस और लोकहित ही हो सकता है· अगर इस में कोई विसंगति है तो उसका कारण व्यवस्था में ढूँढना होगा, सुधार के लिए कोई भी बदलाव व्यवस्था में करना जरूरी होगा और जनमानस के अनुरूप समाधानकारक रास्ता बनाना होगा·

21·2 व्यक्ति के सम्मान और समाज की प्रतिष्ठा का आधार उनकी अपनी समझ के मुताबिक अपनी व्यवस्था को चलाने की परम्परा का आदर, प्राकृतिक संसाधनों से जिंदगी चलाने की सरल मान्यता, उत्पादन के साधनों पर अधिकार और आखीर में अपनी मेहनत के फल को पाने की हकदारी ही हो सकते हैं· जब इन सभी बातों पर हम लोगों के नजरिये से विचार करते हैं तो हमारे देश की आज की हालत बड़ी चिंताजनक दिखाई देती है· इसका खास कारण यही है कि पहले तो कई बुनियादी सवालों की या तो अनदेखी ही कर दी गई है या उनके बारे में गलत धारणायें हैं· दूसरे, इन मामलों में व्यवहार के स्तर पर न केवल भारी कमी है वरन् उसमें जानबूझकर तरह-तरह की विकृतियां आने दी जा रही हैं·

विसंगत व्यवस्था का निर्माण -

जिंदगी के अधिकार का नकारना

21·3 हमारे देश में व्यवस्था का निर्माण औपचारिक यंत्रणा के आधार पर उपर से हो रहा है· इस व्यवस्था में अभी थोड़े लोग ही शामिल हैं· परन्तु चारों ओर उम्मीद का वातावरण है· आम धारणा यही है कि धीरे-धीरे अधिकाधिक लोग उसमें शामिल होते जायेंगे और अंत में देश के सभी नागरिकों को उसमें न्यायपूर्ण स्थान मिल जायेगा· यह एक आदर्श हो सकता है परन्तु वर्तमान रीति-नीति के चलते न यह व्यावहारिक है और न संभव ही है· वही नहीं आज की प्रक्रिया बिलकुल ही उलटी दिशा में है· देश के अधिकांश लोगों के लिये भोगा हुआ यथार्थ भयावह बन गया है·

21·4 जंगल, जमीन और पानी सहित सभी प्राकृतिक संसाधनों पर औपचारिक व्यवस्था का या कुछ थोड़े से लोगों का एकाधिकार सा हो गया है· केन्द्रीयकरण की यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे और भी गहराती जा रही हैं· क्योंकि उसी को विकास की सामान्य, वांछनीय और जायज विधा मान लिया गया है· उसके फलस्वरूप इन संसाधनों पर, जो लोग युगों से जिंदगी बसर करते रहे हैं, उनके अधिकारों की बात तो दूर, आज की हालत में वे लोग उन संसाधनों से किसी तरह जिंदगी चलाते रहें इस बारे में सोच की भी कोई गुंजाइश नहीं है· इस तरह संसाधनों पर समाज के अधिकार को नकारने की जो प्रक्रिया अंग्रेजी राज में शुरू हुई थी वह आगे बढ़ती गई है· वे करोड़ों लोग, जो पहले सामाजिक अन्याय के सबब से साधनहीन थे, आज व्यवस्था की अर्दब में आकर साधनहीन और बेसहारा हो गये हैं· यही नहीं, नई व्यवस्था और परंपरागत व्यवस्थाकी रीति-नीति में बुनियादी अंतर के कारण पूरे के पूरे समाजों का, खासतौर से आदिवासी इलाकों में, अपराधीकरण हो गया है, होता जा रहा है· वे ताकतवर व्यवस्था के सामने लाचार हैं, अरक्षित हैं.

उत्पादन के साधन

21·5 उधर उत्पादन के साधनों की बात को देखें तो स्थिति और भी अधिक शोचनीय है· "जोतने वाले की जमीन" का सिद्धांत मान तो लिया गया परन्तु अधिकतर खेती की जमीन कुछ लोगों के हाथों में ही बनी रही· ये लोग आजादी के बाद थोड़ी देर के लिए हड़बड़ाये परन्तु इन लोगों ने जल्दी ही नई स्थिति के अनुरूप अपनी चालढाल बनाकर जमीन पर फिर से अपना वर्चस्व कायम कर लिया· यही नहीं, जमीन जोतने वाले मेहनतकशों के अधिकारों की बात होते-होते लगता है कि उनके अधिकारों का बुजूद ही खतम होता जा रहा है· अधिकार का आधार सरकारी रिकार्ड है· और इस रिकार्ड पर व्यवस्था के नये मालिकों का पूरा नियंत्रण हो गया है· इसलिये हालत ऐसी होती जा रही है कि मानों आम आदमी के अधिकार रहे ही नहीं· कई इलाकों में अराजकता जैसी स्थिति पैदा हो गई है· आज साधारण व्यक्ति के लिए यह तथ्य स्थापित करना कि वह खेत जोत भी रहा है, संभव नहीं है और न कानून उसको जरूरी ही मानता है· इसलिए उसको कहां कोई किसी तरह से बिड़ार दे तो यह उसका भाग्य· इसमें व्यवस्था को उससे कुछ लेना देना ही नहीं क्योंकि व्यवस्था की निगाह में उसका बुजूद ही नहीं है· जमीन पर गैरहाजिर मिल्कियत अपवाद न रहकर नियम बनती जा रही है· इसी तरह से दूसरे उत्पादन के साधनों में भी, संगठित क्षेत्र को छोड़कर, दूसरे काम करने वाले के हकों का भी कोई ठिकाना नहीं है·

मेहनत की हकदारी

21·6 और आखीर में मेहनतकशों की अपनी मेहनत के बदले में जायज़ हकदारी के बारे में जितना कम कहा जाय उतना अच्छा· पूरी व्यवस्था यह मानकर चलाई जा रही है कि जैसे देश में अधिसंख्य लोगों की कोई हकदारी ही नहीं है· संगठित क्षेत्र के लोगों की हकदारी से जो कुछ बच जाय उसमें वे अधिसंख्य लोग गुजारा करने के लिए मजबूर हैं· हमारी व्यवस्था एक ऐसी साजिश के आधार पर चल रही है जिसमें अधिसंख्य लोगों को कम से कम लेकर अधिक से अधिक मेहनत करने के लिए मजबूरी बनी रहे· और जैसे ही लागत-लाभ के संदर्भ में किसी मजदूर की उपयोगिता खत्म हो जाय तो वह अपना "एवजीदार" देकर मंच से हट जाय·

विसंगति का मूल कारण

21·7 आखिर हम इस स्थिति में पहुँच कैसे गये, इस बुनियादी सवाल पर लोगों की ओर से व्यवस्था के विश्लेषण के आधार पर गहराई से विचार ही नहीं हुआ है· आम आदमी की समस्या को व्यवस्था के साये के संदर्भ में ही देखने की कोशिश की गई है जिसके कारण व्यवस्था का विकृतियों की ओर, जो उस स्थिति का मूल कारण है, ध्यान जाने का सवाल ही नहीं आया· अपराधी की सब तरफ तलाश होती रही है, व्यवस्था के कर्णधारों ने सिर्फ अपनी व्यवस्था की ओर या आइने में अपनी आकृति देखने की कोशिश नहीं की है, अथवा यो कहें कि वे इसके लिये साहस ही नहीं बटोर पाए ·

21·8 हमारे पूरे विवेचन से खासतौर से आदिवासी इलाकों के मामले में एक बात साफ है कि राज्य के व्यवहार में संविधान की भावना की अवहेलना होती रही है· और कहीं-कहीं तो अन्याय इतना स्पष्ट है कि यह अचरज लगता है कि आखिर यदि हम राष्ट्र के रूप मे न्यायपूर्ण व्यवस्था के हामी हैं तो ऐसा हो ही कैसे रहा है· **मेरे मत में सबसे बड़ी बाधा नज़रिये की है· परन्तु सिर्फ नज़रिये के भेद से भी इस नितांत असंगत स्थिति को नहीं समझा जा सकता है· आज की व्यवस्था हर विसंगति को कानून और नियम की आड़ लेकर नजरअंदाज कर देती है· इस तरह एक छोटे से तिनके की ओट में बड़े-बड़े पहाड़ छिप जाते हैं·** अगर उन विसंगतियों को सही रूप में देखना है तो उस तिनके को हटाने की जरूरत है·

संविधान और कानून के बीच विसंगति

21·9 हमारी व्यवस्था का कानूनी ताना-बाना ही ये अदृश्य तिनके है· यह ताना-बाना मोटेतौर पर अंग्रेजी राज के जमाने में तैयार किया गया था· हमारी वर्तमान कानूनी संरचना का सूत्रपात भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद अंग्रेजों ने अपने वर्चस्व को शाश्वत करने के प्रयास के रूप मे किया था· इस व्यवस्था की आधारभूत मान्यतायें अंग्रेजों की अपने देश की, अपने समाज की मान्यतायें थी· और उनका उद्देश्य था अपने साम्राज्य के पाये को मजबूत करना· इस तरह यह व्यवस्था पश्चिमी मूल्यों में पली औपचारिक साम्राज्यवादी व्यवस्था का ही आदर्श रूप था· हमने आजादी की लड़ाई लड़ी और उस लड़ाई से निखरे सिद्धांतों और हमारी परंपरा में पके मूल्यों के आधार पर हमने अपनी संवैधानिक व्यवस्था बनाई थी· परन्तु जिस व्यवस्था पर संविधान का यह ताज रखा गया था वह उसकी मूल चेतना से नितात असंगत था· §विवरण अनुलग्नक 8 पर देखें§

21·10 संविधान में इस विसंगति की संभावना को भी ध्यान में रखा गया था और राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया था कि वे संरचना की विसंगतियों को दूर करे· परन्तु आज जब हम पीछे लौटकर देखते हैं तो साफ है कि यह काम हुआ नही· लगता है हमारे आसूदा वर्ग को वही व्यवस्था रास आ गई इसालये उसने इस बात की जरूरत ही नहीं समझी कि इस विसंगति को खतम किया जाय· इस तरह आज उपनिवेशवादी तंत्र और न्याय, समता और भाई चारे के आदर्शों से ओतप्रोत संविधान के बीच गहरी खाई हैं· आदिवासी इलाकों के लिये तो संविधान में एक तरह से क्रांतिकारी बदलाव के बीज रखे गये थे जिससे इन सरल समाजों का अपनी सरल परंपरा के अनुरूप व्यवस्था का रूप बन सके· परन्तु घटनाओं का प्रवाह औपचारिक परंपरा की धार के समानांतर चलता रहा और संविधान की ये व्यवस्थाएँ मात्र भावनायें बन कर रह गई·

21·11 इस संदर्भ में जब हम आज की स्थिति का जायज़ा लेते हैं तो देखते हैं कि **आम आदमी की जिंदगी के हर पहलू से संबंधित कानून संविधान की भावना के प्रतिकूल है**· अन्यथा उस सरल आदिवासी को जो आज की हालत से बिलकुल नावाकिफ है, वनों के अपने आदिम घरों से किस न्याय के आधार पर बाहर खड़ा कर दिया गया है और उसे अपराधी करार दे दिया गया है - अन्यथा यह कैसे संभव था कि कोई व्यक्ति जमीन जोत रहा है इस तथ्य को कागज पर लिखवा नहीं सकता है, कानून में इसकी इजाजत नहीं है और इस तरह जमीन को जोतने वालों का बुजूद ही नकार दिया जाता ? अन्यथा यह कैसे संभव था कि लोगो की जिंदगी का सहारा "कागज के चंद टुकड़े" देकर छीनने की बात होता रहती और जब कोई व्यक्ति वहाँ से हटने के लिए तैयार नही होता तो राज्य उस निरीह लोगो के खिलाफ भी बल प्रयोग करने से बाज नहीं आता जिनकी रक्षा का दायित्व संविधान ने खुद उसको सौंपा है ?

गलतियों का मानना - समाधान की पहली शर्त

21·12 राष्ट्रीय जीवन की इस बुनियादी विसंगति को दूर करने के लिए एक पूर्व-शर्त है हमारे कानून और संविधान के बीच भारी दरार को खत्म करना· आम आदमी से संबंधित जीवन के हर पहलू का समीक्षा से यह साफ है कि कानून उसके बुनियादी अधिकारों की अवहेलना कर रहा है· कानून के अंतर्गत नियम उस विसंगति को और भी मजबूत कर रहे है· क्या वह राज्य, जो अब तक इस कानूनी संरचना के उसी रूप मे न केवल वैसे ही जाने अनजाने स्वीकारें किये हुए है वरन् सचेतन रूप से उसका वाजिब, न्यायसंगत और मानवीय अधिकारों का हिमायती भी माने हुए हैं· इस कटु सत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार होगा कि वह एक भ्रम था ? दुर्भाग्य से वह भ्रम कोई साधारण भ्रम नहीं है वरन्

ओढ़ा हुआ भ्रम है, उसमें व्यवस्था के साये में पलने वालों का अपना निहित स्वार्थ भी है· प्राकृतिक संसाधनों उत्पादन के साधनों और मेहनत की हकदारी से संबंधित सभी कानून स्पष्ट रूप से संविधान की भावना के खिलाफ़ हैं· **इनमें वनों के कानून, जमीन के कानून और मजदूरी के कानून शामिल हैं· ये स्पष्ट रूप से असंवैधानिक हैं और साधारण आदमी के जिंदगी के अधिकार को नकारते हैं·**

21·13 इसी तरह से हमारे देश की परम्परागत कृषि-प्रधान व्यवस्था को आधुनिक व्यवस्था के रूपांतरण में **भूमि अधिग्रहण का कानून एक ऐसे यंत्र के रूप में काम कर रहा है जो अधिसंख्य गरीबों से उनकी जिंदगी के आधार रूप प्राकृतिक संसाधनों को छीन कर उन्हें नई व्यवस्था के उपयोग के लिये कच्चा माल बना देता है·** हमारे विवेचन से साफ है कि राज्यों के द्वारा भूमि अधिग्रहण के मामलों में एक तो इस कानून की ही अवहेलना हो रही है· परन्तु यह कानून स्वयं हमारे देश की मान्यताओं और हमारे संविधान की व्यवस्था के अनुरूप नहीं है· समाज में व्यक्ति का बुनियादी अधिकार जीवन का अधिकार है जो हमारे संविधान में भी प्रस्थापित है· परंतु संसाधनों के अधिग्रहण के इस कानून में जीवन के अधिकार की अनेदखी की गई है· **इस तरह विकास के नाम पर आज के कानून के आधार पर की गई पूरी प्रक्रिया ही गैर-कानूनी और असंवैधानिक है·** अंत में, समाज की अस्मिता खासतौर से आदिवासी लोगों के मामले में उनके अस्तित्व का आधार है· समाज के बिना साधारण आदिवासी निराधार और निस्सहाय है· संरचनात्मक बदलाव की प्रक्रिया में आदिवासी समाज की अस्मिता की समस्या का कहीं एहसास तक नहीं है· इसलिए बिना सहमति का विस्थापन मानवीय अधिकारों के खिलाफ है

21·14 **इस विकास प्रक्रिया की, जो गैर कानूनी, असंवैधानिक और मानव अधिकार विरोधी है ,**

सबसे कड़ी चोट पड़ रही है उन सरल आदिवासियों पर और युगों से प्रताड़ित हरिजनों पर जिनकी रक्षा का भार राज्य को सौंपा गया है· विडम्बना यह है कि इस पूरी प्रक्रिया में राज्य को अपने संवैधानिक दायित्व तक को नकारने में हिचक नहीं है, क्योंकि, उसने तथाकथित विकास को आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी अपने कंधों पर लाद रखी है·

कानून का त्रास और लोगों की दुविधा

21·15 इस हालत में आम आदमी, खासतौर से हरिजन और आदिवासी, फिर दुविधा मे फंस गया है· आज व्यवस्था उसके हित की संरक्षक न होकर उसके उलटी पड़ रही है· एक ओर व्यवस्था के सहयोग से दूसरे तगड़े लोग मौके का फायदा उठा रहे हैं· दूसरी ओर उनकी हर समस्या का जवाब नियम और कानून के रूप में मिलता है वे निसहाय है· सच तो यह है कि कानून की शोषण के शस्त्र के रूप में बड़ी कारगुजारी के साथ स्तेमाल किया जा रहा है· मजदूर अगर मजदूरी की मांग करे, तो उसे खेतों की मेड़ से निकलने की मनाही हो जाती है, सामाजिक संसाधनों से निस्तार करने पर भी बंदिशें लग जाती हैं· इस पर भी अगर वह काबू नहीं आया तो चोरी और फौजदारी के मामले में रिपोर्ट दर्ज करवाई जाती है और फिर शुरू हो जाती है कानून की चक्की में पिसाई - महीनों ही नहीं सालों अदालतों के चक्कर, बिना जमानत हवालात की यातनाएं और कहीं उसको जमानत मिल भी गई तो जमानतदार न होने पर फिर बेमियादी जेल· **आखिर यह कैसी विडम्बना है कि स्वाधीन देश का साधनहीन नागरिक अपनी जमानत भी नहीं दे सकता, यह कैसा प्रजातंत्र बना रहे है हम ?**

21·16 आसूदा और संगठित वर्ग इस व्यवस्था का हामी है क्योंकि उसी के हितों की वह रक्षा के लिये सदा तत्पर है· परन्तु आम आदमी अब उस पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगा रहा है और उसको मानने के लिए तैयार नहीं है· जब व्यवस्था स्वयं अपने अन्यायी स्वरूप को सुधारने की बात तो दूर, उस

वास्तविकता को स्वीकारने के लिये भी तैयार नहीं है, उस हालत में वही एकमात्र आशा की किरण है· व्यवस्था की उदासीनता ही नहीं प्रतिरोध की स्थिति में आम आदमी के लिये यही एक संबल बच जाता है और वही उसकी उम्मीद है· मैंने इस रिपोर्ट में इन्हीं सकारात्मक बिन्दुओं की तलाश की है·

21·17 ये घटनाएँ जिनका मैंने जिक्र किया है मेरी अपनी देखी-सुनी हैं· मेरे पद की गंभीर जिम्मेदारियों को निभाने के लिये उपयुक्त संगठन के अभाव में मेरे देखने-सुनने का दायरा कदाचित सीमित रहा है· परन्तु लोगों की ये प्रतिक्रियाएं आज लोगों के बीच आम सोच और व्यापक बेचैनी का प्रतिबिम्ब है, अपवाद नहीं· यही नहीं, वे सब सभी दूर फैलती जा रही है· ये प्रतिक्रियाएँ व्यवहार रूप में हर जगह की स्थिति के मुताबिक अलग-अलग दिखाई देती हैं· परन्तु वे सभी बुनियादी तौर पर लोगों की "जिंदगी के अधिकार" के लिए संघर्ष से जुड़ी हुई है· इस संक्षिप्त समीक्षा में वर्णक्रम के सभी रंग शामिल है·

लोगों की प्रतिक्रिया

§1§ बंधुआ मजदूर

21·18 इस वर्णक्रम के एक सीमांत पर बंधुआ लोग हैं जिनका न केवल प्राकृतिक संसाधनों पर से अधिकार जाता रहा है वरन् जो उत्पादन के साधनों से हाथ धो बैठे और आखीर में अपनी आजादी और अस्मत बेचने के लिए मजबूर हो गये· ये लोग अब सरकारी योजनाओं की लीक के मुताबिक अपनी जिंदगी के आधार से बिलगाने वाला बंधुआ मुक्ति और उसके बाद नया आधार बनाने के "पुनर्वास" की अनिश्चितता भरी त्रासदी को स्वीकारने के लिए नहीं तैयार हैं· वे अब इन उत्पादन के साधनों पर, जिनसे उनकी अभी जिंदगी चल रही है, और जिस पर दूसरे लोगों ने कानूनी घेरे में घेर कर एकाधिकार कायम कर लिया है, अपना नैसर्गिक और संविधानिक अधिकार कायम करने के लिए कृतसंकल्प है· इलाहाबाद के शंकरगढ़ प्रखंड में अगर सरकार खनिजों के बारे में असंगत व्यवस्था को, जिस पर हजारों लोगों की जिंदगी मुनस्सिर है, अदालत के घेरे से निकलाने में असमर्थ है तो लोगों ने तय किया है कि उनका उस कागजी अधिकारों की लड़ाई से कोई लेना देना नहीं है· वे देश के नागरिक की हैसियत से उन संसाधनों का उपयोग करके अपने आजीविका चलाने के अधिकार की घोषणा कर रहे हैं· सरकार और मालिक कानून के मुताबिक अपना हिसाब-किताब करते रहे, उससे नागरिक के नैसर्गिक और बुनियादी अधिकारों पर आँच नहीं आ सकती· यही फैसला गिट्टी-मिट्टी रेती से जिंदगी चलाने वाले दूसरे मेहनतकश भी सोनभद्र, बांदा और सतना जैसे कई और इलाकों में कर रहे हैं·

§2§ भूमिहीन किसान

21·19 उधर जोतने वाले की जमीन के सिद्धांत को लेकर सरकार की असहायता के संदर्भ मे बिहार के डाल्टनगंज के सोने गाँव और आंध्रप्रदेश के रंगारेड्डी जिले के पुलिमामिडी गांव मे लोग अपनी ओर से जोत की जमीन से जिंदगी चलाते रहने के अधिकार की शांतिमय ढंग से स्थापना कर रहे हैं· उन्होंने घोषणा की है कि पलहत की जमीन पर उनका अधिकार है· बेनामी और जाली ट्रस्टों की जमीन खेत जोतने वालों की है, मालिक बटाईदारों को बेदखल नहीं कर सकता, यह उनकी भल-मन्साहत है कि वे अभी भी जमीन पर नाम वाले को मालिक मानकर तीसरा हिस्सा देने के लिए तैयार हैं· परन्तु खेत को जोतते रहना उनका अधिकार है, उसके रास्ते मे कोई नहीं आ सकता·

21·20 गैर-मज़रुआ जमीन और भूमि-सीमा के मामले में सरकार ने अपने ही कानून का अमल नहीं किया है· और इस तरह न केवल पुरानी रियासतें अभी भी उसी रूप में, पर नये लबादे के साथ, कायम हैं

वरन् विकास के नाम पर बड़ी-बड़ी जागीरें फिर से कायम होती जा रही है· गांधी जी के चम्पारण में आज भी चीनी मिलों के पास पांच-पांच हजार एकड़ जमीन है· उनके आस-पास के किसान अपने ही खेत में अपने हाथों से लगाए गन्ने से अपने खाने के लिए गुड़ नहीं बना सकते· उधर हजारों मेहनतकश भूमिहीन बेजार है· जब चम्पारण के भूमिहीन या देश के दूसरे हिस्सों के उसी हालत में फँसे **भूमिहीन उस जीवनदायिनी बसुन्धरा से, जिसे चन्द लोगों ने कानून और व्यवस्था का भारी दुरुपयोग कर घेर लिया है, जोत-बोद का गुजर-बसर करने और आगे भी करते रहने का तय कर रहे हैं तो वे सिर्फ अपने जिंदगी के अधिकार की स्थापना कर रहे हैं· आखिर माँ से बेटे को अलग करने का क्या किसी को अधिकार हो सकता है ?**

21·21 इसीतरह कर्नाटक में उद्योगों को बढ़ावा देने के नाम से लोगों के अधिकारों और उनकी जिंदगी की जरूरतों को बिना देखे जो बड़ी-बड़ी नई जागीरें कायम की गई हैं, उनका लोग विरोध कर रहे हैं, अनेक इलाकों में सरकारी कम्पनी को भी जमीन पर अधिकार न करने देने के लिए कृत-संकल्प हैं· वे भी उसी बुनियादी अधिकार की स्थापना कर रहे हैं·

बन्दोबस्त और जमीन का रिकार्ड

21·22 सरकार के इस कानून ने कि "जमीन उसकी जिसका नाम सरकार के कागज में लिखा है", आम आदमी खासतौर से आदिवासी को अपनी आजीविका के साधन के बारे में दूसरे का मोहताज कर दिया· उसे भला यह पता कैसे लगे कि उसका नाम चढ़ा है या नहीं ? उत्तरप्रदेश के सोनभद्र इलाके में पिछले तीस साल में तीन बार जमीन के बंदोबस्त की कार्रवाई का लोगों को यही अनुभव रहा है कि उन्हें आज की कानूनी व्यवस्था से अपने बाप-दादों की जमीन पर भी अधिकार नहीं मिल पाएगा· सच तो यह है कि उनका सब कुछ छिन जाने की नौबत आ गई है· इसलिए उन लोगों ने सरकार की वर्तमान कार्रवाई को अमान्य कर अपनी व्यवस्था खुद अपने हाथ में लेने का संकल्प लिया है· उनका कहना है कि सरकार अपना कानून कायदा देख लें और जरूरत समझे तो उसमें फेर-बदल कर ले· परन्तु वे लोग जमीन के मामले में खुद अपनी व्यवस्था कर लेंगे· अगर सरकार उनके गांव में आकर उनको समझाकर कागज तैयार करे तो वे उसके साथ सहयोग देने के लिए तैयार हैं· परन्तु जमीन के मामले में आखिरी फैसला उन्हीं का होगा, बाहर वालों को उसके बारे में क्या मालूम· बात सीधी-सच्ची है· उनकी यह कार्रवाई हमारे संविधान में ग्राम स्वराज की भावना के अनुरूप है·

मावा माटे मावा सरकार

21·23 उधर गढ़चिरौली, आदिलाबाद, बस्तर के आदिवासी अब अपने ही वन में जहाँ युगों से उनका निवास है, अतिक्रामक और अपनी सामाजिक परम्पराओं को अपराध मानने के लिए तैयार नहीं हैं· व्यवस्था को उनकी परंपरा के अनुकूल बनाने का राज्य ने अपना दायित्व निभाया नहीं जिसका दण्ड उन्हें भोगना पड़ रहा है· अब इसके लिये वे और अधिक इंतजार करने को तैयार नहीं हैं· आदिलाबाद में लोगों ने अपनी राय सभाओं की स्थापना की है जिसमें जिंदगी के सभी मामले तय होते हैं· इसी तरह गढ़चिरौली और बस्तर में भी लोग अपनी व्यवस्था खासतौर से वन, भूमि और सामाजिक मामले की व्यवस्था खुद हाथ में लेने के लिए संकल्प ले रहे हैं· "मावा माटे मावा सरकार" {हमारे गाँव में हमारी सरकार} की घोषणा कर रहे हैं· यह उनका अधिकार है·

21·24 वनों की व्यवस्था में जनहित की अनदेखी के परिणामस्वरूप कई जगह लोगों ने व्यवस्था को अपने हाथों में लेने का तय किया है· उत्तरखंड का **चिपको आंदोलन** तो सुविख्यात है· परन्तु उसी

तरह मध्यप्रदेश के बस्तर जिले में जगदलपुर के नजदीक महिलाओं ने लगभग 40 गांवों में वनों का प्रबंध अपने हाथों में लिया है। इन गांवों में वन विभाग का औपचारिक रूप से अधिकार भले ही अभी भी है, परन्तु मौके पर पूरा प्रबंध महिलाओं के हाथ में है। इसी तरह से बिहार में सिंहभूम जिले के कोल्हान इलाके के वनों पर वन विभाग का केवल औपचारिक नियंत्रण है। व्यवहार में उसका पूरा प्रबंध स्थानीय लोग अपनी परंपरा के अनुसार चला रहे हैं। इसी तरह से कुछ इलाकों में सामाजिक वानिक के मामले में वन विभाग को लोगों का फैसला मानना पड़ रहा है। गढ़चिरौली में लोगों ने उन निस्तारी वनों का प्रबंध जो कुछ सालों से जंगल विभाग के कब्जे में पहुँच गए थे, पुरानी व्यवस्था के मुताबिक स्वयं करना शुरू कर दिया है। इन लोगों ने अरक्षित वनों में अनियंत्रित बांस की कटाई, जिसके कारण बांस खत्म होते जा रहे हैं, से चिंतित हो कर सरकार से आगाह करके इन जंगलों में बांस की कटाई को अपनी देखरेख में ही होने देने का फैसला किया है।

विस्थापन और जिंदगी का अधिकार

21.25 अंत में बहुत से इलाकों में प्रकृति का वरदान उसके लिये अभिशाप सिद्ध हो रहा है। वहाँ विकास के नाम पर विनाश की लीला हो रही है। आदिवासी अपनी जिंदगी के आधार को "कागज के कुछ टुकड़ों" के बदले छीन लेने वाली व्यवस्था को अस्वीकार कर रहा है। वह अपने जिंदगी के अधिकार की पुनः स्थापना के लिए संकल्प ले रहा है। इसके प्रतिरोध में आज आदिलाबाद, नासिक या बी.आर. हिल्स जैसे कई इलाकों में अरक्षित वनों के बीच युगों से रहने वाले आदिवासी अपना घर छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। अनेक अभयारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों में लोग उस कानन को अस्वीकार कर रहे हैं जिसके मुताबिक जिन वन्य प्राणियों के साथ वे युगों से जीते चले आ रहे हैं उनकी रक्षा की चिंता में सरकार के द्वारा उनको वहाँ से हटने के लिए मजबूर किया जा रहा है।

21.26 उधर बड़ी परियोजनाओं से विस्थापन अब विकराल रूप धारण करता जा रहा है। उसके प्रतिरोध में सिंहभूम में स्वर्ण रेखा और डाल्टनगंज में औरंगा बांध की डूब क्षेत्र में गांव के गांव मुआवजा लेने से इंकार कर रहे हैं। वे अपना घर बार छोड़ने के लिय तैयार नहीं हैं। इसी तरह से बस्तर में बोधघाट और गढ़चिरौली में इंचमफल्ली के लोग भी अपने इलाके से बाहर जाने के लिए तैयार नहीं है। उधर गंधमार्दन में भी लोग विकास के नाम पर अपने पवित्र स्थान को मिटाने के लिए सहमत नहीं हैं।

21.27 वैसे तो यह संघर्ष खासतौर से पूरे आदिवासी इलाके में ही चल रहा है। परन्तु नर्मदा घाटी में इस समय वह सबसे अधिक प्रखर है। जिसकी मैं विस्तार में चर्चा कर चुका हूँ। इस घाटी के अधिकतर आदिवासी और दूसरे लोग भी अपनी जगह से हटने के लिय तैयार नहीं हैं। उन्होंने सरकार को अपना संकल्प बता दिया है कि वे अपनी जगह से नहीं हटेंगे, बांध बंधता है बंधता रहे, परन्तु उसमें वे पानी नहीं भरने देंगे और अगर सरकार ने पानी भरने की ठान ही ली तो वे उसमें जल-समाधि के लिय तैयार हैं। इस तरह वे एक तरह से कानून की अवहेलना कर रहे हैं।

जन-संकल्पों की तीन स्थितियां

21.28 उपर बताई गई लोगों की प्रतिक्रियाओं और उनके संकल्पों के रूप अलग-अलग हैं परन्तु उन सब में समान बात यही है कि देखने में वे सभी कानून का उल्लंघन लगती है। इसलिये उन्हें व्यवस्था के नजरिये से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। मोटेतौर पर इनमें तीन तरह की स्थितियाँ हैं। एक वे जहाँ लोग संसाधनों के उपयोग से जुड़ हुए अपने जिंदगी के अधिकार को किसी भी कीमत पर छोड़ने के लिए तैयार नहीं। दूसरी वे स्थितियां हैं जहां मेहनतकशों का उत्पादन के साधनों पर किसी भी तरह

का अधिकार न बन जाय इसकी चिंता है अथवा उनका यह अधिकार, कि वे उत्पादन के साधनों का सतत रूप से उपभोग करते रहें, आज की कानूनी व्यवस्था में स्थापित नहीं है। तीसरी वे स्थितियाँ हैं जहाँ पर उन्हें ऐसे कानूनों की खिलाफत करनी पड़ रही है जो उनकी परंपराओं या संविधान अथवा मानवीय अधिकारों तक की भावना के खिलाफ है। इन तीनों ही स्थितियों को अलग-अलग देखने का और उनके औचित्य के रूप में चर्चा करनी होगी

आदिवासी इलाकों की विसंगति

21.29 सबसे पहले अगर हम आदिवासी इलाकों की व्यवस्था को देखते हैं तो वहाँ चली आ रही दुर्व्यवस्था, असंतोष और उत्पीड़न का एक ही कारण है कि संविधान की भावना के अनुसार कानून और व्यवस्था के ढाँचे में परिवर्तन न करके आदिवासियों की परंपरा के अनुरूप उसे नहीं ढाला गया है। इसी के कारण सभी तरह की विसंगतियां पैदा हुई हैं और टकराव के मौके भी बने हैं। विडम्बना यह है इस टकराव में नुकसान उन्हीं लोगों का हो रहा है जिनके अधिकारों की संविधान की मंशा के मुताबिक रक्षा नहीं की गई और जिनके बारे में राज्य ने संविधानिक जिम्मेदारी नहीं निभाई।

21.30 जब संविधान के लागू होने के चालीस साल बाद भी सरकार ने अपनी जिम्मेदारी को निभाया नहीं, और अंग्रेजों के जमाने से चली आ रही आदिवासी समाज के अपराधीकरण की प्रक्रिया को चलने ही नहीं दिया वरन् बढ़ाया और संविधान की भावना के अनुरूप आदिवासी इलाकों के लिय उनकी जरूरतों के मुताबिक व्यवस्था को बदला नहीं तो क्या लोगों का यह अधिकार नहीं बन जाता कि वे संविधान की भावना के अनुरूप अपनी व्यवस्था स्वयं कायम करेंऔर उसके लिये आवश्यक संकल्प लें ? ऐसा करने में स्वाभाविक है कि कुछ कानून उनके आड़े आएँगें और उनके कुछ कदम कानून के खिलाफ भी होंगे। यहीं पर कुछ असमंजस की हालत पैदा हो जाती है। क्या संविधानिक अधिकारों की रक्षा के लिये क्या लोग किसी कानून को अनदेखा नहीं कर सकते या उसकी अवहेलना नहीं कर सकते हैं ? यह अहम विचारणीय सवाल है जो गरीबों के अधिकारों से संबंधित दूसरी स्थितियों में भी आ रहा है। इसलिये उस पर हम आगे चर्चा करेंगे।

उत्पादन के साधनों के मामले में विसंगति

21.31 **अब हम आदिवासी इलाकों से हटकर उन मेहनतकशों की बात पर विचार करेंगे जिन्हें संसाधनों और उत्पादन के संसाधनों के उपयोग के अधिकार से वंचित रखा जा रहा है, जिनके पास जिंदगी चलाने का सहारा नहीं है। जिन संसाधनों या उत्पादन के साधनों से ये लोग जिंदगी चला रहे हैं वे या तो किसी व्यक्ति के अधिकार में है या सीधे-सीधे राज्य के अधिकार में है।** दोनों ही स्थितियों में राज्य या व्यक्ति इन संसाधनों को सम्पत्ति के रूप में उपयोग कर रहा है जब कि लोगों के लिय वे जिंदगी का सहारा हैं । इस हालत में सवाल यह है कि यदि कानून मेहनतकश लोगों का बुजूद भी नहीं स्वीकार करता है तब भी उनका कुछ अधिकार बनता है या नहीं ?

21.32 जिंदगी का अधिकार बुनियादी है। देश के हर नागरिक को जिदंगी का अधिकार है। दूसरी ओर संपत्ति को बुनियादी अधिकार नहीं माना गया है। इसलिय जहाँ जिंदगी के अधिकार और सम्पत्ति के अधिकार के बीच चुनाव की बात आती है तो जिंदगी का अधिकार ही अधिक वजनी साबित होता है और उसको स्थापित करने का व्यक्ति का अधिकार बन जाता है। कानून दो व्यक्तियों के बीच के दावे के समान अधिकारों के संदर्भ में तो ठीक-ठीक निपटा सकता है। **परन्तु जब एक ओर व्यक्ति के**

सम्पत्ति के अधिकार का दावा हो और दूसरी ओर जिंदगी के अधिकार की बात हो तो ऐसी कोई भी व्यवस्था या ऐसा कोई भी कानून जो व्यक्ति के जिंदगी के अधिकार की रक्षा नहीं करता है तो वह हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं कहा जा सकता है· इसीलिए हम फिर एक बार उसी बुनियादी सवाल पर पहुँच जाते हैं कि क्या कानून के खिलाफ या चुप होने की हालत में व्यक्ति को अपनी जिंदगी के अधिकार की स्वयं रक्षा करने का अधिकार है जिस पर हम आगे इकजाई चर्चा करेंगे·

विकास और उसकी कीमत की विसंगतियां

21·33 और आखीर में हमारे सामने वे स्थितियाँ हैं जहाँ विकास परियोजनाओं के लिये राज्य लोगों की जिंदगी के अधिकार को अनदेखा कर उनके जिंदगी के आधार को उनकी इच्छा के विपरीत कानून के तहत लेने की कोशिश करता है· इसका सबसे बड़ा बोझ आदिवासी समाज पर है· कानून के मुताबिक लोगों को मुआवजे की पात्रता है· परन्तु लोगों के नजर में, खासतौर से आदिवासी के लिये उसका कोई अर्थ नहीं, उनके लिये तो जंगल जमीन सब कुछ छिन रहा है· यही नहीं, उनकी सामाजिक अस्मिता ही दांव पर लग गई है· उनकी जिंदगी के इस अहम मामले में भी सरकार की ओर से उनसे कहीं किसी तरह की बातचीत करने का सवाल ही नहीं है क्योंकि कानून और उसके तहत औपचारिक कार्रवाई में उसकी कोई गुंजाइश ही नहीं है· एक बार सरकार ने फैसला कर लिया तो उसके बाद उनकी जमीन का चला जाना उनकी नियति बन जाता है· कानून की कार्रवाई सिर्फ औपचारिकता निभाने की बात रह जाती है, उसे कभी भी किया जा सकता है· इस तरह जो आधा-अधूरा कानून है भी, उसकी मंशा भी नहीं पूरी होती है· मंशा पूरी होनी चाहिये, इसके बारे में न चिंता है, न सोच है· जब कानून के पालन की यह हालत है तो इस बात का ख्याल रखने की उम्मीद ही नहीं की जा सकती है कि वह कानून स्वयं आदिवासी परम्परा के खिलाफ है इसलिए संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है·

21·34 आदिवासियों को अब तक अपने पूरे इतिहास में जहाँ बाहरी संपर्क आया है जोर-जबरदस्ती का सामना करना पड़ा है· जगलों पर से उसका अधिकार छिन गया तो उसकी कुछ नहीं चली, बाहर से लोग आकर किसी न किसी बहाने उनसे जमीन छीनते रहे हैं और अगर अब सरकार ने उसकी जमीन छीनने की बात की है तो वह अपने को लाचार महसूस करता है· इसलिये बेबसी में आकर वह कहता है हम सरकार के है - मारो या नियाओ· उसको न तो कानूनी अधिकार का ज्ञान है और न ही संवैधानिक संरक्षण का· इसलिये सरकारी प्यादे उसकी इस बेबसी को अपने राज का अधिकार मान बैठे हैं·सरकारी हुकुम के सामने मजबूरी में आकर वह अपना सिर हिला देता है जिसे उसकी रजामंदी या स्वेच्छा करार दिया जाता है· इसलिये कभी वह जंगल में भागने की सोचता है, परन्तु वहां उसके साथ क्या व्यवहार होगा उसे वह जानता है· इसलिये कभी कहने-सुनने पर बाहर भी जमीन देख आता है· अगर उसको भागना ही पड़ेगा तो उसके सामने चारा क्या है, और अब तक जिसतरह से आदिवासियों को भागना पड़ता रहा है उसकी हालत से वह नावाकिफ नहीं है· इसलिए अगर सरकार कुछ वायदा करती है, कुछ दिलासा दिलाती है तो वह कभी उसके पीछे हो भी जाता है· क्याइस हालत में उसके इस व्यवहार से यह मतलब लगाया जा सकता है कि उसके खिलाफ कोई जोर-जबदरस्ती नहीं हो रही है और वह बाहर जाने की तैयारी अपनी इच्छा से कर रहा है ?

समाज की अस्मिता का सवाल

21·35 हमारे कानून और हमारे सोच में बात सिर्फ व्यक्ति की होती है· पर विस्थापन के बाद समाज का क्या होगा इसका न कोई ध्यान है और न समाज के स्तर पर कोई बातचीत या चर्चा· विस्थापन से आज

के सभी सामाजिक-आर्थिक संबंध टूट जाएँगे और हर आदमी को नये परिवेश में नये संबंध जोड़ने होंगे· परन्तु क्या उसके लिये यह संभव होगा· अधिकारियों के जाने के बाद या बाहर से लौटने के बाद हर गांव में यही चर्चा होती है आपस में बैठकर···मैया छूट जाएगी,जंगल भी नहीं रहेंगे, देश छूट जाएगा,समाज टूट जाएगा--कहाँ जाएँगे अकेले उस अजनबी दुनिया में, जिसने अभी तक हमेशा उसे हिकारत की निगाह से देखा है, और उसे शोषण की वस्तु के अलावा कुछ माना ही नहीं, कैसे रह पाएगा वह वहाँ ?

21·36 यहीं पर सांस्कृतिक मूल्य और मानवीय अधिकार के सवाल आ जाते हैं· किसी भी समाज को अपने अस्तित्व को बनाए रखने का अधिकार है -- अगर समाज का अस्तित्व खतरे में है तो उस खतरे का मुकाबला करने का अधिकार है· परन्तु दुनिया में इतिहास का वह दौर तो खतम हो गया जिसमें समाजों के अस्तित्व की लड़ाईयों में जंगल का कानून लागू हो--अधिक बर्बर समाज की जीत को वाजिब मान लिया जाय· फिर हमारे देश में तो कुछ अपवादों को छोड़कर इस तरह के व्यवहार को कभी मान्यता नहीं मिली है· और आज तो हमारा संविधान भी इसके खिलाफ है और मानवीय अधिकारों के दस्तावेज में आदिवासी समाजों को ताकतवर व्यवस्थाओं के सामने खड़े होने का उनके अस्तित्व के सवालों पर असहमति का और उनकी इन भावनाओं के प्रति पूरे आदर का अधिकार भी तो है· तब फिर यह कैसा न्याय कि उस समाज से जिसको ये सब अधिकार मिले हैं, कोई बातचीत भी नहीं, वह समाज है भी और उससे बातचीत जरूरी है इसका अहसास भी नहीं उसके लिये कानून में भी व्यवस्था नहीं· यह विसंगति हमारे देश की गुलामी के दौर की विरासत है जिस पर सोचा नहीं गया है, हमारे कानूनों को प्रजातांत्रिक और सामाजिक न्याय के सांचे में फिर से ढाला नहीं गया है· अधिकारों और मूल्यों की इस अनदेखी का पूरा भार आम आदमी, खासतौर पर आदिवासी समाज को उठाना पड़ रहा है जो भारी बेइंसाफी है·

21·37 इस तरह विशेषतः आदिवासी समाज के तथा अन्यान्य लोगों के सामने जीने और मरने का सवाल खड़ा हो गया है· इस कहर से मुकाबला करने के लिए वे लोग संगठित हो रहे हैं, अधिकाधिक होने जा रहे हैं और उन्हें संकल्प लेना पड़ा है कि वे लोग अपनी जगह से नहीं हटेंगे· परन्तु दूसरी तरफ एक योजना के बाद दूसरी योजना में तथाकथित विकास परियोजनाओं के लिये एक से एक बढ़ कर वित्तीय प्रावधान हो रहा है· एक बांध के बाद दूसरा बांध बनता जा रहा है, नये बांधों की नींव रखी जा रही है· जब लोगों के विरोध की कोई सुनवाई नहीं होती तो ये लोग जहाँ-तहाँ इन कामों को रोकने का भी प्रयास करते हैं· लेकिन साफ है कि उनकी ताकत व्यवस्थाकी ताकत के समाने न कुछ है· इसलिए कई जगह उनके आंदोलन टूट भी जाते हैं·

21·38 मगर बुनियादी सवाल यह है कि क्या व्यवस्था उनके खिलाफ कानूनन कोई कार्रवाई कर सकती है ? मैंने अपनी पिछली रिपोर्ट में कहा था कि जब सरकार किसी भी काम के लिये जमीन और प्राकृतिक संसाधनों को लेने की बात करती है तो वह एक नागरी (सिविल) मामला होता है· जब जमीन और संसाधन लोगों की जीविका के साधन हैं तो राज्य को भी उनमें उन अधिकारों को किसी भी आधार पर छीनने का अधिकार नहीं है और किसी समाज की अस्मिता का सवाल आ खड़ा हो तो उसके सामने तो किसी तरह का कोई तर्क चल ही नहीं सकता· अगर कोई कानून राज्य को यह अधिकार देता है तो वहाँ कानून ही असंविधानिक है मानवीय अधिकारों के खिलाफ है और अगर कोई देश जानबूझ कर छोटे से छोटे समाज की अस्मिता को दाव पर लगा सकता है, उसे विनाश के कगार पर खड़ा कर देता

है तो वह मानव सभ्यता और संस्कृति पर कलंक है· किसी भी जीविका के साधन छीनने के लिये प्रशासन को बल प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं है· अगर किसी समाज के अस्मिता के लिये संघर्ष में बल का प्रयोग होता है तो वह न केवल सामान्य मानवीय मूल्यों के खिलाफ है वरन् आदिवासियों के मामले में उनके अधिकारों की अवहेलना भी है·यही नहीं, वह सरकार के द्वारा अपनी स्थिति का नाजायज फायदा उठाकर अपनी जिम्मेदारी से मुँह मोड़ना है·

21·39 आदिवासी इलाकों में इस टकराहट की स्थिति का मुख्य कारण है सरकार के द्वारा अपने जिम्मेदारी की अनदेखी करना· आजादी के बाद जब बड़ी परियोजनाओं का बनना शुरू हुआ था तो इस पर भी विचार होना चाहिए था कि "जनहित" तय करने का क्या आधार होगा, उसमें लोगों की भूमिका क्या होगी, और जिन लोगों के जीविका के साधन और जिंदगी के अधिकार खतम होंगे उनका भी उस फैसले में हिस्सेदारी का कोई अधिकार होगा या नहीं· विभिन्न परियोजनाओं में भी लोगो को जो कुछ मिलता है वह केवल अनुग्रह के रूप मे मिलता है, अधिकार के रूप मे नहीं· उधर इस बात पर भी कोई विचार नहीं हुआ कि अगर आदिवासी इलाकों में पूरी प्राकृतिक संपदा का नया उपयोग राष्ट्रीय विकास मे जरूरी है तो आदिवासी के जिंदगी बसर करने का क्या होगा जो उसके वर्तमान उपयोग पर निर्भर है ? आदिवासियों के संविधानिक अधिकारों और संविधान में ही उनके लिये खासतौर पर जो संरक्षण दिया गया है उसका क्या होगा ? आजादी के 40 साल बाद भी सरकार चुप है· संविधानिक और मानवीय अधिकारों की बात तो अलग, इस मामले में कोई सामान्य नीति या दिशा निर्देशक सिद्धांत तक नहीं है· इसलिए जहाँ जो जैसा समझता है कर रहा है, लोगों के साथ मनमानी हो रही है· आदिवासी इलाकों मे बड़ी परियोजनाओं के खिलाफ आदिवासियों का संघर्ष व्यवस्था की मनमानी के खिलाफ अपने संविधानिक अधिकारों की रक्षा के लिये संकल्प का रूप ही है·

विकल्प की खोज

21·40 यह साफ है कि हमारी व्यवस्था के कर्णधार इस रपट मे वर्णित विसंगति को दूर करने में असमर्थ ही नहीं रहे हैं वरन् विसंगतियां और भी गहराती गई हैं· ऐसी हालत में सामान्य नागरिक, जो उन विसंगतियों का शिकार हैं, के सामने क्या विकल्प हो सकता है· जब कोई व्यक्ति विसंगत स्थिति से समझौता नहीं कर पाता है तो टकराव की स्थिति पैदा होती है· परन्तु टकराव की स्थितियों में भी गुणात्मक भेद होता है· एक वह टकराव की स्थिति है जहाँ व्यक्ति स्वयं गलती पर होता है परन्तु फिर भी व्यवस्था को चुनौती देता है· अथवा गलती न भी होने पर स्थिति से निपटने के लिये रास्ता गलत अपना सकता है· परन्तु दूसरी वे स्थितियां हैं जहाँ औपचारिक रूप से व्यवस्था का उल्लंघन होते हुए भी टकराव न्याय के लिये होता है· इस तरह की विसंगतियों के बारे में यही उम्मीद की जाती है कि स्वयं व्यवस्था में ही कुछ तत्व ऐसे होते हैं जिनसे सुधार की प्रक्रिया शुरू हो जाती है· परन्तु ऐसा हमेशा हो नहीं पाता है खासतौर से जब निहित स्वार्थ उन विसंगत स्थितियों का अपने हित में स्तेमाल करने लगते हैं· ऐसी हालत में व्यवस्था नियम और कानून के मुताबिक चलती रहती है, उसकी लीक पीटी जाती है पर न्याय का गला घुट जाता है·

21·41 हमारे देश मे आज कुछ ऐसी ही स्थिति बन आई है· परन्तु सौभाग्य से इस स्थिति मे निपटने के लिये रास्ता खोजने के लिये लोगों को कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं पड़ी· आम आदमी ने अब अपने ही इतिहास के पन्नों को फिर से उलटना शुरू किया तो पाया कि स्वयं राष्ट्रपिता गांधी जी ने घोषणा की थी कि "अन्याय को बरदाश्त करना पाप है·" उन्होंने ही यह सिद्धांत भी कि "अन्याय को बरदाश्त

करना पाप है " नमक का कानून तोड़कर स्थापित किया था· इस संदर्भ में जब लोगों ने अपनी कानूनी व्यवस्था को परखना शुरू किया तो पाया कि कई कानून, जैसा मैं पहले विवेचन कर चुका हूँ, उपनिवेशवादी व्यवस्था का अंग होने से संविधान की भावना के खिलाफ है, असंविधानिक है· इन असंविधानिक कानूनों से त्रस्त होकर कई जगह लोगों ने अपनी ओर से उन्हें अस्वीकृत करना शुरू कर दिया है· §अनुलग्नक 9§

21·42 इसी तरह "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" यह घोषणा लोकमान्य तिलक ने की थी· कई आदिवासी इलाकों में आजादी के चालीस साल के लम्बे समय तक स्वराज्य की झलक देखने का इंतजार करने के बाद लोग इस नतीजे पर आये हैं कि स्वराज्य मांगा नहीं जाता, उसका संकल्प किया जाता है· इसी तरह अगर राज्य कानूनी व्यवस्था को उनकी परंपरा के अनुरूप ढालने में असमर्थ हैं तो लोग अपनी ओर से असंविधानिक व्यवस्था की अमान्यकर नई व्यवस्था की नींव रख सकते हैं, यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार है·

21·43 लोगों के इन संकल्पों को संकुचित कानूनी नजरिये से न देखकर व्यापक मानवीय अधिकारों और प्रजातांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में देखना होगा· हमारा संविधान मानवीय अधिकारों का एक खूबसूरत दस्तावेज है· उससे अधिक व्यापक और उदार व्यवस्था दुनिया मे कहीं नहीं है· परन्तु उसकी इन बेमिसाल अच्छाईयों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है उन्हें अनदेखा ही नहीं किया गया वरन् उसकी अवहेलना भी हुई है· इसलिये आदिवासी लोगों की हकदारी बेमानी हो गई है· उसी तरह से लोगों की जिंदगी का अधिकार पवित्र है· जिंदगी का अधिकार केवल पशुवत शरीर धारण तक ही सीमित नहीं है - हर एक व्यक्ति और छोटे से छोटे समाज को स्वाभिमान के साथ मानवीय मूल्यों के अनुरूप जिंदगी बिताने का अधिकार है· अगर इन मामलों में किसी भी तरह की रुकावटें आती हैं तो वह हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हो सकता है·

21·44 उपर वर्णित विसंगतिया गंभीर है, वे राष्ट्रीय चेतना और प्रजातांत्रिक मूल्यों के खिलाफ है· उन्हें दूर करने में एक दिन की भी देरी बहुत भारी है· अगर सरकार अब भी इसको खतम करने के लिए अपनी ओर से पहल नहीं करती है तो कम से कम इतना तो कर ही सकती है कि जो लोग अपने अधिकारों की स्थापना के लिए संकल्प ले रहे हैं उनको अपराधी न करार दे· अपनी जिंदगी को खुद चलाने या स्वशासी व्यवस्था प्रजातंत्र का प्राण है, उसके लिए संघर्ष करने वालों का समर्थन करना सब का फर्ज है· मुझे उम्मीद है कि आम तौर पर जिंदगी के अधिकार के लिये और आदिवासी इलाकों में अपनी परंपरा के मुताबिक अपनी व्यवस्था की कामयाबी के लिये लोगों के संकल्प को सरकार समर्थन देगी और देश की औपचारिक व्यवस्था को भी लोगों की भावनाओं के अनुरूप ढाल कर संविधान की व्यवस्था को, देर से ही सही, मूर्त रूप देगी ।

22

अधिकार और दायित्व

अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की स्थिति की इस समीक्षा से यह स्पष्ट है कि हमारा राष्ट्रीय जीवन एक बड़ी गंभीर स्थिति से गुजर रहा है· समता, न्याय और भाईचारे के आधार पर एक समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना की बजाय एक दोहरी व्यवस्था बनती जा रही है· एक ओर कुछ चंद लोगों या व्यवस्था का प्राकृतिक संसाधनों और उत्पादन के साधनों सहित पूरी अर्थ-व्यवस्था पर वर्चस्व है· परन्तु दूसरी ओर अधिसंख्य लोग ऐसे हैं, जिनमें अधिकांश अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लोग शामिल है, जिनका संसाधनों और उत्पादन के साधनों पर अधिकार या तो हैं ही नहीं या खत्म होते जा रहे हैं और व्यक्ति का अंतिम सहारा उसका श्रम, उसका वाजिब मूल्य ही नहीं मिलता· आखिर में वे अपनी आजादी का ही मोल करने के लिए मजबूर हो जाते हैं· यह स्थिति हमारे संविधान की व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत है और जिंदगी के बुनियादी मानवीय अधिकार की अवहेलना है· इस स्थिति से निपटने के लिए और राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय मूल्यों में विश्वास रखने वाले हर नागरिक पर विशेष जिम्मेदारी आ जाती है·

विद्वत समाज

22·2 समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के निर्माण के मामले में आज की हालत में हमारी व्यवस्था, जिसमें प्रशासन और संगठित वर्ग शामिल है, से कोई खास उम्मीद नहीं की जा सकती है· संगठित वर्ग की पूरी व्यवस्था ही अन्याय और शोषण का पोषण कर रही है जिसके कारण गरीब और भी गरीब होता जा रहा है और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के अधिकतर लोग वंचना और शोषण के शिकार हैं· इस स्थिति से निकलने के लिए सबसे पहली जरूरत है स्पष्ट दृष्टि की· इसलिये सबसे बड़ी जिम्मेदारी विद्वत समाज की कही जा सकती है जिनसे अपने हितों के ऊपर उठ कर आर्थिक-सामाजिक स्थिति का निरपेक्ष विवेचन अपेक्षित है, जिससे उसकी अच्छाइयां और विकृतियां सही रूप में जनसामान्य के सामने आ सकें और वे अपने लिए उपयुक्त निर्णय ले सकें·

22·3 हमारे देश की हालत में विकास की वर्तमान व्यवस्था ही उपयुक्त नहीं है· इस अवधारणा से गुड़ी जीवनशैली को अधिकाधिक लोग अपनाते जा रहे हैं जो अधिसंख्य लोगों के लिए सुदूर भविष्य में भी संभव नहीं हो सकती है· परन्तु आम आदमी को यही भ्रम है कि आज जो कुछ लोगों को मिल गया है, कल उन्हें भी मिल जाएगा· आज की दोहरी स्थिति केवल कुछ समय की बात है· इसलिए न्यायपूर्ण व्यवस्था कायम करने के लिये लोगों के इस भ्रम को तोड़ना सबसे पहला काम होगा· सच तो यह है कि हम जिस विकास की नीति को अपना रहे हैं "चौथी दुनिया की स्थापना" उसकी एक आवश्यक-शर्त है·हमारे देश की इस चौथी दुनिया में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अधिकतर लोग शामिल हैं· इसलिए विकास की वर्तमान अवधारणा के अंतर्गत साधनहीनों के लिए, खासतौर से अनुसूचित जातियों के सामान्य जन के लिये, न्यायपूर्ण स्थान नहीं मिल सकता है· इस तरह के दोटूक विश्लेषण का दायित्व हमारे विद्वत समाज को ही निभाना पड़ेगा·

व्यवस्था

22·4 ऊपर बताई गई हालत में यद्यपि व्यवस्था से बहुत उम्मीद नहीं की जा सकती है परन्तु व्यवस्था

कम से कम अपने उन बुनियादी उसूलों के संदर्भ में तो उपयुक्त कार्रवाई कर ही सकती है जिन्हें वह अपना आधार मानती है· हमारी व्यवस्था का आधार संविधान है और उसमें कुछ बुनियादी उसूल हैं जो सभी को स्वीकार्य हैं· परन्तु बहुत से कानून हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हैं, बहुत सी प्रशासनिक कार्रवाइयां उन अन्यायी कानूनों तक की मंशा के मुताबिक नहीं हैं· यदि नागरिक के जीवन का अधिकार सबसे बुनियादी है और यदि अंग्रेजों के जमाने में उसके खिलाफ व्यवस्था बनी थी, तो कम से कम उसको ठीक करना तो व्यवस्था का फर्ज है, उसे तो ठीक किया ही जा सकता है· लगता है कियह कदम सिर्फ इसलिए नहीं लिया गया है चूँकि वह व्यवस्था और संगठित वर्ग के हितों के खिलाफ जा सकता है· यह बुनियादी तौर से गलत है· इसमें व्यवस्था में उच्चतम स्तर से अर्थात् संसद और विधानसभाओं से ही दो टूक बहस की शुरुआत होनी चाहिए· इन सभी कानूनों को जो व्यक्ति के बुनियादी अधिकारों से संबंधित हैं आवश्यकता के अनुसार तत्काल बदला जाना चाहिए· यही नहीं इस मामले में उच्च न्यायालय को अपनी ओर से पहल करके यह सुनिश्चित करना चाहिए कि यह प्रक्रिया जो संविधान में अन्तर्निहित है क्यों नहीं की गई और उसको पूरा करने के लिए यदि जरूरी हो तो उपयुक्त निर्देश दिये जांय·

राजनीतिक दल

22·5 व्यवस्था को न केवल चलाने वरन् उसको सही दिशा देने का दायित्व राजनीतक दलों पर है· परन्तु बुनियादी सामाजिक परिवर्तन के लिये दलगत राजनीतिक प्रक्रिया अभी तक नाकाफी रही है· यह खेद की बात है कि लोगों का उस पर भरोसा भी कम होता जा रहा है· दलगत राजनीति में चुनाव सबसे प्रमुख प्रक्रिया है· लोगों को इसका ज्ञान नहीं कि सचमुच उनसे क्या अपेक्षा की जाय और क्या अपेक्षा न की जाय· इसीलिए चुनाव के समय अपेक्षाएँ बड़ी होती हैं· परन्तु सत्ता में आने के बाद राजनीतिक दलों पर व्यवस्था का तर्क हावी हो जाता है· इसलिए कुछ समय के बाद जब लोगों को कुछ खास ठोस नतीजे नहीं दिखाई देते हैं तो निराशा की लहर दौड़ जाती है·

22·6 दुर्भाग्य से कुछ मामलों मे दलगत राजनीतिक प्रक्रिया में सर्वदलीय सहमति तक आम लोगों के बुनियादी हितों के खिलाफ हो सकती है· व्यवस्था और संगठित वर्ग का हित इतना व्यापक हो गया है और उनका तर्क इतना भ्रामक हो गया है कि राजनीतिक दल दीर्घकालीन राष्ट्रीय उद्देश्यों के खिलाफ भी उनका समर्थन करने के लिए मजबूर हो जाते हैं या अपनी आंतरिक संरचना के कारण जानबूझ कर वह रास्ता अपना लेते हैं· अन्यथा संगठित क्षेत्र के आसूदा कामगारों की मांगों की हिमायत और जोतने वाले की जमीन के सिद्धांत के मामले में इतनी उदासीनता कैसे समझी जा सकती है· यही नहीं, वोटों के गणित से कहीं-कहीं बुनियादी उसूलों का जिसमें अत्यन्त छोटे अल्पमत या नासमझ बहुजनों की अवहेलना हो जाती है· मैंने कुछ उदाहरण दिये हैं, उम्मीद है कि राजनीतिक दल भी इस पर गंभीरता से विचार करेंगे और एक ऐसा वातावरण बनाएगें जिसमें बुनियादी उसूलों के मामले में वोट की राजनीति न हावी हो·

आधुनिक क्षेत्र

22·7 लेकिन दायित्व की चेतना का सबसे बड़ा सवाल तो हमारे देश के आधुनिक क्षेत्र, जिसे संगठित क्षेत्र का ही पर्याय कहा जा सकता हैं,संबंधित है· आधुनिक क्षेत्र अपने को तर्कसम्मत और सिद्धांतवादी व्यवस्था का प्रतीक मानता है· अगर यह सही है तो इस क्षेत्र का सबसे पहला दायित्व तो यही है कि वह अपनी अन्यायी स्थिति का एहसास करे· अब तक संगठित क्षेत्र न केवल आधुनिक विकास के लाभों को पूरी तौर पर हथियाने में सफल रहा है वरन् असंगठित क्षेत्र के वंचना और शोषण की प्रक्रिया का

लाभ भी लेता रहा है· इसलिए सकल राष्ट्रीय उत्पादन में पहले उसी का हिस्सा निर्धारित हो जाता है और असंगठित क्षेत्र के लोगों को जो बच जाता है उसी में संतोष कर लेना पड़ता है· यहीं पर सबसे पहला और बड़ा अन्याय हो जाता है· इसीलिए संगठित क्षेत्र के नेतृत्व के आह्वान में ताकत नहीं है जिससे कि सामाजिक अन्याय की समाप्ति की दिशा में एक कदम भी आगे बढ़ा जा सके· इसलिए यह जरूरी है कि संगठित क्षेत्र अपनी अन्यायी स्थिति का अहसास करें और असंगठित क्षेत्र के उन लोगों के हकों की बात सोचें जिनकी स्थिति आज जैविक शोषण के घृणित स्तर तक पहुँच चुकी है·

इंडिया, भारत और हिन्दुस्तनवा

22·8 हमारे देश में तथाकथित इंडिया बनाम भारत की चर्चा तो हो रही है परन्तु उस बहस में भारत के नीचे हिन्दुस्तनवा की उस बड़ी दुनिया, जिसमें अधिकतर अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लोग शामिल हैं, के हितों को अनदेखा कर दिया गया है· भारत इंडिया के साथ प्रतिस्पर्धा करके उसके साथ जुड़ने के लिए आतुर है और इस प्रक्रिया में हिन्दुस्तनवा की हालत और भी बिगड़ती जा रही है· जैसे संगठित क्षेत्र अथवा इंडिया के लिये उसकी अपनी अन्यायी स्थिति का अहसास और अभिस्वीकृति जरूरी है उसी तरह से परम्परागत व्यवस्था में संसाधनों और उत्पादन के साधनों पर वर्चस्व वाले भारत और साधनहीन हिन्दुस्तनवा की अन्यायी स्थिति का अहसास और अभिस्वीकृति जरूरी है· भारत को इंडिया के साथ प्रतिस्पर्धा और गठजोड़ की बजाय हिन्दुस्तनवा का साथ देने की जरूरत है, दोनों ही एक ही प्रक्रिया से प्रभावित हैं· हिन्दुस्तनवा के प्रति न्याय ही समाजवादी समाज की स्थापना की ओर पहला निर्णायक कदम हो सकता है - इसके बिना दूसरी सभी प्रक्रियाएँ आज गहराती जा रही दोहरी व्यवस्था की ही संपोषक होंगी·

व्यक्ति

22·9 अभी तक मैंने विभिन्न वर्गों के दायित्वबोध की बात की है· सभी लोग किसी न किसी वर्ग के सदस्य होते हैं और उसके कारण वे उसके हितों में सहभागी भी होते हैं· परन्तु इसके बावजूद हर व्यक्ति की अपनी अस्मिता है और अपनी संवेदना है· हमारे देश में प्रजातांत्रिक व्यवस्था का सदस्य होने के नाते हर व्यक्ति के बुनियादी अधिकार हैं जो बहुत करके समझदार लोगों को सुलभ भी हैं· परन्तु वही अधिकार अधिसंख्य लोगों को सही रूप में नहीं मिल पाते हैं इसलिए हर समझदार और संवेदनशील व्यक्ति का यह कर्तव्य हो जाता हैं कि वह उन अधिसंख्य नागरिकों के अधिकारों की बात सोचे और अधिकारों के संघर्ष में उनका साथ दे·

22·10 व्यवस्था खासतौर पर शासनतंत्र से संबंधित व्यक्तियों को इस पर विशेष रूप से विचार करना होगा· उनको हमारी संविधानिक व्यवस्था का भारी संरक्षण प्राप्त है· इस वर्ग में एक बार प्रवेश के बाद कोई भी व्यक्ति आजीविका के लिये दुर्दम संघर्ष से जिंदगी भर के लिये छुट्टी पा लेता है· जहाँ दूसरी ओर अधिसंख्य लोगों के सामने आज जिंदा रहने का सवाल सताता रहता है· इस हालत में संविधान के आशातीत संरक्षण के बदले में वह उस संविधानिक व्यवस्था को सभी नागरिकों के हित में मजबूत करने और उनके लिये असली रूप देने के लिये क्या कर रहा है ? उन सब लोगों का, जो अन्यायी व्यवस्था का अंग होते हुए भी अपनी अन्यायी स्थिति का एहसास करते हैं, फर्ज है कि वे अन्यायी व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष में लगे हुए लोगों का जिस तरह भी हो सके साथ दें· ये लोग कम से कम एक काम तो कर ही सकते हैं कि जिन लोगों के खिलाफ अन्याय हो रहा है, उन मामलों में अन्यायी को व्यवस्था का

समर्थन न मिले· इसी तरह वे अंदर से व्यवस्था को मजबूर कर सकते हैं कि वह बुनियादी उसूलों की सतही तर्कों के आधार पर अवहेलना तो न करें· कानून है, नियम है इस तर्क को लोगों के बुनियादी हकों के खिलाफ स्तेमाल न होने दें· यही नहीं, वे यह भी स्वीकार करें कि कानून और नियम राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधनमात्र है उन्हें साध्य नहीं माना जा सकता है· व्यवस्था चलाने वालों में यदि इतना एहसास जग जाय तो उससे उत्पीड़ितों को बहुत बड़ा बल मिल सकता है·

स्वयंसेवी संस्थाएं

22·11 व्यक्ति के दायित्व बोध की अभिव्यक्ति स्वयंसेवी संस्थाओं के माध्यम से भी हो सकती है· जन आंदोलन में स्वयंसेवी संस्थाओं खासतौर से छोटी स्वयंसेवी संस्थाओं और सामाजिक कार्यकर्ताओं की भूमिका विशेष रूप से वांछनीय है· सामान्य व्यक्ति की सही अभिव्यक्ति लघु समाज के स्तर पर ही हो सकती है और उसी स्तर से बुनियादी परिवर्तन की प्रक्रिया भी प्रारंभ हो सकती है· आज देश में सभी ओर सामान्य जन के स्तर पर जो नया सोच उभर रहा है उसे सुदूर केन्द्रीय स्तर से संचालित करने का प्रयास जैसा अब तक होता रहा है गलत ही नहीं घातक होगा· यह नई धारा यदि समाज की आंतरिक प्रक्रिया के रूप में ही आगे बढ़ती है तभी वह बदलाव के लिये बड़ी ताकत बन सकेगी· इसलिये लघु समाज के स्तर पर ऐसे संवेदनशील व्यक्तियों की जरूरत है जो बाहरी व्यवस्था की रीति-नीति जानते हों, जिन्हें व्यापक सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य की समझ हो परन्तु जो लघु समाज में रम सकें, उनकी आंतरिक प्रक्रिया में सहभागी बन सकें और उसी रूप में देश के सामान्य नागरिक के साथ पुनर्निर्माण की यात्रा कर सकें·

युवावर्ग

22·12 अंत में शक्तिमान अन्यायी व्यवस्था को हमारे संविधान की भावना के अनुरूप बदलने का महान दायित्व यदि किसी एक वर्ग पर सबसे अधिक है तो वह है युवा वर्ग का· युवा वर्ग के सामने ही नया भारत बनाने की चुनौती है· परन्तु हमारा देश एक बड़े संकट से गुजर रहा है· एक ओर मूल्यों का संकट है· दूसरी ओर आज की अन्यायी व्यवस्था में सामान्य लोगों की जिंदगी के अधिकार की अवमानना हो रही है, लोगों को आजादी बेचने की मजबूरी है, लोगों के नैसर्गिक अधिकार अमान्य ठहरा दिए जाते हैं· इस संकट से बढ़कर युवा वर्ग के लिए और कोई चुनौती हो नहीं सकती· युवा वर्ग में से आज उन लोगों को सामने आने की जरूरत है जिनके मन में समाज की अन्यायी व्यवस्था के प्रति आक्रोश है, जो किसी उद्देश्य के लिए उत्सर्ग करने के लिए तैयार हैं· दुर्भाग्य से विकास की अवधारणा और जीवन की शैली का जो आदर्श रूप हमारे देश में स्वीकार कर लिया गया है उससे हमारे युवा वर्ग दिग्भ्रमित हैं· इस भ्रम को काटना और उससे निकलना ही युवावर्ग के लिए पहला बड़ा काम है· यदि यह भ्रम कट जाता है तो उनके काम का दायरा साफ, उनके जीवन का उद्देश्य स्पष्ट हो जाएगा, वे लोगों के साथ उनके जीवन के अधिकार की लड़ाई में शामिल हों और उनके साथ हमारे संविधान के आदर्शों के अनुरूप नये भारत का निर्माण करें·

नई लहर

22·13 आज हमारे पूरे देश में एक नई लहर व्याप्त है जिसमें लोग जिंदगी के अधिकार के प्रति सजग हो चुके हैं· जनसामान्य के स्तर पर एक नया वातावरण बन रहा है जिसमें व्यवस्था के तर्क को जैसा अब तक होता आया है, ब्रह्म वाक्य या अधिकार-उद्घोष के रूप में नहीं स्वीकार किया जा रहा है· राष्ट्रीय

जीवन में यह गुणात्मक परिवर्तन का संकेत है· यह एहसास हो जाने के बाद स्थिति बदल जाती है - वह फिर वही कदापि नहीं हो सकती हैं· जन सामान्य, खासतौर से आदिवासी इलाकों में लोग अपने बुनियादी अधिकारों के संदर्भ में व्यवस्था के बदलाव के लिये आतुर हैं· यही नहीं, स्वतंत्र नागरिक की हैसियत से संविधान और मानवीय मूल्यों की भावना के अनुरूप अपनी व्यवस्था को स्वयं दिशा देने का संकल्प ले रहे हैं· अधिसंख्य मेहनतकश उस व्यवस्था और इस कानून को मानने के लिये तैयार नहीं हैं जिसमें जिंदगी के अधिकार की अवमानना हो, नागरिक को आत्म सम्मान के साथ जिंदगी जीने का अधिकार न हो·

22·14 मुझे उम्मीद है कि जनमानस के इस बदलाव को व्यवस्था के साथ टकराव का रूप नहीं लेने दिया जायगा वरन् उसकी अमोघ शक्ति को व्यवस्था के अन्यायी रूप को बदल कर न्यायपूर्ण व्यवस्था कायम करने के लिये सकारात्मक तत्व के रूप में स्वीकार किया जायगा· यही हमारे प्रबुद्ध वर्ग, जिसमें बुद्धिजीवी,राजनेता, नियोजक, प्रशासक, व्यवसायी सभी कोई सम्मिलित हैं, के सामने भीषक चुनौती आ जाती है कि क्या वे अल्पकालीन और वर्ग हितों से ऊपर उठकर इस नई लहर की असली प्रकृति को पहचानेंगे और यह सुनिश्चित करेंगे कि उसकी असीम उर्जा टकराव में न बिखर कर नये भारत के निर्माण के लिये लग सकेगी·

संविधान में विशेष दायित्व

22·15 व्यवस्था में कुछ लोगों का, खासतौर से उन लोगों का जो तथाकथित कमजोर वर्गों के हितों से संबंधित हैं, दायित्व स्पष्ट है· मेरा उनसे आग्रह होगा कि वे अपने इस महान दायित्व को नेमी दायरे से बाहर व्यापक संदर्भ में देखने की कोशिश करें और यह सुनिश्चित करें कि कमजोर वर्ग के लोगों को खासतौर पर अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सदस्यों को सही अर्थों में संविधान के अनुरूप स्वाभिमानी जीवन बिताने का अवसर मिलता है· इस विशेष दायित्व वाले वर्ग में स्वयं मेरा संगठन भी शामिल है· इस रपट और इसके पहले की रपट से यह बिलकुल साफ है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बुनियादी हकों की अवहेलना हो रही है, उनकी जिंदगी के अधिकारों का उल्लंघन हो रहा है· कई मामलों में कानून असंगत है और स्वयं व्यवस्था उनके खिलाफ है· उनके सामने कई मामलों में आज दूसरा कोई विकल्प नहीं सिवाय इसके कि वे बुनियादी अधिकारों की स्वयं स्थापना करें, असंवैधानिक कानूनों को अस्वीकार करें·

22·16 अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के बुनियादी अधिकारों के संघर्ष में व्यवस्था की विसंगतियों की ओर ध्यान दिलाना मेरा फर्ज है· पिछली रपट में मैंने अनेक विसंगतियों की ओर ध्यान दिलवाया था· वर्तमान रपट में कई बातें और भी स्पष्ट रूप से सामने आई हैं· परन्तु इस विवेचन का व्यवस्था पर कोई जाहिर असर नहीं हुआ है· आगे जो कुछ कहूँगा वह पुनरावृत्ति मात्र होगी· इस हालतमें मेरा यह फर्ज है कि संविधान की सही व्यवस्था जिन लोगों के लिये बनी है जिन लोगों के हितों की समीक्षा का दायित्व मेरे ऊपर है, इस पूरे संदर्भ को उन लोगों तक पहुँचाऊँ· परन्तु आम आदमी सिद्धांत की भाषा जानता नहीं है, वह तो आज की समस्या में उलझा हुआ है· सभी सिद्धांतों का अंतिम निचोड़ उसकी आज की समस्या के संदर्भ में रखे बिना उसके लिये कोई अर्थ नहीं, उसकी कोई सार्थकता भी नहीं· इस रपट की प्रतिध्वनि तो सिर्फ कुछ सभागारों में कुछ समय के लिये गूँज कर उसी में विलीन हो जाएगी· जीवन के संघर्ष का संवाद ही उसकी सही और स्थायी अभिव्यक्ति हो सकती है·

इसलिए इस दायित्व को निभाने के लिए उससे संवाद के लिये उसके जीवन संघर्ष से सीधे जुड़ने के अलावा कोई और रास्ता नहीं· यही मेरा प्रयास होगा· इस संवैधानिक दायित्व का रूप और विधा स्थिति विशेष पर निर्भर होगा·

ब्रह्मदेव शर्मा

आयुक्त

अनुसूचित जातियां तथा अनुसूचित जन-जातियां

Copy of letter dated 31-3-90 from Dr. B.D. Sharma, Commissioner for Scheduled Castes & Scheduled Tribes to the Prime Minister

I wish to draw your attention to the critical phase in which the struggle of the people in Narmada Valley has reached and immediate intervention at your level is urgently called for. The people are determined not to move out from their homes in valley and prefer a watery grave than disorganisation and destitution in an unknown world which has been the story of all displaced so far.

You are perhaps aware that the submergence in case of some villages is now imminent and may become a reality even in June 90 as the execution of Sardar Sarovar project has been speeded up by the Govt. of Gujarat.

This movement after the large congregation of similarly placed people elsewhere and social activists from all over the country at Harsud in October 1989, has become a symbol of national struggle, particularly of the tribal people against the present style of development. In the hurry to achieve growth the question of equity has been relegated to a secondary position. The fact that some people have to bear its cost has been accepted as inevitable and as a necessary condition of development.

This position is being taken by those who stand to benefit by that process or by those already arrived. It is sought to be justified by allusion to the experience in the socalled developed countries who could and did 'create a third world'. They transposed the miserables and the miseries of their new brave world unmindful of the wreckage which it wrought there. This logic is not acceptable to those who stand for the basic values in the national life as enshrined in the Constitution and the common man who is at the receiving end. A substantial section of our people are facing the spectre of being pushed into a 'fourth' or a 'fifth world' as the wheel of development moves on relentlessly creating a few islands of affluence. The decision of a person like Baba Amte to move out from his place where he served the worst afflicted sections of the humanity to this valley and face the viscisitudes as one of them is not just a token gesture. It is a natural response of a sensitive soul which can perceive the great human tragedy being enacted in this region and listen the voice of the voiceless facing the trauma.

I have the great privilege and a grave responsibility under the Constitution to investigate into the working of the Constitutional safeguards in relation to the Scheduled Castes and Scheduled Tribes in this country. The worst sufferers in the wake of what is termed as development are members of Scheduled Tribes. Consequently I had discussed in particular some facets of the tribal situation in detail as it is emerging in the wake of the execution of numerous development projects. These projects are based on those natural resources in the tribal regions on which the people have been subsisting for their living since time immemorial.

As per the law of the land, all resources not individually owned are deemed to be state property. The process of formal acceptance of individual rights in the tribal areas is either not complete or the position relating thereto is outdated. The biggest tragedy is that law does not take into account the symbiotic relationship of the tribal people and their habitat which also has cultural and religious significance. Consequently the tribal people can claim no right on state-owned common resources. Even those resources, which are individually owned, such as agricultural land, can be taken away albeit through legal process on payment of some compensation. I had given a number of examples in my Report where the people are not prepared for this forced exchange. They cannot even be lured by rosy promises of liberal compensation. Such forced displacement in tribal areas predictably and inevitably has resulted in disorganisation of the community and pauperisation of the people. Some 10 to 15% of the total tribal people are believed to have been afflicted so far by this process.

A general review of the prevailing situation in the tribal areas in the context of the Constitutional safeguards in the Report made it clear that the "law concerning acquisition of land is incongruous with the

tribal situation". It was a pity that "this incongruity has not even been noted by the executive which has been conferred full authority in unequivocal terms by the Constitution and by implication also the grave responsibility for removing all anomalies and distortions between law and tribal situation". The conclusion in the Report was clear that *"the tribal people are being denied due protection of Constitutional safeguards on a vital issue which concerns their very survival as a community".*

The only course for the state in the face of these facts was, which was also recommended in the Report, that a thorough review should be undertaken of all ongoing projects so as 'to ensure that the safeguards provided for the tribal people in the Constitution are honoured in their real spirit and their side does not remain unconsidered simply because they did not have the opportunity or the necessary articulation for presenting the same'.

It is sad to note that even though the Report was presented in November 1988, this important question of denial of Constitutional safeguards to some of the most vulnerable sections of our people, who are innocent of modern processes and voiceless, has remained unheeded. Moreover even my personal intervention which could be possible only in a few cases because of the severe limitations—organisational and logistical—such as Hasdeo Rango and Burgee on Narmada did not have any effect in real terms on critical issues notwithstanding the favourable responses from the former Prime Minister and the State Chief Ministers. In this case people had to flee, flee for their life with nowhere to go in the face of surging waters as the dreaded dams rose above critical heights. All safeguards of the Constitution and intervention on their behalf came to nought. Even strong protest of the people themselves, in whose name the state functions, have not evoked any response.

The issue which faces the tribal people today is vital for their survival. I therefore, examined the same in further detail after submitting my last report. I find that in most of the cases, including that of Narmada Projects, even the provisions of the law, under which the land is being acquired and the people are being forcibly displaced, are not being followed in their true spirit. There are two important conditions before land can be acquired under the present law of land acquisition. Firstly, acquisition can be done only for a public purpose. Secondly the people have a right to be heard before a decision is taken to acquire their land.

The crucial concept 'public purpose' has not been defined under this law. This, in retrospect is not surprising, nay it was not done on purpose. Under the present stipulation anything which the Government of the day or a fleeting official considers as public purpose is deemed to be public purpose. Certain basic questions naturally arise from such stipulations which had been raised in the Report. It was clear that 'what can be deemed to be public purpose in the context of the tribal situation does not so much concern with what may simply be termed as legal or formal but touches the core of human values, civilizational obligation and in a narrower frame Constitutional safeguards'. Therefore "can the relative size of the communities involved be accepted as a sufficient ground for determining the 'public purpose'? Can a community be obliged to make way for others even at the peril of its disintegration and destitution of its members? The answer is a clear, emphatic and unequivocal 'No' ". Nothing needs to be added on this point at this stage.

So far the question of giving the people an opportunity to be heard, the position today is nothing short flagrant violation of the law. In most cases the formulation and approval of a project precedes the formal process of land acquisition. For example, in the case of Sardar Sarovar project most of the villages which will come under submergence have not been even issued a preliminary notice for acquisition of their lands under Section 4 of the Land Acquisition Act. Any notice at this stage to these people inviting their objections, if any, when construction has started, cannot but be mere performance of a ritual.

The above anomalies and contradictions are arising because a law which was enacted in the 19th century for acquisition of small pieces of land is being used for handling projects of mega dimensions which could not have been even imagined at that time.

This is not all. There is a deeper cleavage. The Land Acquisition Act, like many other laws, was enacted during the British period when basic objective of the state was consolidation of the imperial authority. Secondly most of these laws were based on premises and perceptions of the rulers. They completely ignored the ethos and values of our country. The natural resources including land was deemed to be property of the State or

individuals as the case may be. The rights of the people who were dependent on them for their living through the ages were ignored. The situation changed drastically when we adopted a Constitution whose objective is the establishment of a socialistic republic imbued with the spirit of equity, justice and fraternity. The right to life is the most fundamental of all human rights and is basic and absolute in our Constitutional schema. Any law which denied a person of this basic right cannot really be in keeping with its spirit.

I am constraint to note that this aspect of our legal system has been missed over the last 40 years. The contradictions are galore particularly in the tribal areas. For example, a number of tribal communities are still at hunting and gathering stage and as such subsist entirely on the forest. Yet this basic right of theirs is not recognised under the law. Instead, they are deemed to be encroachers. Many of them have been driven out of their homes arbitrarily, not infrequently with the use of force. This process is continuing. A number of communities, particularly the nomadic and seminomadic groups, have been subsisting on natural resources spread over large tracts, moving from one place to another according to a schema evolved over a long period in their history. The present law regulating the use of natural resources ignores this system completely. Consequently these communities are being incessently marginalised, some of them having reached a precipice. The bulk of even those tribal people who have adopted settled cultivation living in resource rich region still continue to depend for a substantial part of their subsistence on natural resources. This aspect has been ignored in our legal system. Their access to the resources is being arbitrarily curbed.

The non-agricultural lands in ordinary villages, sometimes misnamed as waste lands, provide substantial part of the subsistence for the poorer people. They are the only source of living for some of them. The perception of the state about these resources and even the schemes for their development are oblivious about the rights of the people. Lastly, agricultural land provides livelihood not only to its owner but also to the tiller of the land, the share croppers and landless labourers. The present laws do not take cognizance of the rights of such people.

Under the provision of the Land Acquisition Act, land can be acquired from a person who may be formally recognised as its owner by payment of compensation at the market price. Even in this restricted frame, the provision cannot be said to be in consonance with the Constitutional provisions about right to life. A source of living cannot be equated with the price which it may fetch in the market. The law is silent about people other than the owner who depend on the resource for their living. Consequently alternative use of resources through acquisition or otherwise, denies many people the access to those resources without any consideration whatsoever.

It is particularly tragic that the State has taken no action for protecting the interests of the tribal people as a community in the Scheduled areas which is implicit in the Constitutional schema stipulated under the Fifth Schedule. The laws concerning ownership and management of natural resources including land and its acquisition extended to the tribal areas treat the people as individuals and not as members of a community. The community is still vibrant and a living reality in many tribal areas. It is the most important distinguishing character of the tribal society. Similarly these laws do not take cognizance of the cultural ethos of the people and religions significance of the natural habitat. It may be mentioned here that our country is a signatory to the ILO convention which envisages that the rights of the tribal people over their resources will be honoured. Yet the laws of the land are at variance with these basic premises about human rights. The tribal people have not merely been denied the benefits of Constitutional safeguards but are being subjected to the tyranny of many a incongruous laws some of which are violative of basic human rights.

In sum, the execution of developmental projects in the tribal areas is causing a severe backlash. They at best is more concerned with ritualistic compliance of the provisions of the law even though it may not be in keeping with the spirit of the same. In many areas the law itself is violative of the Constitutional safeguards and of basic human rights.

I have been pursuing some of the cases which were brought to my notice from different parts of the country. My interventions have no doubt yielded some fine sentiments but no basic change or even temporary relief to the people. The States are in a hurry. They swear by the laws, agreement and formal decisions which may not mean much to the people. On the contrary as noted above, they may not be in consonance with the Constitution and may even be violative of human rights.

The people are resisting these ingresses of the state in their own way. In fact this has been the situation in the tribal areas for over two centuries. The struggles for assertion of the rights of the people has been suppressed by force. When people refuse to make way for developmental project, use of force is not unknown. In view of the fact that this is an ongoing process which is becoming increasingly intense, the grave question about the use of force in acquisition of natural resources including land was discussed in detail in my previous report. Any differences in the process of acquisition are at best in the nature of civil disputes. Any use of force in such cases is out of place particularly against members of scheduled castes and scheduled tribes about whose protection the state has a special responsibility. Accordingly enactment of a central law was recommended prohibiting use of force in these matters. But no action has been taken so far. It is unfortunate that use of coercive processes is continuing unabated even in those matters where the people on the other side are fighting for their right to life.

In the instant case of Sardar Sarovar project on Narmada, I have requested that the three states and the Central Government together should have a dialogue with the people and arrive at a consensus about a package of rehabilitation acceptable to the people. It is a pity that even after long discussions, the first simple step of the three states coming together and offering a package for all affected people irrespective of the place where they may wish to settle, which is specifically stipulated in the Narmada Water Disputes Award, was not taken. The people have come to the inevitable conclusions that rehabilitation is not possible. Moreover they are now better conscious of the consequences and also of their rights. They are now determined to fight for their survival as individuals and people.

It is regretted that the voice of the people has remained unheard and the basic position about the projects remains unchanged. Not only that, as the people's struggle has become more organised and better articulated, the states instead of making serious effort to allay their fears and convince them about the possible alternative not by mere promises and words but by deeds have adopted an unbecoming strategy. There is an unseemingly haste in the execution of the project on the strength of mere conditional approvals without adequate information on many a vital issues. So far as rehabilitation is concerned even some of the preliminary issues like 'who is a displaced person', 'what are the entitlements' and such like remain to be finally settled not to speak of reparation of a comprehensive scheme. The intention of the authorities is clear, that is, to reach a point of no return and face the people with a *fait accompli*. Once the execution reaches a point where large investment has been made, that fact itself can become a valid ground for continuing the same notwithstanding the consequences thereof.

Such an approach does not behove the state. The execution of a large project is after all subject to so many contingencies even when every thing may appear to be in order. It may be stalled on account of inadequacy of funds, non-availability of man, machine or material or even miscalculations about a contract. Yet how is it that the basic human issues concerning thousands of people are not a sufficient ground for even a minute deviation from the schedule which is taken as sacrosanct? Consequently, whether the people are ready to move out or not, the rehabilitation prospects are bright or bleak is nobody's concern. The construction of the project continues notwithstanding the protests of the people on the strength of promise by the state which are of no avail in the end. When the water in the reservoir rises, the people must flee and flee for life not knowing where to go and what to do. The state can conveniently claim that no force has been used. But is such a claim sincere or real? What greater tragedy can people face than the inundation of their homes by a man-made flood meticulously designed and mercilessly executed ignoring their very existence as a people.

According to the official reports the first few villages in Maharashtra and Gujarat will get submerged after June 1990. There is panic in the valley. The people are preparing for a last ditch battle. I have, however, been informed by the Ministry of Water Resources that no submergence will start this year as a result of the work on the dam. It is just by way of extra caution that probability projections have been made and a warning system is being installed to meet the contingency which may arise with or without the dam. Such refinements cannot mean much to the ordinary people who are seeing before them the rising concrete structures girdling the river. If the flood occurs it will be deemed to be a direct consequence of the same notwithstanding other rational explanations.

As stated above, the execution of Sardar Sarovar like many other projects is not in keeping with the provisions of the law and the law itself is violative of the Constitutional safeguards provided for the tribal people as also of human rights. A dialogue was necessary with the people who are likely to be affected before starting the project with a view to arrive at an informed agreement about the possible alternative for their living in

consonance with their tradition, acceptable to them. This opportunity was missed. It is clear that the states are not as yet ready with a scheme of acceptable rehabilitation. Most of the affected people from Maharashtra and M.P., who comprise 90% of the affected people, are not prepared to move out.

As stated earlier, the Narmada Project has become a symbol of the struggle against inequitous development particularly of the tribal people. The tribal people have reached a critical point in their history where they are facing disorganisation as communities and destitution as individuals. The nation must have a second look at the basic issues facing these communities. The lapses so far in this regard cannot be taken as an alibii and justification for continuing on the same path which has wrought havoc in these areas. A beginning has to be made here and now. In the case of Sardar Sarover project, the people have not been taken into confidence notwithstanding their passioned and reasoned protests for a long time. This is a basic right of theirs which must be honoured. No consideration whatsoever either in terms of benefits likely to accrue to some areas and people or in terms of expenditure already incurred can be accepted as sufficient ground for violation of the Constitution and of the human rights. It is a moral issue and by the same token the acid test for the nation's commitment to equity and justice. Not a single person in this valley should be obliged to flee under the spectre of being drowned because that will signify the collapse of the value for which our Constitution stands.

I trust that you will take immediate steps to reassure the people about the protection of their basic right to life. It will not be possible unless the work on the project is stopped. No words can carry conviction so long as the work on the dam site continues and flooding of the valley remains a certainty. Therefore a dialogue with the three states must be taken up immediately and the work on this project stopped pending a satistactory outcome acceptable to the people.

अनुलग्नक-2

Copy of letter dated 4th April, 1990 from Dr. B.D. Sharma, Commissioner for Scheduled Castes & Scheduled Tribes to the Governor of Maharashtra.

I wish to draw your attention to the critical situation that has developed in some tribal villages of Narmada Valley in Maharashtra. The tribal people have resolved not to move out of their villages which are facing imminent submergence, perhaps this very monsoon.

The people in the valley, most of whom are tribals, have been moving all authorities for justice but to no avail. Initially their demand was for a reasonable resettlement. After some time when they came to the conclusion that rehabilitation was not possible they started the struggle which has been gaining strength. This is a struggle for their survival as a community and as individuals. They are now demanding the scrapping of the Sardar Sarovar Project. Their struggle is for the right to life. Their struggle has gained nationwide support which was amply demonstrated in Harsud last year.

The tribal representatives had also met recently on 31st March at Delhi in a Conference convened by the Government of India to consider tribal problems. There was unanimity in the Conference that displacement was their problem number one. They demanded that all ongoing projects must be stopped until a consensus can be worked about them with the people. In future no project should be taken up unless it has the consent of the people affected. In particular, it was urged that Sardar Sarover should be stopped forthwith so that it does not reach a stage of no return. A complete reappraisal of the project including the issue of the right to life of the people should be ordered.

In view of the people's reaction to the project, the Government of Madhya Pradesh have assured them early last month to take up the matter with the central government. I understand that the Government of Maharashtra are also convinced that rehabilitation as per the legal provision of the State is not possible. The Government of Maharashtra have been considering to move the concerned authorities to stop the work on the dam. But so far these are mere promises and nothing concrete is happening. In fact work on the project is going on with full speed. The people are seeing this with their own eyes the disaster personified which will engulf them if not today, tomorrow.

The people, therefore, have taken the last resort available to them in a democratic society—to appeal to the Assembly and to stake their very life. Some of them have gone on an indefinite hunger strike prefering voluntary death to a forced disaster. The people in the villages are getting ready to get drowned rather than evacuate this monsoon.

I am making a special plea to you for the tribal people in the scheduled areas of your State whose protection is your special responsibility under the Constitution. I have investigated into the issues involved in the instant situation and have come to the following conclusion :—

(i) The people who are facing displacement have been denied even the opportunity to be heard in keeping with the spirit of the law (the Land Acquisition Act) under whose provision they could be forced to move out. The imminent displacement is against the law.

(ii) The basic issue involved in the process of displacement particularly in the tribal areas is the right to life. The natural resources including land are a means of livelihood which cannot be taken away by mere payment of compensation. The Land Acquisition Act is based on the promise that land is property and resources which are not formally recorded in the name of an individual are state property. Consequently the farmer can be acquired by payment of compensation and the latter without any consideration. This Act therefore, disregards the right to life of the people and therefore, against the spirit of the Constitution. Acquisition of land is unconstitutional.

(iii) The Constitution has special provisions aimed at protecting tribal people. The major issues in their protection are their command over resources and their survival as a community. Both these aspects are not taken care of in the existing legal framework. Consequently the process of development in which they are evicted from their habitat and are obliged to face disorganisation and destitution is voilative of basic human rights.

The people are, therefore, facing a grave crisis in which not only the due process of law has not been honoured but even their basic right to life is being denied and the human rights are violated. I may invite your kind attention to the fact that the Governor has a special responsibility as also the necessary authority to protect the interests of the tribal people. Nothing can be more sacrosant than the right of life as individuals and right to survival as community. Thousands of tribal people are facing imminent disaster. This voice has remained unheeded. No worthwhile dialogue on this vital issue can be visualised so long as the work on the dam continues.

May I, therefore, request you to direct the state government to move the central government for stoppage of the work of Sardar Sarovar until a satisfactory solution is found for the problem of the people acceptable to them. You may also consider issuing a notification to annul Land Acquisition Act so far as it is applicable to the Scheduled areas of the state since it is violative of Constitution and human rights. The tribal people have to be protected against a law which does not recognise their right to life and the right to live as a community.

अनुलग्नक-3

नर्मदा घाटी की सरदार सरोवर परियोजना से उत्पन्न समस्याओं के विषय में गुजरात के मुख्यमंत्री को संबोधित डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त के अर्ध-शासकीय पत्र संख्या-9/4/90-आयुक्त, दिनांक 16-4-90 की प्रतिलिपि

नर्मदा घाटी की सरदार सरोवर से प्रभावित लोगों का एक शिष्ट मंडल मुझे आज मिला। इन प्रभावितों में अधिकतर आदिवासी लोग थे। इन लोगों ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए बुनियादी संविधानिक और मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए जिनकी अवहेलना हो रही है, आवश्यक कार्यवाही करने के लिए आग्रह किया।

सरदार सरोवर के कारण विस्थापन और उसके मानवीय पहलुओं पर पूर्व मुख्यमन्त्री जी व अन्य अधिकारियों से कई बार चर्चा करने का अवसर मिला था। परन्तु नीति संबंधी कई निर्णयों के बावजूद अभी तक कोई ऐसा हल नहीं निकल पाया है जो प्रभावित लोगों को स्वीकार्य हो। यही नहीं, समय के साथ लोगों की आशंकायें बढ़ी हैं जिसके कारण अब उनका यह विश्वास है कि पुनर्वास संभव ही नहीं है। इसलिए उन्होंने संकल्प लिया है कि वे अपना घर नहीं छोड़ेंगे चाहे जल समाधि ही क्यों न लेना पड़े। इस हालत में यह जरूरी है कि इस उलझी समस्या पर पूर्वाग्रहों को छोड़कर बुनियादी सिद्धांतों के संदर्भ में विचार करना जरूरी है।

विस्थापन के बुनियादी सवाल पर मैं आपका ध्यान संविधान के अनुच्छेद 338 के अंतर्गत आदिवासी लोगों के लिये संविधानिक संरक्षण पर राष्ट्रपति को प्रेषित पिछली रिपोर्ट (अट्ठाइसवी) की ओर दिलाना चाहता हूं। उसके विश्लेषण से यह स्पष्ट था कि आज आदिवासी समाज अपने इतिहास के एक नाजुक मोड़ पर पहुंच गया है। आज पूरी विकास की प्रक्रिया ही उनके लिए लोगों के परम्परागत जीवन के साधन छिनते जा रहे हैं इसके अलावा भूमि अधिग्रहण के लिए जो प्रक्रिया अपनाई जा रही है वह वर्तमान कानून की भावना के प्रतिकूल है। यही नही, भूमि अधिग्रहण का कानून संविधान की भावना के खिलाफ है। अंततः संविधान के अंतर्गत आदिवासी समाज की रक्षा का भार राज्य को सौंपा गया है। इसलिए जहां स्वयं राज्य उनके इस जीवन के अधिकार से वंचित का कारण बन जाता है तो वे कहां जाएं। इस तरह राज्य संविधान के दायित्व की अवहेलना का दोषी है और आदिवासियों के बुनियादी मानवीय अधिकारों का हनन हो रहा है। इस संदर्भ में मैंने यह आग्रह किया था कि कम से कम विस्थापन मामलों में राज्य किसी तरह से भी बल का प्रयोग न करे। परन्तु लगता है कि इस पहलू की अहमियत पर ध्यान नहीं दिया गया है।

मैं इस पत्र के साथ नर्मदा घाटी में विस्थापन की समस्या पर विस्तृत नोट संलग्न कर रहा हूं अभी तक विकास परियोजनाओं से प्रभावित लोग विस्थापन को भाग्य की बात मान कर अन्याय को बिना समझे सहते रहे हैं। परन्तु इस मामले में अब एक बुनियादी बदलाव आया है जो प्रजातांत्रिक मूल्यों के अनुरूप है। परियोजनाओं से प्रभावित लोग अपने इन अधिकारों के प्रति सचेत हो गये हैं और वे अपने अधिकारों की रक्षा की मांग कर रहे हैं। नर्मदा घाटी का जन आंदोलन मानवीय अधिकारों की स्थापना का प्रतीक बन गया है। इसलिए विस्थापन और पुनर्वास के संदर्भ में अब तक राज्यों की रीतिनीति कुछ भी क्यों न रही हो, इस पूरे सवाल पर संवैधानिक संरक्षण और मानवीय अधिकारों की ध्यान में रखते हुए ऊंचे धरातल पर विचार करने की जरूरत है। इस तथ्य को कि अब तक वे लोग अन्याय सहते रहे हैं, आगे न्याय न मिलने के लिए समुचित कारण नहीं माना जा सकता है। इस संदर्भ में लोगों की यह मांग पूरी तरह से जायज है कि विस्थापन और पुनर्वास के व्यापक संदर्भ को देखते हुए सरदार सरोवर परियोजना की फिर से समीक्षा की जाय और जब तक एक ऐसी कार्ययोजना, जो कि लोगों को मंजूर हो, नहीं बन जाती है, परियोजना पर आगे काम न चलाया जाय जिससे कि यह परियोजना एक ऐसे स्थान पर न पहुंचे जहां से लौटने की गुंजाइश ही न रहे।

मैंने इस संदर्भ में प्रधानमंत्री जी को भी लिखा है और महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्रियों से भी निवेदन किया है कि इस जन आंदोलन को, जिसे लोग, मनुष्य के सबसे बुनियादी अधिकार अर्थात जिंदगी के अधिकार के लिए चला रहे है, कानून और व्यवस्था या केवल कुछ तकनीकी या कानूनी सवाल के रूप में न लिया जाय वरन् उस पर संविधानिक व्यवस्था और व्यापक मानवीय मूल्यों के संदर्भ में विचार किया जाय। मैं गुजरात में इस परियोजना के बारे में भावनात्मक जुड़ाव से परिचित हूं। तीन साल के भीषण अकाल की हालत कभी फिर न आये यह भी सुनिश्चित करना है। परन्तु सवाल यह है कि क्या यही एकमात्र विकल्प है ? और यदि यही एक मात्र विकल्प है तो प्रभावितों से संवाद जरूरी है। उन लोगों का पक्ष जो अपनी आंखों के सामने सामाजिक बिखराव और विपन्नता की विभीषिका देख रहे हैं, उनके लिए भविष्य का कोई अर्थ नहीं है। आदिवासियों की जायज मांग को अस्वीकार करना और उनकी सहमति के बिना उनके अपने परंपरागत रिहाइस से हटने के लिए मजबूर करना, जिसमें आदिवासी समाज का बिखराव और व्यक्ति के रूप में विपन्नता अवश्यंभावी है, संविधान के अन्तर्गत उनके अधिकारों की रक्षा व्यवस्था का उल्लंघन होगा। मुझे उम्मीद है कि आप इस भूमिका को स्वीकार करेंगे और 19 तारीख को दिल्ली में होने वाली बैठक में सब मिलकर एक ऐसा समाधान खोज लेंगे जो कि न्यायसंगत हो और जिसमें मानवीय अधिकारों की पूरी तरह से संरक्षण हो।

अनुलग्नक-4

नर्मदा घाटी की सरदार सरोवर परियोजना से उत्पन्न समस्याओं के विषय में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री को संबोधित डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त के अर्ध शा० पत्र संख्या 9/4/90-आयुक्त, दिनांक 16-4-90 की प्रतिलिपि

नर्मदा घाटी की सरदार सरोवर से प्रभावित लोगों का एक शिष्ट मंडल मुझे आज मिला। इन प्रभावितों में अधिकतर आदिवासी लोग थे। इन लोगों ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए बुनियादी संविधानिक और मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए, जिनकी अवहेलना हो रही है, आवश्यक कार्रवाई करने के लिए आग्रह किया।

सरदार सरोवर से उत्पन्न समस्याओं से आप भलीभांति परिचित ही हैं। आपने पिछले माह नई सरकार बनने के तुरन्त बाद प्रभावितों की बात को सुना था और उनको यह आश्वासन भी दिया था कि आप इस परियोजना के पुनर्मूल्यांकन के लिए केन्द्रीय सरकार से आग्रह करेंगे। इसके साथ ही, इस परियोजना के मामले में आगे का कदम उठाने के पहले प्रभावितों के साथ चर्चा भी करेंगे। परन्तु इन आश्वासनों के बावजूद बांध का काम तो पहले जैसा चल ही रहा है परन्तु लोगों से बातचीत का सिलसिला भी नहीं शुरू हुआ। इसके उलटे अभी हाल ही प्रभावितों के खिलाफ बड़वानी और अलीराजपुर में बल का प्रयोग किया गया है जिससे लोग अपने भविष्य के बारे में चिन्ताकुल हैं।

इस संबंध में मैं आपका ध्यान संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत आदिवासी लोगों के लिए संविधानिक संरक्षण पर राष्ट्रपति को प्रेषित अपनी पिछली रिपोर्ट (अट्ठाइसवीं) की ओर दिलाना चाहता हूं। उसके विश्लेषण से यह स्पष्ट था कि आज आदिवासी समाज अपने इतिहास के एक नाजुक मोड़ पर पहुंच गया है। आज पूरी विकास की प्रक्रिया ही उनके उलटे पड़ रही है। विकास के नाम पर तरह-तरह की परियोजनाएं आदिवासी क्षेत्रों में बनाई जा रही है जिनके लिए उन लोगों के परम्परागत जीवन के साधन छिनते जा रहे हैं। इसके अलावा भूमि अधिग्रहण के लिए जो प्रक्रिया अपनाई जा रही है वह कानून की भावना के प्रतिकूल है। यही नहीं, भूमि अधिग्रहण के कानून में लोगों के नैसर्गिक संसाधनों पर जीवन के अवलम्बन को अनदेखा किया गया है इसलिए वह कानून संविधान की भावना के खिलाफ है। अंततः संविधान के अन्तर्गत आदिवासी समाज की रक्षा का भार राज्य को सौंपा गया है। इसलिए जहां स्वयं राज्य उनको जीवन के अधिकार से वंचित करने लगे तो ये कहां जाय। इस हालत में राज्य संविधान के दायित्व की अवहेलना का दोषी है और आदिवासियों के बुनियादी मानवीय अधिकारों का हनन हो रहा है, इस संदर्भ में मैंने यह आग्रह किया था कि कम से कम विस्थापन मामलों में राज्य किसी तरह से भी बल का प्रयोग न करे। परन्तु लगता है कि इस पहलू की अहमियत पर ध्यान नहीं दिया गया है।

मैं इस पत्र के साथ नर्मदा घाटी में विस्थापन की समस्या पर विस्तृत नोट संलग्न कर रहा हूं अभी तक विकास परियोजनाओं से प्रभावित लोग विस्थापन को भाग्य की बात मानकर अन्याय को बिना समझे सहते रहे हैं। परन्तु इस मामले में अब एक बुनियादी बदलाव आया है जो प्रजातांत्रिक मूल्यों के अनुरूप है। परियोजनाओं से प्रभावित लोग अपने इन अधिकारों के प्रति सचेत हो गए हैं और वे अपने अधिकारों की रक्षा की मांग कर रहे हैं। नर्मदा घाटी का जन आंदोलन मानवीय अधिकारों की स्थापना का प्रतीक बन गया है। इसलिए विस्थापन और पुनर्वास के संदर्भ में अब तक राज्यों की रीतिनीति कुछ भी क्यों न रही हो इस पूरे सवाल पर संवैधानिक संरक्षण और मानवीय अधिकारों को ध्यान में रखते हुए ऊंचे धरातल पर विचार करने की जरूरत है। इस तथ्य को कि अब तक ये लोग अन्याय सहते रहे हैं, आगे न्याय न मिलने के लिए समुचित कारण नहीं माना जा सकता है। इस संदर्भ में लोगों की यह मांग पूरी तरह से जायज़ है कि विस्थापन और पुनर्वास के व्यापक संदर्भ को देखते हुए सरदार सरोवर परियोजना की फिर से समीक्षा की जाय और जब तक एक ऐसी कार्ययोजना, जो कि लोगों को मंजूर हो, नहीं बन जाती है, परियोजना पर आगे काम न चलाया जाय जिससे कि वह परियोजना एक ऐसे स्थान पर न पहुंचे जहां से लौटने की गुंजाइश ही न रहे।

मैंने इस संबंध में प्रधानमंत्री जी को भी लिखा है और महाराष्ट्र और गुजरात के मुख्यमंत्रियों से भी निवेदन किया है कि वे इस जन आंदोलन को, जिसे लोग, मनुष्य के सबसे बुनियादी अधिकार अर्थात् जिन्दगी के अधिकार के लिए चला रहे हैं, कानून और व्यवस्था या केवल कुछ तकनीकी या कानूनी सवाल के रूप में न लिया जाय वरन उस पर संवैधानिक व्यवस्था और व्यापक मानवीय मूल्यों के संदर्भ में विचार किया जाय। उनकी जायज मांग को अस्वीकार करना और उनकी सहमति के बिना उनके अपने परम्परागत रहवास से हटने के लिए मजबूर करना, जिसमें आदिवासी समाज का बिखराव और व्यक्ति के रूप में विपन्नता अवश्यंभावी है, संविधान के अन्तर्गत उनके अधिकारों की रक्षा-व्यवस्था का उल्लंघन होगा। मुझे उम्मीद है कि आप इस भूमिका को स्वीकार करेंगे और 19 तारीख को दिल्ली में होने वाली बैठक में सब मिल कर एक ऐसा समाधान खोज लेंगे जो कि न्यायसंगत हो और जिसमें अधिकारों का पूरी तरह से संरक्षण हो।

अनुलग्नक-5

नर्मदा घाटी की सरदार सरोवर परियोजना से उत्पन्न समस्याओं के विषय में महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री को संबोधित डॉ ब्रह्मदेव शर्मा, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त के अर्ध-शासकीय पत्र संख्या-9/4/90-आयुक्त दिनांक 16-4-90 की प्रतिलिपि

नर्मदा घाटी की सरदार सरोवर से प्रभावित लोगों का एक शिष्ट मंडल मुझे आज मिला। इन प्रभावितों में अधिकतर आदिवासी लोग थे। इन लोगों ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए बुनियादी संविधानिक और मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए जिनकी अवहेलना हो रही है, आवश्यक कार्यवाही करने के लिए आग्रह किया।

सरदार सरोवर से उत्पन्न समस्याओं से आप भलीभांति परिचित ही हैं। मुझे खुशी है कि इसी माह बम्बई में अपने प्रभावितों को आश्वासन दिया था कि जब तक उनकी सहमति के साथ पुनर्वास की उपयुक्त योजना नहीं बन जाती तब तक सरदार सरोवर परियोजना पर कोई ऐसा काम नहीं किया जाएगा जिससे नर्मदा के बहाव में अवरोध हो और लोग उसकी धार से प्रभावित होने लगें। आपने स्वयं भी बांध के निर्माण स्थल का निरीक्षण किया और गुजरात सरकार को अपने मंतव्य से अवगत करा दिया है। परन्तु फिर भी लोग चिंताकुल हैं कि कहीं विस्थापन और पुनर्वास के बुनियादी सवाल के संदर्भ में इस परियोजना पर पुनर्विचार किये बिना ही वह परियोजना उस स्थिति में न पहुंच जाय जहां से लौटना संभव न हो।

इस संबंध में, मैं आपका ध्यान संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत आदिवासी लोगों के लिए संविधानिक संरक्षण पर राष्ट्रपति को प्रेषित पिछली रिपोर्ट (अट्ठाइसवीं) की ओर दिलाना चाहता हूं। उसके विश्लेषण से यह स्पष्ट था कि आज आदिवासी समाज अपने इतिहास के एक नाजुक मोड़ पर पहुंच गया है। आज पूरी विकास की प्रक्रिया ही उनके उलटे पड़ रही है। विकास के नाम पर तरह-तरह की परियोजनाएं इन क्षेत्रों में बनाई जा रही हैं जिनके लिए लोगों के परम्परागत जीवन के साधन छिनते जा रहे है। इसके अलावा भूमि अधिग्रहण के लिए जो प्रक्रिया अपनाई जा रही है वह वर्तमान कानून की भावना के प्रतिकूल है। यही नहीं, भूमि अधिग्रहण का कानून संविधान की भावना के खिलाफ है। अंतत : संविधान के अन्तर्गत आदिवासी समाज की रक्षा का भार राज्य को सौंपा गया है। इसलिए जहां स्वयं राज्य उनके इस जीवन के अधिकार से वंचित का कारण बन जाता है तो वे कहां जाँय। इस तरह राज्य संविधान के दायित्व की अवहेलना का दोषी है और आदिवासियों के बुनियादी मानवीय अधिकारों का हनन हो रहा है। इस संदर्भ में मैंने यह आग्रह किया था कि कम से कम विस्थापन मामलों में राज्य किसी तरह से भी बल का प्रयोग न करे। परन्तु लगता है कि इस पहलू की अहमियत पर ध्यान नहीं दिया गया है।

मैं इस पत्र के साथ नर्मदा घाटी में विस्थापन की समस्या पर विस्तृत नोट संलग्न कर रहा हूं। अभी तक विकास परियोजनाओं से प्रभावित लोग विस्थापन को भाग्य की बात मानकर अन्याय को बिना समझे सहते रहे हैं। परन्तु इस मामले में अब एक बुनियादी बदलाव आया है जो प्रजातांत्रिक मूल्यों के अनुरूप है। परियोजनाओं से प्रभावित लोग अपने इन अधिकारों के प्रति सचेत हो गये हैं और वे अपने अधिकारों की रक्षा की मांग कर रहे हैं। इसलिए विस्थापन और पुनर्वास के संदर्भ में अब तक राज्यों की रीतिनीति कुछ भी क्यों न रही हो, इस पूरे सवाल पर संविधानिक संरक्षण और मानवीय अधिकारों को ध्यान में रखते हुए ऊँचे धरातल पर विचार करने की जरूरत है। इस तथ्य को कि अब तक ये लोग अन्याय सहते रहे हैं, आगे न्याय न मिलने के लिए समुचित कारण नहीं माना जा सकता है। इस संदर्भ में लोगों की यह मांग पूरी तरह से जायज है कि विस्थापन और पुनर्वास के व्यापक संदर्भ को देखते हुए सरदार सरोवर परियोजना की फिर से समीक्षा की जाय और जब तक एक ऐसी कार्ययोजना, जो कि लोगों को मंजूर हो, नहीं बन जाती है, परियोजना पर आगे काम न चलाया जाय जिससे कि वह परियोजना एक ऐसे स्थान पर न पहुंचे जहां से लौटने की गुंजाइश ही न रहे।

मैंने इस संबंध में प्रधानमंत्री जी को भी लिखा है और मध्य प्रदेश तथा गुजरात के मुख्यमंत्रियों से भी निवेदन किया है कि वे इस जन आंदोलन को जिसे लोग, मनुष्य के सबसे बुनियादी अधिकार अर्थात् जिंदगी के अधिकार के लिए चला रहे हैं, कानून और व्यवस्था या केवल कुछ तकनीकी या कानूनी सवाल के रूप में न लिया जाय वरन् उस पर संविधानिक व्यवस्था और व्यापक मानवीय मूल्यों के संदर्भ में विचार किया जाय। उनकी जायज मांग को अस्वीकार करना और उनकी सहमति के बिना उनको अपने परम्परागत रहवास से हटने के लिए मजबूर करना, जिसमें आदिवासी समाज का बिखराव और व्यक्ति के रूप में विभिन्नता अवश्यंभावी है, संविधान के अन्तर्गत उनके अधिकारों की रक्षा-व्यवस्था का उल्लंघन होगा। मुझे उम्मीद है कि आप इस भूमिका को स्वीकार करेंगे और 19 ता० को दिल्ली में होने वाली बैठक में सब मिलकर एक ऐसा समाधान खोज लेंगे जो कि न्यायसंगत हो और जिसमें मानवीय अधिकारों का पूरी तरह से संरक्षण हो।

अनुलग्नक-6

नर्मदा घाटी की सरदार सरोवर परियोजना से उत्पन्न समस्याओं के विषय में भारत के मा० प्रधानमंत्री को संबोधित डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आयुक्त के अर्ध-शासकीय पत्र संख्या-25/5/90-आयुक्त दिनांक 17-4-90 की प्रतिलिपि

सबसे पहले तो मैं आपको 31 मार्च के राष्ट्रीय परिसंवाद और 14 अप्रैल के बाबा भीमराव अम्बेडकर की जन्म शताब्दी पर गरीबों के प्रति मन की गहराई से निकली ऋजु सरल संवेदना के लिए साधुवाद देना चाहूंगा। गरीबों के आंसु हजारों साल की करुण व्यथा संजोये हुए हैं। जैसा आपने कहा था जब ये आंसु महज पानी की बूंदें न रह कर तेजाब की धार बन जाते हैं तो वे इतिहास के पन्नों पर एक अमिट चिन्ह बना देते हैं। इसी तरह से जब गरीब के पेट की आग पेट से उठकर दिल और दिमाग पर छा जाती है तब अन्याय की नींव पर बने बड़े-बड़े किले भी ताश के पत्तों की तरह ढह जाते हैं।

आपको स्मरण होगा कि जब 31 तारीख की आदिवासी समस्याओं पर परिसंवाद की शुरूआत हो रही थी तब एक युवा विधायक ने, जो आपको अपना राजनीतिक गुरू मानता है, आपका ध्यान आदिवासी लोगों की सबसे बड़ी समस्या की ओर आकर्षित किया था। वह समस्या है इन सरल और अनजान लोगों से उनके जीवन का आधार छिन जाना। इस मामले में उसने नर्मदा की समस्या का विशेष उल्लेख किया था। आपने अपने भाषण में आश्वासन दिया कि कल्याण मंत्री उसे देखेंगे।

आज विडम्बना यह है कि यह अन्याय विकास के नाम पर हो रहा है। आदिवासी इलाकों में संसाधनों के परम्परागत उपयोग संबंधी अधिकार के मामले में स्थिति दिनोदिन बिगड़ती जा रही है। यह सुविदित है कि वनों के उपयोग के सवाल को लेकर कई इलाकों में राज्य और लोगों के बीच टकराव की स्थिति बन गई है।

दुर्भाग्य से विकास और विस्थापन से जुड़े हुए बुनियादी सवालों की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है और उसे कानून और व्यवस्था का सवाल मानकर जो भी हल पाने के प्रयास हो रहे हैं उनसे स्थिति बिगड़ती ही जा रही है। विकास की परियोजनाओं के लिए जब सरकार संसाधनों को लेती है तो लोगों के परम्परागत अधिकार बिल्कुल अनदेखे कर दि जाते हैं। पूरी कार्रवाई उनकी जिन्दगी के सवाल के बारे में बिना एहसास के ही की जाती है। जब आदिवासी से जमीन लेने की बात होती है तो सभी जगह आदिवासी यही कहता है कि रुपये लेकर वह क्या करेगा ? सच तो यह है कि विस्थापित समाज के रूप में विखराव और व्यक्ति के रूप में कंगाली की विभीषिका का सामना कर रहे हैं।

नर्मदा घाटी की समस्या के संबंध में मैंने एक विस्तृत पत्र 4 अप्रैल 1990 को लिया था। उसमें मैंने यह स्पष्ट किया था कि विकास के लिए संसाधनों के वैकल्पिक उपयोग के लिए अपनायी जाने वाली आज की हमारी पूरी प्रक्रिया गैर-कानूनी है। यह कानून जिसके अन्तर्गत लोगों से उनके जीवन का आधार छीन लिया जाता है, हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है। आदिवासी समाजों के बारे में मानवीय अधिकारों का उल्लंघन हो रहा है।

यह बड़े खेद की बात है कि विस्थापन के इस अहम सवाल पर जो आदिवासी समाज के भविष्य के लिए निर्णायक है, अभी तक किसी भी स्तर पर गंभीरता से विचार नहीं किया गया है। परन्तु अब लोगों में स्वयं नई चेतना आ रही है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था की सबसे बड़ी ताकत है लोगों में आत्माभिमान का जागरण और अस्मिता का एहसास। एक बार लोगों में यह एहसास हो जाय तो अन्याय बहुत दिन नहीं टिक सकता। पूरे आदिवासी क्षेत्र में खासतौर पर नर्मदा घाटी में यह अहसास तेजी से जग रहा है। इसलिए व्यवस्था के लिए जरूरी है कि वह इस बदलते परिवेश को पहचाने।

पिछले साल नर्मदा और विस्थापन के सवाल को लेकर मध्यप्रदेश के हरसूद नगर में एक विराट सम्मेलन हुआ था जिसमें देश के कोने-कोने से विकास परियोजनाओं से प्रभावित और मानवीय अधिकारों के प्रति दूसरे संवेदनशील लोग इकट्ठा हुए थे। इस सम्मेलन में विकास की वर्तमान अवधारणा जिसमें एक ओर व्यवस्था स्वयं गरीबी और विभिन्नता का निर्माण कर रही है और दूसरी ओर अमीरों के लिए अटाटूट विलास वस्तुओं से भरी वैभव नगरियां बन रही हैं जिनमें कहीं कोई ऊपरी सीमा ही नहीं दिखाई देती। इस सम्मेलन के बाद से नर्मदा घाटी का जन आंदोलन अब लोगों के जिन्दगी के अधिकार के लिए संघर्ष का प्रतीक बन गया है जिसे सही परिप्रेक्ष्य में देखना जरूरी होगा।

नर्मदा घाटी के लोग विस्थापन के लिए तैयार नहीं है। वे अपने घर छोड़ने के बजाय "जल समाधि" लेना अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। उनका जन आंदोलन मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र की पूरी घाटी में छा गया है। दोनों राज्यों के मुख्य मंत्रियों ने भी हाल ही में, नई सरकार बनने के बाद, आम आदमी की समस्या को गहराई और संवेदना के साथ समझने का प्रयास किया है। दोनों ने ही विस्थापन के मानवीय मुद्दे के सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए इस

परियोजना के समग्र पुनर्मूल्यांकन के लिए पहल करने का वायदा किया है। खास तौर से महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री ने स्पष्ट रूप से यह आश्वासन दिया है कि जब तक लोगों की सहमति से पुनर्वास की व्यापक योजना नहीं बन जाती तब तक बांध पर ऐसा कोई भी काम नहीं होगा जिससे नदी के बहाव में रुकावट आये और लोग प्रभावित होने लगें।

इन आश्वासनों के बावजूद लोगों को इत्मीनान नहीं है। इनके सामने विस्थापन की विभीषिका मुंहबाये खड़ी हुई है। उनके नुमाइन्दे इस समय दिल्ली में धरना दे रहे हैं और 19 तारीख को नर्मदा परियोजना के मामले में उच्चस्तरीय निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं नर्मदा परियोजना के मामले में एक विस्तृत नोट संलग्न कर रहा हूं जिसमें सभी पहलुओं पर विचार किया गया है।

मैं समझता हूं कि नर्मदा के मामले में संकुचित सोच से ऊपर उठकर संविधानिक और मानवीय अधिकारों के संदर्भ में समग्रता से विचार करने की तत्काल जरूरत है। लोगों का जोरजबरदस्ती विस्थापन उनके मानवीय अधिकारों की अवहेलना है। इसीलिए मैंने पिछली रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि लोगों के जीवन के अधिकार की लड़ाई में बल प्रयोग पर कानूनी निषेध होना चाहिए। क्या इन हँसी-खुशी से सादा जीवन बिताने वाले लोगों को विकास के वात्याचक्र में सूखे पेड़ के पत्तों की तरह बिखरने के लिए छोड़ा जा सकता है ? मुझे खेद है कि अभी हाल ही में आंदोलनकारियों के खिलाफ बल का प्रयोग हुआ है जो गलत है। मैंने इस संबंध में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री जी को लिखा है। मेरा आपसे भी आग्रह होगा कि यह सुनिश्चित करें कि विस्थापन के मामलों में परस्पर संवाद से समस्याएं सुलझाई जांय और किसी भी हालत में किसी भी तरह का बल प्रयोग न किया जाय।

नर्मदा घाटी की परियोजनाओं से दुनिया में सबसे बड़ा विस्थापन होने वाला है। परन्तु जैसा कि मेरे नोट से स्पष्ट है कि लोगों की सहमति से उनको स्वीकार्य पुनर्वास की योजना की बात तो बहुत दूर है विस्थापन के बहुत से साधारण पहलुओं पर भी नीतिगत निर्णय अभी बाकी है। ऐसी हालत में सरदार सरोवर के काम को चालू रखने का अर्थ यह होगा कि इस मानवीय समस्या का निदान बिना किए ही परियोजना ऐसे स्तर पर पहुंच जायेगी जहां से लौटना संभव नहीं होगा। उस हालत में लोगों के पास कोई विकल्प ही नहीं बचेगा और अपनी इच्छा के खिलाफ बरबस हटने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। यही कहानी मध्यप्रदेश में नर्मदा नदी पर दूसरी दो परियोजनाओं बरगी और तवा की है जहां पर लोगों को मुआवजे के चन्द रुपयों के अलावा कुछ नहीं मिला है। इस संदर्भ में यह जरूरी होगा कि जब तक एक ऐसे पुनर्वास की योजना न बन जाय जो लोगों को स्वीकार्य हो ऐसा कोई काम न किया जाय जिससे कि यह परियोजना अवश्यंभावी हो जाय।

मैं आपका ध्यान इस ओर भी आकर्षित करना चाहूंगा कि यद्यपि इन परियोजनाओं से प्रभावित अधिकांश लोग आदिवासी हैं परन्तु इस उच्चस्तरीय समिति में कल्याण मंत्री नहीं हैं। मेरे विचार में कल्याण मंत्री उस समिति में होना चाहिए। इसके साथ ही आप नर्मदा कंट्रोल एथारिटी को उचित निर्देश देने की कृपा करें जिससे कि राज्य और लोगों, खासकर आदिवासियों, के बीच जिन्दगी के अधिकार को लेकर जो टकराव है वह खत्म हो जाय। मुझे विश्वास है कि सदिच्छापूर्ण वातावरण में ऐसा रास्ता ढूंढा जा सकता है जिसमें लोगों के मानवीय अधिकारों की कद्र हो और वे इस स्थिति में पहुंचने के लिए मजबूर न हो जाय जिसमें उनके आंसू तेजाब बन जाय।

आदिवासियों के मामले में कई दूसरी समस्याएं भी हैं, जिनमें तत्काल कार्रवाई की जरूरत है। मुझे खुशी होगी यदि आप इन समस्याओं के बारे में बातचीत करने के लिए समय निकाल सकें।

A Note on Urgent Consideration of Some Basic Constitutional and Human Right Issues in relation to the Narmada Project

Confrontation between the People and the State

The continued confrontation between the people and the State on the issue of forced displacement in the Narmada Valley is a cause of deep concern which needs immediate consideration at the highest level. The situation may take a serious turn now that in some cases the State has not hesitated to use force. Any use of force by the State in a movement particularly of the tribal people and that too on the issue of displacement is denial of due protection accorded to them in the Constitution and violative of the human right, that is, the right to life.

Displacement remains a Non-Issue

The question of displacement, particularly of the tribal people, in the wake of execution of developmental projects has not been considered so far with reference to certain basic principles involved such as (a) equity and justice, (b) safeguards provided for the tribal people in the Constitution and (c) the human rights as per the international conventions to which our country subscribes without any reservation. This question was discussed at length in my earlier Report (Twenty Eighth) which has not evoked any response so far from the Government in the State or the centre.

The woes of the tribal people, who are victims of some of the worst forms of backlash of development, have remained largely unheard. In many areas the people are facing disorganisation and destitution. The basic issues involved have been either overlooked altogether or dealt with in a self-rituous way. Development is sought to be deified and its consequences deemed as inevitable. The people have suffered in most cases in mute and bewildered silence. Sometimes they have also resisted the process in their own ways, but to no effect. In some cases when their defiance could not be ignored some patch ups have been attempted. But the end result in all these cases has been rather a 'mere pause in the process'. The system has always been able to use its resilience with purpose and to take advantage of the intrinsic weakness of the other side ignoring the merits of the cause and the inherent inequity.

Menacing Dimensions of Displacement

Displacement, disorganisation and destitution of the tribal people are no longer isolated events. The number of projects and also their absolute size has continuously grown. The number of affected persons has assumed a menacing proportions. Moreover, as the facts about the fate of the people in different parts of the country is becoming better known, there is growing concern amongst many people other than directly affected who stand for equity and social justice. The affected people themselves are also coming together, considering the issues and questioning the processes which are responsible for their plight.

Violation of Law, Constitution and Human Rights

It is now abundantly clear, as was brought out by me in my earlier Report, that in the case of most of the development projects even the spirit of the law under which the people are forced to move out from their homes is not followed. This renders the entire process illegal.The laws concerning the management of natural resources including acquisition of land are colonial in their mould and out of tune with the basic frame of our Constitution. The Land Acquisition Act is violative of the very basic right of the people, that is, the right to life. When the same law which is incongruous even in ordinary conditions is extended to the tribal areas, it is violative of the human rights of those people whose protection is a civilizational obligation and to which we as a nation are committed unequivocally.

13—122 C. of SC & ST/90.

Qualitative Change with People's Realisation of Basic Issues

The projects in the Narmada Valley will cause displacement at a scale which is unprecedented in the history of the world. The people in the valley have resolved not to move out and prefer a 'watery grave' in their ancestral homes rather than face disorganisation as a community and destitution as individuals. This is not a plea of despondence; it is an assertion of people's will flowing from their self-realisation. They are now aware about the issues involved. They are confident about their stand—that the projects as they are being executed are against the law, that the law itself is violative of the fundamental rights and that as members of the tribal communities the State has an obligation to stand by them and provide full protection.

With these developments and growing consciousness amongst the people about the basic issues there is a qualitative change in the situation. It is like the people of a subject nation becoming aware about their state of subjugation. Freedom is a state of mind which can be said to have been achieved with the dawn of its realisation. The rest is merely an overt process. Once the realisation about freedom, or a state of inequity and injustice, dawns the things can never be the same again. It is only a question of time before they must end. The struggle of the people is only a part of this process which must be made as brief and also as painless as possible.

Some Dividends of Dialogue

The dialogue about displacement in the context of Narmada Valley projects over a long period has already yielded some dividends. It is for the first time that rehabilitation has been accepted as a part of the project design itself even though with many a hitch, reservation and grudging consent under pressure from people and other agencies. The package of benefits promised to the people are now better than those adopted for other projects in the country so far. But in the changing context that is not enough. The basic issue which the people are posing now is about the very feasibility of satisfactory rehabilitation.

Pre-requisites for Satisfactory Rehabilitation

There are four facets of a satisfactory rehabilitation planning, viz.,—

(i) identification of all categories of project-affected people and a realistic assessment of the socio-economic impact, the real loss which the people will have to face due to the project,

(ii) a common comprehensive policy for all project-affected which does not differentiate amongst the people from various States and which is not less favourable than the one promised under the Narmada Water Disputes Tribunal Award,

(iii) a detailed plan ensuring that the requirement of basic resources for rehabilitation—land, money and organisation—is realistically assessed, clearly identified on the ground and provided for in the formal system, and

(iv) involving the affected people and enlisting their willingness to accept the plan and, what is most important, their agreement to move out of their habitat.

People Question Feasibility of Satisfactory Rehabilitation

The people hold that whatever may be the promise by the State, rehabilitation is not possible. It is also alleged that many other issues connected with this project have not been fully gone into which include environmental aspects, the implications for downstream economy, impact on health and the cost benefit itself. They are questioning even the benefits projected for the State of Gujarat which according to them are highly exaggerated. It is feared that while the massive investment may benefit a small tract which is already advanced, it may deny the other backward areas even the normal investments and thus add to inequitous growth. I will not touch upon all these issues but must mention that there are hardly any ex-post evaluation of different projects. In a number of cases the actual benefits are only a fraction of the initial estimates. Consequently the tail enders do not receive any benefits whose need is the most. Thus the parameters of projects change drastically without even being noted seriously by anyone.

Utter Disregard of Human Issues

The primary reason for this sorry state is the great emphasis on engineering and expenditure aspects of these projects to the neglect of their real economics and utter disregard for the social implications. The stakes, social as also economic, involved in the Narmada Valley are much too high and the nation cannot afford to keep such a vital question of social equity unanswered before the die is cast finally about the mega projects.

Comprehensive Plan of Rehabilitation not accepted even in Principle

I will confine myself to the issues relating to displacement and state of preparedness for handling the gigantic task of relocating the people and re-establishing them as communities sharing the benefits of development with others in recognition of their sacrifice which they may be obliged to make. I share the concern of the people about the feasibility of a satisfactory rehabilitation plan. There are promises galore but they are not substantiated by actual deeds. The preparation of a comprehensive plan of rehabilitation acceptable to the people is the minimum pre-requisite for approval of any development project which affects people and *de facto* deprives them of their means of livelihood-whatever may be the *de jure* position in this regard. It is unfortunate that this has not been accepted even as a principle notwithstanding the ready response about its desirability.

Some Preliminary Issues remain unresolved

Consequently we are in a state of uncertainty even in relation to Sardar Sarovar let alone the general issue of the right to life of the people. This issue has caught the imagination of the people everywhere and the people are asking valid and pointed questions about the same which the state must respond. For example, in the case of Sardar Sarovar, I have been inviting attention of concerned authorities in the Centre and the concerned States to many specific problems which the tribal people are likely to face when they are displaced. But even the elementary questions such as computation of their real worth of their habitat in economic terms and the meaning of a reasonable standard in the new setting have not been attended to, let alone being announced. The conventional methodology is utterly unsuitable to deal with the tribal system. Consequently we may land up in a situation where our experts may conclude that the people after resettlement are better off yet they may face destitution and may be forced into wretched conditions in terms of their perception of life. This will be nothing short of a disaster for the affected people as has already happened in many other projects, notably Ukai which is in the same neighbourhood.

Even though long years have passed by in discussions and deliberations about Sardar Sarovar, the preparedness of States for tackling this gigantic problem has hardly improved. Even the first point in relation to the policies has not been fully settled so far. For example, even elementary issues may take years to resolve and yet some other uncertainty may appear or an earlier decision may be nullified by a simple explanatory note.

Unjustified Differentiation

The first basic decision in the case of Sardar Sarovar should have been acceptance of a common package of all project-affected people irrespective of the State to which they belong and the State in which they may decide to settle. This has not been done so far. The concerned authorities may have valid reasons for not doing so. But to the simple tribal the State boundaries are unreal and he cannot understand any differential on that count. Consequently the definition of a project-affected persons is not the same in all States. The entitlement are not the same. Eighteen year old sons are accepted as constituting separate families in Gujarat but not so in Maharashtra. A landless person is entitled to hectare of irrigable land in Gujarat, one acre in Maharashtra and none in M.P. The figures about the affected people and also the area have been fluctuating.

What is most regrettable that no attempt has been made, nor even a promise given, that a comprehensive plan for resettlement will be prepared before the project becomes irreversible. The question of the peoples consent to the resettlement plan in this context therefore simply does not arise. Some villages have already been relocated and many others face forced displacement even as the preliminaries are not settled. This is resulting in avoidable hardship for many—but worst of all a loss of credibility of Government about their concern for the people's welfare.

Land for Land—A Sore Point with the People

An important decision flowing from the Narmada Water Disputes award is a land for land, and more, that is, the land will be irrigable and each affected family will get a minimum of two hectares. Moreover the people will have choice with regard to their relocation and will be re-established as communities. But the vital question

which remains to be answered even now is the availability of land. After toying with the idea of Government and ceiling surplus land, the Govt. of Gujarat has finally settled for purchase of land through private negotiations with many a question mark such as how much land, at what cost—and the fate of the tiller of the land who would face a second displacement since the land on which he works today as landless labourer, originally belonged to him. Maharashtra has conceded that they do not have land for resettlement. M. P. which accounts for eighty percent of the project-affected is still without a comprehensive survey on land-availability in the state and has resorted to shifting the onus of resettlement to Gujarat.

Growing Realisation of People's Stand

Nevertheless there is a silver lining. The logic of the people's demand in the valley has been conceded by the States of M.P. and Maharashtra which account for bulk of the project-affected population. I understand that the Chief Ministers of M.P. after a major demonstration in the valley has agreed to take up the question of complete reappraisal of the project with the Central Government. The Govt. of Maharashtra have also been expressing their grave concern about the possibility of some of their people getting affected without a resettlement plan getting ready even in general terms. Some activists and people likely to be affected during the coming monsoon had to resort to an indefinite hunger strike early this month against the continued construction of the dam. The Chief Minister of Maharashtra has promised to stand by the people and make a demand that no work on the dam site, which is likely to obstruct the flow of water in Narmada, should continue until such time as a resettlement plan acceptable to the people has been prepared by the State Government. The Chief Minister has visited the dam site and conveyed this decision to the representatives of Govt. of Gujarat.

Some Preconditions for ending Confrontation

These promises by the two States are welcomed. But certain immediate steps are necessary. The preparation of a comprehensive plan acceptable to the people and not allowing the project to a stage of no return unless the first condition is satisfied are two crucial issues on which a categorical stand has to be taken first. Unless this is done the state of confrontation will continue with unpredictable consequences for the people and also the project.

Comprehensive Plan—The Need for a Broader National Perspective

Coming to the question of a comprehensive resettlement plan acceptable to the people, I may emphasise that not only there are many an omission which must be made good and loose ends which must be tied but a broader view of the problem must be taken at the national level and also by all the three States without which much may not be achieved.

Take the simple question of a common policy for rehabilitation of all the project-affected people irrespective of the State to which they belong and the state in which they may finally get settled. The Govt. of Maharashtra is not prepared to accept the Gujarat package in full because it will create a precedent and similar demands may be made by the other project-affected people in the State as well which they are in no position to concede. The Govt. of M.P. also has not accepted that package particularly for the landless people, most of whom belong to the Scheduled Castes and Scheduled Tribes, because they want to have a built-in incentive for the people to opt for resettlement in Gujarat. The Govt. of Gujarat itself is not prepared to offer the package to all project-affected people even of Sardar Sarovar, let alone the affected people of other projects. For example, the people of six villages who were displaced some 28 years back for development of infrastructure for Sardar Sarovar have not been extended the same benefit even though promises have been made from the highest level in the State more than once. Similarly those who will be affected by establishment of the sanctuary to accomodate wild life displaced from the submergence area and construction of canals will not be eligible to the same benefits.

It appears that every State is prepared to concede something but nothing beyond the bare minimum which somehow can be used to get an agreement from the people to move out. The people suspect, for which there are reasonable grounds, that once the process starts they may be left alone to fend for themselves with nowhere to go. Some clever people may get some benefits but ordinary people may be left high and dry.

The inevitable conclusion is that the State and even the Central authorities have not as yet appreciated the spirit in which the whole question of displacement and resettlement has to be considered particularly in the context of tribal people whose habitat has the distinction of having the rich natural resources required for development projects. The facts that the people's rights were ignored and that they got a raw deal earlier, cannot be accepted as a ground for denying them their due in future or even in respect of the earlier projects now that the fact of inequitous deal to the tribal people is accepted by all. The principle of equity and justice cannot be determined on considerations of expediency. As I have been stressing the development cannot be at the cost of the weakest. An essential precondition of a development project being taken up in the tribal area must be the assurance of the people being accepted as the partners in the fruits of development. In fact the whole paradigm of development needs to be critically examined with reference to this basic premise of equity and justice to the people.

Equity—Not Legality—The Main Issue

I will take this opportunity to appeal to the Prime Minister and also to the Chief Ministers of the three States to ensure that the concerned authorities rise above the frame of formality within which the issue of the people in the Narmada Valley is sought to be resolved. The guiding considerations have to be equity and justice and honouring the basic right of the people the right to life. It is clear that the law concerning acquisiton of land is against the spirit of our Constitution. It is violative of the safeguards for the tribal people. Therefore, action of the State being in conformity with the provisions of this law cannot be accepted as a sufficient ground for forced eviction of the people from their habitat.

A Possible New Frame

There are three basic elements which must be incorporated in any law which authorises the State an alternative use of natural resources. *Firstly,* the right of the people who subsist on those natural resources irrespective of the formal position in regard thereto, should be accepted unequivocally. *Secondly,* the people must not be deprived of their means of livelihood without their consent and without the provision of an alternative means of livelihood acceptable to them. *Thirdly,* whether the project for which the people are required to make a sacrifice will really serve public purpose must be determined in a larger forum which should include the people likely to be affected.

Forced Displacement of Tribal People—A Denial of Constitutional Safeguards

In conclusion, the people's movement in the Narmada Valley against displacement and their resolve not to move out of their homes have raised some basic issues which must be considered at the highest level urgently. These issues include the design of development, inevitability of some sections of our people bearing the cost of development, the disregard of the right to life of the people and the Constitutional safeguards provided for the tribal people. Now that these issues have come to the fore, the process of forced displacement must stop forthwith. The State must not use force against the people who are fighting for their fundamental rights. In particular, a comprehensive review covering all aspects of displacement of the people by Sardar Sarovar must be ordered and the work on the project must stop until an agreement has been reached with the people about their future. Any action disregarding this demand will amount to denial of Constitutional safeguards to the tribal people. The same principle must be extended to all development projects being executed in the tribal areas at this critical juncture of their history so that they can become partners in development in keeping with the promise made by the founding fathers of our nation in the Constitution.

Copy of letter dated 21-5-90 from Dr. B. D. Sharma, Commissioner for Scheduled Castes & Scheduled Tribes to the Prime Minister

Kindly refer to my letter of 17th April and further developments on the issue of displacement particularly of the tribal people in Narmada Valley. I must first express my deep appreciation for the concern you have shown to the problems faced by the people, particularly the tribal people in the valley, and for giving the assurance to look into their problems at your level.

I am, however, concerned about the response of the Government of Gujarat. They have not taken this opportunity of resolving the issue through a dialogue with the people and arriving at a mutually agreed plan of action which appears to be possible now. Instead, the issue have given an emotional pitch by posing it as interests of Gujarat versus the interests of a limited number of people in the valley. This stance is rather omminus.

The issue of displacement, particularly of the tribal people is not merely that of a trade off between economic gains for many *versus* economic loss of a few. It concerns the right of life of the people and their survival as a community. There cannot be a trade off on these points particularly because this involves Constitutional safeguards and basic human rights. I am constraint to write to you at this point since this is not an isolated case. This represents a trend in our national life. I had referred to the question of conscious non-implementation of the law protecting tribal land in Andhra Pradesh and even an all party consensus reduction in favour of scrapping the same. This amounts to violation of Constitutional safeguards.

In my view a similar situation prevails in regard to developmental projects. The present procedure adopted in these cases is not only against the spirit of the law but the law itself is not been inconsonance with the spirit of our Constitution. It is violative of human rights. In the case of tribal people it amounts to denial of safeguards by the State which has that responsibility under the Constitution.

In this context, you will appreciate that the issue of displacement cannot be considered merely in terms of the number of people benefited and the fact that there may be an all party consensus cannot be allowed to influence the decisions which have to be taken on objective consideration of equity and justice as enshrined in our Constitution. An amicable solution has to be found with full and free consent of the people. I hope these constitutional and human rights aspects shall be kept in view in deciding about any further course of action.

रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर(मध्यप्रदेश) में भारत में अनुसूचित जनजातियों की वर्तमान स्थिति के बारे में परिसंवाद के अवसर पर आयुक्त का दिनांक 4 मार्च, 1990 को दिया गया भाषण

भारत में अनुसूचित जनजातियों की वर्तमान स्थिति : कुछ बुनियादी सवाल

अध्यक्ष महोदय तथा अन्य साथियों,

मुझे खुशी है कि हमारे देश मे आदिवासी समाज की आज की हालत का जायजा लेने के लिए हम लोग यहाँ एकत्रित हुए है· हम आज अपने देश के आर्थिक-सामाजिक इतिहास के दौर में एक बड़े नाजुक दौर से गुजर रहे हैं जहाँ पर कुछ बुनियादी बातों की गहराई से, खासतौर से आदिवासी लोगों के विकास के संदर्भ में, समीक्षा करना निहायत जरूरी है· इसके लिए सबसे पहले हमें खुद आदिवासी समाज की आज की ऐतिहासिक स्थिति को समझना होगा· आजादी के बाद हम लोगों ने अपने देश की कृषि-प्रधान व्यवस्था को एक आधुनिक अर्थव्यवस्था के रूप में तब्दील करने का फैसला किया था· इस मामले में आमतौर पर यही धारणा रही है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था में औद्योगिक गतिविधियां केन्द्र में होंगी·

विकास का नया संदर्भ और आदिवासी इलाके

इस फैसले का देश के विभिन्न क्षेत्रों तथा यहाँ के निवासियों के लिये दूरगामी परिणाम होना स्वाभाविक था· पहले की कृषि प्रधान व्यवस्था में हमारे देश में वे इलाके केन्द्रीय थे जहाँ अच्छी खेती हो सकती थी जैसे कि गंगा सिंधु का मैदान, दक्षिणी पठार में खेतों के लिए उपयुक्त अंचल और समुद्र के तटवर्ती मैदानी इलाके· इस अर्थव्यवस्था में पहाड़ और जंगल सीमांत के क्षेत्र थे· इसलिए इस व्यवस्था में इन मैदानी इलाकों मे रहने वालों का वर्चस्व था और जंगल-पहाड़ों में बसने वाले लोग देश की आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था के सीमांत पर ही बने रहे· ये इलाके बड़े ही दुर्गम भी थे· इसलिए उन लोगों की जिंदगी मैदानी इलाकों की जिंदगी से, कुछ थोड़ा बहुत सम्पर्क सूत्र होने के बावजूद, अलग-अलग जैसे बनी रही·

परन्तु देश में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को तेज करने के फैसले के बाद उसके लिए जरूरी संसाधनों की खोज चालू हुई· जहाँ भी संसाधन उपलब्ध थे उन इलाकों को खोलने के लिए योजनाएँ बनी· देश के औद्योगीकरण के लिए जितनी चीजें जरूरी थीं लगभग वे सब इन्हीं जंगल-पहाड़ों के क्षेत्रों से भरी पड़ी है - कहीं पर बहुमूल्य खनिज हैं, कहीं उपयोगी जंगल, कहीं पर गहरी घाटियां जिनमें पानी को रोककर बड़े बांध बनाकर सिंचाई और बिजली के लिए उपयोग किया जा सकता है· यह विपुल सम्पदा, जिसका अब तक कोई मूल्य नहीं था, नये संदर्भ में एकाएक बेशकीमती हो गई है· उसका दोहन आंचलिक क्षेत्रीय या राष्ट्रीय आर्थिकविकास के लिए जरूरी मान लिया गया है·

बुनियादी विसंगति

आदिवासी अर्थव्यवस्था के संदर्भ मे यही एक दुर्भाग्यपूर्ण विसंगति पैदा होती है· आदिवासी इन्हीं संसाधनों से अपनी जिंदगी की जरूरतें पूरी करता है· वे उसकी जिंदगी का आधार है· उसके आर्थिक-सामाजिक संदर्भ में यही उन संसाधनों का उत्तमतम उपयोग भी है· परन्तु आर्थिक-सामाजिक संदर्भ बदलने से व्यापक आधुनिक व्यवस्था के नजरिये में यह उपयोग अनुपयोग नहीं तो कम से कम बहुत ही अलाभकारी उपयोग करार दे दिया गया· इसके साथ ही यह भी मान लिया गया कि इन राष्ट्रीय संसाधनों का उस व्यापक संदर्भ में उत्तमतम उपयोग ही राष्ट्रीय हित में है और उसके रास्ते में किसी दूसरे हित को न आने देना स्वाभाविक है और जरूरी भी· इस तरह आदिवासी अंचलों में एक विसंगति की स्थिति पैदा हो गई है·

अब तक इन समृद्ध संसाधनों वाले क्षेत्र में आदिवासी समाज के लोग हँसी खुशी जी रहे थे· परन्तु आज वही संसाधन नई अर्थव्यवस्था के लिए केन्द्रीय बन गए हैं और उनके बीच में रहने वाले ये सीधे-सादे लोग उनके उत्तमतम उपयोग में बाधक हैं· इसलिए उनका अस्तित्व ही असंगत सा प्रतीत होता है और राष्ट्रीय विकास में बाधक साबित हो रहा है·

अगर किसी साधन का उसके वर्तमान उपयोग की तुलना में कोई अच्छा उपयोग हो सकता है तो स्वाभाविक रूप से यह अपेक्षा की जा सकती है कि अगर वहाँ के लोगों को उसका लाभ सबसे पहले न भी मिले तो कम से कम वे उसमें साझेदार तो जरूर होंगे· इस तरह की बात आदिवासी क्षेत्रों के विकास की नीतियों में भी बराबर दुहराई जाती रही है· परन्तु किसी भी नई अर्थव्यवस्था में सहभागिता के लिए नये तरह के कौशल ही नहीं वरन् एक नये तरह की जीवनचर्या ही जरूरी हो जाती है· मानव सभ्यता के इतिहास में सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था बहुत धीरे-धीरे ही आगे बढ़ती रही है· हर समाज को विकास की सीढ़ी में एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक पहुँचने में काफी समय लगा है· इस साधारण गति से बदलाव की प्रक्रिया में भी कई जातियों को भारी कठिनाईयां आई हैं, यही नहीं, नई स्थितियों के साथ एकरस न हो सकने के कारण बहुत से समाजों को विनाश तक का सामना करना पड़ा है· अब यदि वही बदलाव जो दूसरे समाजों में हजारों या सैकड़ों सालों में धीरे-धीरे आया, जब किसी समाज और इलाके में कुछ दशकों में लाने की योजना बनाई जाय तो जाहिर है कि वह प्रक्रिया बड़ी तेज होगी और उसमें वहाँ के लोगों की भागीदारी कदाचित कठिन हो जाएगी· इसलिए बहुधा होता यही है कि ये लोग उन संसाधनों के अपने परंपरागत प्रयोग से वंचित हो जाते हैं और नई व्यवस्था मे या तो वे शामिल ही नहीं हो पाते हैं और उन्हें वहाँ से हटकर दूसरी जगह आश्रय लेना पड़ता है अथवा उस व्यवस्था में बहुत ही असम्मानजनक और गिरी हुई स्थिति में रहने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है·

सम्मान और व्यवस्था

दुर्भाग्य तो यह है कि आधुनिक व्यवस्था को आदिवासी समाज के लिए जिस असम्मानजनक स्थिति में रहने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है, उसके बारे में कहीं कोई ग्लानि या अपराध की भावना तक नहीं· इसका मुख्य कारण यही है कि उनके नजरिये में आदिवासी लोग अभी "सभ्यता" से बहुत दूर हैं· वह आदिम स्थिति में रहने वाला एक अदना सा नाचीज व्यक्ति है· इसलिए जब उसे नई व्यवस्था में साधारण सी मजदूरी तक देने की बात की जाती है तो लगता है कि मानो उसके साथ उपकार किया जा रहा हो· उनको यह नहीं मालूम कि हरएक आदिवासी समाज, दूसरे समाजों की तरह ही अपने को दुनिया का एक अनूठा समाज मानता है, भगवान की एक अनुपम कृति मानता है और वे अपने इलाके में अपना कोई सानी हो सकता है इसे स्वीकार नहीं करता है· इस स्वाभिमानी व्यक्ति पर, जब नये समाज और व्यवस्था के सामने हाथ जोड़ने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है और उसके कृपादृष्टि पर निर्भर होना पड़ता है, क्या गुजरती होगी इसका कोई एहसास तक नहीं है· इसी स्ववर्गकेन्द्रीयता के कोहासे में नई व्यवस्था इन समाजों के बिखराव और विनाश के आधार पर नई अट्टालिकायें बनाने में कोई हिचकिचाहट नहीं महसूस करती· इस पहलू पर मैं यहां पर अधिक बात करना नहीं चाहूँगा·

प्रक्रिया की अनिवार्यता

यह खेद है कि आदिवासी समाज की इस संक्रमण का बदलाव की स्थिति में गहराई से विचार तक नहीं किया गया है· इसलिये उसे बड़े ही हल्के फुल्के रूप में विकास की प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग जैसा मान लिया गया है जिसके बारे में उसके आगे कुछ नहीं कहा जा सकता है· इसके अलावा इस पूरी प्रक्रिया को वर्तमान कानून के दायरे में ही देखने के कारण, उसमे कोई अन्याय भी हो सकता है व्यवस्था के

कर्णधारों को इसका भी एहसास नहीं है। यदि इस मान्यता से कोई असहमति व्यक्त करता है तो या तो कानून की ओर इशारा करके उसको सही सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है अथवा यदि तब भी समाधान नहीं होता तो अपनी मजबूरी बताकर संसद और विधानसभा की ओर इशारा कर दिया जाता है। और विकास का पहिया यथावत् घूमता रहता है। इस प्रक्रिया में जिन लोगों को कीमत चुकानी पड़ती है उनकी दयनीय स्थिति को देखकर अनुग्रह के रूप में कुछ समाधान करने का भी प्रयास किया जाता है। यदि लोग उसकी विसंगति को लेकर या उसकी गैरइंसाफी के बारे में कोई उज्र करते हैं तो उसे विकास-विरोधी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। इसके साथ ही यह तर्क भी दे दिया जाता है कि इन लोगों को जो कुछ उनके लिये किया जा रहा है उसके लिए व्यवस्था के प्रति शुक्रगुजार होना चाहिये क्योंकि कानून में तो उसकी भी कोई व्यवस्था नहीं है। यह तो व्यवस्था की सदाशयता है कि वह उनकी कठिनाईयों को देखकर उसका उपचार करने की कोशिश तो कर रही है।

आज की इस खेदजनक ही नहीं अमानवीय स्थिति का मूल कारण यही है कि आजादी के बाद हमने कुछ आधारभूत बातों की ओर ध्यान ही नहीं दिया जिसके कारण आज की औपचारिक व्यवस्था और हमारी राष्ट्रीय आधारभूत मान्यताओं में न केवल विसंगति है वरन् एक बड़ी खाई बन गई है। इस विसंगति का न केवल आदिवासी लोग ही शिकार हैं वरन् देश के बहुसंख्यक लोग उसकी चपेट मे आ गये हैं, आते जा रहे हैं। इस विकास प्रकिया के हामी उसको विकास की अनिवार्य शर्त कहकर या विकास की कीमत का बहाना करके उसकी ओर से नजर फिरा लेते हैं। विकास का वर्तमान रूप आम आदमी के लिए इतना भयावह हो गया है कि मूल स्वरूप को देखने और उन विसंगतियों को अपने सही रूप में पहचानने की भी जरूरत है।

अंग्रेजी राज घातक प्रहार

हमारे देश में आम आदमी के अधिकार पर सबसे पहला घातक प्रहार अंग्रेजों के जमाने मे तब हुआ जब अंग्रेजों ने अपने देश मे प्रचलित भूमि सहित प्राकृतिक सम्पदा की सम्पत्ति रूप की मान्यता हमारे देश पर थोपी थी। इसके फलस्वरूप जमीन पर जमींदारों का अधिकार हो गया और वनों पर सरकार ने अपना अधिकार कर लिया। हमारे देश की परम्परा के मुताबिक आदमी का जमीन से नाता माँ और बच्चे जैसे होता है। धरती माता है जिससे वह अपना पोषण पाता है वह उसकी सम्पत्ति नहीं हो सकती। आदिवासी इलाकों में तो नये कानूनों के बावजूद यही मान्यता अभी तक चली आ रही है। उसके लिए उसका वन और जमीन उसकी माँ है। अंग्रेजों ने जंगल और जमीन को सम्पत्ति मानकर जो कानून बनाये उनसे जमीन को जोतने वाले किसान और, वनों के सहारे जीने वाले आदिवासी अधिकारहीन हो गये। जमीन और जंगल बाजार में बिकने की वस्तुएं बन गई जो सस्ते पैसों से खरीदी जा सकती थीं। कर्ज या लगान न अदा करने की हालत में जिन्हें नीलाम किया जा सकता था। इसी तारतम्य में अगर सरकार को किसी काम के लिए किसी भू-खण्ड की जरूरत पड़ती तो उसे कुछ पैसे देकर खरीद लेने का हक था। जिस आदमी की उससे आजीविका चल रही है उसका क्या होगा इससे उस कानून को कोई मतलब ही नहीं था। सच तो यह है कि अंग्रेजों ने जिनके नाम जमीन और जंगल लिख दिए थे उनके लिये वे आजीविका के साधन थे ही नहीं, उनके लिये वे साधारण सी सम्पत्ति थे और इसलिए उनकी खरीद-फरोख्त होती रही। इस हालत में उन पर गुजर बसर करने वाले किसान और आदिवासी को या तो नये मालिकों से समझौता कर लेना पड़ता था या फिर वहाँ से हटने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इस विभीषिका को या तो उन्होंने तकदीर की बात मानकर सहन कर लिया और कहीं-कही कड़ा विरोध भी किया। यह विरोध विद्रोह बन गया। परन्तु सरकार की ताकत के सामने आखिर में उनको हार माननी ही पड़ी और कई स्थिति से समझौता करके किसी तरह गुजर-बसर करने के लिए मजबूर हो गए।

आजादी के बाद का बदलाव

हमारे देश में आजादी के बाद एक बुनियादी बदलाव आया· हमने उपनिवेशवादी और सामंतवादी व्यवस्था को उखाड़कर समता, न्याय और भाईचारे के नये मूल्यों पर आधारित एक नये समाज के निर्माण के लिये संकल्प किया· इस सपने को साकार करने के लिए हमने अपना संविधान बनाया जिसमें इन मूल्यों को स्थापित किया· हमारे संविधान की मूल चेतना उसकी प्रस्तावना में मुखरित हुई है· उसको मूर्त रूप देने के लिए एक ओर राज्य के संचालन के लिए दिशा-निर्देशक सिद्धांत बनाये गये और दूसरी ओर सामान्य नागरिक के मूलभूत अधिकारों को भी परिभाषित किया गया· संविधान के इन उद्देश्यों का राज्य समुचित रूप से पालन करता रहे इसके लिए उपयुक्त संस्थाओं की भी व्यवस्था की गई· इन्हीं मूल उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हमने अपने देश में नियोजित विकास का रास्ता भी अपनाया था·

आदिवासी समाज के लिए विशेष व्यवस्था

आदिवासी समाज की विशेष स्थिति का भी हमारे संविधान में भरपूर ध्यान रखा गया है· इस मामले में सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य यही था कि जहाँ एक ओर अन्य सभी लोगों की तरह आदिवासियों को भी नये विकास की यात्रा में सहभागी बनाने का पूरा-पूरा अवसर मिले यह सुनिश्चित किया जाय, वहीं यह भी ध्यान रखा जाय कि संक्रमण के दौरान की उस तेज दौड़ में उन्हें भटकाव का सामना न करना पड़े· उनकी नितांत भिन्न स्थिति को देखते हुए यह भी डर था कि कहीं समान व्यवहार के सिद्धांत की रूढ़ि से उनके साथ अन्याय न हो जाय· असमान स्थिति में समानता के अधिकार का दावा ही अन्याय के लिए सबसे महत्वपूर्ण कारक बन सकता है· इसलिए आदिवासियों के हितों की रक्षा के लिये संविधान में विशेष और पूरी-पूरी व्यवस्था की गई·

हमारी नई व्यवस्था का आधार है कानून· अंतिम विश्लेषण में कानून समाज की स्थिति और उसकी आकांक्षाओं का प्रतीक होता है· इसलिये अगर आदिवासी इलाकों की नितांत भिन्न स्थिति और उनकी अलग परम्पराओं को ध्यान में न रखकर वहां पर भी पूरे देश या राज्य के लिये बनाया गया कोई कानून लागू कर दिया जाय तो कुछ हालतों में वह उनके लिए अहितकारी ही नहीं घातक भी साबित हो सकता है· हमारे संविधान निर्माताओं ने इस संभावना को नजरअंदाज नहीं किया· इसीलिए संविधान की पंचम और छठी अनुसूची में ऐसी व्यवस्था की गई है जिससे कि उस इलाकों पर लागू होने वाले कानून उनकी आर्थिक सामाजिक स्थिति के अनुरूप हो और उनके हित का पूरा-पूरा संरक्षण हो सके· इस उद्देश्य के लिए हमारे संविधान में ऐसी व्यवस्था भी की गई है जिससे इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये अगर जरूरत हो तो नागरिकों के मूलभूत अधिकार में भी अपवाद किया जा सके· इस तरह आजादी के बाद की व्यवस्था में देश की तरक्की के साथ आदिवासी लोगों सहित समाज के सभी अंग सहभागी के रूप में आगे बढ़ सकें यह सुनिश्चित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया·

आदिवासी समाज की स्वशासी व्यवस्था की अवमानना और पूरे समाज का अपराधीकरण

मैं ऊपर बताये गये संवैधानिक व्यवस्था के दो महत्वपूर्ण पहलुओं की ओर विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा जो आदिवासी लोगों की वर्तमान व्यवस्था और उनके विकास के लिए निर्णायक है· पहला है आदिवासी समाज की स्वशासी व्यवस्था और दूसरा है संसाधनों पर अधिकार एवं उसका उपयोग· आदिवासी समाजों मे स्वशासी व्यवस्था की परंपरा अभी तक बनी हुई है· जैसा कि ऊपर बताया गया है कि संविधान में यह अपेक्षा की गई थी कि नई औपचारिक व्यवस्था इन समाजों की व्यवस्था के अनुरूप ढाली जायेगी· परन्तु ऐसा हुआ नहीं जिसका भारी दुष्परिणाम हुआ है· आदिवासी समाजों पर बाहरी औपचारिक व्यवस्था के

थोपे जाने से पूरे समाज का अपराधीकरण हो गया· वनों का आरक्षण तो अंग्रेजों के जमाने से ही हो गया था जिसके कारण वे वन, जो आदिवासी समाज के लिए सनातनकाल से उनका अपना घर थे, उनके लिए वर्जित हो गए, उन्हें वहाँ रहने का अधिकार तक नहीं रहा· जमीन के बारे में नये कानून बन जाने से, जिसके मुताबिक जमीन की मिलकियत उसी व्यक्ति की मानी जाती है जिसका नाम सरकारी कागज में दर्ज हो, बहुत से मामलों में आदिवासी अपना अधिकार भी नहीं स्थापित कर सका· कागजों की दुनिया से परिचित लोगों ने इस स्थिति का भरपूर फायदा उठाया और उनकी जमीन पर अपना अधिकार कायम कर लिया· यही नहीं, नई व्यवस्था में सच वही है जो कागज पर लिखा हुआ है· इसलिए अगर कहीं आदिवासी ने किसी कागज पर अँगूठा लगा दिया तो उसकी देनदारी भाग्य की लकीर की तरह कायम हो गई· इस कानून और कागज की दुनिया में उसको अपनी रक्षा करना भी मुश्किल हो गया· उसके लिए भी उसे किसी अदालत या किसी सरकारी दफ्तर के दरवाजे खटखटाना जरूरी है·

यही नहीं, उसकी अपनी सामाजिक परंपरा अगर कानून से अलग है तो भी वह अपराधी बन गया· उन राज्यों में जहाँ सरकार मद्यनिषेध की हामी है, आदिवासी के लिये परम्परा के मुताबिक पूजापाठ के अवसर पर भी मद्य का उपयोग अपराध हो जाता है· और जो सरकारें नागरिकों को पीने की स्वतंत्रता देती हैं ये भी आदिवासी को अपनी परंपरा के मुताबिक मद बनाकर पीने को अपराधी मानती है· हर हालत में आदिवासी कानून का उल्लंघन करते हुए ही दिखाई देता है जिसके बारे में उसको पूरा एहसास भी नहीं है· इस तरह वह नई व्यवस्था के सामने लाचार है· नई व्यवस्था का छोटे से छोटा अदना कर्मचारी भी उसको किसी भी कानून के उल्लंघन के लिए सरकार के सामने हाजिर कर सकता है· कैसी विडम्बना है कि आदिवासी लोगों के सम्मेलनों में आजादी के तेंतालीस सालों के बाद भी यह मांग की जाती है कि "कोई हमारे घर में न घुसे" और "हमारी झोपड़ियाँ न तोड़ी जायं, न जलाई जाँय·" किसी भी पैमाने पर किसी समाज या किसी राष्ट्र के लिये यह हालत खेदजनक ही नहीं शर्म की बात है· दुर्भाग्य से संविधान के निर्माताओं ने राज्यपालों को जो अधिकार दिये थे उनका उपयोग ही नहीं किया गया· इस व्यवस्था के तहत किसी भी कानून को, चाहे वह केन्द्र ने बनाया हो, या राज्य ने, पुराना हो या नया, आदिवासी व्यवस्था की जरूरतों के अनुरूप ढाला जा सकता था जिससे कि वे अपनी परंपरा के मुताबिक अपना काम करते रहें और धीरे-धीरे विकास की दौड़ में सहभागी बन सकें· इसके लिये राज्यपाल को केन्द्र की अनुमति तक की दरकार नहीं है - एक सादा सा आम इश्तहार निकाल कर सर्वसत्तावान संसद का कानून भी अनुसूचित क्षेत्रों के लिये नकारा जा सकता है, उसे बदला जा सकता है· इतने निरापद अधिकार तक का उपयोग न होने का पूरा जोखिम आदिवासी समाज को उठाना पड़ रहा है, यह सरासर अन्याय है·

संसाधनों पर अधिकार और उनका उपयोग

इस हालत में जहाँ आधुनिक राज्य की नई व्यवस्था के द्वारा आदिवासी समाज की अपनी स्वशासी व्यवस्था पूरी तरह से नजरअंदाज कर दी गई है, उसकी स्थिति निहायत कमजोर होगी· इस कमजोरी की हालत में भी शायद आदिवासी अपना काम चलाता रहता अगर इन इलाकों में कानून की साया में उनके मूलभूत अधिकारों की तथाकथित विकास के नाम पर अवहेलना न की गई होती, कुचला न गया होता· इसको साफ करने के लिए हमें फिर से एकबार संविधानिक व्यवस्था और आधारभूत मान्यताओं का गहराई से परीक्षण करना होगा·

जमीन के दो अलग रूप- सम्पत्ति और जिंदगी का आधार

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ अंग्रेजों ने हमारे देश में भूमि सहित प्राकृतिक संसाधनों को सम्पत्ति रूप

माना और उस जमाने के सभी कानून उसी आधारभूत मान्यता पर बनाए गए थे। परन्तु इस मामले में हमारे संविधान में आधारभूत मान्यतायें नितांत भिन्न हैं। यही नहीं, जमीन सहित प्राकृतिक संसाधनों का सम्पत्ति रूप मूलतः सामंतवादी सोच का अंग था जो हमारे संविधान की मूल चेतना से असंगत था।

आजादी के बाद हमने सिद्धांत रूप से यह स्वीकार किया था कि जमीन जोतने वाले की होगी। उस पर जोतने वाले के अलावा और किसी का अधिकार न हो इसलिए पहले तो राजाओं की रियासतें, जागीरदारों की जागीरें, जमीनदारों की जमीनदारियां कानूनी रूप से खत्म कर दीं गईं। यही नहीं भूमि के आधिपत्य पर भी सीमा लगा दी गई। दूसरी ओर ऐसे भी कानून बनाये गये जिससे जमीन पर जोतने वाले का हक बन जाय। यह जरूर था कि क्रांति पर आधारित व्यवस्था बदलाव की तरह एक झटके में ही सामंतवादी व्यवस्था को पूरी तरह से निर्मूल नहीं किया गया था। इसलिये संविधान लागू होने के बाद बने कानूनों के तहत भी कुछ लोगों के पास इतनी जमीन हो सकती थी जिसे वे अपने आप न जोत सकते। परन्तु इस मामले में भी यह स्पष्ट था और उम्मीद यह की गई थी कि धीरे-धीरे हमारे देश में वह स्थिति आ जायेगी जिसमें जमीन जोतने वालों की ही बनकर रह सकेगी।

जमीन उसकी जो जोते इस सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि जमीन सम्पत्ति नहीं है, वह आजीविका का साधन है। परन्तु उस हालत में जब किसी व्यक्ति के पास जमीन इतनी हो जिसे वह खुद जोत न सके तो उसमें कुछ न कुछ सम्पत्ति के गुण बचे ही रहते हैं। इसके साथ ही दूसरी ओर हमारे संविधान में शुरू में सम्पत्ति को एक मूलभूत अधिकार माना गया था। परन्तु इस मामले में एक बात और भी हुई। जमीन के मामले में जब तक सिद्धांतों की बात होती रही तब तक किसी को कोई उज्र नहीं हुआ। परन्तु अंग्रेजी राज के दौर में जिन लोगों के जमीन पर अधिकार स्थापित हो चुके थे जब उन पर आंच आने लगी तो कुछ अकुलाहट हुई। इन निहित स्वार्थों ने औपचारिक व्यवस्था के भीतर और व्यवहार रूप में उसके बाहर भी आजादी के बाद की मूल भावना के प्रतिकूल अपने हितों के बचाव के लिए रास्ते खोजना शुरू किये इस तरह नई व्यवस्था में जमीन की सही प्रकृति के बारे में विवाद खड़ा हो गया और इस महत्वपूर्ण मामले में स्थिति अस्पष्ट होने लगी। परन्तु इसके बावजूद सुधारवादियों का पलड़ा भारी रहा और इस मामले में स्पष्टता लाने के लिये हमारे संविधान मे कई संशोधन किये गये। इन संशोधनों में एक तो सम्पत्ति के बारे में नागरिक के मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता खतम कर दी गई दूसरे सम्पत्ति के अधिग्रहण के लिये यह जरूरी नहीं माना गया कि उसके मुआवजे के रूप में बाजार मूल्य दिया जाय। राज्य जितना मुआवजा उचित समझे उतना मुआवजा देकर सम्पत्ति का अधिग्रहण कर सकता है यह अधिकार भी संविधान से शामिल कर दिया गया। इसके अलावा भूमि सुधार से संबंधित सभी कानूनों को भी नवीं सूची में शामिल करके विशेष रूप से सुरक्षा की गई जिससे कि निहित स्वार्थ इन मामलों को न्यायालयों में न घसीट सकें और लोगों को उनके मूलभूत अधिकारों से वंचित न रखा जा सके,

जहां सम्पत्ति के बारे में हमारे संविधान में इस तरह से स्थिति स्पष्ट होती गई वहीं दूसरी ओर जीवन के अधिकार के बारे में भी स्पष्टता होती गई। हमारे संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत हर नागरिक को जीने का और स्वतंत्र रहने का अधिकार स्थापित है। इस संबंध में हमारे न्यायालयों ने यह स्पष्टकिया कि प्राणियोंकेजीवन का अधिकार केवल एक प्राणी के रूप मे जीते रहने तक ही सीमित नहीं है वरन् उसका अर्थ है मानवीय प्रतिष्ठा के साथ जिंदगी बसर करना। जीवन के अधिकार के बारे में न्यायालयों की व्याख्या से राज्य भी सहमत ही रहा है।

इसके अलावा अनुच्छेद 39 में राज्य के दिशानिर्देशक सिद्धांतों मे सभी नागरिकों के लिए जीविका के उपयुक्त साधन प्राप्त करने को अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी अनुच्छेद में यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि समाज के भौतिक संसाधनों का नियंत्रण और उनकीमिलकियत इस तरह से बांटी जाएगी

जिससे कि सामूहिक हित अधिक से अधिक सध सकें· अंत में राज्य से यह भी अपेक्षा की गई है कि वह आर्थिक व्यवस्था को इसप्रकार से चलाएगा जिससे कि धन और उत्पादन के साधनों का सामान्य हित की अवहेलना करने हुए केन्द्रीयकरण न हो·

आजीविका के साधन के अधिग्रहण की विसंगत स्थिति

भूमि सहित प्राकृतिक संसाधनों के जीवन के साधन के रूप में स्वीकृति, सम्पत्ति के अधिकार की समाप्ति जीवन के अधिकार की मानवीय व्याख्या, आजीविका के उपयुक्त साधन के अधिकार, इत्यादि, के बारे में इन संविधानिक व्यवस्थाओं के बावजूद पुरानी मान्यताओं के मुताबिक कानून में भूमि का सम्पत्ति रूप ही प्रमुख बना रहा जिसके दुष्परिणाम आदिवासी समाज को झेलने पड़े हैं· ये दुष्परिणाम धीरे-धीरे और भी गहराते जा रहे हैं·जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ भूमि सहित प्राकृतिक संसाधनों से आदिवासी समाज अपनी परंपरागत तौर-तरीकों से जिंदगी बसर करता रहा है· परन्तु नई स्थिति में उनके द्वारा संसाधनों का वह उपयोग असंगत माना जाने लगता है· उन संसाधनों पर राज्य के अधिकार की जकड़ कड़ी होती जा रही है· दुर्भाग्य से खेतीकी जमीन पर जोतने वाले का अधिकार स्वीकार करके उसको आजीविका का साधन मानने की ओर कुछ कदम तो उठाए गए परन्तु उसका सम्पत्ति रूप बना ही रहा· संविधान में संशोधन करते समय भी जब राज्य के द्वारा सम्पत्ति को अधिग्रहण करने के लिए नया प्रावधान (अनुच्छेद 31 क) बनाया गया तो उसमें अधिकतम सीमा से कम की जमीन के अधिग्रहण को पहले तो अपवाद बनाया गया जिसका अर्थ यह था कि जीविका के साधनों को राज्य नहीं ले सकता· परन्तु उसके तुरंत बाद उसी अनुच्छेद में यह व्यवस्था कर दी गई कि अधिकतम सीमा से कम जमीन होने की हालत में उसे बाजार मूल्य देकर अधिग्रहण किया जा सकता है· यहीं पर अनजाने मे एक बहुत बड़ी भूल हो गई है जिस पर विचार करने के लिए हमें इतिहास में कुछ पीछे जाना होगा·

आजादी के पहले उन्नीसवीं सदी में तत्कालीन व्यवस्था के तहत जमीन के अधिग्रहण के लिए जो भूमि अधिग्रहण कानून बनाया गया उसके अंतर्गत जमीन का मुआवजा देकर उसे लेने का व्यवस्था की गई थी· उससमय चूँकि भूमि पूरी तौर से सम्पत्ति के रूप में ही मानी गई थी इसलिए इसमें कोई विसंगति नहीं थी· अगर राज्य को कहीं भूमि की जरूरत थी तो वह उसके जमीनदार से उसकी सम्पत्ति को मुआवजा देकर ले सकता था· परन्तु आजादी के बाद जमीन की अवधारणा के मामले में जो बुनियादी बदलाव आया वह लगता है कि अनदेखा रह गया जिसके कारण यह विसंगति चली आ रही है· जिस संविधान में नागरिक के जीवन का अधिकार स्थापित हो और उसके लिए आजीविका के उपयुक्त साधन का अधिकार भी मान्य हो उस संविधान के तहत किसी व्यक्ति को उसकी आजीविका के साधन से महज कुछ धन देकर छीना नहीं जा सकता· इसलिएऐसा कानून जिसके अंतर्गत व्यक्ति के जीवन का आधार रुपया देकर के लिया जा सकता हो, संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हो सकता है, ऐसा कानून उसका स्पष्ट उल्लंघन है·

आदिवासी व्यवस्था पर विसंगति कानून का दुष्प्रभाव

कानून और संविधान की यह स्थिति साफ होने के बाद हम एक बार फिर से आदिवासी समाज की स्थिति पर नजर डालेंगे· विभिन्न आदिवासी समाज इस समय विकास के विभिन्न चरणों पर अवस्थित हैं· कुछ थोड़े से ऐसे समाज हैं जो अभी भी आखेट और संग्रह की स्थिति में है· ये लोग पूरी तरह से जंगलों पर आश्रित हैं और जंगल ही उनकी जिंदगी है· कुछ लोग इस स्थिति से आगे बढ़कर पशुपालन और स्थाई खेतीकी शुरुआत की स्थिति में पहुँच गये हैं· इन लोगों की भी जिंदगी का एक बहुत बड़ा हिस्सा वनों पर आधारित है· अधिकांश आदिवासी समाज अब स्थाई खेती कर रहे हैं· परन्तु ये लोग भी अपनी जिंदगी की बहुत सी

जरूरतों के लिए अभी तक वनों पर ही निर्भर हैं· इस तरह पूरा आदिवासी समाज अपनी आजीविका के लिए भूमि सहित प्राकृतिक संसाधनों पर कमोवेश सीधे निर्भर हैं·

उद्योगों की स्थापना तथा आधुनिक विकासके अन्य क्रियाकलापों के लिए आदिवासी इलाकों में स्थित संसाधनों की राज्य को जरूरत है· आजादी के पहले के कानून के मुताबिक वन राज्य की सम्पत्ति हो गये थे और जमीन जमींदारों की सम्पत्ति बन गई थी· आजादी के बाद साधारण किसानों को तो कुछ न्याय मिला हालांकि पूरा नहीं· परन्तु आदिवासी स्थिति की विसंगतियाँ अनदेखी ही बनी रहीं· उनको उनके जिंदगी के साधन खास तौर पर वनों के उपयोग से अलग करने की जो प्रक्रिया अंग्रेजों के जमाने में चालू हुई थी आजादी के बाद उसमें ठहराव नहीं आया वरन् वह और भी तेज होती गई· इस तरह दुर्भाग्य से स्थाई खेती के अलावा दूसरे प्राकृतिक संसाधनों को, जो आदिवासी की जिंदगी का आधार थे, राज्य की सम्पत्ति मान लिया गया और उन पर लोगों का अधिकार मान्य नहीं किया गया· इस कारण खेती के अन्य संसाधनों के संबंध में जो लोगों के मूलभूत अधिकार बनते थे वे अनदेखे ही रह गए· यही नहीं, इस व्यवस्थामें भूमि और वनों के परम्परागत उपयोग तक को अमान्य करार दे दिया गया और स्वयं लोग कानून की निगाह में अपराधी बन गए· उधर जमीन के मामलों में भी सम्पत्ति का कुछ रूप बने रहने से, उसके अधिग्रहण के लिए जो असंगत कानून था उसमे भी फेरबदल नहीं हुआ· राज्य को उस कानून के तहत लोगों से उनके जिंदगी के साधन छीन लेने का अधिकार बना रहा· ये दोनों ही स्थितियाँ हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नही हैं· परन्तु फिर भी विकास का नया दौर इसी कानून के तहत चल रहा है·

विकास के नये दौर में अपने प्राकृतिक संसाधनों के कारण धीरे-धीरे आदिवासी क्षेत्र देश की व्यवस्था में केन्द्रीय बनते जा रहे हैं· राष्ट्रीय विकास के लिए आदिवासी क्षेत्रों में उपलब्ध लगभग सभी वस्तुओं की जरूरत है· जब राज्य को संसाधनों की जरूरत होती है तो जाहिर है कि वह कानून के मुताबिक उसका अधिग्रहण करेगा· कानून के मुताबिक आदिवासी को अपने परिवेश में खेती की जमीन के अलावा किसी पर कोई अधिकार नहीं है· खेती की जमीन पर भी उसका कानूनी अधिकार हो इसकी भी कोई खातरी नहीं है· इस हालत में जब विकास के लिए इन इलाकों के संसाधनों के उपयोग की जरूरत होती है तो आदिवासी अपने जीवन के अधिकार से या तो बिना कुछ लिये-दिये ही वंचित कर दिया जाता है और अगर उसका कुछ थोड़ा बहुत अधिकार मान भी लिया गया तो उसे कुछ पैसे देकर छोड़ देने के लिए मजबूर कर दिया जाता है· यहीं पर आकर संसाधनों के बारे में आदिवासी समाज और नई व्यवस्था में बुनियादी अंतर साफ हो जाता है और उसका परिणाम आदिवासी समाज के लिए घातक होता है·

आदिवासी उन प्राकृतिक संसाधनों को, जो उसकी जिंदगी का सहारा है, सम्पत्ति नहीं मानता है· वह अपने शब्दों में राज्य की उस मान्यता का, जिसमें वह उसको सम्पत्ति मानकर उससे च्युत किया जा सकता है, अपने तौर पर प्रतिवाद भी करता है· परन्तु उसकी बात आज के कानून में मान्य नहीं है· सच तो यह है कि उसकी अपनी व्यवस्था ही अमान्य है· इसलिए उसका कथन अनसुना ही रह जाताहै और नई व्यवस्था अपने कानून के मुताबिक आगे बढ़ती जाती है· इसका एक ही असर होता है और वह यह कि आदिवासी अपने जीवन का आधार खो बैठता है और वह निराधार होकर इधरउधर भटकने के लिए मजबूर हो जाता है· इस प्रक्रिया में अब तक 10 से 15 प्रतिशत तक आदिवासी अपने जीवन का आधार खो बैठे हैं· आदिवासी के अधिकार को कानूनी मान्यता न होने से उसे इतना गया गुजरा समझा जाता रहा है कि सरकार ने इतना तकजरूरी नहीं समझा कि कम से कम यह हिसाब तो लगा लिया जाता है कि कितने आदिवासी विकास की चपेट में आकर अपनी आजीविका खो बैठे हैं और निराधार हो गये हैं· सरकारी आंकड़े इस विसंगति को और भी साफ करते हैं· बस्तर के बैलाडिला की विशाल परियोजना के बनाने के लिए आंकड़ों के मुताबिक 20 से

कम परिवार ही विस्थापित हुए· यह अनोखा न्याय है जिसके मुताबिक जो सरकारी कागज में दर्ज नहीं वह है ही नहीं· इस तरह आदिवासी की आजीविका के साधन, यहाँ तक की उसकी अस्मिता तक को नकारा जा सकता है·

भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया का गलत प्रयोग

अगर हम विकास की इस प्रक्रिया को नजदीक से देखें तो कई स्तरों पर उसमें विसंगतियाँ साफ होती हैं· भूमि अधिग्रहण का कानून एक ऐसे जमाने में बनाया गया था जब कि इतनी बड़ी-बड़ी योजनाओं की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी· जैसा पहले कहा जा चुका है कि वैसे तो वह कानून ही संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है·अगर हम उस कानून को एकबार सही मान भी लें तो भी उसके क्रियान्वयन में कई तरह की अनियमितताएं साफ हैं· भूमि अधिग्रहण के कानून के अंतर्गत भूमि के अधिग्रहण के लिए दो बातें जरूरी हैं - एक यह कि वह जनहित में होना चाहिए और दूसरा यह कि भूमि के अधिग्रहण के पहले संबंधित व्यक्तियों को आपत्ति प्रस्तुत करने का अधिकार हो· पहले जनहित की बात को ही ले लीजिए जनहित क्या है, यह न भूमि अधिग्रहण कानून में परिभाषित है और न इसको अलग से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है· इसका अर्थ यह हुआ कि जो भी सरकार की निगाह में जो जनहित हो वही जनहित है· अगर सरकार कहीं पर सैलानियों के लिए पर्यटन स्थल बनाना चाहती है तो उसके लिए आदिवासी लोगों को बेदखल किया जा सकता है क्योंकि वह सरकारके मत मे जनहित में है· इसी तरह से यदि बोधघाट में बिजली बनाने की परियोजना के लिये 4 हजार लोगों को विस्थापित होना पड़े तो वह जनहित में होगा क्योंकि उससे बनाई गई बिजली क्षेत्रीय और राष्ट्रीय विकास के लिए जरूरी है· यहां सवाल यह है कि क्या केवल संख्या के आधार पर लोगों के हित और अहित को तराजू पर तौलने को हम जनहित के लिए कसौटी मान सकते हैं ? क्या बहुत लोगों को अशाइशें मिल जायेंगी उसके लिये थोड़े लोगों से उनकी जिंदगी का आधार छीना जा सकता है ? यदि बोधघाट परियोजना बनाने के लिए आदिवासी लोगों को विस्थापित होने के लिए मजबूर होना पड़ेगा तो उसका एक ही अर्थ होगा कि उनसे उनकी जिंदगी का आधार छिन जायेगा· दूसरी ओर वह बिजली आज की नगरीय व्यवस्था में लोगों को नये आशाइशें देने के लिए उपयोगी होगी· मैं नहीं समझता हूँ कि यह विनिमय किसी भी तरह की न्याय की कसौटी पर खरा उतर सकता है·

यही नहीं आज विकास के लिए योजनायें पहले बन जाती हैं, यह तय हो जाता है कि सौ या पचास गांव की जमीन को ले लिया जाय और उन योजनाओं के निर्माण का कार्य प्रारम्भ तक हो जाता है तब उसके बाद ही फिर जरूरत के मुताबिक जमीन का अधिग्रहण किया जाता है· जब किसी परियोजना के निर्माण का कार्य प्रारंभ हो जाय तो उसके पूरा होने पर पानी तो भरेगा ही, लोगों के घर और जमीन भी डूबेंगे और उन्हे अपनी जिंदगी बचाने के लिये वहाँ से हटना पड़ेगा· उस हालत में जब जमीन का अधिग्रहण एक अनिवार्यता या नियति बन जाती है परियोजना पर काम शुरू करने के बाद लोगों को नोटिस देकर उनसे यह पूछने का कि क्या भूमि के अधिग्रहण पर उन्हें कोई आपत्ति है क्या अर्थ है ? इस तरह की प्रक्रिया कम से कम सामान्य व्यक्ति की समझ के बाहर है· कानून का यह नेमी अनुपालन सही अर्थों मे कानून की अवहेलना ही है· इस तरह से वे सब मामले जिनमें सरकार किसी प्रतिष्ठान की स्थापना करने के लिए निर्णय पहले ले लेती है और लोगों को भूमि के अधिग्रहण की प्रक्रिया बाद में प्रारम्भ करती है, उस कानून की मूल चेतना के खिलाफ है· यही नहीं, वह कानून स्वयं संविधान की मूल भावनाकेअनुरूप नहीं है, उसका उल्लंघन है· कितनी विडम्बना है कि संविधान के लागू होने के 40 साल बाद भी आज तक इस बुनियादी सवाल पर विचार करने तक की किसी को फुरसत नहीं मिली और यह 19 वीं शताब्दी का कानून 21 वीं

शताब्दी में पहुंचने की हड़बड़ी में आंख बंद किए हुए लागू किया जा रहा है बिना यह सोचे कि उस कानून की मंशा भी पूरी हो रही है या नहीं, उसकी संवैधानिकता और मानवीय अधिकारों के संदर्भ में संगतता का सवाल तो अलग ही रहा.

जीवन के अधिकार की अवमानना

अब अगर हम इस विकास की प्रक्रिया को, जिसमें आदिवासियों के जिंदगी का सहारा छीनकर नई व्यवस्था कायम की जा रही है संविधान की व्यवस्थाओं के संदर्भ में देखें तो पायेंगे कि उसमें संविधान की मूलभावना की भी अवहेलना हो रही है. संविधान में जीवन का अधिकार आधारभूत है. यह जीवन का अधिकार केवल संविधान की व्यवस्था की ही बात नहीं है वह एक मौलिक मानवीय अधिकार है. अगर किसी देश का संविधान इस अधिकार की रक्षानहीं करता है तो वह संविधान ही बदलने योग्य है, ऐसा संविधान मानवीय आस्था का संबल नहीं हो सकता है. सौभाग्य से हमारे संविधान में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है - हमारे संविधान में किसी भी व्यक्ति को उसकी जिंदगी और उसकी जिंदगी के आधार से महरूम करने का अधिकार नहीं है, और इस संदर्भ में जो कुछ आजादी के पहले हुआ या आजादी के बाद हुआ चाहे वह किसी कानून के तहत ही क्यों नहीं हुआ हो संविधान की भावना के खिलाफ है.

यदि हमारा यह तर्क सही है तो यह साफ है कि उन आदिवासी समाजों को, जो संग्रह और आखेट की स्थिति में आज भी जंगलों में रहते हैं, वहाँ से हटाने का किसी की अधिकार नहीं है. हाँ, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इन जातियों को उनकी वर्तमान स्थिति में अजायबघर की वस्तु के रूप मे रहने के लिए अलग-थलग छोड़ दिया जाय. इसका एक ही अर्थ है कि उन लोगों को विकास के लाभ में इस तरह से सहभागी बनाने की कोशिश की जाय जिससे कि वे अस्मिता न खो बैठें, अपने संसाधनों पर उनके अधिकार तबतक यथावत् बने रहें जब तक कि वे अपनी जिंदगी के लिए स्वेच्छा से एक ऐसा नया आधार न बना लें जो मानवीय गरिमा के अनुरूप हो.

मानवीय गरिमा का सवाल बहुत ही अहम है जिसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ. आज की व्यवस्था साधारण आदिवासी को सभ्यता से दूसरे बसने वाला एक अदना सा अनजान और अज्ञानी व्यक्ति मानता है. इसलिए जब नई व्यवस्था उसको साधारण सी मजदूरी भी मुहैय्या करती है तो यही समझा जाता है कि उसके साथ बड़ा उपकार किया गया. प्रकृति के सान्निध्य मे स्वतंत्र जीवन बिताने वाले समाज का सदस्य अपने को किसी से कम नहीं मानता है, वह अपने को भगवान की एक विशेष कृति मानता है. ऐसे व्यक्ति या समाज को नई व्यवस्था की तलहटी में मजदूरों का दर्जा देकर न्याय नहीं किया जा सकता है. उसकी अस्मिता को स्वीकार करके ही नई व्यवस्था में सहभागी के रूप मे स्थापित करने के अलावा और कोई न्याय कामार्ग हो ही नहीं सकता.

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि वनों पर सरकारी आधिपत्य से आदिवासियों की जीविका के साधन की अवहेलना होती है और उस सीमा तक वह कानून हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है. इसी तरहसे जब भूमि अधिग्रहण के अंतर्गत कुछ रुपये देकर उससे जमीन ले ली जाती है तो वह भी हमारी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं है. ये दोनोंही व्यवस्थाएँ पूरी तरह से असंवैधानिक है. इसलिये जो विकास इन मान्यताओं के आधार पर आगे बढ़ रहा है वह भी संविधान की भावना के अनुरूप नहीं हो सकता. यही नहीं, जिस तरह से भूमि अधिग्रहण कानून को लागू किया जा रहा है वह उस कानून के प्रावधानों के संदर्भ में भी अनुचित है. इसलिए इस पूरी प्रक्रिया को गैर कानूनी कहा जा सकता है.

भूमि अधिग्रहण और आदिवासी समाज

आदिवासी इलाके के मामले में एक और पहलू भी है· जब बड़ी परियोजनाओं के लिए हजारों एकड़ भूमि का अधिग्रहण किया जाता है तो उसमें खेती की जमीन के अलावा और प्राकृतिक संसाधन भी होते हैं जैसे कि वन और जल के संसाधन· यह सर्वविदित है कि अधिकतर आदिवासी समाज पूरी तरह से खेती पर निर्भर नहीं है· वे अपनी आजीविका के अधिकांश हिस्से के लिए खेती के अलावा दूसरे संसाधनों पर निर्भर हैं· इसलिए जब केवल खेती की भूमि का अधिग्रहण कर उसका मुआवजा देकर लोगों को अपने इलाके से हटने के लिए मजबूर किया जाता है तो खेती के अलावा अन्य संसाधनो से उनके संबंधों को अनदेखा कर दिया जाता है· इसतरह कानून के सीमित दायरे में भी उनके साथ न्याय नहीं होता है· कानून की इस स्पष्ट विसंगति के बारे में अब तक इसीलिए विचार तक नहीं हुआ है क्योंकि हमारी मान्यताओं में प्राकृतिक सम्पदा सरकारी सम्पत्तिहै जिन पर लोगो की जाविका के अधिकार को अनदेखा किया जा सकता है·

व्यक्ति और समाज

बड़ी परियोजनाओं की स्थापना के लिए विस्थापन मे एक और बुनियादी कमी भी है जिसकी ओर ध्यान देना जरूरी है· भूमि अधिग्रहण कानून में सभी लोगों को व्यक्ति के रूप में देखा जाता है जिसे उसकी सम्पत्ति मुआवजे की भरपाई कर दी जाती है· आदिवासी समाज में अभी भी समाज से अलग हटकर व्यक्ति की अस्मिता नहीं है· वह अपने को समाज से अलग रहने की स्थिति का स्वप्न में भी नहीं सोच सकता है·इसलिए जब बड़ी योजनाओं की स्थापना के कारण किसी आदिवासी समाज को वह जगह छोडकर चले जाने के लिये मजबूर होना पड़ता है तो वह समाज टूट जाता है और लोग बिखर जाते हैं· उसके आगे उस व्यक्ति की नियति क्या होती है यह उसको स्वयं नही मालूम· इसी कारण अधिकतर आदिवासी विस्थापन के बाद न केवल साधनहीन हो जाते हैं वरन् वे अपनी सामाजिक संज्ञा भी खो बैठते है और इस तरह विनाश के कगार पर पहुंच जाते है· इस तरह यह साफ है कि भूमि अधिग्रहण कानून, जिसके तहत कार्रवाई के आधार पर आदिवाासयों को विस्थापित होना पड़ रहा है, आदवासियो की आर्थिक सामाजिक स्थिति से संगत नहीं है और उस सीमा तक उसे संविधान की भावना से असंगत कहा जा सकता है·

संगठित क्षेत्र में जीवन का अधिकार

मैं यहाँ पर आप लोगों का ध्यान हमारे देश में संगठित क्षेत्र में जो लोग शामिल हो चुके हैं, उनके अधिकारों की रक्षा किस हद तक की जा रही है इसकी ओर दिलाना चाहूँगा जिससे कि उसकी तुलना में यह साफ हो सके कि आदिवासी इलाके में उस अधिकार की अवमानना किस सीमा तक हो रही है· संगठित क्षेत्र में एक बार प्रवेश कर लेने के बाद किसी व्यक्ति को उसमें से हटाना लगभग असंभव सा है· यही नहीं जो व्यक्ति उसकी दहलीज तक पहुंच जाय उसके प्रवेश को रोकना तक असंभव तो नहीं परन्तु कठिन जरूर है· उदाहरण के लिए अभी हाल ही में एक न्यायालय के सामने एक प्रकरण प्रस्तुत हुआ जिसमें कि कुछ व्यक्तियों को 240 दिनों तक दैनिक मजदूरी पर मस्टररोल में रखा गया था· इस मामले में न्यायालय ने यह निर्देश दिया कि इन व्यक्तियों को स्थाई रूप से रखने की व्यवस्था की जाय· कैसी विडम्बना है कि एक ओर हमारी व्यवस्था ऐसे व्यक्तियों को जिसने 240 दिन काम किया हो, उसके आजीवन अधिकार के बारे में चिंताकुल है वहीं दूसरी ओर जो 240 या उससे भी अधिक पीढ़ियों से जिन वनों में रह रहें हों और जिनके लिए वे वन जिंदगी के पर्याय हो, उनके वहाँ से हटने के लिए मजबूर होने पर कहीं किसी ओर से सहानुभूति के दो शब्द ही नहीं निकलते·

न्याय का अधिकार - आदिवासी के लिये बेमानी

आदिवासी समाजों की रक्षा और उनके कल्याण के संदर्भ मे व्यवस्था के दायित्वों को अंत में कुछ विस्तार से चर्चा करना जरूरी होगा. आदिवासियों के लिए विशेष व्यवस्था पर चर्चा करने के पहले कुछ सामान्य व्यवस्था की ओर भी देखना जरूरी होगा. हर नागरिक को न्याय प्राप्त करने का अधिकार है. संविधान के अनुच्छेद 39 ए के अंतर्गत यह व्यवस्था की गई है कि राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि देश की विधि व्यवस्था इस तरह से काम करे जिससे कि सभी नागरिकों को समानता के आधार पर न्याय सुलभ हो सके और यह भी सुनिश्चित करे कि कोई नागरिक अपनी आर्थिक कमजोरी या किसी दूसरी कमी के कारण न्याय प्राप्त करनेके अवसर से वंचित न रह जाय. आदिवासी समाजों को न्याय मिल सकने में पहली शर्त तो यह है कि वह कानूनी व्यवस्था ही उनके प्रति न्यायपूर्ण है या नहीं यह सुनिश्चित कियाजाय. अगर कानूनी व्यवस्था स्वयं अन्यायी है तो उसको न्याय मिलने का सवाल ही नहीं पैदा होता जैसे मैं ऊपर बार-बार कह चुका हूँ कि जिस व्यवस्था के अंतर्गत आज विकास का आयोजन किया जा रहा है, वह आदिवासी समाज के मौलिक अधिकारों की अवहेलना करती है, इसलिए वह न्यायसंगत नहीं है. इसलिए जब ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत आदवासी के प्रति न्याय की बात कही जाती है, जो स्वयं न्यायसंगत न हो तो वह न्याय नहीं हो सकता है, न्याय का परिहास ही हो सकता है.

संविधान और आजादी के पहले की कानूनी व्यवस्था में विसंगति

आदिवासी क्षेत्रों के संदर्भ में कानूनी व्यवस्था का न्यायसंगत न होने का मामला जिन कानूनों का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, वहीं तक सीमित नहीं है. सच तो यह है कि वह एक गम्भीर सवाल है जिसका संबंध पूरी राष्ट्रीय व्यवस्था से ही है. हमारे देश की मूलभूत कानूनी व्यवस्था आजादी के पहले अंग्रेजों ने बनाई थी जो उन लोगों के मान्यताओं के अनुरूप थी. उसका मुख्य उद्देश्य उसके साम्राज्यवादी हितो को साधना था. हमारे संविधान में समता, न्याय और भाईचारे के सिद्धांत पर आधारित समाज की संरचना का आदर्श है. इसलिए यह उम्मीद की जा सकती थी कि बहुत से पहले के कानून इस भावना के अनुरूप नहीं होंगे. इसालिए संविधान के अनुच्छेद 372 §2§ में एक विशेष उपबंध किया गया था जिसके तहत राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया था कि वे आजादी के पहले के बनाये गये किसी भी कानून को संविधान के उपबंधों के अनुरूप बनाने के प्रयोजन से आदेश देकर किसी कानून को निरस्त कर सकते थे या उसमें ऐसे संशोधन कर सकते थे जिससे कि वह विसंगति समाप्त हो जाय. यह विशेष व्यवस्था केवल 3 साल के लिए की गई थी. परन्तु ऐसा लगता है कि इस आधारभूत तथ्य पर कि बहुत से कानून हमारे संविधान की भावना के अनुरूप नही हो सकते हैं, समुचित ध्यान नहीं दिया गया. इसकारण वह अवसर खो गया और आजादी के पहले के कानूनों में जरूरी फेरबदल नहीं किया गया. इसके दुखद परिणाम हमारे देश के कमजोर वर्गो को अब भी उठाने पड़ रहे हैं. असंगत कानूनों के दो महत्वपूर्ण उदाहरण है - भारतीय वन कानून और भूमि अधिग्रहण कानून.

जब हम आदिवासी इलाके की स्थिति का अवलोकन करते हैं तो स्थिति और भी खेदजनक है. उनके मामलों में तो कानूनी व्यवस्था में फेरबदल करने के लिए राज्यपाल को खासतौर पर निस्सीम अधिकार दिये गये हैं. परन्तु फिर भी इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है. इस कारण वहाँ की कानूनी संरचना ही अन्यायी बनी हुई है और पूरे समाज का अपराधीकरण हुआ है. आदिवासी इस अन्यायी व्यवस्था के सामने लाचार है. इस हालत में कुछ छुटपुट बातों को लेकर न्याय और अन्याय की बात करना असंगत सा लगता है. यह

दुर्भाग्य है कि राज्यपाल तथा अन्य लोगों ने, जिन पर संविधान के अनुसार व्यवस्था चलाने का दायित्व है, संविधान के इन प्रावधानों का अहमियत तक को नहीं समझा· और उनकी इस नासमझी का पूरा बोझ और दुष्परिणाम आदिवासी समाज को भुगतना पड़ रहा है·

राज्य के दायित्व की अनदेखी

इन विसंगतियो पर ध्यान न दिये जाने का एक और महत्वपूर्ण कारण भी है· राज्य का पहला रूप कानून और व्यवस्था से संबंधित है· इस रूप में उसका मुख्य दायित्व कानून के मुताबिक व्यवस्था को कायम रखने का है· आजादी के बाद नियोजित विकास का रास्ता अपनाने पर राज्य ने एक दूसरा रूप भी अख्तियार किया जिसके अंतर्गत वह स्वयं विकास की प्रक्रिया में भागीदार हो गया· इस दायित्व को पूरा करने के लिए तरह-तरह की संस्थाओं की स्थापना हुई· सार्वजनिक क्षेत्र की ये संस्थाएँ कानून में व्यक्ति के रूप में जरूर हैं परन्तु व्यक्ति के रूप में भी वे राज्य के सभी अधिकारों से लैस हैं· राज्य का तीसरा रूप है कमजोर वर्गो के हितो के संरक्षण का· आदिवासी हितों के संरक्षण के बारे मे संविधान नें राज्य पर विशेष रूप से बहुत बड़ी जिम्मेदारी सौंपी है· इस जिम्मेदारी की अहमियत का इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि राज्यपाल को संसद के द्वारा पारित कानूनों तक को निरस्त करने का अधिकार दिया गया है· इसी तरह आदिवासी विकास के लिए जो भी धन की जरूरत हो उसका प्रावधान संविधान की व्यवस्था के मुताबिक अपने आप हो जाना चाहिए और इस मामले में किसी भी तरह की कटौती करने का अधिकार संसद को नहीं दिया गया है·

इन संवैधानिक व्यवस्थाओं के बावजूद दुर्भाग्य से एक ओर तो आदिवासी आर्थिक सामाजिक स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया गया और दूसरी ओर उनके अधिकारों की पूरी तरह से व्याख्या भी नहीं हुई· इसके साथ-साथ हमारे देश में विकास की एक ऐसी अवधारणा अपना ली गई जिसमें कि आदिवासी समाज के हितों की बात को कहना उनको अजायबघर की वस्तु के रूप मे संजोये रखने की पेशकश मान लिया गया· हमारे विकास की उच्चवर्गीय अवधारणा में गरीबों के साथ जो अन्याय हो रहा है उसे विकास की कीमत कह कर आधुनिकता और प्रगतिवादिता का मुलम्मा चढ़ा दिया गया· इस संदर्भ में क्षेत्र के विकास को भी आदिवासी विकास की संज्ञा मिल गई और आदिवासियों के साथ होने वाले अन्याय को विकास की कीमत मान लिया गया·

अनदेखी का मूल कारण

अभी तक मैंने औपचारिक कानूनी व्यवस्था के बारे में बातचीत की है· कानूनी व्यवस्था अंतिम विश्लेषण में किसी देश की उस समय की सामान्य धारा को प्रतिबिम्बित करती है· किसी देश या समाज में कानून की का साधारण मान्यताओं को औपचारिकता का जामा पहनाता है· हालांकि मैं इसके अति-सैद्धांतिक विश्लेषण मे यहाँ पर नहीं जाना चाहूँगा, परन्तु इस संबंध में हमारे देश में प्रचलित आम धारणा की ओर इशारा अवश्य करूँगा· हमारे प्रबुद्ध समाज में, जो अपने को देश का पर्याय ही मान बैठा है, सब कोई यह मानता है कि हमारा देश पिछड़ा हुआ है, उसे विकास की जरूरत है· इसलिये जो भी विकास के लिये जरूरी है वह वाजिब है, वांछनीय है· व्यवस्था का यह फर्ज है कि विकास का रास्ता सुगम बनाया जाय जिससे उसकी गति और तेज हो सके· हमारे प्रबुद्ध वर्ग की नजर में देश की वर्तमान स्थिति असम्मानजनक है और विकास के आधार पर ही हम दुनिया के देशों में सम्मानजनक स्थान प्राप्त कर सकेंगे· इसलिये विकास ही देशहित है इसमें किसी तरह की शंका की गुंजाइश नहीं·

आजादी के बाद इसी विकास की भगदड़ में, जिन बुनियादी बातों की ओर मैं इशारा कर चुका हूँ, उनकी ओर किसी को ध्यान देने का मौका ही नहीं मिला· इसके अलावा एक और बात भी हुई· विकास के इस दौर मे हमारी अर्थव्यवस्था में नये अवसर पैदा हुए और नईसंपदा का निर्माण हुआ· इसलिए उन अवसरों और उस संपदा पर अधिकार की बात स्वाभाविक थी· वैसे जब देश के गरीबों के अधिकारों के बारे में बात

उठती तो हमारा प्रबुद्ध वर्ग तुरंत संसाधनों की कमी की बात करना शुरू कर देता है· सामाजिक न्याय को विकास के हित में दूसरा दर्जा देने की बात सहज ही स्वीकार हो जाती है· इस मामले मे बड़े सीधे-सादे ढंगसे कह दिया जाता है कि जब कुछ उत्पादन होगा तभी तो उसको बांटने की बात आयेगी· परन्तु इसी प्रबुद्धवर्ग में विकास के लाभ के बंटवारे को लेकर जो आपसी लड़ाई छिड़ी हुई है, उसके कारण देश में नैतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी तरह की अधोगति हो रही है उसकी ओर किसी का ध्यान तक नहीं जाता· धन बटोरने और नई संभावनाओं के हथियाने की धमकाचौकड़ी मे न्याय, मूल्य और यहाँ तक कि स्वयं आर्थिक विकास के सीमित उद्देश्य तक को भुला दिया जाता है·

विकास के लिये इस अंधी दौड़ के सिलसिले में सबसे बड़ा सवाल यही है कि आखिर विकास है क्या? क्या भौतिक वस्तुओं के उत्पादन को या उर्जा के खपत के स्तर को ही विकास का पर्याय माना जा सकता है·ये सवाल कुछ हल्कों में पहले से भी पूछे जाते रहे हैं· अभी हाल के सालों में इस मामले में खासतौर पर पर्यावरण को लेकर कुछ अधिक गंभीरता दिखाई दे रही है· परन्तु फिर भी आज की हालत यही है कि पश्चिमी देशों के विकास की अवधारणा को ही हमारे देश में जैसी की तैसी स्वीकार कर लिया गया है· इसमें सबसे खेदजनक बात यह है कि पश्चिमी देशों के विकास के ऐतिहासिक संदर्भ को भुला ही नहीं दिया गया बल्कि उसकी ओर जानबूझ कर देखा तक नहीं जा रहा है· सच तो यह है कि उसकी ओर देखने और उस पर गंभीरता से विचार करने से विकास की उन मान्यताओं को ही चुनौती मिल सकती है जो आज विशिष्ट वर्गो के हितों को साध रही है·

पहली और दूसरी दुनिया के देशों मे विकास का आधार विज्ञान और तकनीकी क्रांति जरूर थी, परन्तु, उसके साथ कुछ बातें और भी थीं· इन देशों ने अपने घर को रोशन करने के लिए दूसरों के घरों के चिराग बुझा दिए· इन देशों की तरक्की की बुनियाद में पूरी दुनिया के संसाधनों को हथियाना, दुनिया के कमजोर लोगों का सफाया पुरानी दुनिया की अर्थ व्यवस्थाओ को रौंदकर नई व्यवस्था के लिये बाजारों की स्थापना और पुराने कुशल कारीगरों के हाथ काटकर उनको अकुशल कामगारों की भीड़ बना देना, आदि भी तो शामिल है· इस तरह ऊंचे सिद्धांतों की दुहाई देने वाले पहली और दूसरी दुनिया के देशों के अपने विकास के साथ एक ऐसी तीसरी दुनिया की स्थापना भी जुड़ी हुई है जिनके देशों की अर्थव्यवस्था पर वर्चस्व कायम करते हुए उन देशों ने उपनिवेशवादी व्यवस्था लाद दी· यही व्यवस्था आज भी एक-दूसरे रूप में पूरी दुनियां की अर्थ-व्यवस्था पर हावी है·

"इंडिया" और "भारत"

अब अहम सवाल यह है कि जब तीसरी दुनिया के विकास के लिए भी पहली दुनिया के प्रतिमान को आदर्श मान लिया जाय तो विकास की दिशा क्या हो सकती है· इस हालत में यह स्वाभाविक होगा कि तीसरी दुनिया में विकास के कुछ द्वीप उभरें जो भौगोलिक रूप से तीसरी दुनियां का अंग हो परन्तु आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से ये पहली और दूसरी दुनिया का ही विस्तार या तीसरी दुनियां में पहली दुनिया की अग्रिम चौकियां ही हो सकती हैं· इसी को यदि हम तीसरी दुनिया के नजरियों से देखे तो स्पष्ट होगा कि तीसरी दुनियां में पहली दुनिया का अनुकरण करने वाले एक ओर उसमें अपने लिये अपने सपनों की एक नई दुनियां बना रहे हैं· परन्तु उसके साथ ही दूसरी ओर पहली दुनियां की ऐतिहासिक परंपरा के समानान्तर एक चौथी दुनिया की स्थापना भी करते जा रहे हैं और देश के इस विभाजन को विकास की संज्ञा दी जा रही है·

यह एक दुखद वास्तविकता है कि हमारा देश आज दो देशो में विभक्त हो गया है· एक उन दो करोड़ आसूदा लोगों का देश है जो विकास के प्रतिमानो के लिये दुनिया से होड़ कर रहा है· इसी नये देश के लिये ये दम भरी उक्तियां कहीं जा रही हैं कि वह अब योरोप के किसी भी देश से पीछे नहीं है· परन्तु दूसरी ओर उन बहुसंख्यक लोगों का "पुराना देश" भी है जहाँ जिंदगी का आधारभूत जरूरतों को पूरा करने के

लिये भी कठोर संघर्ष लोगों के लिये आम बात है· इस तरह "इंडिया" और "भारत" ये दो अलग-अलग देश बन गए है· मुझे खुशी है कि इस विभाजन की वास्तविकता को लोग धीरे-धीरे पहचान रहे हैं, उसमें अन्तर्निहित अन्याय को अस्वीकार किया जा रहा है, उसके प्रति आक्रोश भी है· यह सुखद बात है कि भारत अब इंडिया से बराबरी का दावा कर रहा है· इससे सामाजिक न्याय के हित में अच्छे परिणामों की अपेक्षा की जा सकती है·

"भारत" में एक "हिन्दुस्तनवा" भी

"भारत" में भी एक अलग दुनियां जिसे "हिन्दुस्तनवां" कहा जा सकता है परन्तु यह "भारत" भी तो एक नहीं है· विडम्बना यह है कि तथाकथित "इंडिया" का "भारत" के प्रति जैसा व्यवहार है ठीक वही व्यवहार इस "भारत" का "हिन्दुस्तनवां"के प्रति है· सामाजिक न्याय के बारे में "इंडिया" की तरह उसका भी वही तर्क है कि पहले विकास, बाद में सामाजिक न्याय संभव है· "भारत" के सदस्यों के पास भू-संपदा है· और वे ही लोग अपने इलाके के सभी प्राकृतिक संसाधनों पर अपना अधिकार और भी तेजी से बढ़ाते जा रहे हैं· विज्ञान और तकनीकी के नये साधनों का उपयोग करके वे गांव की आर्थिक व्यवस्था पर अपनी जकड़ और भी मजबूत करते जा रहे हैं· इस "भारत" में भी समृद्धि के नये टापू बनते जा रहे हैं· परन्तु उन समृद्ध टापुओं में भी "हिन्दुस्तनवां" की हालत जैसी की तैसी बनी है· इससे यह जाहिर है कि सामाजिक न्याय की स्थापना सीढ़ी-दर-सीढ़ी नही हो सकती है· सामाजिक न्याय की एक ही कसौटी हो सकती है और वह है सबसे गरीब व्यक्तियों के अधिकारों की मान्यता और उनकी मान्यता·

इस तरह हमारे देश में पहली दुनिया से लेकर चौथी और पांचवी दुनिया एक साथ अवस्थित हैं· यही नहीं, उनके बीच की दूरी तेजी से बढ़ती जा रही है· हमारे देश की व्यवस्था में "इंडिया" "भारत" और "हिन्दुस्तनवां" का यह तिहरा स्तरण दिनों दिन पुख्ता होता जा रहा है· "हिन्दुस्तनवां" की पांचवी दुनिया के रहवासियों में एक ओर वे सर्वहारा और दलित शामिल हैं जिनका पहले ही सब कुछ छिन गया है, परन्तु उसी में दूसरी ओर वह आदिवासी समाज है, जिनका विकास के नाम पर सब कुछ छिनता जा रहा है· आदिवासी समाज की पीड़ा और उनके संघर्ष को इसी संदर्भ में समझना जरूरी होगा· यह एक ऐसी कुत्सित वास्तविकता है जो हमारी मान्यताओं और हमारे आदर्शो की ही नहीं वरन् हमारे संविधान की भी खुली अवमानना है·

लोग क्या करें ?

आदिवासी समाज आज अपने इतिहास में एक बड़े गंभीर मोड़ पर हैं· आदिवासी क्षेत्रों के विकास की प्रक्रिया एक ऐसे दौर में पहुँच चुकी है जहाँ आदिवासी समाज का भविष्य और उसकी अस्तित्व पर ही प्रश्नवाचक चिन्ह लग गया है· देश, क्षेत्र या अंचल के विकास के लिये कानून के तहत उन लोगों का तेजी से विस्थापन हो रहा है· विस्थापन की यह प्रक्रिया उस कानून के मान से भी, जिसके तहत उनके संसाधन छीने जा रहे है, गैर-कानूनी हैं· यही नहीं, स्वयं वह कानून हमारे संविधान की व्यवस्था के खिलाफ है· इसके आगे यदि इससे भी उंचे स्तर पर हम उस प्रक्रिया पर विचार करें तो स्पष्ट रूप से वह उनकी मानवीय अधिकारो की अवहेलना है· इस विकास की खातिर आदिवासी इलाकों में कितने लोग विस्थापित होंगे और क्यों ? कितने समाज टूटेंगे और किसलिये ? आज से अहम सवालात हैं जिन पर गंभीरता से विचार की जरूरत है·

विकास का यह विनाशकारी रूप साधारण आदिवासी को स्वीकार नहीं है· यह दुर्भाग्य है कि वह इस पूरी प्रक्रिया की पेचीदगी को समझ नहीं पा रहा है· वह अपने तौर से उसका प्रतिरोध कर रहा है· परन्तु

वह जिस भाषा में और जिस तर्ज में बोलता है वह हमारी व्यवस्था के लिये बेमानी है· हमारी व्यवस्था व्यापक हितों की बात करती है, कानून की दुहाई देती है परन्तु भूल से भी संविधान और मानवीय अधिकारों की बात नहीं उठाती· मेरे विचार में इस खेदजनक स्थिति का जड़ में आदिवासी इलाकों में स्थानीय व्यवस्था की अवमानना और प्राकृतिक संसाधनो पर लोगों के अधिकार की अमान्यता है विडम्बना यह है कि दुनिया के सबसे बड़ा प्रजातंत्र में भी प्रजातंत्र का नेमीरूप ही प्रधान है· आदिवासी इलाको में लोग अपनी व्यवस्था स्वयं करने के अधिकार की लड़ाई लड़ रहे हैं· उनका कहना यह है कि मद पिये या न पिये इसका निर्णय करने का हक उनके समाज का है· जमीन किसकी है वह समाज ही तय कर सकता है· जमीन और जंगल से उनकी मां और बेटे जैसा संबंध है, उनको अपनी माँ से किसी भी हालत में कोई भी अलग नहीं कर सकता है· यहाँ कानून की बात नहीं है· यह तो प्रकृति का नियम है· यदि कानून उसके खिलाफ है तो उनका यह रिश्ता गलत नहीं है, वह कानून गलत है· इस कानून का संशोधन होना चाहिए· यही हमारे संविधान की मान्यता है· यही संरक्षण संविधान में आदिवासी समाज को दिया गया है·

हां, यह जरूर है कि जैसे आदिवासी लोग प्रशासन की व्यवस्था को नहीं समझते, वे लोग बाहरी लोगों के दूसरे दांव पेचों को भी नहीं समझ पाए· इसलिये राज्य का कर्तव्य है कि वह उन समाजों को बाहर के आक्रमण से बचाये न कि उनके अपनी सामाजिक व्यवस्था में दखलंदाजी कर उसको नष्ट-भ्रष्ट करे· उदाहरण के लिए वन्य प्राणी संरक्षण आधनियम में धनुष और बाण तथा बंदूक को एक साथ समेट कर पेश किया गया· धनुष और बाण आदिवासी जीवन का एक अंग है, वह उसका कवच है· कर्ण की तरह आदिवासी उस कवच के साथ पैदा हुआ था· उससे उसका वह कवच नहीं छीना जा सकता· यदि वह कवच छिन जाता है तो उसका जीवन का अधिकार भी छिन जाएगा· वन्य प्राणियों का संहार बंदूक ने किया· धनुष और बाण ने मानव जीवन की रक्षा की और उसे सहअस्तित्व के योग्य बनाया· पर आज हमारे कानून में आदिवासी को जंगल में धनुष-बाण लेकर जाने की मनाही है· यह मानवीय अधिकारों की उपेक्षा है·

हमारी व्यवस्था की ये सभी विसंगतियाँ तत्काल समाप्त होना चाहिए· ऐसा लगता है कि व्यवस्था के कर्णधार इसको समझने की कोशिश तक नहीं कर रहे हैं· मुझे उम्मीद है कि वे कम से कम प्रजातंत्र के मूलभावना को तो समझेंगे इसमें एक बात तो अटल सत्य है और वह यह कि सभी तरह के अधिकारों का स्त्रोत प्रजातंत्र में लोग है· अंत मे सब कुछ जनमत से संचालित होता है· बस्तर के जंगलों में लोग कह रहे है **"मावा माटी, मावी सरकार·"** क्या व्यवस्था उनकी इस उद्घोषणा का आदर करेगी ? जिस तरह हम लोकमान्य तिलक की उद्घोषणा **"स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है"** को बड़े गर्व के साथ याद करते हैं, क्या हम उसी तरह जन सामान्य के स्तर पर उनकी इस भावना का आदर करेंगे कि हमारे गांव में हमारी सरकार है ? क्या हम गांधी जी के सपनों के ग्राम स्वराज की स्थापना करके लोगों को खास आदिवासी लोगों को प्रतिष्ठा और स्वाभिमान के साथ जिंदगी चलाने के लिए उपयुक्त वातावरण और समुचित व्यवस्था का निर्माण करेंगे ? अगर व्यवस्था इस चुनौती को स्वीकार नही करती है तो लोगों का यह अधिकार है के वे अपनी व्यवस्था स्वयं करें·

अंत में, मैं आग्रह करूँगा कि इस परिसंवाद में हम इन बुनियादी सवालों पर विचार करें· जीवन का अधिकार पवित्र है, उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती· किसी भी व्यक्ति की आजीविका के साधन को चन्द रुपये देकर उससे छीना नहीं जा सकता· कानून कुछ भी कहे इसका संविधान में किसी को अधिकार नहीं है· किसी भी समाज को विकास की कीमत चुकाने के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता· यह विकास की विनाशकारी और अन्यायी व्यवस्था है· इसको बदलना होगा· जन सामान्य की भावनाओं का आदर ही नहीं उसे लोक आदेश मानकर उसका अनुपालन करना होगा· तभी हम अपने देश को इंडिया, भारत और हिन्दुस्तनवां के तिहरे स्तरण में बचा सकेंगे· वही हमारी सभ्यता की गुणवत्ता भी असली कसौटी होगी·

अनुलग्नक- 9

संकल्प और घोषणा

आज वह पुनीत दिवस है, जब हमारे राष्ट्रपिता ने अन्याय की खिलाफत और अन्यायी व्यवस्था को अमान्य घोषित करने के लोगों के महान प्रजातांत्रिक अधिकार की घोषणा की थी। इसके प्रतीकरूप उन्होंने लोगों की जिन्दगी के अधिकार की अवहेलना करने वाले "नमक कानून" को तोड़ा था। हम सब आज यह महसूस करते हैं कि हमारे राष्ट्रपिता ने जिस महान काम को शुरू किया था, वह अधूरा ही रह गया।

अंग्रेजों ने हमारे देश पर एक औपनिवेशिक कानूनी व्यवस्था जबरदस्ती थोप दी थी जिसमें हमारे समाज के आधारभूत मूल्यों और साधारण नागरिकों के बुनियादी अधिकारों की अवहेलना को गई थी। आजादी के बाद हमने समाजवादी गणतंत्र की स्थापना के स्पष्ट उद्देश्य को सामने रख कर एक संविधान अपनाया था। उस समय यह अपेक्षा की गई थी कि पुरानी औपनिवेशिक कानूनी व्यवस्था बदली जाएगी और उसे प्रजातांत्रिक मान्यताओं के अनुरूप ढाला जाएगा। यह काम अभी शुरू भी नहीं हुआ है। आम लोगों की जिन्दगी भूमि समेत सभी प्राकृतिक संसाधन पर ही निर्भर है। इसलिए वे उनकी आजीविका के साधन्न हैं। भूमि समेत प्राकृतिक संसाधनों के बारे में आज के सभी कानून दो गलत मान्यताओं पर आधारित हैं—

1. भूमि पर कोई भी सामाजिक अधिकार नहीं है—यह मान्यता उन लोगों की भोगे अनुभव के विपरीत है जिनके लिए परम्परा से वन, पानी इत्यादि सामाजिक संपत्ति के रूप में उनके निर्वाह के लिए निर्णायक है।

2. "विकास", "राष्ट्रीय हित" इत्यादि के नाम पर व्यक्तियों के अधिकार भी समाप्त किये जा सकते हैं और राज्य उन संसाधनों को ले सकता है।

यही मान्यताएं भीमकाय परियोजनाओं के माध्यम से बड़ी संख्या में लोगों के विस्थापन और विपन्नता की जड़ है।

भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894 और संसाधनों के उपयोग से संबंधित दूसरे कानून अंग्रेजों ने उस समय बनाए थे जब भारत उनका उपनिवेश था। ये कानून आज की हालत में बिल्कुल ही असंगत हैं। इसके अलावा हमारे देश में भूमि को मां रूप में माना गया है, यह पवित्र संबंध है।

इसलिए आज अप्रैल 13, 1990 को देश के विभिन्न आदिवासी और दूसरे इलाकों में काम करने वाले विभिन्न संगठनों के प्रतिनिधि, स्वतंत्र भारत के नागरिकों के अधिकार का प्रयोग करते हुए इस उपनिवेशिक असंविधानिक कानून को जो मानवीय अधिकारों और हमारी परम्परा के लिए अपमान है, अपनी ओर से पूरी समझ के साथ सत्यनिष्ठा से अमान्य घोषित करते हैं। आज से इस कानून के तहत कोई भी कार्रवाई हमें मान्य नहीं होगी।

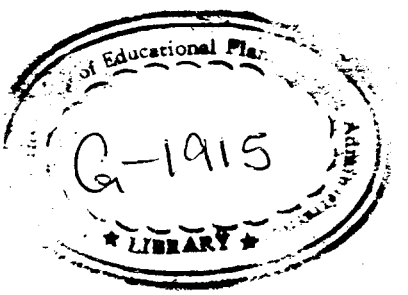

MGIPF—122 C. of SC & ST/90—5,000.